।।श्रीः।।

श्रीमन्माधवाचार्यकृतः

सर्वदर्शनसंग्रहः

SARVADARSANASANGRAHAH

(सुबोधिनीव्याख्योपेतः)

चार्वाक दर्शन | बौद्ध दर्शन | अर्हत या जैन दर्शन | रामानुजदर्शन
पूर्णप्रज्ञ दर्शन | नकुलीशपाशुपत दर्शन | शैव दर्शन | प्रत्यभिज्ञा दर्शन | रसेश्वर दर्शन
वैशेषिक या औलूक्य दर्शन | अक्षपाद दर्शन या नैयायिकदर्शन
जैमिनीय दर्शन | पाणिनीय दर्शन | सांख्य दर्शन | पातञ्जल या योगदर्शन | वेदान्त दर्शन

व्याख्याकारः

डॉ० माधव जनार्दन रटाटे

॥ श्रीः ॥

श्रीमन्माधवाचार्यकृतः

सर्वदर्शनसङ्ग्रहः

SARVADARŚANASAṄGRAHAH

(सुबोधिनीव्याख्योपेतः)

चार्वाक दर्शन । बौद्ध दर्शन । अर्हत या जैन दर्शन । रामानुजदर्शन
पूर्णप्रज्ञ दर्शन । नकुलीशपाशुपत दर्शन। शैव दर्शन । प्रत्यभिज्ञा दर्शन । रसेश्वर दर्शन
वैशेषिक या औलूक्य दर्शन । अक्षपाद दर्शन या नैयायिकदर्शन
जैमिनीय दर्शन । पाणिनीय दर्शन । सांख्य दर्शन । पातञ्जल या योगदर्शन । वेदान्त दर्शन
या शाङ्कर दर्शन

व्याख्याकार :

डॉ० माधवजनार्दनरटाटे

अध्यक्षः

धर्मशास्त्र-मीमांसा-विभागः

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः वाराणसी

The Bharatiya Vidya Prakashan

Since 1966

www.tbvp.in

द भारतीय विद्या प्रकाशन
दुकान नं0-84, 85, 86 द्वितीय मंजिल,
धर्म संघ भवन, दुर्गाकुण्ड पेट्रोल पम्प के सामने,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-221010

Email : the.bvpbooks@gmail.com
Web : www.tbvp.in
Tel : + 91-542-2310500
Mob : + 91-9415202478

प्रथम संस्करण : 2017
द्वितीय संस्करण : 2020
I.S.B.N. : 978-81-217-0258-4 (PB)
Price : Rs. 600/-

© इस पुस्तक का कोई भी भाग किसी रूप में या किसी भी अर्थ मे प्रकाशक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता। सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन।

मुद्रकः
क्रिएटिव ग्राफिक्स, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
Web - www.myegds.com | Mob - + 91-7054123488

अन्य प्राप्ति स्थान :

- **भारतीय बुक कॉर्पोरेशन**
  प्रथम मंजिल, 1 यू.बी. जवाहर नगर,
  बंग्लो रोड, दिल्ली - 110007

- **न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन**
  208, 2 मंजिल, प्रकाश दीप
  बिल्डिंग, अंसारी रोड, 4735/22
  दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

- **भारतीय विद्या प्रकाशन**
  5825, न्यू चन्द्रावल
  (नियर-शिव मन्दिर के पास)
  जवाहर नगर, दिल्ली - 110007

- **भारतीय विद्या प्रकाशन**
  सी.के. 32/30 नेपाली खपड़ा,
  कचौड़ीगली, वाराणसी - 221001

- **भारतीय विद्या संस्थान**
  सी. 27/65, जगतगंज
  वाराणसी - 221002

प्रस्तावना

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।।

इस दुःखमय संसार में रहते हुए परम सुख की प्राप्ति ही मानवमात्र का प्रयोजन है। "संसार दुःखरूप है" यह बात सभी दार्शनिक एकमत से स्वीकार करते हैं—

सर्वं दुःखमयं जगत्—शंकराचार्य।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। —सांख्यकारिका (१)

सर्वं दुःखं दुःखम्—प्रथम आर्यसत्य, गौतमबुद्ध

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

—योगसूत्र (२.१५)

इस दुःखमय संसार में रहकर सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनसे दुःख ही प्राप्त होता है सुख नहीं—

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ।।

—श्रीमद्भागवत-३.५.२

अतः सांसारिक सुख सर्वथा हेय है तथा आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक परम सुख ही ग्राह्य है यह बात भी सर्वदर्शनों में ऐकमत्येन स्वीकार की गयी है।

प्राचीन काल में 'दर्शन' शब्द के स्थान पर उसी अर्थ में 'शास्त्र' का प्रयोग होता था। जैसे—व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, योगशास्त्र आदि। पार्थसारथिमिश्र-रचित शास्त्रदीपिका के प्रारम्भ में ही मीमांसादर्शन के लिए शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है—

न्यायाभासमतच्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदीपिकाम् ।
कुमारिलमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम् ।।

—शा.दी. मंगलाचरण, ३

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'योगशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया गया है—

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे..... प्रथमोध्याय: ॥

आदि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य के प्रारम्भ में ही कहा है— वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम् ।

अर्वाचीनकाल में शास्त्र शब्द के स्थान पर दर्शन शब्द भी प्रयुक्त होने लगा। 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' जो परमतत्त्व का दर्शन करावे, वह दर्शन है। मनु ने "ब्रह्म-साक्षात्कार" अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग किया है—

सम्यक्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। म.स्मृ. ६.७४

आचार्य माधव ने 'सर्वदर्शनसङ्ग्रह' यह नामकरण शास्त्रार्थक दर्शन शब्द को लेकर ही किया है या यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने अनेक मतों के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग किया है।

जिस प्रकार भारतीय परम्परा में दर्शन विचारधारा प्रचलित है, उसी प्रकार पाश्चात्य परम्परा में भी अनेक दार्शनिक हुए हैं जैसे—अरस्तू, स्पिनोजा, देकार्त्त, लाइबनित्ज, लॉक, प्लेटो, हीगेल, बर्कले, ह्यूम, काण्ट इत्यादि। भारतीयदर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन की विचारधारा में अन्तर यह है कि जहाँ पाश्चात्य दर्शन में मोक्ष तथा धर्म को बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया है, वहीं भारतीय दर्शन में इन दोनों को महान् आदर प्रदान किया गया है। पाश्चात्य दर्शन की प्रवृत्ति केवल बुद्धि विलास के लिए है, लेकिन भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति की प्रवृत्ति परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए होती है।

सामान्यतया भारतीय दर्शन के दो भेद हैं—

१. **नास्तिकवर्ग**—चार्वाक, बौद्ध, जैन

२. **आस्तिकवर्ग**—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त (अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत)

वेदप्रामाण्य मानने वाले दर्शन 'आस्तिकवर्ग' में सम्मिलित हैं तथा वेदप्रामाण्य को न मानने वाले दर्शन 'नास्तिकवर्ग' में आते हैं—नास्तिको वेदनिन्दकः (मनु स्मृति २.११)

उपर्युक्त आस्तिकवर्ग तथा नास्तिकवर्ग का विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। इनके अतिरिक्त माधवाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ अन्य दर्शनों की विचारधारा का भी प्रतिपादन किया है। जैसे—

१. पूर्णप्रज्ञ दर्शन (द्वैत वेदान्त)
२. नकुलीश पाशुपत दर्शन
३. शैव दर्शन
४. प्रत्यभिज्ञा दर्शन (काश्मीरी शैव दर्शन)
५. रसेश्वर दर्शन (आयुर्वेद-दर्शन)
६. पाणिनि दर्शन (व्याकरण दर्शन)

वेदान्त दर्शन के भी दस प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं, जिसमें प्रथम दो का ही संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थ "सर्वदर्शनसंग्रह" में किया गया है—

१. अद्वैत–शंकर
२. विशिष्टाद्वैत–रामानुज
३. द्वैताद्वैत–निम्बार्क
४. द्वैत–मध्व
५. भेदाभेद–भास्कर
६. शैवविशिष्टाद्वैत–श्रीकण्ठ
७. वीरशैवविशिष्टाद्वैत–श्रीपति
८. शुद्धाद्वैत–वल्लभ
९. अविभागाद्वैत–विज्ञानभिक्षु
१०. अचिन्त्यभेदाभेद–बलदेव

इन दर्शनों की विचार परम्परा के विकासक्रम के अनुसार इन सभी १६ दर्शनों का समावेश इस संग्रह में किया गया है। चार्वाक दर्शन विचार करने की प्रारम्भिक अवस्था

है तथा विचारसरणि की चरम अवस्था अद्वैत वेदान्त है। माधवाचार्य स्वयं अद्वैतवेदान्ती ही थे। अतः अपने संग्रह का अन्तिम दर्शन उन्होंने अद्वैत वेदान्त रखा है।

भारतीय दर्शन की इन समस्त परम्पराओं में क्रमशः जीव, जगत्, ईश्वर, मोक्ष, पदार्थ-मीमांसा आदि विषयों पर विचार किया गया है।

जीव (आत्मा)—चार्वाक मत में जीव तत्त्व या आत्मतत्त्व कोई पृथक् वस्तु नहीं है बल्कि चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु) ही शरीर में विद्यमान हैं। उन चारों से पृथक् कोई आत्म तत्त्व नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को विज्ञान रूप कहते हैं। वेदान्ती भी आत्मा को ज्ञानरूप कहते हैं तो नैयायिक ज्ञान के अधिकरण को आत्मा बतलाते हैं। जैन मत में जीव तथा अजीव—ये दो तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। उनके मत में जीव शरीराकार परिमित है। जितना बड़ा शरीर उतना बड़ा आत्मा, किन्तु वह शरीर के समान दृश्य नहीं है। सांख्य-योग मत के अनुसार 'आत्मा' की संज्ञा पुरुष है। वह चैतन्यरूप है। मीमांसकों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है। इस प्रकार "आत्मतत्त्व शरीर से भिन्न है" यह मत चार्वाक को छोड़कर सभी दार्शनिक एकमत से स्वीकार करते हैं।

जगत्—चार्वाक दर्शन की पूर्ण आस्था संसार या जगत् में है। यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। न्याय-वैशषिक-मतानुसार दो परमाणुओं के संयोग से द्‌यणुक की उत्पत्ति होती है तथा तीन द्‌यणुक मिलकर एक त्र्यणुक बनाते हैं। इन त्र्यणुकों से ही सारे जगत् का निर्माण होता है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्च महाभूतों के क्रम से जगत् की सृष्टि होती है। अद्वैत वेदान्त मत में तो ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या स्वीकार किया गया है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त में विवर्तवाद स्वीकार किया गया है तथा सांख्य-योग मत में परिणामवाद। अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिबिम्बवाद स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

ईश्वर—ईश्वर की सत्ता किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों में स्वीकार की गयी है। चार्वाक दर्शन के अनुसार राजा ही ईश्वर है। राजा के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है।

बौद्ध दर्शनानुसार बुद्ध ही ईश्वर हैं तो जैनमत में अर्हत् ईश्वर है। न्यायवैशेषिक मतानुसार आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। परमात्मा ही ईश्वर है वह जगत् का कर्ता है। मीमांसक इन्द्रादि देवताओं तथा तदतिरिक्त भी ईश्वर की सत्ता मानते हैं। वेदान्ती मायातीत निर्गुण ब्रह्म तथा मायायुक्त सगुण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। वैयाकरण स्फोटरूप शब्द ब्रह्म स्वीकार करते हैं। सांख्यमतानुसार पुरुष ही ईश्वर है तथा योगमतानुसार पुरुषातिरिक्त भी ईश्वर है। कुछ लोगों के अनुसार सांख्य मत में भी ईश्वर की सत्ता मानी गयी है। रामानुज ने कुछ विशेषणों से युक्त ईश्वर स्वीकार किया है। पाशुपत मतानुसार शिव ही ईश्वर है, उन्हें ही पशुपति कहा जाता है।

मोक्ष—मोक्ष को परमसुख के रूप में सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं लेकिन इसके मानने के स्वरूप में सबमें किञ्चित् भिन्नता है। चार्वाकों के अनुसार शरीर का नाश ही मोक्ष है। बौद्धों के अनुसार निर्मल ज्ञान की उत्पत्ति ही मोक्ष है तो जैनमतानुसार ऊर्ध्वगामी कर्मों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति होती है। सांख्ययोगमतानुसार पुरुष (आत्मा) को जब विवेकज्ञान उत्पन होता है अर्थात् "मैं प्रकृति से भिन्न हूँ" यह ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष का तात्पर्य है पुरुष की अपने स्वरूप में अवस्थिति। न्याय वैशेषिक मतानुसार षोडश पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से दुःखध्वंसरुप मोक्ष या निःश्रेयस की अधिगति होती है। मीमांसकों के अनुसार प्रपञ्चसम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है। यज्ञादि से होने वाला परमसुख स्वर्गादिरूप होता है। कहा गया है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष रूप कहते हैं। रामानुज मतानुसार ईश्वर के गुणों की प्राप्ति ही मोक्ष है। पाशुपत मतानुसार पशुपति शिव की प्राप्ति ही मोक्ष है तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार पूर्ण आत्मा की प्राप्ति मोक्ष है। वैयाकरण कहते हैं कि परा वाणी का दर्शन करना ही मोक्ष हैं।

पदार्थमीमांसा—चार्वाक दर्शन के अनुसार चार ही तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु। जैनों के अनुसार ७ तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। शून्यवादी बौद्ध शून्य को, विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को स्वीकार करते हैं।

न्यायदर्शन के अनुसार १६ पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेलाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। वैशेषिक ७ पदार्थ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

सांख्य के अनुसार २५ पदार्थ हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, ११ इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत। योगमत में ईश्वर को मिलाकर २६ तत्त्व माने गये हैं। मीमांसकों में भाट्ट मतानुसार ५ पदार्थ हैं—द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया, अभाव। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार ८ पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति, संख्या, सादृश्य तथा समवाय। अद्वैत वेदान्तानुसार ब्रह्म ही एक पदार्थ है। रामानुज के अनुसार दो पदार्थ हैं—प्रमाण तथा प्रमेय। अन्य सभी पदार्थ इन्हीं के अन्तर्गत आते हैं। माध्वों के अनुसार १० पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार ५ तत्त्व हैं—कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त। शैवमतानुसार तीन तत्त्व हैं—पशुपति तथा पाश।

प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में इन सभी विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

माधवाचार्य—सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधवाचार्य हैं। माधवाचार्य नामक तीन विद्वान् पूर्व में हुए हैं।

१. माधवाचार्य और सायणाचार्य दो भाई थे। इनके पिता का नाम मायण तथा माता का नाम श्रीमती था। सन् १३३५ ई. में माधवाचार्य के आदेश से हरिहर प्रथम ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। उसके बाद बुक्क महीपति ने १३४४ ई. से १३७९ ई. तक विजयनगर पर राज्य किया। बुक्क राजा ने माधवाचार्य को वेद का भाष्य लिखने का आदेश दिया और माधवाचार्य ने अपने भाई सायण को इस कार्य में प्रवृत्त किया। सायण ने सभी वेदों के भाष्य, सुभाषितसुधानिधि, प्रायश्चित सुधानिधि, अलंकार सुधानिधि, धातुवृत्ति, पुरुषार्थ सुधानिधि, आयुर्वेदसुधानिधि, यज्ञतंत्र सुधानिधि आदि ग्रन्थों की रचना की। माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला विस्तर तथा पराशर स्मृति की व्याख्या लिखी। माधवाचार्य ने ही बाद में संन्यास ग्रहण किया। वे विद्यारण्य नाम से शृंगेरीमठ के

शंकराचार्य बन गये। उन्होंने माधवीयधातुवृत्ति, पञ्चदशी, वैयासकि न्यायमाला, विवरण-प्रमेय संग्रह आदि ग्रन्थ रचे। सायण-माधव के तीन गुरु थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ।

२. दूसरे माधवाचार्य राजा बुक्क के एक अन्य मंत्री थे। कुछ विद्वानों ने इन्हें तथा पूर्व के माधवाचार्य को एक ही माना है लेकिन ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ये माधवाचार्य एक वीर योद्धा थे तथा बुक्क राजा ने उन्हें जयन्तीपुर का शासक भी बनाया था। इनकी मृत्यु सन् १३९१ ई. में हुई थी।

३. तीसरे माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह के कर्ता थे। ये सायण के भाई माधव से भिन्न थे। इन्होंने अपने को सायण वंश में उत्पन्न बतलाया है। (सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभः) अतः यह प्रतीत होता है कि ये पूर्वोक्त माधवाचार्य से भिन्न हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि सर्वदर्शन संग्रह के कर्ता माधवाचार्य पूर्वोक्त माधवाचार्य (सायण के भाई) से अभिन्न हैं। इनके वंश का नाम ही सायण है। अतः "सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभ" यह विशेषण ठीक ही है।

किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है। माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला के प्रारम्भिक मंगलाचरण के पूर्व में यह बतलाया है कि "वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे। यं नत्वा कृतकृत्याः स्युः तं नमानि गजाननम् ॥" यह श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थप्रणयन का चिह्नरूप है—"स्वमुद्रारूपमनेकार्थगर्भम्...श्लोकं पठति"। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि माधवाचार्य ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में यही मंगलाचरण किया है लेकिन सर्वदर्शनसंग्रह के प्रारम्भ में यह मंगलाचरण नहीं है। अतः, सर्वदर्शनसंग्रह सायण के भाई माधव की रचना नहीं है।

इन तीनों माधवाचार्यों में द्वितीय माधवाचार्य तो निश्चित ही अन्य दोनों से भिन्न थे परन्तु प्रथम तथा तृतीय माधवाचार्य भिन्नता में विद्वान् एकमत नहीं हैं। तथापि अधिकांशतः यही प्रतीत होता है कि ये दोनों माधवाचार्य भी भिन्न-भिन्न ही थे।

सर्वदर्शनसंग्रह का मूलग्रन्थ तो अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है, लेकिन सर्वदर्शनसंग्रह की व्याख्याओं में पं. वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर की संस्कृत व्याख्या

अत्यधिक प्रामाणिक तथा पाण्डित्यपूर्ण है। भारतीय विद्या प्रकाशन से प्रकाशित सर्वदर्शनसङ्ग्रह (मूलमात्र) भी प्रामाणिक तथा शुद्ध है। हिन्दी व्याख्याओं में डॉ. उमाशंकर शर्मा "ऋषि" की हिन्दी व्याख्या उपलब्ध है।

प्रस्तुत व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि यह एक सर्वांगपूर्ण व्याख्या बन सके तथापि यदि प्रमादवश कोई कमी रह गयी हो तो सहृदय पाठक क्षमा करेंगे।

अन्त में अपने कै.वा. प्रात:स्मरणीय पिताजी **डॉ. जनार्दन गंगाधर रटाटे** तथा **माताजी श्रीमती लक्ष्मी देवी** को प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए **पत्नी सौ. मृदुला रटाटे कन्या कु. आकृति व पुत्र चि. उत्कर्ष** को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस कार्य में प्रेरणा व उत्साह प्रदान किया। **भारतीय विद्या प्रकाशन** के **श्री राकेश जैन** भी परम धन्यवाद के भागी हैं, जिन्होंने उत्साहवर्धन, सतत प्रेरणा तथा सहयोग प्रदान करते हुए यह व्याख्या प्रकाशित की है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।

माधव जनार्दन रटाटे

कार्तिक शु. १५
सं. २०६५

सर्वतोभद्र

वर्तमान युग में शास्त्राध्ययन की दो प्रकार की पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम पारम्परिक पद्धति, जिसमें शास्त्रीय ग्रन्थों का पंक्तिशः, शब्दशः किं बहुना अक्षरशः अध्ययन, मनन एवं अनुसन्धान आचार्य के सान्निध्य में सम्पादित होता है। इस पद्धति में ग्रहण एवं धारण का विशेष महत्त्व होता है। प्राचीन काल में यद्यपि यही पद्धति मान्य तथा प्रचलित थी किन्तु वर्तमान युग में भी कतिपय आश्रमों, गुरुकुलों तथा गृहपाठशालों के साथ-साथ शासन द्वारा संचालित पारम्परिक विश्वविद्यालयों/महाविद्यालयों में भी इसके संरक्षण तथा संवर्धन का पर्याप्त प्रयास किया जा रहा है। गुरुकुलीय एवं विश्वविद्यालीय पद्धति में इतना अन्तर अवश्य है कि गुरुकुलों में एक विषय केन्द्रित परीक्षोपाधि निरपेक्ष अध्ययन होने के कारण तथा समय का कोई विशेष बन्धन न होने के कारण तलस्पर्शि वैदुष्य सम्पादन करना सम्भव हो पाता है, किन्तु विश्व विद्यालयीय प्रक्रिया में अनेक प्रकार के बन्धन होने के बाद भी परिणाम असन्तोषावह नहीं है। शास्त्राध्ययन की दूसरी विधा है आधुनिक पद्धति से संचालित होने वाली संस्थाओं में संस्कृत एवं दर्शन विषय के अध्ययन की। इसमें उन्हीं शास्त्रीय ग्रन्थों का अंशतः अध्ययन कराया जाता है। अल्प समय में बहुत से विषयों से परिचय सम्पादित करने के कारण यह पद्धति भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुयी है। राष्ट्रीय अथवा अन्तराष्ट्रीय स्तर पद सर्वेक्षण किया जाये तो कुछ ऐसे ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो दोनों ही पद्धतियों में समानरूप से मान्य हैं। इन ग्रन्थों में तर्कसंग्रह, वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी, न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, काव्यप्रकाश, मीमांसा प्रकाश आदि प्रमुख हैं। माधवाचार्य द्वारा विरचित सर्वदर्शन संग्रह का यद्यपि प्रथम कोटि के अध्ययन क्रम में कोई विशेष स्थान नहीं है, तथापि यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं एवं उपशाखाओं के सर्वाङ्गीण परिचय का एक अतिमहत्त्वपूर्ण साधन है। न्याय, वेदान्त आदि प्रसिद्ध दर्शनों के साथ बिम्बार्क, पाशुपत आदि अनतिप्रसिद्ध दर्शनों का भी विवेचन किये जाने के कारण इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि इन दर्शनों

पर आधारित प्रामाणिक आकर ग्रन्थ अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं, तथा जो प्राप्त है उनका आशयावगमन सुलभ नहीं है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें परिचपालक विवरण के साथ साथ स्थान स्थान पर गहन चिन्तन भी किया गया है। अतः दोनों ही प्रकार के अध्यताओं के लिये इसका अध्ययन एवं अनुशीलन महत्त्वपूर्ण है।

मीमांसा शास्त्र एवं पौराणिक वाङ्मय के विशिष्ट विद्वान् डॉ. माधव जनार्दन रटाटे ने इस ग्रन्थ का राष्ट्रभाषा में भाष्य करके दर्शन शास्त्र के अध्येताओं का अत्यन्त उपकार किया है। विद्वत्कुल में उत्पन्न होने तथा काशी के विशिष्ट विद्वानों के चरणों में विद्यार्जन करने के कारण डॉ. रटाटे इस दुरूह कार्य को करने में सक्षम हो सके। यह व्याख्या भाग भाषानुवाद न होकर ग्रन्थ के दूरूह स्थलों के अवबोध में भी सहायक है।

मै व्याख्याकार के सर्वतोभद्र की कामना करते हुये माँ अन्नपूर्णा एवं बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना करता हूँ कि इस व्याख्या ग्रन्थ को दार्शनिक वाङ्मय में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो, साथ ही इस प्रकार के शैक्षणिक क्रिया कलापों में डॉ. रटाटे की प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

प्रो. राजाराम शुक्ल
विभागाध्यक्ष, वैदिक दर्शन विभाग,
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषय-सूची

विषय	पृ.सं.
(१) चार्वाक-दर्शन	१-१८
१. चार्वाक दर्शन का नामकरण	१
२. तत्त्व-मीमांसा	२
३. सुख की प्राप्ति—दुःख और सुख का मिश्रण	३
४. यज्ञों और वेदों की निस्सारता	४
५. ईश्वर-मोक्ष-आत्मा	६
६. चार्वाक मत-संग्रह	७
७. अनुमान-प्रमाण का खण्डन	७
८. प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं	९
९. अनुमान और शब्द से भी व्याप्तिज्ञान नहीं सम्भव	१०
१०. उपमानादि से भी व्याप्ति सम्भव नहीं	११
११. व्याप्तिज्ञान का दूसरा उपाय भी नहीं है, उपाधि का लक्षण	१२
१२. व्याप्तिज्ञान और उपाधिज्ञान में अन्योन्याश्रयदोष	१५
१३. लौकिक-व्यवहार और वस्तुएँ	१५
१४. चार्वाक-मत का सार	१६
(२) बौद्ध-दर्शन	१९-६४
१. चार्वाक-मत का खण्डन—व्याप्ति की सुगमता	१९
२. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान संभव नहीं	१९
३. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान—पंचकारणी	२१
४. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान	२२
५. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर	२२
६. बौद्धदर्शन के चार भेद—भावनाचतुष्टय	२४
७. क्षणिकत्व की भावना—अर्थक्रियाकारित्व	२६
८. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना	२७
९. सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता	२८
१०. अतिशय द्वारा दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष	३०

११. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं० १ ३१

अनवस्था सं० २

अनवस्था सं० ३

१२. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति ३२

१३. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना ३३

क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय

ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय

१४. निष्कर्ष—क्षणिकवाद की स्थापना ३५

१५. सामान्य का खण्डन ३६

१६. दुःख और स्वलक्षण की भावनायें ३८

१७. शून्य की भावना—माध्यमिक-सम्प्रदाय ३९

१८. योगाचार-मत—विज्ञानवाद ४३

१९. बाह्य पदार्थ का खण्डन ४३

२०. बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना ४४

२१. सौत्रान्तिक-मत—बाह्यार्थानुमेयवाद ४७

२२. बाह्यार्थ की सत्ता—निष्कर्ष ४९

२३. बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है ४९

२४. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान ५०

२५. विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण ५२

२६. ज्ञान के चार कारण ५३

२७. चित्त और उसके विकार—पाँच स्कन्ध ५४

२८. चार आर्य सत्य—दुःख, समुदाय, निरोध, मार्ग ५४

२९. हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप ५६

३०. सौत्रान्तिक-मत का उपसंहार ५८

३१. वैभाषिक-मत—बाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववाद ५९

३२. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकामात्र प्रमाण है ६०

३३. तत्त्व की अभिन्नता—मार्गों में भेद ६१

३४. द्वादश आयतनों की पूजा ६२

३५. बौद्ध मत का संग्रह ६२

(३) आर्हत-दर्शन (जैन-दर्शन) ६५-११२

१. क्षणिकत्व-भावना का खण्डन ६५

२. क्षणिक-पक्ष में बौद्धों की युक्ति ६६

३. जैनों द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन ६७

४. क्षणिकवाद के खण्डन की दूसरी विधि ६८

५. क्षणिकत्वपक्ष में ग्राह्यग्राहकभाव का न होना ७१
६. ज्ञान के साकार होने में दोष ७१
७. अर्हत् मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप ७४
८. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शङ्का ७४
९. अर्हत् के सम्बन्ध में मीमांसकों की शङ्का का समाधान ७७
१०. नैयायिकों की शङ्का और उसका समाधान ७९
११. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन ८०
१२. ईश्वर को कर्त्ता मानने में आपत्ति ८३
१३. सर्वज्ञ की सिद्धि ८४
१४. त्रिरत्नों का वर्णन—सम्यक् दर्शन ८४
१५. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप ८५
१६. सम्यक् चरित्र और पञ्चमहाव्रत ८७
१७. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाये ८९
१८. जैन-तत्त्व-मीमांसा—दो तत्त्व ९०
१९. दूसरा मत—पाँच तत्त्व ९३
२०. काल भी एक द्रव्य है ९६
२१. तीसरा मत—सात तत्त्व ९७
२२. बन्ध का निरूपण ९८
२३. बन्धन के कारण ९९
२४. बन्धन के भेद १००
२५. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व—संवर १०२
२६. निर्जरा १०३
२७. मोक्ष का विचार १०४
२८. संवर और निर्जरा को मिलाकर नौ तत्त्व १०५
२९. जैन न्याय शास्त्र—सप्तभङ्गीनय १०६
३०. जैनमतसङ्ग्रह ११०
(४) रामानुजदर्शन ११३-१५२
१. अनेकान्तवाद का खण्डन ११३
२. सप्तभंगीनय की निस्सारता ११४
३. जीव के परिमाण का खण्डन ११५
४. रामानुज-दर्शन के तीन पदार्थ ११६
५. अद्वैत-वेदान्त का इस विषय में पूर्वपक्ष ११७
५. क. रामानुज का उत्तर-पक्ष ११८
६. रामानुज द्वारा इसका खण्डन १२०

७. अज्ञान को भावरूप मानने में अनुमान और उसका खण्डन १२१
७. क. उपर्युक्त अनुमान का प्रत्यनुमान १२२
८. भावरूप अज्ञान मानने में श्रुति-प्रमाण नहीं है १२४
९. अज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति से भी नहीं—'तत्त्वमसि' का अर्थ १२५
१०. तत्त्वमसि में लक्षणा—अद्वैत-पक्ष १२६
११. रामानुज का उत्तर-पक्ष १२६
१२. सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं १२७
१३. निर्विशेष ब्रह्म की अप्रामाणिकता १३०
१४. प्रपञ्च की सत्यता १३१
१५. निर्गुणवाद और नानात्वनिषेध की सिद्धि १३२
१६. रामानुज-मत की तत्त्वमीमांसा १३३
१६. क. चित्, अचित् और ईश्वर के स्वभाव १३३
१६. ख. जीव का वर्णन १३५
१६. ग. अचित् का निरूपण १३७
१७. ईश्वर का निरूपण—उनकी पाँच मूर्तियाँ १३७
१८. उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति १४०
१९. क. कर्म के साथ ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है १४२
२०. ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ १४४
२१. भक्ति का निरूपण १४८
२२. द्वितीय सूत्र—ब्रह्म का लक्षण १४९
२३. तृतीय सूत्र-ब्रह्म के विषय में प्रमाण १५०
२४. चतुर्थ सूत्र-शास्त्रों का समन्वय १५१

(५) पूर्णप्रज्ञदर्शन १५३-१८४

१. द्वैतवाद की रामानुजमत से समता और विषमता १५३
२. द्वैतवाद के तत्त्व—भेद की सिद्धि १५४
३. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि-शङ्का १५५
३. क. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि–समाधान १५६
४. धर्मभेदवादी का समर्थन–भेद की सिद्धि १६०
५. अनुमान-प्रमाण से भेद की सिद्धि १६१
६. ईश्वर की सेवा के नियम १६३
६. क. नामकरण और भजन १६५
७. श्रुति-प्रमाण से भेद की सिद्धि १६६
८. माया का अर्थ—द्वैत का प्रतिपादन १६७
९. ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के अन्य प्रमाण १६९

१०. मोक्ष ईश्वर के प्रसाद से ही मिलता है १७०
११. 'तत्वमसि' का अर्थ १७१
११. क. तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ १७२
११. ख. उक्त नव दृष्टान्तों से भेद-सिद्धि १७३
१२. एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान—इसका अर्थ १७५
१३. मिथ्या का खण्डन १७७
१४. ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ १८०
१५. ब्रह्म का लक्षण १८१
१६. ब्रह्म के विषय में प्रमाण १८१
१७. शास्त्रों का समन्वय १८३
१८. पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का उपसंहार १८३

(६) नकुलीश-पाशुपत-दर्शन १८५-१९८
१. वैष्णव-दर्शनों में दोष १८५
२. पाशुपत-सूत्र की व्याख्या—गुरु का स्वरूप १८६
२. क. सूत्र के अन्य शब्द—अतः, पति आदि १८८
३. दुःखान्त का निरूपण १८९
४. कार्य का निरूपण १९०
५. कारण और योग का निरूपण १९१
६. विधि का निरूपण १९२
७. समासादि पदार्थ और अन्य शास्त्रों से तुलना १९४
८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता १९५
१०. ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति १९७

(७) शैव-दर्शन १९९-२१६
१. शैवागमसिद्धान्त के तीन पदार्थ १९९
२. पति का निरूपण २०१
२. क. ईश्वर को कर्ता मानने में आपत्ति और समाधान २०१
३. ईश्वर का शरीर धारण २०४
४. 'पशु' पदार्थ का निरूपण—अन्य मतों का खण्डन २०६
५. जीव के तीन भेद २०८
५. क. विज्ञानाकल जीव के दो भेद २०९
५. ख. प्रलयाकल जीव के दो भेद २१०
५. ग. 'सकल' जीव के भेद २१२
६. 'पाश' पदार्थ का निरूपण २१४
७. उपसंहार २१६

(८) प्रत्यभिज्ञा-दर्शन २१७-२३२

१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप २१७

२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का साहित्य २१८

३. प्रथम सूत्र की व्याख्या २१९

३. क. 'अपि' और 'उप' शब्दों के अर्थ २२१

४. प्रत्यभिज्ञा के प्रदर्शन की आवश्यकता २२३

५. ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति २२५

६. वस्तुओं का प्रकाशन—आभासवाद २२६

७. ईश्वर की इच्छा से संसारोत्पत्ति २२७

८. उपादान कारण और पदार्थों की उत्पत्ति २२८

९. विभिन्न प्रश्न—जीव और संसार का सम्बन्ध २२९

९. क. प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त में भेद २२९

१०. प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता—अर्थक्रिया में भेद २३०

११. उपसंहार २३२

(९) रसेश्वर-दर्शन २३३-२४४

१. रस से जीवन्मुक्ति—पारद और उसका स्वरूप २३३

२. जीवन्मुक्ति की आवश्यकता २३४

३. हर-गौरी की सृष्टि—पारद, अभ्रक २३४

४. रस के सामर्थ्य से दिव्य-देह की प्राप्ति २३६

५. दो प्रकार के कर्म-योग २३६

६. पारद के तीन स्वरूप—मूर्छित, मृत और बद्ध २३७

७. रस के अष्टादश संस्कार २३७

८. देहवेध ओर उसकी आवश्यकता २३८

९. जीवितावस्था में मुक्ति-देहवेध के विषय में शंका २३९

१०. जीवितावस्था में मुक्ति—एक वाद २४०

११. शरीर की नित्यता—इसके प्रमाण २४०

१२. पारद-रस के सेवन से जरामरण से मुक्ति २४२

१३. पारद-लिंग की महिमा २४२

१४. पुरुषार्थ और ब्रह्म-पद २४३

१५. रस और परब्रह्म में समता—रसस्तुति २४३

(१०) औलूक्य-दर्शन २४५-२७४

१. दुःखान्त के लिए परमेश्वर का साक्षात्कार २४५

२. वैशेषिक-सूत्र की विषय-वस्तु २४७

३. शास्त्र की प्रवृत्ति—उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा २४९
४. पदार्थों की संख्या—छह या सात? २५०
५. छह पदार्थों के लक्षण—द्रव्यत्व और गुणत्व २५१
५. क. कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय २५३
६. द्रव्य के भेद और उनके लक्षण २५५
७. गुण के भेद और उनके लक्षण २५९
८. कर्म आदि के भेद २६०
९. द्वित्व आदि की उत्पत्ति का विवेचन २६१
९. क. द्वित्व की उत्पत्ति का फल २६२
९. ख. द्वित्व की निवृत्ति का कम २६३
९. ग. अपेक्षाबुद्धि का लक्षण २६५
१०. पाकज पदार्थ की उत्पत्ति २६६
११. विभागज विभाग का विवेचन २६७
११. क. विभागज विभाग का दूसरा भेद २६९
१२. अन्धकार का विवेचन २७०
१३. अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत २७१
१४. अभाव का विवेचन २७३

(११) अक्षपाद-दर्शन २७५-३०४
१. न्यायशास्त्र की रूपरेखा २७५
२. प्रमाण का विचार २७७
३. प्रमेय-पदार्थ का विचार २७९
४. संशय, प्रयोजन और दृष्टान्त २८०
४. क. सिद्धान्त और अवयव २८१
५. तर्क का स्वरूप और भेद २८१
५. क. निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा २८२
५. ख. हेत्वाभास और छल २८२
६. जाति और उसके चौबीस भेद २८४
६. निग्रहस्थान और उसके बाईस भेद २८७
७. न्यायशास्त्र का नामकरण २८९
८. अपवर्ग के साधन—न्याय का द्वितीय सूत्र २९०
९. मोक्ष का स्वरूप—माध्यमिक मत २९२
९. क. मोक्ष के विषय में विज्ञानवादियों का मत २९३
१०. जैनों के मत से मोक्ष का विचार २९४

११. चार्वाक और सांख्य-मत में मोक्ष	२९४
११ क. मीमांसा-मत से मुक्ति-विचार	२९५
१२. नैयायिक-मत से मुक्ति-विचार	२९६
१३. ईश्वर की सत्ता के लिए—पूर्वपक्ष	२९७
१३ क. नैयायिकों का उत्तर—ईश्वरसिद्धि	२९८
१३ ख. कर्ता का लक्षण तथा ईश्वर का कर्तृत्व	३००
१४. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण—पूर्वपक्ष	३०२
१५. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण सिद्धान्त	३०३
(१२) जैमिनिदर्शन	**३०५-३४४**
१. मीमांसा-सूत्र की विषय-वस्तु	३०५
२. प्रथम सूत्र तथा अधिकरण का निरूपण	३११
३. भाट्टमत से अधिकरण का निरूपण	३१२
३ क. पूर्वपक्ष-शास्त्रारम्भ ठीक नहीं	३१२
४. सिद्धान्तपक्ष-शास्त्रारम्भ करना सर्वथा उचित है	३१६
४ क. अध्ययन-विधि का लक्ष्य अर्थबोध ही है	३१८
४ ख. मीमांसा के विषय में अन्य शंका और उत्तर	३१९
५. सिद्धान्तपक्ष का उपसंहार और संगति का निरूपण	३२०
६. प्रभाकर के मत से उक्त अधिकरण का निरूपण	३२१
६ क. प्रभाकरके मत से पूर्वपक्ष	३२३
६ ख. प्रभाकर-मत से सिद्धान्तपक्ष	३२४
७. वेदों को पौरुषेय माननेवाले पूर्वपक्ष का निरूपण	३२६
७ क. पौरुषेयसिद्धि का दूसरा रूप	३२८
८. वेद अपौरुषेय हैं—सिद्धान्त-पक्ष	३२९
८ क. पौरुषेयत्व का दूसरे प्रकार से खण्डन	३३१
९. शब्दानित्यत्व का खण्डन	३३२
१०. वेद की प्रामाणिकता-निष्कर्ष (प्रामाण्यवाद का निरूपण)	३३६
११ क. स्वत:प्रामाण्य का अर्थ	३३७
१२. स्वत:प्रामाण्य की सिद्धि—शंका-समाधान	३४०
१२ क. ज्ञप्ति-विषयक स्वत:प्रामाण्य की सिद्धि	३४१
१३. प्रामाण्य का उपयोग प्रवृत्ति में नहीं होता—उदयन	३४२
१३ क. इसका खण्डन	३४२
१४. मीमांसा-दर्शन का उपसंहार	३४३

(१३) पाणिनि-दर्शन ३४५-३६८
१. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन ३४५
२. 'अथ शब्दानुशासनम्' का अर्थ ३४५
२. क. 'शब्दानुशासन' पर विचार-विमर्श ३४६
३. शब्दानुशासन से प्रयोजन की सिद्धि ३४९
४. व्याकरणशास्त्र की विधि—प्रतिपदपाठ नहीं ३५०
५. व्याकरण के अन्य प्रयोजन ३५२
५. क. व्याकरण से अभ्युदय की प्राप्ति ३५३
६. शब्द ही ब्रह्म है ३५५
६. क पद-भेद की संख्या ३५५
७. स्फोट—नैयायिकों की शंका और उसका समाधान ३५६
७ क. स्फोट पर अन्य शंका—मीमांसक ३५७
८. मीमांसकों की शंका का उत्तर—स्फोटसिद्धि ३५९
८. क. स्फोट पर अन्य आपत्तियाँ और समाधान ३६०
९. सत्ता ही शब्दों का अर्थ है—पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष ३६१
१०. द्रव्य को पदार्थ मानने वालों का विचार ३६४
११. जाति और व्यक्ति को पदार्थ माननेवालों के विचार ३६५
१२. पाणिनि के मत से पदार्थ—जाति-व्यक्ति दोनों है ३६६
१३. अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि ३६७
१४. व्याकरण से मोक्ष प्राप्ति ३६८
(१४) साङ्ख्य-दर्शन ३६९-३८६
१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व ३६९
२. प्रकृति का अर्थ ३७०
३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व ३७१
४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व ३७३
५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व ३७४
६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा ३७४
७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत ३७५
७. क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खण्डन ३७६
८. सत्कार्यवाद की सिद्धि ३७७
८. क. विवर्तवाद का खण्डन ३८०
९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि ३८०
१०. प्रधान की निरपेक्षता ३८२

१०. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है ३८३
११. प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध ३८४
१२. प्रकृति की निवृत्ति-प्रलय ३८५
(१५) पातञ्जलदर्शन ३८७-४४८
१. योगसूत्र की विषय-वस्तु ३८७
२. मोक्ष के विषय में शंका और उसका समाधान ३८९
३. प्रथम सूत्र की व्याख्या—'अथ' शब्द का अर्थ ३९१
३. क. 'अथ' शब्द मङ्गल का द्योतक भी नहीं ३९५
४. 'अथ' का आरम्भ या अधिकार ३९७
५. योग के चार अनुबन्ध ३९९
६. योग और शास्त्र में सम्बन्ध ४०१
७. योग का लक्षण और समाधि ४०२
७. क. योग का अर्थ समाधि-वापत्ति ४०३
७ ख. योग का व्यावहारिक अर्थ—चितवृत्तिनिरोध ४०४
८. चित्त और विषयों का सम्बन्ध ४०६
८ क. परिणाम के तीन भेद ४०८
९. योग का अर्थ वृत्तिनिरोध लेने पर आपत्तिं ४०८
९ क. समाधान ४१०
१०. समाधि का निरूपण—इसके भेद ४११
११. पाँच प्रकार के क्लेश—अविद्या पर आपत्ति ४१३
११ क. आपत्ति का समाधान ४१६
१२. अस्मिता, राग और द्वेष ४१९
१३, 'अनुशयी शब्द की सिद्धि में व्याकरण का योग ४२०
१४. अभिनिवेश का निरूपण ४२२
१५. कर्म. विपाक और आशय ४२२
१६. वृत्तिनिरोध के उपाय—अभ्यास और वैराग्य ४२३
१७. समाधिप्राप्ति के लिए क्रियायोग ४२४
१८. मन्त्र और उनका विवेचना ४२५
१८ क. मन्त्रों के दस संस्कार ४२६
१९. ईश्वरप्रणिधान और क्रियायोग का उपसंहार ४२८
२०. क्रिया ही योग है—शुद्धा सारोप लक्षणा ४२९
२० क. प्रयोजनमूलक लक्षणा ४३२
२१. योग के आठ अंग-यम और नियम ४३३

२१ क. आसन और प्राणायाम ४३४
२२. वायुतत्व का निरूपण ४३७
२३. प्रत्याहार का निरूपण ४४१
२३ क. धारणा और ध्यान ४४३
२४. योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ ४४४
२४ क. मधुमती-सिद्धि ४४४
२४ ख. अन्य सिद्धियाँ—मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा ४४५
२५. कैवल्य की प्राप्ति-प्रकृति और पुरुष को ४४७
२५ क. योगशास्त्र के चार पक्ष ४४८
(१६) शाङ्कर-दर्शन ४४९-५३४
१. परिणामवाद-खण्डन-प्रकृति की सिद्धि अनुमान से असम्भव ४४९
१ क. प्रकृति के लिए श्रुति-प्रमाण भी नहीं है ४५०
१ ख. सांख्य-दर्शन के दृष्टान्त का खण्डन ४५२
२. वेदान्त सूत्र की विषय-वस्तु ४५६
३. ब्रह्म की जिज्ञासा-प्रथम अधिकरण ४५८
४. आत्मा की जिज्ञासा असम्भव—सन्देह की असम्भावना ४५८
४ क. आत्मा की जिज्ञासा असम्भव—प्रयोजन का अभाव ४६२
५. ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ सम्भव-उत्तरपक्ष ४६७
५ क. उपक्रम आदि लिंगों के उदाहरण—आत्मा की सिद्धि ४६७
६. आत्मा का अभ्यास—वैशेषिक-मत की परीक्षा ४६९
६ क. आत्मा के अध्यास की पुनः सिद्धि-भेद का खण्डन ४७२
६ ख. जैनमत में स्वीकृत जीव पर विचार ४७३
७. विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन-विज्ञान आत्मा ४७४
८. आत्मा के विषय में सन्देह ४७६
९. ब्रह्म की सिद्धि के लिए आगम प्रमाण ४७७
९ क. सिद्ध अर्थ कां बोधक होने से वेद अप्रमाण-पूर्वपक्ष ४७९
९ ख. सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति-उत्तरपक्ष ४८१
१०. अध्यास का निरूपण-प्रपंच का विवर्त रूप होना ४८४
१० क. अध्यास के भेद-दो प्रकार से ४८५
११. अध्यास का मीमांसकों के द्वारा खण्डन-लम्बा पूर्वपक्ष ४८६
११ क. मिथ्याज्ञान के लिए कारण-सामग्री का अभाव ४८८
११ ख. असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता ४८९
११ ग. ग्रहण और स्मरण का विश्लेषण ४९०

११ घ. ग्रहण और स्मरण में अभेद या सारूप्य ४९२
११ ङ 'पीत: शङ्ख:' के व्यवहार का समर्थन ४९५
१२. 'नेदं रजतम्' की सिद्धि—मीमांसक-मत ४९६
१२ क. प्रभाकर-मत से अभाव का खण्डन ४९७
१३. मिथ्याज्ञान की सत्ता है शंकर का उत्तरपक्ष ४९९
१३ क. रजत का सीपी पर आरोप ५०१
१४. आरोप के विषय में शंका समाधान ५०३
१४ क. मीमांसकों के तर्कों का उत्तर ५०४
१५. माध्यमिक बौद्धों का खण्डन-भ्रमविचार ५०७
१५ क. विज्ञानवादियों का खण्डन-भ्रमविचार ५०८
१५ ख. नैयायिकों की अन्यथाख्याति का खण्डन ५०९
१६. 'इदं रजतम्' में ज्ञान की एकता—शंका और समाधान ५१०
१७. त्रिविध सत्ता तथा अनिर्वचनीयख्याति ५१२
१८. माया और अविद्या की समानता ५१३
१८ क. अविद्या की सत्ता के लिए प्रमाण ५१५
१८ ख. 'अहमज्ञ:' का प्रत्यक्ष अनुभव और नैयायिक-खण्डन ५१६
१९. दूसरी विधि से 'अहमज्ञ:' के द्वारा अविद्या की सिद्धि ५१८
२०. अनुमान से अविद्या की सिद्धि ५२०
२१. शब्द-प्रमाण से अविद्या की सिद्धि ५२२
२२. शाक्त-सम्प्रदाय में माया-शक्ति ५२२
२३. संसार अविद्या-कल्पित है—शंका-समाधान ५२४
२४. प्रपञ्च की सत्यता का खण्डन-सत्य की निवृत्ति नहीं ५२८
२५. आत्मज्ञान से अविद्या-नाश-राजपुत्र का दृष्टान्त ५३०
२६. प्रथम सूत्र का उपसंहार और अनुबन्ध ५३२
२६. क. चतुस्सूत्री के अन्य सूत्र-स्वरुप और तटस्थ लक्षण ५३३

॥ श्रीः ॥

सर्वदर्शनसंग्रहः

सुबोधिनीव्याख्योपेतः

प्रणम्य सद्गुरुन् भक्त्या पितरं श्रीजनार्दनम् ।
कुर्वे सुबोधिनीं व्याख्यां सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ।।

भारतीय परम्परा के अनुसार तथा ''मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते'' इस वचन के अनुसार आचार्य सायण-माधव ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण (शिवजी को नमन) किया है।

नित्यज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम् ।
येनैव जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्तृकम् ।।१।।

अनुवाद—नित्य ज्ञान के आश्रय, मोक्ष के भण्डार भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ। जिनसे पृथ्वी आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए है, उनके ही कारण यह सारा संसार सकर्तृक (कर्ता से युक्त) कहा जाता है।

विशेष—इस प्रथम मङ्गलाचारण श्लोक में ग्रन्थकार ने न्यायमत के अनुसार ईश्वर को जगत् का कर्ता माना है। ईश्वर जगत् का कारण है तथा जगत् उसका कार्य। इसी कारण यह जगत् सकर्तृक है। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में भी इसी प्रकार मङ्गलाचरण में 'संसारमहीरु- हस्य बीजाय' कहकर जगत् की सकर्तृकता सिद्ध की गयी है। परमात्मा ज्ञान का आश्रय है-यह मत भी न्यायानुकूल है, किन्तु ईश्वर को निःश्रेयस निधि कहकर मोक्ष रूप कहा गया है। ईश्वर को मोक्षरूप तो वेदान्ती भी कहते हैं। क्योंकि उनके मत में ईश्वर ज्ञान रूप है और ब्रह्म ज्ञान ही तो मुक्ति है। इस प्रकार उक्त मङ्गलाचरण में न्याय-वेदान्त के सिद्धान्तों का सङ्केत देकर सर्वदर्शनों के प्रतिपाद्य विषय ज्ञान, मोक्ष, ईश्वर, जगत्कर्तृत्व, पृथ्वी आदि द्रव्य इत्यादि का भी समावेश किया गया है। अतः,यह मङ्गलाचरण प्रस्तुत ग्रन्थ के भी अनुकूल है।

अब ग्रन्थकार अपने गुरु को प्रणाम करते हैं—

पारं गतं सकलदर्शनसागराणा-
मात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकम् ।
श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं
सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ।।२।।

अनुवाद—सर्व-दर्शन रूपी समूहों के पार गये हुए, अपने अनुकूल कार्यों का आचरण करने से सभी लोगों को कृतार्थ करने वाले, श्री शार्ङ्गपाणि के पुत्र तथा समस्त आगमों के ज्ञाता सर्वज्ञ विष्णु नामक गुरु का मैं प्रतिदिन आश्रय लेता हूँ।

विशेष—आगम का अर्थ है तन्त्रशास्त्र। किन्तु यहाँ आगम शब्द से समस्त शास्त्रों का ग्रहण होता है।

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ।।३।।

अनुवाद—श्रीमान् सायण के वंश रूपी क्षीर सागर में कौस्तुभ मणि के समान तथा महातेजस्वी माधवाचार्य के द्वारा सर्वदर्शनसङ्ग्रह लिखा जा रहा है।

विशेष—माधवाचार्य के भाई का नाम सायण था तथा साथ ही साथ उनके सम्पूर्ण वंश का नाम भी सायण था।

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्य शास्त्राण्यसौ ,
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यास्यत्सतां प्रीतये ।
दूरोत्सारितमत्सरेण मनसा शृण्वन्तु तत्सज्जना ,
माल्यं कस्य विचित्रपुष्परचितं प्रीत्यै न संजायते? ।।४।।

अनुवाद—पूर्वाचार्यों के अत्यन्त दुस्तर शास्त्रों का अच्छी तरह से अध्ययन करके इस श्रीमान सायण वंशी तथा सामर्थ्यशाली माधव ने सज्जनों की प्रसन्नता के लिए उन शास्त्रों को अपने में स्थिर कर दिया। सज्जन लोग ईर्ष्या छोड़कर मन से उन शास्त्रों को सुनें, क्योंकि विविध पुष्पों से बनी माला किसकी प्रसन्नता के लिए नहीं होती अर्थात् सभी को प्रसन्न करने के लिए होती है।

अध्याय - १
चार्वाक-दर्शनम्

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाणं,
भूतार्थवादमथ यो नितरां निविष्टः।
वेदादिनिन्दनपरः सुखमेव धत्ते,
सोऽयं बृहस्पतिमुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ।।-ऋषिः

१. चार्वाक दर्शन का नामकरण

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते? बृहस्पति-मतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात्। दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्–

१. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः? ।।

इति लोकगाथाम् अनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेण अर्थकामौ एव पुरुषार्थौ मन्यमानाः, पारलौकिकमर्थम् अपह्नुवानाः, चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते। अत एव तस्य चार्वाकमतस्य 'लोकायतम्' इत्यन्वर्थम् अपरं नामधेयम्।।

अनुवाद—(मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में ईश्वर को मुक्ति का भण्डार कहा गया है) किन्तु, परमेश्वर को मुक्ति प्रदान करने वाला कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि बृहस्पति के मत को मानने वाले, नास्तिकों में शिरोमणि चार्वाक ने उसको (परमेश्वर को) दूर उखाड़ फेंका है। (अर्थात् ईश्वर का खण्डन किया है।) चार्वाक के मत का खण्डन करना अत्यन्त कठिन है। प्रायः सभी प्राणी लोग—

जब तक जीवन है, सुख से जीवित रहना चाहिये, मृत्यु से अगोचर अर्थात् अविषय कोई नहीं (अर्थात् सभी की मृत्यु होती ही है)। शरीर के अग्नि में भस्म हो जाने पर उसका पुनः आगमन कहाँ होता है?

इस लोक गाथा का अनुसरण करते हुए, नीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र के अनुसार क्रमशः अर्थ तथा काम को ही पुरुषार्थ मानते हुए, पारलौकिक पदार्थ को स्वीकार न करते हुए चार्वाक मत को स्वीकार करते हुए ही दिखालाई पड़ते हैं। इसीलिए उस चार्वाक मत का दूसरा नाम-'लोकायत' यह सार्थक ही है।

विशेष—लोक में=संसार में, आयत=फैला हुआ जो मत है वही लोकायत है। वस्तुत: चार्वाक का सिद्धान्त भारतीय दर्शन में विचार करने की शृंखला का प्रारम्भिक स्वरूप है। विचार के प्रथम स्तर पर यह मत सभी लोग मानते हैं। इसीलिए इसे लोकायत कहा जाता हैं 'चार्वाक' का दूसरा अर्थ है चारु वाक् यस्य स: (जिसकी वाणी चारु=सुन्दर, मीठी है। "लोकायत" शब्द पाणिनि के उक्थगण के अन्तर्गत आना है। 'क्रतूक्थादिसूत्रान्तात्ठ्क' (४.२.६०) सूत्र से लोकायत शब्द से ठक् (इक्) होकर 'लोकायतिक' शब्द बनता है। षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न का कहना है कि जो पुण्य-पाप आदि परोक्ष वस्तुओं का चर्वण (विनाश) कर देता है उसे ही चार्वाक कहते हैं। चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति थें कहा जाता है कि एक बार देवगुरु बृहस्पति ने 'दैत्यों' को मोहित करने के लिए उन्हें चार्वाक मत का उपदेश दिया था। चार्वाक मत को नास्तिक शिरोमणि कहा जाता है। भारतीय दर्शन के दो विभाग हैं—

१. नास्तिक (वेद का न मानने वाले)—चार्वाक, जैन, बौद्ध
२. आस्तिक (वेद को मानने वाले)—सांख्य, योग, न्याय,
वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण दर्शन, आयुर्वेद, शैवदर्शन।

चार्वाक मत में ईश्वर, वेद, परलोक को कोई स्थान नहीं है। यह मत 'खाओ पीयो, मौज करो' 'सिद्धान्त को मानता है। ये लोग दो ही पुरुषार्थ मानते हैं—अर्थ तथा काम। धर्म तथा मोक्ष पुरुषार्थ (पुरुष का उद्देश्य) नहीं है।

२. तत्त्व-मीमांसा

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः-'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृह० उप० २।४।१२) **तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा। देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्।।**

अनुवाद—इन (चार्वाक) के मत में पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) चार महाभूत ही तत्त्व हैं। जिस प्रकार किण्व आदि मादक द्रव्यों से (अर्थात् उनको एकत्रित करने पर) मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जब पृथिवी आदि चारों महाभूत देहाकार रूप में बदल जाते हैं तब उनमें चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती है तथा उन महाभूतों के पृथक्-पृथक् होने पर स्वयं ही (चैतन्य शक्ति) नष्ट हो जाती है। जैसा कि कहा गया है-"विज्ञान से परिपूर्ण चैतन्य इन (चारों) महाभूतों से निकलकर पुन: उन्हीं में प्रवेश करता है, मृत्यु के बाद उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती' (बृह० उप० २, ४, १२)। इसलिये चैतन्य

से विशिष्ट देह ही आत्मा है। चैतन्यविशिष्ट देह से भिन्न आत्मा को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के कारण अनुमानादि प्रमाणों को न मानने से आत्मा को देहातिरिक्त मानने में कोई प्रामाण्य नहीं है।

विशेष—किण्व का तात्पर्य है वह पदार्थ जिससे शराब बनायी जाती है। पेड़ से निकले रस विशेष को किण्व कहा जाता है जिससे शराब बनती है—'सुरायाः प्रकृतिभूतो वृक्षविशेषनिर्यासः' (अभ्यंकर) मदिरा के निर्माण में खमीर उठाने वाले बीज या औषधि को किण्व कहते हैं—आप्टे। मनुस्मृति (८, ३२६) में भी किण्व शब्द का प्रयोग हुआं है।

इस प्रकार जब किण्वादि द्रव्यों को परस्पर मिलाया जाता है, तो उनमें मादक शक्ति स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है या जिस प्रकार पान में पत्ता, कत्था, सुपारी, चूना आदि मिलाने पर पान की लालिमा स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार चारों महाभूतों को मिलाने पर चैतन्य शक्ति स्वयं ही उत्पन्न होती है और उन महाभूतों के नष्ट होने पर (मरने पर) वह चैतन्य शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

चार्वाकों का कहना है कि इस चैतन्य शक्ति से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। चार्वाक लोग चार महाभूत ही मानते हैं। वे आकाश को महाभूत नहीं मानते।

उपनिषद् के 'विज्ञानघन' का अर्थ वहाँ ज्ञान स्वरूप आत्मा है लेकिन चार्वाकों ने उसका अर्थ "विज्ञान युक्त चैतन्य" किया है। वस्तुतः इस उपनिषद् वाक्य को शांकर वेदान्त में मुक्ति की अवस्था का वर्णन करते हुए उपस्थापित किया गया है। मुक्ति के बाद जीवात्मा की कोई संज्ञा नहीं रहती है। फिर भी चार्वाकों ने इस वाक्य को अपने प्रयोजन सिद्धि के लिए उद्धृत कर दिया है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं।

३. सुख की प्राप्ति-दुःख और सुख का मिश्रण

अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न च 'अस्य दुःखसम्भिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति' इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण, सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा-मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःखभयात् नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्।।

अनुवाद—स्त्री आदि के आलिंगन आदि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। "यह आलिंगनजन्य सुख दुःखमिश्रित होने के कारण पुरुषार्थ नहीं है"—ऐसा नहीं मानना चाहिये। अनिवार्यतः प्राप्त दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग करना चाहिये। जिस प्रकार कि मछली को चाहने वाला व्यक्ति छिलके तथा कांटों के साथ मछली को पकड़ता है, लेकिन उसे जितना लेना चाहिये, उतना ही लेकर निकल जाता है या जिस

प्रकार अनाज को चाहने वाला व्यक्ति पुआल (छिलका) के साथ अनाज को ले आता है लेकिन वह भी जितना लेना चाहिये, उतना ही लेकर निकल जाता है। इसलिए दुःख के डर से अनुकूल अनूभूति वाले सुख को त्यागना उचित नहीं है।

विशेष—चार्वाक केवल काम तथा अर्थ को ही पुरुषार्थ मानते हैं। उनका मानना है कि सांसारिक सुख भी दुःख से मिश्रित जरूर है, लेकिन दुःख के भय से उस सांसारिक सुख को छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

न हि 'मृगाः सन्ति' इति शालयो नोप्यन्ते। न हि 'भिक्षुकाः सन्ति' इति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद् भीरुः दृष्टं सुखं त्यजेत्, तर्हि स पशुवत् मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्—

२. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् ,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ।।इति।

अनुवाद—ऐसी बात नहीं है कि 'मृग हैं' इसलिए धान ही न रोपा जाए। या फिर यह भी नहीं है कि 'भिक्षुक हैं' इसलिए (चुल्हे पर) बर्तन ही न चढ़ाया जाए। यदि कोई डरपोक व्यक्ति दृष्ट सुख को त्याग देगा, तो वह पशु के समान मूर्ख होगा। जैसा कि कहा गया है—

यह मूर्खों का विचार है कि मनुष्य को विषयों का सङ्ग होने से उत्पन्न सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यह सुख दुःख से मिश्रित है। अरे! अपना हित चाहने वाले कौन व्यक्ति सफेद और अच्छे चावल से युक्त धान को इसलिए त्याग देता है, क्योंकि वह छिलके तथा कण से युक्त है।

विशेष—विषय जन्य सुख को आस्तिक दर्शनों में दुःखदायी कहा गया है। योगदर्शन में यह कहा गया है कि सांसारिक सुख परिणामतः दुःख ही देता है। (''परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः''—योगसूत्र २.१५)

४. यज्ञों और वेदों की निस्सारता

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्ते? इति चेत्, तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। अनृत-व्याघात-पुनरुक्तदोषैः दूषिततया वैदिकम्मन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं-कर्मकाण्ड-प्रामाण्यवादिभिः ज्ञानकाण्डस्य, ज्ञानकाण्ड-प्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन, त्रय्या धूर्तप्रलाप-मात्रत्वेन, अग्निहोत्रादेः जीविकामात्रप्रयोज-नत्वात्। तथा च आभाणकः—

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।। इति।

अनुवाद—फिर पारलौकिक सुख न होने से बहुत धन खर्च करके तथा शरीर के परिश्रम से साध्य अग्निहोत्र आदि यागों में विद्यावृद्ध लोग कैसे प्रवृत्त होते हैं? ऐसा यदि कहें तो यह भी प्रमाणकोटि में प्रवेश करने के योग्य नहीं है। क्योंकि झूठ, विरोध तथा पुनरुक्ति दोषों से दूषित होने के कारण अपने को वैदिक समझने वाले धूर्त बगुलों ने आपस में ही—कर्मकाण्ड को प्रमाणमानने वालों ने ज्ञानकाण्ड का तथा ज्ञानकाण्ड को प्रमाण मानने वालों ने कर्मकाण्ड का खण्डन किया है, तीनों वेद धूर्तों का प्रलाप (बकवास) मात्र हैं तथा अग्निहोत्रादि याग केवलजीविका का साधनमात्र हैं। जैसा कि आभाणक (लोकोक्ति) है—

अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड धारण करना, भस्म लगाना—यह सब बुद्धि तथा बेल से रहित लोगों की जीविका है—ऐसा बृहस्पति का मत है।

विशेष—पूर्वमीमांसादर्शन के अनुसार "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्याकारक वेदवाक्य पुरुष को स्वर्ग प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र याग में प्रवृत्त कराता है। लेकिन यदि 'स्वर्ग' है ही नहीं, तो कोई व्यक्ति इतना कठिन अग्निहोत्र याग क्यों करेगा? इसका उत्तर चार्वाक देते हैं कि स्वर्गादि नामक कोई सुख है ही नहीं। केवल अपनी आजीविका चलाने के लिए लोग यज्ञ-याग कराते हैं। मनुस्मृति (१.८८) में ब्राह्मणों की आजीविका के तीन साधन बतलाये गये हैं—याजन, पाठन, प्रतिग्रह। मनुस्मृति का यह मत ही चार्वाकों के लिए अनुकूल है। चार्वाकों का कहना है कि वेद वाक्य केवल धूर्तों की बकवाद है। वेदों में झूठ (अनृत), व्याघात (परस्पर विरुद्ध वचन) तथा पुनरुक्ति दोष हैं।

१. अनृत दोष—जैसे—ओषधे त्रायस्वैनम् (तै०सं० १.२.१.१) अर्थात् हे औषधि! रक्षा करो, शृणोत ग्रावाणः (तै०सं० १.३.१३.१) अर्थात् हे पत्थरों! सुनो तथा स्वधिते मैनं हिंसीः (तै०सं० १.२.१.१) अर्थात् हे छुरे! इसे मत मारो। इन सभी मन्त्रों में अचेतन वस्तुओं को सम्बोधन होने से ये सभी मन्त्र झूठे सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।" (ऋ०सं० ४.५८.३) यहाँ जिस प्रकार के पशु का वर्णन है, वैसा कोई पशु इस संसार में सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार उपनिषद् भाग में भी अनृत दिखलाई पड़ता है। अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०उ० ३.२), प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै०उ० ३.३) में अन्न को तथा प्राण को ब्रह्म कहा गया है, जो कि सत्य नहीं है।

२. व्याघात दोष—वेदवचन परस्पर विरुद्ध भी हैं। जैसे—"एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे (तै०सं० १.८.६.१)" में कहा गया है कि रुद्र एक ही है लेकिन "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम् (तै०सं० ४.५.११.५)" में कहा गया कि रुद्र

हजारों हैं। उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति—ये दोनों वचन भी परस्पर विरुद्ध हैं। 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ०सं० १.८९.१०) में अदिति को द्यौ तथा अन्तरिक्ष दोनों कहा गया है—यह बात भी परस्पर विरुद्ध है।

३. पुनरुक्ति दोष—जिस बात को लोग जानते हैं उसी को पुनः कहना पुनरुक्ति है। जैसे—आप उन्दन्तु (तै०सं० १.२.१.१) यह मन्त्र कहता है कि क्षौरकाल में सिर को जल से भिंगो देना चाहिये। यह बात तो सभी लोग जानते और करते भी हैं तो फिर वेद मन्त्र सिरको जलसे भिंगोने के लिए कहना पुनरुक्ति है।" शुमिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम" (आप०मं०पा० २.८.९)—यहाँ विवाह के प्रसङ्ग में वरमाला से कहा जाता है कि तुम सिर पर चढ़ो। यह बात भी लोकसिद्ध ही है। अतः, इसे पुनः कहना दोषावह है।

इस प्रकार वेद में ये तीनों दोष दिखलाई पड़ते हैं। साथ ही वेद को दो भाग ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड दोनों में भी परस्पर संघर्ष है। ज्ञानकाण्ड को वेदान्ती मानते हैं तथा कर्मकाण्ड को मीमांसक मानते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे को अप्रमाण बतलाते हैं। यद्यपि पूर्व-मीमांसा दर्शन में इन सभी दोषों का समाधान किया है, लेकिन चार्वाक उसे नहीं मानते।

इसलिए चार्वाकों का मानना है कि अग्निहोत्र आदि सभी कर्म ढोंग हैं। ये केवल ब्राह्मणों की जीविका का साधन है। त्रिदण्ड तथा भस्म संन्यासी धारण करते हैं। लेकिन चार्वाकों के मतानुसार यह सब पाखण्ड है।

५. *ईश्वर-मोक्ष-आत्मा*

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। 'मम शरीरम्' इति व्यवहारो 'राहोः शिरः' इत्यादिवदौपचारिकः।।

अनुवाद—इसलिये कांटे आदि से उत्पन्न दुःख ही नरक है। संसार में सिद्ध राजा ही परमेश्वर है। देह (शरीर) का विनाश ही मोक्ष है। शरीर को आत्मा मानने पर "मैं मोटा हूँ", "मैं दुबला हूँ", "मैं काला हूँ" इस प्रकारका सामानाधिकरण्य भी उपपन्न हो जाता है। "मेरा शरीर" यह व्यवहार "राहु का शिर" इस प्रयोग के समान ही औपचारिक है।

विशेष—चार्वाक मतानुसार शरीर ही आत्मा है। 'अहं स्थूलः' इस वाक्य में अहम् का अर्थ है आत्मा अर्थात् शरीर। शरीर ही मोटा, दुबला, काला आदि है। इसलिए अहम्त्व तथा स्थूलत्व दोनों का एक अधिकरण (आश्रय) होने से सामानाधिकरण्य लग जा रहा है। लेकिन 'मम शरीरम्' यह प्रयोग देहात्मवाद के अनुसार औपचारिक (गौण) है। जब अहमर्थ आत्मा ही शरीर है तो दोनों में सामानाधिकरण्य होना चाहिये, तथापि 'मेरा

शरीर' प्रयोग 'राहो: शिर:' के समानगौण है। राहु स्वयं शिररूप है तथा केतु कबन्धरूप। फिर भी 'राहो: शिर:' प्रयोग गौण प्रयोग है। अद्वैत वेदान्त में अहमर्थ आत्मा को शरीर से भिन्न माना जाता है। अत: उनके मत में 'अहं स्थूल:' आदि प्रयोग गौण हैं तथा 'मम शरीरम्' प्रयोग मुख्य है।

६. चार्वाक मत-संग्रह

तदेतत्सर्वं समग्राहि–

४. अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता ।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते ।।
५. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः ।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ।।
६. अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
७. किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।
८. देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ।।

अनुवाद—इन सभी विचारों का सङ्ग्रह किया गया है—

स्त्रीसङ्ग से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है तथा कण्टकादि पीड़ा से उत्पन्न दु:ख ही नरक है।

लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, दूसरा नहीं। देश का नारा ही मुक्ति है। ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

चार ही महाभूत है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। इन चारों महाभूतों से ही चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है।

जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्यों के मिलने पर मदशक्ति उत्पन्न होती है।

'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इस सामानाधिकरण्य के कारण तथा देह में स्थूलता आदि होने के कारण वह देह ही आत्मा है दूसरा नहीं। 'मेरा देह' यह उक्ति औपचारिक (गौण) है।

७. अनुमान-प्रमाण का खण्डन

स्यादेतत्। स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात्। अस्ति च प्रामाण्यम्। कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत? 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति?

तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। व्याप्तिपक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकम् अभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः। व्याप्तिश्च उभयविधोपाधिविधुरः सम्बन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्गभावं भजते किं तु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायो भवेत्?

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) यह हो सकता है। यह आपकी (चार्वाकों की) इच्छा तभी पूरी होगी, जब अनुमान आदि का प्रामाण्य नहीं होगा। लेकिन अनुमानादि का प्रामाण्य तो है। अन्यथा धूम को देखने के बाद अग्नि के प्रति बुद्धिमानों की प्रवृत्ति कैसे उपपन्न होगी? और "नदी के तट पर फल हैं" इस वचन को सुनने के बाद फल चाहने वाले व्यक्ति की नदी के तट पर प्रवृत्ति कैसे होगी? (चार्वाकमत-सिद्धान्त मत) यह सब केवल मन के राज्य (मनोराज्य) का विस्तार मात्र है। अनुमान प्रमाण को मानने वालों ने व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त लिङ्ग (हेतु) को ही साध्य का गमक माना है। दोनों प्रकार की उपाधियों से रहित सम्बन्ध व्याप्ति है। वह व्याप्ति सम्बन्ध केवल रहने मात्र से चक्षु आदि के समान अनुमान का अङ्ग नहीं बनता, बल्कि ज्ञात होने से अङ्ग बनता है। व्याप्ति के ज्ञान का उपाय क्या हो सकता है?

विशेष—चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अनुमान तथा शब्द प्रमाण नहीं हैं। इस मत के खण्डन के लिए पूर्वपक्षी कहता है कि यदि अनुमान प्रमाण नहीं तो धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान कैसे होगा? इसी तरह यदि शब्द प्रमाण नहीं हैं तो "नदी के तट पर फल हैं" यह आप्त शब्द सुनकर कोई व्यक्ति फलके लिए कैसे प्रवृत्त होगा?

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का करण प्रमाण है। अनुमान प्रमाण में हेतु को देखकर साध्य का ज्ञान होता है। हेतु तथा साध्य की परस्पर व्याप्ति का ज्ञान होने पर तथा व्याप्ति से विशिष्ट हेतु को पक्ष (जहाँ साध्य को सिद्ध करते हैं) में देखने पर साध्य का ज्ञान ही अनुमिति प्रमा है।

जैसे पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) को देखकर अग्नि (साध्य) का ज्ञान होता है। इसमें सर्वप्रथम पर्वत में धूम को देखकर "यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः" (जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है) इस व्याप्ति का स्मरण होता है। फिर "व्याप्तिविशिष्ट धूम वाला पर्वत है" यह ज्ञान होने पर 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति प्रमा होती है।

व्याप्ति में दोनों प्रकार की उपाधि नहीं होती है। उपाधि दो तरह की होती है—निश्चित और शंकित। जैसे—"यत्र-यत्र वह्निः तत्र-तत्र धूमः" यहाँ व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि यहाँ 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। गीला इन्धन रहने पर ही वह्नि से धूम निकलता है, अन्यथा नहीं। इसलिए यह निश्चित उपाधि है। इसी प्रकार कहीं-कहीं शंकित उपाधि भी होती है। व्याप्ति में ये दोनों उपाधियाँ नहीं होनी चाहिये।

यह व्याप्ति केवल रहने मात्र से अग्नि का ज्ञान नहीं कराती, बल्कि व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही अग्नि का ज्ञान होता है। लेकिन चक्षु तो केवल रहने से ही रूप का ज्ञान कराता है।

इसी प्रकार आप्त (सत्यवक्ता) के वचन (शब्दप्रमाण) को सुनकर शाब्दप्रमा होती है। जैसे—'नदी के तट पर फल हैं' यह आप्तवचन सुनकर फलार्थी की प्रवृत्ति होती है।

अब व्याप्ति के ज्ञान का उपाय क्या है? इस बारे में प्रश्न करके पूर्वपक्ष का खण्डन चार्वाक करते हैं।

८. प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं

न तावत्प्रत्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाऽभिमतम्। न प्रथमः। तस्य सम्प्रयुक्तज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसम्भवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसम्भवेन सर्वोपसंहारवत्याः व्याप्तेः दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचरमिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात्। नाऽपि चरमः अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रिय-तन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्—चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः (त०वि० २०)। इति।।

अनुवाद—प्रत्यक्ष प्रमाण व्याप्ति ज्ञानका उपाय नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण या तो बाह्य माना गया है या आन्तर। इनमें प्रथम नहीं हो सकता अर्थात् बाह्य प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों से सम्बद्ध (सम्प्रयुक्त) विषय के ज्ञान का जनक होने के कारण वर्तमान काल के विषयों का ज्ञान भले ही कराता हो, लेकिन भूत-भविष्य के विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है, इसलिए सभी कालों का संग्रह करने वाली व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा कठिन है। व्याप्ति का ज्ञान सामान्य के विषय में होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने पर दो व्यक्तियों के अविनाभाव (व्याप्ति) के अभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा। दूसरा भी सम्भव नहीं अर्थात् आन्तर प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के अधीन है। अतः बाह्य विषयों में स्वतन्त्रता पूर्वक अन्तःकरण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि कहा गया है—चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उक्त विषयों वाला मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन है।

(तत्त्वविवेक-२०)

विशेष—चार्वाकों कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष से केवल वर्तमानमालिक विषयों का ही ज्ञान होता है जबकि व्याप्ति तो त्रिकाल विषयक नियम है। यदि यह कहें कि वर्तमान कालिक धूम तथा अग्नि के साहचर्य को देखकर धूमत्व तथा अग्नित्व सामान्य की व्याप्ति बनायी जाती है। धूमत्व तथा अग्नित्व सामान्य तो त्रैकालिक धूम तथा अग्नि में है। ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि धूमत्व अग्नित्व सामान्य की व्याप्ति से व्यक्ति धूम तथा व्यक्ति अग्निकी व्याप्ति नहीं बन पायेगी।

इसी तरह आन्तरिक प्रत्यक्ष (अर्थात् मन द्वारा सुख दुःख आदि का ज्ञान) भी बाह्य विषयों के अधीन है। सुख-दुःख के बाह्य साधनों के द्वारा ही मन में सुख-दुःख का

ज्ञान होता है। अत: जब बाह्य प्रत्यक्ष व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता, तो बाह्य प्रत्यक्ष के अधीन रहने वाला आन्तरिक प्रत्यक्ष भी व्याप्ति का ज्ञान कैसे करा सकेगा?

९. *अनुमान और शब्द से भी व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं*

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः तत्र तत्रापि एवमित्यनवस्थादौःस्थ्य-प्रसङ्गात्। नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेण अनुमाने एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घना-जङ्घालत्वात्। धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वा-साभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यान्तरदर्शनेन अर्थान्तरानुमित्यभावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परानुमानस्य?

अनुवाद—न ही अनुमान व्याप्तिज्ञान का उपाय है। क्योंकि उस-उस अनुमानमें फिर से व्याप्ति ज्ञान के लिए अनुमान की कल्पना पड़ेगी अत: अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आयेगा। न ही शब्द व्याप्ति ज्ञान का उपाय है, क्योंकि काणाद (वैशेषिक) मत के अनुसार शब्द प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव न मानने पर भी वृद्ध पुरुषों के व्यवहार रूप लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पड़ने के कारण पूर्वोक्त दोष (अनवस्था दोष) को लांघना कठिन है। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति है यह कहने मात्र से मनु आदि ऋषियों पर विश्वास के समान विश्वास नहीं होगा। अविना भाव सम्बन्ध को न जानने वाले पुरुष को एक वस्तु (धूमादि) देखकर दूसरी वस्तु (अग्नि आदि) का अनुमान नहीं होता, इसलिए स्वार्थानुमान की कथा ही केवल शेष रह जाती है, तो फिर परार्थानुमान की बात ही क्या है?

विशेष—वैशेषिक दर्शन में शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव मानकर केवल तीन ही प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान। शक्तिग्रह अर्थात् 'इस शब्द का यह अर्थ है' इस ज्ञान के अनेक कारण हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

शक्तिग्रह के निम्नलिखित कारण हैं—

व्याकरण, उपमानप्रमाण, कोश, आप्तवचन, व्यवहार, अर्थवाद, व्याख्यान,. प्रसिद्धपदसमभिव्याहार।

जैसे—धातु, प्रत्यय आदि में शक्तिग्रह व्याकरण से होता है। इसी प्रकार "गोसदृश: गवय:" (गवय गौ के समान होता है) यह सुनकर जंगल में जाकर जब कोई व्यक्ति गाय देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है "अयं गवयपदवाच्य:" (यही गाय पद का अर्थ है) यही ज्ञान उपमिति प्रमा है इसका कारण था—उपमान प्रमाण (गो सदृश: गवय इत्याकारक ज्ञान) इस उपमान प्रमाण से गवय पद में शक्तिग्रह होता है। इसी प्रकार शब्द कोश

तथा शब्द प्रमाण से भी शक्तिग्रह होता है। इसी प्रकार वृद्ध व्यवहार भी शक्तिग्रह का कारण है। प्रयोजकवृद्ध (उत्तमवृद्ध) के द्वारा 'गामानय' (गाय लाओ) यह वचन सुनकर प्रयोज्य वृद्ध (मध्यमवृद्ध) गाय ले आता है। यह सब देखकर व्युत्पित्सु बालक 'गामानय' का अर्थ है "गाय लाओ" यह जान लेता है और क्रमशः 'गाम्' का अर्थ 'गाय' तथा 'आनय' का अर्थ 'लाओ' है यह समझता है। इस प्रकार वृद्धव्यवहार भी शक्तिग्रह का हेतु है।

"अयं गोपदवाच्यः वृद्धव्यवहारात्" इस अनुमान प्रयोग के कारण शक्तिग्रह में वृद्धव्यवहार कारण है। अतः शब्द प्रमाण में पद के अर्थ ज्ञान के लिए वृद्धव्यवहार रूप लिङ्ग (हेतु) की अपेक्षा है। इसलिए यदि शब्द प्रमाण को व्याप्ति ज्ञान का कारणमानते हैं तो शब्द प्रमाण को भी वृद्ध व्यवहार रूप हेतु की अपेक्षा तथा "यत्र-यत्र वृद्धव्यवहारः तत्र तत्र गोपदवाच्यत्वम्" इस व्याप्ति ज्ञान के लिए पुनः शब्द प्रमाण की अपेक्षा ऐसी अनवस्था आयेगी।

अर्थवाद भी शक्तिग्रह का कारण है। "यवमयश्चरुर्भवति" यहाँ यव पद के अर्थ में शंका होती है कि इसका अर्थ जौ है या कङ्ग? उस समय "यदान्या औषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानाश्च तिष्ठन्ति" (जब अन्य पौधे सूख जाते हैं, तब भी यह खिले रहते हैं) इस अर्थवाद (वाक्यशेष) के कारण यव का अर्थ 'जौ' निश्चित होता है, क्योंकि अन्य पौधे के सूखने पर भी जौ ही खिले हुए दिखलाई पड़ते हैं।

विवृति या व्याख्या से भी शक्तिग्रह होता है जैसे 'घट' पद की व्याख्या करते हुए उसका समानार्थक पद 'कलश' दे देते हैं। जिससे पता चलता है कि घट पद का अर्थ 'कलश' है।

'सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (आम के पेड़ पर कोयल मीठा गाती है) इस वाक्य को सुनने वाला कोई व्यक्ति 'पिक' शब्द को छोड़कर अन्य सभी पदों के अर्थ को जानता है। उस व्यक्ति को वाक्य के अन्य पदों के अर्थ को जानकर यह ज्ञान हो जाता है कि पिक का अर्थ 'कोयल' है। यही है 'प्रसिद्धपदसमभिव्याहार'। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान को न जानने वाला कोई व्यक्ति स्वार्थानुमान भी नहीं कर सकता, फिर परार्थानुमान की बात ही क्या? स्वयं की अनुमिति के लिए होने वाला अनुमान स्वार्थानुमान है तथा दूसरे को अनुमिति ज्ञान कराने के लिए होने वाला अनुमान परार्थानुमान है।

जब कोई अनुमान अनन्तकाल तक चलता रहता है तो अनवस्था दोष होता है।

१०. उपमानादि से भी व्याप्तिज्ञान संभव नही

उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धादि-बोधकत्वेन अनौपाधिकसम्बन्धबोधकत्वासम्भवात्।।

अनुवाद—उपमान आदि तो दूर से ही खण्डित हो गये। उपमान प्रमाण संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का बोधक होने के कारण उससे अनौपाधिक सम्बन्ध का बोधकत्व सम्भव नहीं है।

विशेष—उपमानादि प्रमाणों से भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता। उपमान प्रमाण का लक्षण है—

"उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः।

पूर्वोक्त उदाहरण में "गौ के समान गवय है" यह ज्ञान उपमान प्रमाण है तथा इससे उत्पन्न "यही गवय है" इत्याकारक ज्ञान उपमिति प्रमा है।

इस प्रकार उपमान प्रमाण सोपाधिक सम्बन्धका ही ज्ञान कराता है। वह केवल संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का ही बोध कराता है। यह निरूपाधिक सम्बन्ध का बोध नहीं करा पाता जबकि व्याप्ति तो उपाधिरहित सम्बन्ध है। अनुपलब्धि, अर्थापत्ति प्रमाण भी व्याप्तिज्ञान का कारण नहीं बन सकते।

११. व्याप्तिज्ञान का दूसरा उपाय भी नहीं है, उपाधि का लक्षण

किञ्च-उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासम्भवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि, अप्रत्यक्षाणामभावस्य अप्रत्यक्षतयाऽनुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च, 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिः' इति तल्लक्षणं कक्षीकर्त्तव्यम्। तदुक्तम्—

अनुवाद—और (व्याप्ति में) उपाधि के अभाव को जानना भी अत्यन्त कठिन है। उपाधि के विषय में 'प्रत्यक्षत्व' का नियम सम्भव नहीं है। (अर्थात् "सभी उपाधियाँ प्रत्यक्ष ही हैं" यह नियम नहीं बन सकता) क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव भी प्रत्यक्ष है तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव भी अप्रत्यक्ष है। (यदि अप्रत्यक्ष पदार्थों के अभाव को जानने के लिए) अनुमानादि की अपेक्षा रखी जायेगी तो भी उक्त (अनवस्था) दोष को हटाया नहीं जा सकता और "साधन (हेतु) का अव्यापक होते हुए जो साध्य का समव्यापक हो" यह उपाधिलक्षण मानना पड़ेगा। जैसा कि कहा गया है—

विशेष—अनुमान प्रमाण में व्याप्ति ज्ञान किसी भी उपाय से सम्भव नहीं है। व्याप्ति निरुपाधिक सम्बन्ध है। लेकिन उपाधि का अभाव प्रत्यक्ष से ही नहीं जाना जा सकता। उपाधि कई प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, मूर्त, अमूर्त, द्रव्यरुप, गुणरुप, शंकित तथा निश्चित। प्रत्यक्ष वस्तु का अभाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है तथा अप्रत्यक्ष वस्तु का अभाव अप्रत्यक्ष से होता है। अप्रत्यक्ष वस्तु का अभाव यदि अनुमानादि से जाना जाए तो पुनः अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि अनुमान में फिर व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा तथा उसके लिए फिर से उपाधि के अभावके ज्ञान की आवश्यकता होती है। उपाधि के अभाव के लिए पुनः अनुमान की जरुरत है।

न्यायदर्शन में उपाधि का लक्षण माना गया है—

साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः। — तर्कसङ्ग्रह

जो साध्य का व्यापक हो लेकिन साधन (हेतु) का अव्यापक हो, वह उपाधि है। जैसे—

'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में जो व्याप्ति (यत्र यत्र वह्निः तत्र-तत्र धूमः) बनती है, वह उपाधि से ग्रस्त है।

यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग (गीली लकड़ी का संयोग) उपाधि है। अग्नि के साथ गीली लकड़ी का संयोग रहने पर ही धूम निकलता है, अन्यथा नहीं।

यह उपाधि साध्य (धूम) की व्यापक है, क्योंकि ''यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र आर्द्रेन्धन-संयोगः' ऐसी व्याप्ति बन जाती है। यह समव्याप्ति है अर्थात् ''यत्र-यत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः तत्र-तत्र धूमः'' यह व्याप्ति भी बनती है। लेकिन 'आर्द्रेन्दधनसंयोग' उपाधि साधन (अग्नि) की अव्यापक है, क्योंकि 'यत्र-यत्र अग्निः तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः' यह व्याप्ति नहीं बनती। अयोगोलक (गर्म लोहपिण्ड) में अग्नि तो है, लेकिन आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है।

९. अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः ।
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च ।।
१०. व्यावर्त्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि ।
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्य्यैश्च ।। इति।

अनुवाद—जो साधन (हेतु) को व्याप्त न करे तथा साध्य को समव्याप्त करे, वह उपाधि कहलाता है। शब्द को अनित्य सिद्ध करने में 'सकर्तृकत्व', 'घटत्व' तथा 'अश्रवत्व'—ये तीनों उपाधियाँ बन जातीं। इन तीनों उपाधियों को हटाने के लिए ही उपाधि के लक्षण में क्रमशः तीन विशेषण ('अव्याप्तसाधनत्व, साध्यसमत्व, साध्यव्याप्तित्व) दिये गये हैं। इसलिये यह उपाधिलक्षण निर्दुष्ट है तथा आचार्यों के द्वारा 'समासमा' इत्यादि श्लोक के द्वारा कहा गया है।

विशेष—उपाधि के लक्षण में तीन सार्थक विशेषण दिये गये हैं—१. साधन को व्याप्त न करे २. साध्य का सम व्यापक हो ३. साध्य का व्यापक हो। ये तीनों विशेषण उपाधि के लक्षण में आवश्यक हैं अन्यथा ''शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्'' (शब्द अनित्य है कार्य=जन्य होने के कारण) इस अनुमान में उपाधि आ जायेगी। यहाँ 'व्याप्त' का अर्थ है—व्याप्य।

१. यदि 'अव्याप्तसाधनः' यह विशेषण उपाधिलक्षण में न दिया जाये तो उपाधि का लक्षण होगा—'साध्यसमव्याप्तिः'। ऐसा होने पर—

'शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्'

यहाँ 'सकर्तृकत्व' उपाधि मिल जायेगी। 'सकर्तृत्व' साध्य (अनित्यत्व) का समव्यापक है। 'यत्र-यत्र अनित्यत्वं तत्र-तत्र सकर्तृकत्वम्', तथा 'यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्' यह बनने से 'सकर्तृकत्व' अनित्यत्व का समव्यापक है, लेकिन 'सकर्तृकत्व' (कर्ता से युक्त होना) साधन (कार्यत्व) का अव्यापक नहीं है। 'यत्र-यत्र कार्यत्वम्, तत्र-तत्र सकर्तृकत्वं'' ऐसी व्याप्ति भी बन जाती है तो सकर्तृकत्व साधनका व्यापक हो गया जबकि उसे साधनाव्यापक होना चाहिये थे। इसलिए उपाधि लक्षण में

'अव्याप्तसाधन:' विशेषण देने से उक्त अनुमान में 'सकर्तृकत्व' उपाधि नहीं बन सकती।

२. इसी प्रकार 'साध्यसमव्याप्ति:' यहाँ 'सम' विशेषण न देकर यदि उपाधि का लक्षण होता—'अव्याप्तसाधन: साध्यव्याप्ति:' तो पूर्वोक्त अनुमान में 'घटत्व' उपाधि बन जाती। 'घटत्व' साधन=कार्यत्व का अव्यापक है। ''यत्र-यत्र कार्यत्वं तत्र घटत्वं'' यह व्याप्ति नहीं बन सकती। पटादि में कार्यत्व है, परन्तु घटत्व नहीं।

इस प्रकार 'घटत्व' 'साधनाव्यापक' हुआ तथा घटत्व की साध्य के साथ व्याप्ति भी है। 'यत्र यत्र घटत्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वम्। यह व्याप्ति बनने से 'घटत्व' में 'साध्यव्याप्ति' भी आ गयी, लेकिन घटत्व में 'साध्यसमव्याप्ति' नहीं है। ''यत्र यत्र अनित्यत्वं, तत्र-तत्र घटत्वम्'' यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिए उपाधि लक्षण में साध्यसमव्याप्ति में 'समत्व' विशेषण देने से 'घटत्व' के उपाधित्व का वारण हो गया।

३. तीसरा विशेषण 'साध्यसमव्याप्ति' में 'व्याप्ति' है। यह विशेषण न देने पर उपाधि का लक्षण होगा—'अव्याप्तसाधन: साध्यसम: उपाधि:' ऐसा मानने पर पूर्वोक्त उदाहरण में ही 'अश्रवत्व' उपाधि बनेगी। अश्रवत्व (श्रवणेन्द्रिय का अविषय) साधनका अव्यापक है। ''यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र अश्रवत्वं'' यह व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि शब्द में कार्यत्व है लेकिन अश्रवत्व नहीं। इसलिए 'अश्रवत्व' साधन का अव्यापक हुआ। साथ ही अश्रवत्व साध्य (अनित्यत्व) का सम है। अनित्य पृथ्वी मे अनित्यत्व तथा अश्रवत्व का सामानाधिकरण्य है। लेकिन अश्रवत्व की साध्य (अनित्यत्व) के साथ व्याप्ति नहीं है। 'यत्र यत्र अनित्यत्वं तत्र-तत्र अश्रवत्वं तथा यत्र-यत्र अश्रवत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्' ये दोनों ही व्याप्ति संभव नहीं है। इसलिए 'अश्रवत्व' की अनित्यत्व (साध्य) के साथ व्याप्ति ही न होने से यदि उपाधि लक्षण में 'व्याप्ति' विशेषण दे दें तो पूर्वोक्त अनुमान में 'अश्रवत्व' उपाधि नहीं आ पायेगी।

'समासमा' का पूर्ण श्लोक अधोलिखित है—

समा समा बिना भवावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तस्तयोर्हीनोऽप्रयोजक: ।।

—*(खण्डन खण्डखाद्य, आनन्द पूर्णीय टीका अनुमान खण्डन पृ० ७०७)*

अर्थात् जिस अनुमान में समव्याप्ति तथा असमव्याप्ति दोनों बने, लेकिन सम के द्वारा असम (हीन) व्याप्त न हो वहाँ असम हेतु साध्य का प्रयोजक (साधक) नहीं होता है। जैसे—''पर्वतो धूमवान् वह्ने:''

यहाँ '-'यत्र यत्र धूम: तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोग:'' तथा ''यत्र-यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग: तत्र तत्र धूम:'' यह धूम तथा आर्द्रेन्धन संयोग की समव्याप्ति बनती है। तथा '' यत्र-यत्र आर्द्रेन्धन संयोग: तत्र तत्र अग्नि:'' यह व्याप्ति तो बनती है लेकिन'' यत्र-यत्र अग्नि:, तत्र-तत्र आर्द्रेन्धनसंयोग:'' यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिए अग्नि तथा आर्द्रेन्धन संयोग की असम व्याप्ति है। इस तरह समव्याप्ति तथा असम व्याप्ति इन दोनों के बनने पर सम

(धूम) से असम (अग्नि) व्याप्त नहीं, क्योंकि "यत्र-यत्र अग्निः, तत्र-तत्र धूमः" यह व्याप्ति नहीं बनतीं। इसलिए अग्नि 'धूम' को सिद्ध नहीं कर सकता।

१२. व्याप्तिज्ञान और उपाधिज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्य उपाधिज्ञाने जाते तदभावविशिष्टसम्बन्धरूपव्याप्तिज्ञानं, व्याप्तिज्ञानाधीनं चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः।।

अनुवाद—उसमें विधि का निश्चय होने के बाद ही निषेध का निश्चय होने के कारण उपाधि का ज्ञान होने पर ही उपाध्यभावविशिष्टसम्बन्ध रूप व्याप्ति ज्ञान का निश्चय हो सकता है तथा व्याप्तिज्ञान के अधीन ही उपाधि ज्ञान है। इस प्रकार परम्पराश्रयरूप वज्रप्रहार का दोष वज्रलेप के समान हो जा रहा है। इसलिए व्याप्ति का ज्ञान दुर्बोध होने से अनुमानादि प्रमाणों का कोई अवसर नहीं है।

विशेष—उपाधि का ज्ञान होने के पश्चात् ही उपाध्यभावविशिष्ट व्याप्ति का ज्ञान सम्भव है इसलिए पहले उपाधि को जानना जरूरी है। उपाधि को बिना व्याप्ति ज्ञान के नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। यदि दो पदार्थों को अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की आकांक्षा रहती है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

१३. लौकिक-व्यवहार और वस्तुएँ

धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

११. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।।इति।

अनुवाद—धूमादि का ज्ञान होने के बाद अग्नि आदि के ज्ञान में प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के कारण या भ्रम के कारण भी हो सकती है। कभी-कभी फल की प्राप्ति तो मणि, मन्त्र तथा औषधि के समान स्वाभाविक रूप से हो जाती है। इसलिए 'फल प्राप्ति' को हेतु बनाकर साध्य अदृष्टादि भी नहीं है। यदि यह कहें कि अदृष्ट के न होने से जगत् की विचित्रता आकस्मिक होगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जगत् की विचित्रता स्वभावत: सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—

अग्नि उष्ण है, जल शीत है तथा वायु समशीतोष्ण स्पर्श वाला है। यह विचित्रता किसने की है? (तो इसका उत्तर यह है कि) स्वभाव से ही यह व्यवस्था हुई है।

विशेष—कभी-कभी धूम के देखकर ही अग्नि का भ्रम हो जाता है और मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है। लेकिन वास्तव में कार्यकारणभाव मणि, मन्त्र तथा औषधि से उत्पन्न फल के समान है। मणिमन्त्रादि से कभी फल की प्राप्ति हो भी सकती है, तो कभी फल की प्राप्ति नहीं भी हो सकती है। अत: फल प्राप्ति अनियत है तो उस फलप्राप्ति के द्वारा अदृष्ट (अपूर्व) की कल्पना करना भी बेकार है। मीमांसक लोग फलप्राप्ति को हेतु बनाकर अदृष्ट का अनुमान करते हैं।

"यागादि: अपूर्वजनक: विनष्टे सति स्वर्गजनकत्वात्" (यागादि अपूर्व को उत्पन्न करता है, क्योंकि वह नष्ट होने पर भी स्वर्ग प्राप्त कराता है)

इस प्रकार अदृष्ट को न मानने पर यह आपत्ति आयी कि जगत् की विचित्रता को आकस्मिक कहना पड़ेगा। इस पर चार्वाक कहते हैं कि जगत् की विचित्रता आकस्मिक नहीं स्वाभाविक है। जैसे हवा गर्म है, पानी ठंडा। वैसे ही जगत् में भी विचित्रता है। कोई सुखी है कोई दु:खी है। इसमें कर्म फल मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१४. चार्वाक-मत का सार

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्—

१२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिक: ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिका: ।।
१३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ।।
१४. पशुश्चेन्निहत: स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते? ।।
१५. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेह: संवर्धयेच्छिखाम् ।।

अनुवाद—यह सब बृहस्पति ने भी कहा है—न स्वर्ग है, न तो मोक्ष है, न ही परलोक में रहने वाली आत्मा है। वर्ण, आश्रम आदि की क्रियाएँ (वर्णाश्रमधर्म) भी फल देने वाली नहीं हैं। अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्ड धारण करना तथा भस्मलेप—यह सब बुद्धि तथा पौरुष से हीन लोगों के लिए ब्रह्मा द्वारा निर्मित आजीविका है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग जायेगा तो यजमान उस यज्ञ में अपने पिता को ही क्यों नहीं मारता?

यदि मरे हुए लोगों के लिये किया गया श्राद्ध तृप्तिकारक है, तो बुझे हुए दीपक का तेल भी उसकी लौ को बढ़ायेगा।

विशेष—पूर्वोक्त चार्वाक मत को पुष्ट करने के लिए साररुप में चार्वाक मत के प्रतिपादक श्लोकों को प्रस्तुत किया जा रहा है। विष्णु पुराण में भी चार्वाक मत का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते ।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भको दितम् ॥
यज्ञैरनेकैर्देव त्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
शम्यादि यदि चेत् काण्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः॥
नित्तस्य पशोः यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ॥
तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः॥ *(वि.पु. ३.१८.२५-२८)*

१६. गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥
१७. स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते? ॥
१८. यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?
१९. यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः? ॥

अनुवाद—यात्रा पर जाने वाले लोगों के लिये पाथेय (यात्रा का भोजन) की व्यवस्था करना बेकार है। अन्यथा घर में किये श्राद्ध से रास्ते में तृप्ति मिल जायेगी।

यदि स्वर्ग में स्थित पितर यहाँ दान देने से तृप्त हो जायेंगे, तो महल के ऊपर बैठने वाले व्यक्ति के लिए यहाँ नीचे ही अन्नादि क्यों नहीं दिया जाता।

जब तब जियो, सुख से जीना चाहिये। ऋण लेकर घी पीना चाहिये। शरीर के भस्म होने पर उसका पुनः आगमन कहाँ होता है?

यदि यह आत्मा देह से निकलकर पर लोक चला जाता है, तो बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर पुनः क्यों नही लौट आता?

विशेष—यज्ञीय हिंसा मीमांसक मत में हिंसा नहीं तथापि यहाँ चार्वाक अपना मत प्रतिपादित करते हुए उसे हिंसा की संज्ञा दे रहे हैं। वे श्राद्ध पर लोक, आत्मा आदि का खण्डन कर रह हैं।

२०. ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥
२१. त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
२२. अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।

भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ।।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ।। इति।।

तस्माद्बहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्वाक-मतमा-श्रयणीय-मिति रमणीयम्।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसङ्ग्रहे चार्वाकदर्शनम्।।

अनुवाद—इसलिए यह ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया आजीविका का उपाय है कि मृत व्यक्ति के प्रेत कार्य (करने चाहिये)। इसके अलावा कुछ भी नहीं है।

वेद के तीन ही कर्ता हैं–भांड़, धूर्त और राक्षस। 'जर्भरी तुर्फरी' आदि पण्डितों के वचन कहे गये हैं।

(अश्वमेध यज्ञ में) घोड़े का लिंग यजमान पत्नी का पकड़ने के लिए कहा गया है। भांड़ों (वैदिकों) के द्वारा अन्य वस्तुओं को भी पकड़ने के लिए कहा गया है। (यज्ञ में) मांस का क्षण भी राक्षसों के द्वारा कहा गया है।

इसलिए बहुत से प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए चार्वाक मत का आश्रय लेना चाहिए।

विशेष—ऋग्वेद में 'जर्फरी आदि' मन्त्र आया है। यह मन्त्र इस प्रकार है–

सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराप्वजरं मरायु ।।

–ऋग्वेद (१०.१०६.६)

इसका अर्थ है–

हे अश्विनीकुमार! आप अंकुश के योग्य (सृण्येव) मतवाले हाथी के समान हैं। आप शरीर को झुकाने वाली हैं। (जर्भरी) आप मारने वाले हैं। (तुर्फरीतू) अत्यन्त सन्तोषी पुरुष के पुत्रों के समान (नैतोशेव) शत्रुओं के विनाशक हैं। (तुर्फरी) आप धन से भरने वाले हैं। (पर्फरी- का) आप जल से उत्पन्न वस्तुओं से निर्मल हैं। (उदन्यजेव) आप विजय करने वाले हैं। (जेमना) आप मजवाले हैं या स्तुतियोग्य हैं। (मरेरू) वे दोनों अश्विनी कुमार (ता) मेरे (मे) बुढ़ापे से युक्त (जटायु) तथा मरण से युक्त (मरायु) शरीर को अजर अमर (अजरम्) बना दें।

अश्वमेघ यज्ञ में प्रसङ्ग में घोड़े का लिङ्ग यजमान की पत्नी को पकड़ना पड़ता है। कहीं-कहीं यज्ञ में मांस भक्षण भी करना पड़ता है। अतः चार्वाक कहता है ये सब भांड़ों तथा राक्षसों ने कहा है। चार्वाक के अनुसार वेदकर्ता भाड़ तथा राक्षस ही हैं।

।। इति चार्वाकदर्शनम् ।।

अध्याय- २
बौद्ध-दर्शनम्

शून्यं जगत् क्षणिकमात्रमथाप्तदुःखं स्वस्यैव लक्षणमयं तनुते स्वभावम्।
दुःखादितत्त्वमखिलं च दिदेश देशे बुद्धाय शिष्यसहिताय नमोऽस्तु तस्मै।। -ऋषिः

(१. चार्वाक-मत का खण्डन-व्याप्ति की सुगमता)

अत्र बौद्धैरभिधीयते—यदभ्यधायि, 'अविनाभावो दुर्बोध इति' तदासाधीयः। तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावस्य सुज्ञानत्वात्। तदुक्तम्-

१. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।।

(प्र० वा० १।३३)। इति

अनुवाद—इस व्याप्ति के विषय में बौद्ध लोग कहते हैं—जो कहा गया कि "अविनाभाव (व्याप्ति) का ज्ञान दुर्बोध (जानने में कठिन) है" यह ठीक नहीं है। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सम्बन्ध से व्याप्ति का ज्ञान आसानी से हो सकता है। जैसा कि कहा गया है—

कार्यकारणभाव से या नियामक स्वभाव से व्याप्ति का नियम बनता है, साध्यसाधन के एक साथ अदर्शन अथवा दर्शन से नहीं।

विशेष—बौद्ध दो प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं—तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति। इन दोनों सम्बन्धों से व्याप्ति का ज्ञान आसानी से होता है। श्लोक में यही बात बतलायी गयी है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अर्थ है-कार्यकारणभाव। जैसे-धूम तथा अग्नि का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। तथा तादात्म्य का अर्थ है-स्वभाव। जैसे-आम्र तथा वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध तथा तदुत्पत्ति सम्बन्ध से जुड़ी वस्तुओं में परस्पर व्याप्ति सम्बन्ध होता है। जैसे आम्र तथा वृक्ष की व्याप्ति है-जहाँ-जहाँ आम्रत्व है-वहाँ-वहाँ वृक्षत्व है। (तादात्म्य सम्बन्ध)

इसी तरह धूम तथा अग्नि की व्याप्ति है—यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः। (तदुत्पत्ति सम्बन्ध)

(२. अन्वय-व्यतिरेक से व्याप्तिज्ञान सम्भव नहीं)

'अन्वयव्यतिरेकौ अविनाभावनिश्चायकौ' इति पक्षे साध्यसाधनयोरव्यभिचारो दुरवधारणो भवेत्। भूते भविष्यति वर्तमाने चानुपलभ्यमानेऽर्थे व्यभिचारशङ्काया अनिवारणात्। ननु तथाविधस्थले तावकेऽपि मते व्यभिचारशङ्का दुष्परिहारा—इति चेत्, मैवं वोचः। विनापि कारणं कार्यमुत्पद्यतामित्येवंविधायाः शङ्काया व्याघातावधिकतया निवृत्तत्वात्। तदेव

ह्याशङ्क्येत यस्मिन्नाशङ्क्यमाने व्याघातादयो नावरतेयुः तदुक्तम्– 'व्याघातावधिराशङ्का' (कुसु० ३।७) इति।।

अनुवाद—"अन्वय तथा व्यतिरेक अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करते हैं"- इस न्याय पक्ष में साध्य तथा साधन का अव्यभिचार जानना अत्यन्त कठिन होगा। भूत, भविष्य तथा वर्तमान अनुपब्ध विषय में व्यभिचार की शंका का निवारण नहीं हो सकेगा। (नैयायिकों का प्रश्न है कि) ऐसे स्थल में आपके भी मत में व्यभिचार शङ्का दूर नहीं की जा सकती, यदि ऐसा कहें तो (हम बौद्ध कहते हैं कि) ऐसा मत कहिये।" बिना कारण के कार्य उत्पन्न होगा—इस प्रकार की शङ्का व्याघात मिलने पर चली जायेगी। ऐसी ही शङ्का करे, जिस शङ्का के करने पर व्याघात आदि प्राप्त ही नहीं होते। जैसा कि कहा गया है—व्याघात होने तक ही आशङ्का रहती है। (न्या० कु० ३/७)

विशेष—नैयायिक कहते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक विधियों के द्वारा व्याप्ति का निश्चय होता है। "तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्" अन्वय है तथा 'तदभावे तदभावः" व्यतिरेक है। जैसे-यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः (जहाँ-२ धूम है, वहाँ-२ अग्नि हैं) यह अन्वय है।

इस अन्वय विधि से धूम तथा अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। दूसरी विधि है–व्यतिरेकविधि। जैसे-यत्र-यत्र अग्निः नास्ति, तत्र-तत्र धूमः नास्ति। (जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम नहीं है) इस व्यतिरेक विधि से अग्न्यभाव तथा धूमाभाव की व्याप्ति का निश्चय होता है।

लेकिन उपर्युक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि सेव्याप्ति निश्चय बौद्धों को स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि न्यायमत मानने पर साध्य (वह्नि) तथा साधन (धूम) में अव्यभिचार जानना कठिन हो जाएगा। न्यायमतानुसार व्याप्ति का निश्चय अन्वयव्यतिरेक विधि से ही होता है, लेकिन यह मानने पर दोष यह है कि वर्तमान कालिक व्याप्ति ज्ञान का निश्चय अन्वयव्यतिरेक विधि से नहीं हो सकता है। बौद्धों के द्वारा उद्भावित इस दोष पर नैयायिक कहते हैं कि आपके मत में भी तो व्यभिचारशङ्का को हटाना कठिन है। इस पर बौद्ध कहते हैं कि हमारे मत में व्यभिचार शङ्का तभी तक रहती है जबतक व्याघात नहीं होता, व्याघात होने पर व्यभिचारशङ्का चली जाती है। व्यभिचार शङ्का दो प्रकार से हो सकती है–"कारण है किन्तु कार्य नहीं होता" अथवा "कारण नहीं है तथापि कार्य की उत्पत्ति हो गयी" इन दोनों व्यभिचारों के शंका की निवृत्ति व्याघात मिलने पर हो जाती है। व्याघात का अर्थ है विरोध। जब व्यभिचार शंका में विरोध आ जाता है तब व्यभिचार की शङ्का चली जाती है। अतः व्यभिचार ऐसा ही दिखाया जाना चाहिये, जिसमें विरोध न आ सके।

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में यही बात कही है–

शङ्का चेदनुमास्त्येव चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ।।

–न्या० कु० (३/७)

अर्थात् यदि शङ्का है तो भी अनुमिति होगी और यदि शङ्का नहीं है, तो भी अनुमिति (अनुमा) होगी ही। क्योंकि यदि शंका रहती है तो भी अनुमान सिद्ध हो जाता है क्योंकि शंका का निरास व्याघात मिलने पर हो ही जाता है। इसी प्रकार यदि शंका नहीं है तो भी अनुमान सिद्ध हो जाता है, क्योंकि फिर तो शंका दूर करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। शंका व्याघात (विरोध) मिलने तक ही रहती है तथा तर्क भी शंका होने तक रहता है। धूम हेतुक अग्नि साध्यक अनुमान में यह तर्क किया जा सकता है "यदि आग नहीं है तो धूम भी नहीं होगा" यह तर्क तभी तक रहता है जब तक शंका नहीं होती तथा शंका तभी तक रहती है, जब तक व्याघात नहीं मिलता।

(३. तदुत्पत्ति से अविनाभाव का ज्ञान-पञ्चकारणी)

तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्य-हेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः, उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलम्भादनुपलम्भः इति पञ्चकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते।

अनुवाद—इसलिये तदुत्पत्ति के निश्चय से अविज्ञाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। तदुत्पत्ति का निश्चय कार्य और हेतु (कारण) के प्रत्यक्षत: प्राप्ति तथा अप्राप्ति आदि पञ्च अवयवों पर आश्रित है। उत्पत्ति के पहले कार्य की अप्राप्ति, कारण की प्राप्ति होने पर कार्य की प्राप्ति, कार्य की प्राप्ति होने के बाद कारण के न रहने पर कार्य का भी न होना-इन पांच प्रकारों से धूम तथा अग्नि का कार्य-कारण भाव निश्चित होता है।

विशेष—बौद्धमत के अनुसार व्याप्ति ज्ञान का निश्चय अन्वयविधि या व्यतिरेकविधि से नहीं होता, बल्कि तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) से होता है। कार्यकारणभाव का निश्चय करने के लिए कार्य तथा कारण का उपलम्भ (प्राप्ति) तथा अनुपलम्भ (अप्राप्ति) मिलाकर पञ्चकारणी बनती हैं। कार्यकारणभाव का निश्चय करने के ये पाँच अवयव हैं—

१. उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अप्राप्ति
२. कारण की प्राप्ति होने पर
३. कार्य की प्राप्ति
४. कारण की अप्राप्ति होने पर
५. कार्य की अप्राप्ति

जैसे (१) धूम की उत्पत्ति के पहले धूम नहीं रहता तथा (२) अग्नि के रहने पर (३) धूम रहता है लेकिन (४) अग्नि के न रहने पर (५) धूम भी नहीं रहता।

इन पाँच प्रकारों से धूम तथा अग्नि का कार्यकारणभाव निश्चित होता है।

(४. तादात्म्य से अविनाभाव का ज्ञान)

तथा तादात्म्यनिश्चयेनाप्यविनाभावो निश्चीयते। 'यदि शिंशपा वृक्षत्वमतिपतेत्' स्वात्मानमेव जह्यादिति विपक्षे बाधकप्रवृत्तेः। अप्रवृत्ते तु बाधके भूयः सहभावोपलम्भेऽपि व्यभिचारशङ्कायाः को निवारयिता? शिंशपावृक्षयोश्च तादात्म्यनिश्चयो 'वृक्षोऽयं शिंशपेति' समानाधिकरण्यबलादुपपद्यते। न ह्यत्यन्ताभेदे तत्संभवति। पर्यायत्वेन युगपत्प्रयोगायोगात्। नाप्यत्यन्तभेदे, गवाश्वयोरनुपलम्भात्। तस्मात्कार्यात्मानौ कारणात्मानौ अनुमापयत इति सिद्धम्।।

अनुवाद—इसी प्रकार तादात्म्य निश्चय से भी अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय होता है। ''यदि शिंशपा वृक्षत्व का अतिक्रमण कर देगा, तो अपनी आत्मा को ही छोड़ देगा, इस प्रकार विपक्ष (शिंशपा ही वृक्ष है-इस तादाम्य के विरोधी पक्ष) में बाधक की प्रवृत्ति हो जायेगी। बाधक के प्रवृत्त न होने पर भी (शिंशपात्व तथा वृक्षत्व का) बार-बार सहभाव प्राप्त होने पर भी व्यभिचार शंका को कौन दूर करेगा? शिंशपा तथा वृक्ष का तादात्म्यनिश्चय ''यह वृक्ष शिंशपा है'' इस सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिकत्व) के बल से ही उत्पन्न होता है। अत्यन्त अभेद होने पर भी यह सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है, क्योंकि पर्यायों का एक साथ प्रयोग नहीं होता है। न ही अत्यन्त भेद होने पर सामानाधिकरण्य सम्भव है, क्योंकि गौ तथा अश्व का सामानाधिकरण्य प्राप्त नहीं होता। इसलिए कार्य तथा तादात्म्य कारण (तदुत्पत्तिसम्बन्ध) तथा तादात्म्य का अनुमान करते हैं।

विशेष—जो लोग शिंशपा तथा वृक्ष का तादात्म्य नहीं कहते, उनके मत में यह बाधक आता है कि ''यदि शिंशपा वृक्षत्व को छोड़ेगा तो अपनी आत्मा ही छोड़ देगा।'' इसलिए शिंशपा (एक पेड़ का प्रकार) तथा वृक्ष का तादात्म्य सम्बन्ध निश्चित होता है। सामानाधिकरण्य उन दोनों पदार्थों में नहीं होता जो या तो अत्यन्त अभिन्न हैं या अत्यन्त भिन्न। जैसे-''यह घट कलश है'' ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है। घट तथा कलश अत्यन्त अभिन्न हैं। इसी प्रकार ''यह गौ अश्व है'' यह प्रयोग भी नहीं हो सकता है क्योंकि गौ तथा अश्व अत्यन्त भिन्न है। इसलिए ''यह शिंशपा वृक्ष है'' इस सामानाधिकरण्य के बल से भी वृक्ष तथा शिंशुपा का तादात्म्य सिद्ध होता है। सामानाधिकरण्य प्रयोग किसी सामान्य वस्तु तथा उसके प्रकार विशेष में होता है। जैसे वृक्षत्व सामान्य है उसका प्रकार विशेष शिंशपा है। इन दोनों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग होता है—''यह शिंशपा वृक्ष है।''

यह तादात्म्य सम्बन्ध भी व्याप्ति का निश्चय कराता है।'' जहाँ-जहाँ शिंशपात्व है वहाँ-वहाँ वृक्षत्व है'' यह व्याप्ति तादात्म्य सम्बन्ध से बनती है।

इस प्रकार तदुत्पत्ति तथा तादात्म्य सम्बन्ध से ही व्याप्ति का निश्चय होता है।

(५. अनुमान का खण्डन करने वालों को उत्तर)

यदि कश्चित्प्रामाण्यमनुमानस्य नाङ्गीकुर्यात् तं प्रति ब्रूयात्—अनुमानं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते, तत्र न किंचन साधनमुपन्यस्यते, उपन्यस्यते वा? न प्रथमः। अशिरस्कवचनस्योपन्यासे साध्यासिद्धेः।

'एकाकिनी प्रतिज्ञा हि प्रतिज्ञातं न साधयेत्।'

इति न्यायात्। नापि चरमः। अनुमानं प्रमाणं न भवतीति ब्रुवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्।

अनुवाद—यदि कोई व्यक्ति अनुमान के प्रामाण्य को नहीं मानता, तो उससे कहना चाहिये। "अनुमान प्रमाण नहीं होता है" केवल इतना ही आप कहते हैं, उसमें कोई हेतु नहीं दिखाते या दिखाते हैं। प्रथम विकल्प (हेतु नहीं दिखाना) नहीं हो सकता क्योंकि बिना सिर (पैर) की बात को स्वीकार करने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती है।

अकेली प्रतिज्ञा (बिना हेतु की प्रतिज्ञा) प्रतिज्ञात (साध्य) वस्तु को सिद्ध नहीं करती। यह न्याय है।

दूसरा विकल्प भी नहीं हो सकता। "अनुमान प्रमाण नहीं होता है" यह कहते हुए शब्द प्रमाण को स्वीकार न करने वाले आपके द्वारा दूसरे शास्त्र (न्यायशास्त्र) में प्रमाण के रूप में स्वीकृत शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हुए अपने ही वचन का विरोध किया है जैसे कि 'मेरी माता बन्ध्या है' (इस वचन में व्याघात है)।

विशेष—बौद्धों ने अनुमान प्रमाण को न मानने वालों से दो प्रकार से प्रश्न किया है तथा दोनों ही प्रकारों में प्रतिपक्षी का खण्डन ही होता है। अनुमान प्रमाण नहीं होता' ऐसी बिना हेतु की प्रतिज्ञा कथमपि मान्य नहीं है। बिना हेतु के साध्य सिद्ध होता ही नहीं। यदि प्रतिपक्षी हेतु उपस्थित करने लगे तब तो उसने अनुमान प्रमाण को स्वीकार ही कर लिया, फिर प्रतिपक्षी खण्डन किसका कर रहा है?

दूसरी बात यह है कि अनुमान प्रमाण के निराकर्ता जब यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अनुमान प्रमाण नहीं होता' इसका तात्पर्य है न्यायादि द्वारा स्वीकृत अनुमान को शब्दप्रमाण से मानकर ही वे कहते हैं "अनुमान प्रमाण नहीं होता" अर्थात् प्रतिपक्षी शब्द प्रमाण को भी मान रहे हैं जबकि वे तो पहले ही कर चुके हैं कि हम शब्द को नहीं मानते। इस तरह अपनी ही बात को स्वयं ही काटने की स्थिति हो जाती है। जैसे कोई कहे "मेरी माता बन्ध्या है" यह अपने ही वचन का व्याघात है उसी प्रकार प्रतिपक्षी के वचन में 'वदतोव्याघात' दोष है।

किं च प्रमाणतदाभासव्यवस्थापनं तत्समानजातीयत्वादिति वदता भवतैव स्वीकृतं स्वभावानुमानम्। परगता विप्रतिपत्तिस्तु वचनलिङ्गेनेति ब्रुवता कार्यलिङ्गकमनुमानम्। अनुपलब्ध्या कश्चिदर्थं प्रतिषेधयतानुपलब्धिलिङ्गकमनुमानम्। तथा चोक्तं तथागतैः-

२. प्रमाणान्तरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।। इति।

पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरिति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते।

अनुवाद—और "प्रमाण तथा प्रमाणाभास की व्यवस्था होती है उसके समान जातीय ज्ञान के कारण" यह कहते हुए आपने ही स्वभावानुमान स्वीकार किया है। "विरोधियों की विप्रतिपत्ति का ज्ञान उनके वचनरूप हेतु से होता है" यह कहते हुए आपने कार्य लिङ्गक अनुमान स्वीकार किया है। अनुपलब्धि के कारण किसी पदार्थ का निषेध करते हुए आपने अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान को स्वीकार किया है। जैसा कि भगवान् बुद्ध के अनुनायियों ने कहा है-अन्य प्रमाण की सामान्यस्थिति (सजातीयता) के कारण (समानजातीय हेतुक, अनुमान से) दूसरे के मत की गति लगाने से (वचन हेतुक अनुमान) तथा किसी वस्तु का प्रतिषेध करने के कारण (अनुपलब्धि हेतुक अनुमान) प्रत्यक्षातिरिक्त (अनुमान) प्रमाण भी है। (अनुपलब्धि हेतुक अनुमान)

इस पर विद्वानों में अत्यधिक विचार किया है इसलिए ग्रन्थ गौरव के भय से यहीं रुकते हैं।

विशेष—किसी ज्ञान को प्रमाण इसलिए कहते हैं क्योंकि उसके समान ज्ञान पहले भी हो चुका है अर्थात् समान जातीन् ज्ञान पूर्व में होने के कारण हम वर्तमान ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। इसी प्रकार प्रमाणाभास भी उसी ज्ञान को कहते हैं जिसके समान प्रमाणाभास ज्ञान पूर्व में हो चुका है। इस प्रकार समान जातीय ज्ञान के कारण ही प्रमाण तथा प्रमाणाभास की व्यवस्था लगायी जाती है, तो फिर अनुमान से परहेज क्यों? यही तो स्वभावानुमान है।

चूंकि बौद्धमत में शब्द तथा अनुपलब्धि प्रमाण नहीं माने जाते इसलिये उन दोनों का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हुए अनुमान विरोधी का खण्डन करते हैं। अनुमान न मानने वाला कहे कि हमें विरोधी की विप्रतिपत्ति (विपरीत बातों) का ज्ञान उनके वचनों से होता है अर्थात् "वचन" हेतु देकर "विप्रतिपत्ति" साध्य की सिद्धि की जा रही है। यही तो कार्यलिङ्गक अनुमान है। कार्य से कारण का अनुमान वचन कार्य है तथा विप्रत्तिपत्ति कारण।

किसी पदार्थ के दिखलाई न पड़ने से उसकी असत्ता का अनुमान लगाते है यह अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान है।

इन्हीं तीनों अनुमानों (समानजातीयत्व हेतुक अनुमान, वचनहेतुक अनुमान तथा अनुपलब्धि लिङ्गक अनुमान) का विवेचन श्लोक में किया गया है।

(६. बौद्धदर्शन के चार भेद- भावना- चतुष्टय)

ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति। ते च माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धा यथाक्रमं सर्वशून्यत्व-बाह्यार्थशून्यत्व-बाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते। यद्यपि भगवान्बुद्धः एक एव बोधयिता तथापि बोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्। यथा 'गतोऽस्तमर्कः' इत्युक्ते जारचौरानूचानादयः स्वेष्टानुसारेणाभिसरणपर-

स्वहरणसदाचरणादिसमयं बुध्यन्ते। सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावना-चतुष्टयमुपदिष्टं द्रष्टव्यम्।

अनुवाद—वे बौद्ध लोग चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ को कहते हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक-इन चारों नामों से प्रसिद्ध वे बौद्ध लोग क्रमशः सर्वशून्यत्व, बाह्यार्थशून्यत्व, बाह्यार्थानुमेयत्व तथा बाह्यार्थप्रत्यक्षत्व सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। यद्यपि उपदेश देने वाले भगवान् बुद्ध एक ही थे, तथापि बोद्धव्य शिष्यों के बुद्धिभेद से बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय बन गये। जैसे–"सूर्यास्त हो गया" यह कहने पर जार (उपपति), चोर तथा शिष्य आदि अपने-अपने अभीष्ट के अनुसार अभिसरण (प्रेयसी से मिलने के लिये जाना), धन चुराना तथा सदाचार आदि का समय समझ जाते हैं। (उसी तरह) सब कुछ क्षणिक है, क्षणिक है, सब कुछ दुःख है, दुःख है सब कुछ स्वलक्षण है, स्वलक्षण है तथा सब कुछ शून्य है शून्य है–इस प्रकार की चार भावनाओं का उपदेश दिया गया है-यह देखना चाहिये।

विशेष—यद्यपि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को समान उपदेश दिया था, लेकिन शिष्यों की अपनी-अपनी बुद्धि के कारण उन्होंने उपदेशों को ग्रहण किया। इसलिए बौद्धमत के चार सम्प्रदाय बन गये। जैसे–"सूर्यास्त हो गया" इस वाक्य के अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय अधोलिखित है–

(१) वैभाषिक (सर्वशून्यवादी)—यह शून्यवाद मानता है। "सब कुछ शून्य है" न तो बाह्य पदार्थ है न ही आन्तरिक विज्ञान। यह शून्यवाद अभाववाद भी नहीं है बल्कि शून्य से अनिर्वचनीय तत्त्व का बोध होता है। सभी बाह्य वस्तुएँ तथा आन्तरिक विज्ञान न तो सत् है, न ही असत्, न ही सदसत् है और न ही असन्नासत् अर्थात् दोनों से परे भी नहीं। यह चतुष्कोटि से परे शून्य है।

शून्यवाद आचार्य शङ्कर के अद्वैतवेदान्त के समान है। वेदान्त में माया को भी सत् असत् से परे अनिर्वचनीय माना गया है।

(२) योगाचार (विज्ञानवादी-बाह्यार्थशून्यवादी)—इनके अनुसार केवल विज्ञान की ही सत्ता है। सभी वस्तुएँ ज्ञान के रूप में ही भासती हैं। अतः ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता है। बाह्य समस्त विषय असत्य हैं, भ्रमवत् हैं। चित्त, मन, विज्ञप्ति-ये सभी विज्ञान के के ही पर्याय हैं। चेतनक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यही चित्त कहलाता है, मननक्रिया करने से वही मन है, विषयों को ग्रहण करने के कारण वही विज्ञान कहलाता है। आलयविज्ञान भी विज्ञान का ही प्रकार है। यह मत भी वेदान्त से कुछ-कुछ मिलता है। वहाँ भी ज्ञानरूप ब्रह्म को ही 'सत्य' माना गया है तथा संसार को 'असत्य' कहा गया है–"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" योगाचारी बौद्ध भी यही कहते है–सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं–सब कुछ स्वलक्षण (अर्थात् ज्ञान) ही है।

(३) सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवादी)—सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थ तथा आन्तरिक विज्ञान दोनों को सत्य मानते हैं। लेकिन बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता। उनके ज्ञान के लिए अनुमान की आवश्यकता है। क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक है, जब तक इन्द्रियों का बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होकर उसका ज्ञान होता है तब तक तो वह पदार्थ अतीत हो चुका रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों का चित्र चित्त पर खींच जाता है। इसी चित्र से बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। यही है बाह्यर्थानुमेयता का सिद्धान्त। ये "सर्वं दुःखं दुःखम्" सिद्धान्त को मानते हैं। संसार के समस्त पदार्थ दुःखदायी ही हैं।

(४) वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी)—इनका मत है "सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्" सब कुछ क्षणिक है। समस्त बाह्यपदार्थ प्रत्यक्ष तथा क्षणिक हैं। सौत्रान्तिकों ने बाह्यपदार्थों की सत्ता को चित्तसापेक्ष कहा था लेकिन वैभाषिक बाह्यपदार्थ को चित्तनिरपेक्ष कहते हैं। उनका मानना है कि बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है तथा चित्त की भी स्वतन्त्र सत्ता है। यदि कोई वस्तु बाहर प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर केवल चित्त के ज्ञान से उसका अनुमान भी कैसे हो सकता है। अतः बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।

(७. क्षणिकत्व की भावना–अर्थक्रियाकारित्व)

तत्र क्षणिकत्वं नीलादिक्षणानां सत्त्वेनानुमातव्यं-यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सन्तश्चामी भावा इति। न चायमसिद्धो हेतुः, अर्थक्रिया-कारित्व-लक्षणस्य सत्त्वस्य नीलादिक्षणानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाकमव्यावृत्तौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः संभवति।

३. परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ।। (कुसु० ३।८)

इति न्यायेन व्याघातस्योद्भटत्वात्।।

अनुवाद—उनमें क्षणिकत्व का अनुमान नीलादिक्षणों की सत्ता से होना चाहिये–जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे-मेघमण्डल, उसी प्रकार ये सभी भाव (पदार्थ) भी सत् हैं (इसलिये क्षणिक हैं) यहाँ 'सत्' हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अर्थक्रिया करने वाले सत्त्व की नीलादिक्षणों में (नीलादि क्षणिक पदार्थों में) प्रत्यक्षसिद्धि है। व्यापक को हटाने पर व्याप्य भी हट जाता है–इस न्याय से व्यापक (क्रम तथा अक्रम) को हटाने पर सभी क्षणिक वस्तुओं से सत्व की व्यावृत्ति होने से (क्षणिकत्व) सिद्ध है। यह अर्थक्रियाकारित्व (कार्य को करने की क्षमता रखना) क्रम तथा अक्रम से व्याप्त है। क्रम तथा अक्रम के अतिरिक्त तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं हैं।

"आपस में विरोध होने पर तीसरे किसी प्रकार की स्थिति नहीं रहती है। केवल उक्ति मात्र से विरोध होने पर भी विरोधियों में कभी एकता नहीं रहती" (कुसु० ३/८)

इस न्याय से विरोध आ जाने के कारण भी (तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं है)

विशेष—नीलादि पदार्थों को क्षणिक सिद्ध करने के लिए बौद्ध यह अनुमान करते हैं—नीलादि पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं। इसमें व्याप्ति है-जो-जो सत् है, वह-वह क्षणिक हैं।

नील का तात्पर्य है नीले रंग का पदार्थ। जैसे-नीला घट आदि।

यह नियम है कि यदि व्यापक नहीं है, तो व्याप्य भी नहीं रहेगा। क्रम तथा अक्रम व्यापक हैं तथा 'सत्' व्याप्य है। इसलिए जहाँ क्रम तथा अक्रम नहीं है वहाँ सत् भी नहीं रहेगा। जैसे-अक्षणिक पदार्थ में क्रमाक्रम नहीं है अतः, वहाँ सत् भी नहीं है। 'सत्' का तात्पर्य है अर्थ- क्रियाकारित्व। अर्थात् कार्य करने की क्षमता का होना। क्रम का तात्पर्य है-पौर्वापर्य तथा अक्रम का तात्पर्य है-एक साथ, बिना किसी पौर्वापर्य के। किसी वस्तु की सत्ता या क्रमिक हो सकती है, या फिर अक्रमिक हो सकती है। इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार नहीं है। क्रम तथा अक्रम के स्थायी पदार्थ में न रहने से उनमें सत्ता भी नहीं रहती है। क्रमाक्रम सत्ता में भी रहते हैं।

अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य है कार्य को करने की क्षमता रखना। जितने सत् पदार्थ हैं, वे सभी अर्थ क्रियाकारी हैं। जैसे-बीज क्षणिक है, क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है अर्थात् अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ है।

तौ च क्रमाक्रमौ स्थायिनः सकाशाद् व्यावर्तमानौ अर्थक्रियामपि व्यावर्तयन्तौ क्षणिकत्वपक्ष एव सत्त्वं व्यवस्थापयतः इति सिद्धम्।

अनुवाद—ये दोनों क्रमाक्रम स्थायी पदार्थ से अलग होकर अर्थक्रिया को भी स्थायी पदार्थ से अलग करके क्षणिकत्व के पक्ष में ही सत् को स्थापित करते हैं-यह सिद्ध होता है।

विशेष—जब स्थायी पदार्थ में क्रमाक्रम नहीं रहते तो अस्थायी पदार्थों में सत् भी कैसे रह सकता है, क्योंकि क्रमाक्रम व्यापक हैं और सत् व्याप्य है। जब कोई पदार्थ स्थायी है अर्थात् उसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई तो क्रम से या अक्रम से उत्पत्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए अस्थायी अर्थात् क्षणिक पदार्थों में ही सत्व अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व रहता है। स्थायी पदार्थ क्रम से या अक्रम से दोनों ही प्रकार अर्थक्रियाकारी नहीं है। स्थायी पदार्थ क्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं हैं यह दिखाया जा रहा है। अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं यह बात आगे दिखाई जायेगी।

(८. अक्षणिक पदार्थ का 'क्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना)

नन्वक्षणिकस्य अर्थक्रियाकारित्वं किं न स्यादिति चेत्-तदयुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि-वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीतानागतयोः किम्

अर्थक्रिययोः स्थायिनः सामर्थ्यमस्ति नो वा। आद्ये तयोरनिराकरणप्रसङ्गः, समर्थस्य क्षेपायोगात्। यद्यदा यत्करणसमर्थं तत्तदा तत्करोत्येव, यथा-सामग्री स्वकार्यं समर्थश्चायं भाव इति प्रसङ्गानुमानाच्च।

द्वितीये कदापि न कुर्यात्। सामर्थ्यमात्रानुबन्धित्वादर्थक्रियाकारित्वस्य। यद्यदा यन्न करोति तत्तदा तत्रासमर्थं यथा हि शिलाशकलमङ्कुरे। न चैष वर्तमानार्थक्रियाकरणकाले वृत्तवर्तिष्यमाणे अर्थक्रिये करोतीति तद्विपर्ययाच्च।।

अनुवाद—अक्षणिक पदार्थ में क्या अर्थक्रियाकारित्व होता ही नहीं यदि ऐसा कहा जाए, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह पक्ष दोनों विकल्पों से असिद्ध हो जायेगा। जैसा कि–वर्तमान अर्थक्रिया के उत्पादन के समय अतीत तथा भविष्य की अर्थक्रिया को उत्पन्न करने में स्थायी पदार्थ का सामर्थ्य है या नहीं?

प्रथम पक्ष मानने पर (भूत तथा भविष्य) दोनों समय में (कार्योत्पादन को) हटा पाना सम्भव नहीं, क्योंकि समर्थ वस्तु (बिना कार्योत्पादन के) समय नहीं बिता सकती। जब जो वस्तु जिस कार्य को करने में समर्थ है, वह वस्तु उस समय वह कार्य करेगी ही। जिस प्रकार–सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करेगी ही। उसी प्रकार यह पदार्थ भी समर्थ हैं–यह प्रसङ्गानुमान होता है।

दूसरा पक्ष मानने पर तो स्थायी वस्तु कभी भी कार्योत्पादन नहीं कर सकता। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व तो सामर्थ्य पर ही निर्भर है। जो वस्तु जिस समय में जिस काम को नहीं करता, वह वस्तु उस समय उस काम को करने में समर्थ नहीं है। जैसे कि पत्थर अंकुर उगाने में समर्थ नहीं है। और यह पदार्थ वर्तमान काल में कार्योत्पादन के समय भूत तथा भविष्य के कार्यों को उत्पन्न नहीं करेगा–यह प्रसंगानुमान का विपर्यय होता है।

विशेष—यदि स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य माना जाए तो स्थायी पदार्थ में यह सामर्थ्य त्रैकालिक मानना पड़ेगा। फिर स्थायी पदार्थ त्रिकाल में अर्थक्रिया करेगा यह आपत्ति आयेगी और यदि स्थायी पदार्थ में अर्थक्रिया को उत्पन्न करने का सामर्थ्य न माना जाए तो किसी भी काल में स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया उत्पन्न नहीं करेगा।

९. *सहकारियों की सहायता पाकर भी अक्षणिक अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता*

ननु क्रमवत्सहकारिलाभात् स्थायिनोऽतीतानागतयोः क्रमेण करणमुपपद्यत इति चेत्-तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। सहकारिणः किं भावस्योपकुर्वन्ति न वा? न चेन्नापेक्षणीयास्ते। अकिञ्चित्कुर्वतां तेषां तादर्थ्यायो।ात्। अथ भावस्तैः सहकारिभिः सहैव कार्यं करोति इति स्वभाव इति चेत्–अङ्ग! तर्हि सहकारिणो न जह्यात्। प्रत्युत पलायमानापि गले पाशेन बद्ध्वा कृत्यं कुर्यात्। स्वभावस्या-नपायात्।

अनुवाद—यदि कोई कहे कि क्रम से युक्त सहकारी क्रिया के स्वीकार करने पर भूत तथा भविष्यकाल में स्थायी पदार्थ का क्रमशः अर्थक्रियाकारी होना सिद्ध होता है। यदि ऐसा कहें तो आपसे यह पूछा जा रहा है, आप बतलायें। सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं या नहीं? यदि उपकार नहीं करती तो उन सहकारी क्रियाओं की अपेक्षा नहीं है। कुछ भी उपकार न करने वाली सहकारी क्रियाओं का पदार्थ के लिए होना सम्भव नहीं है। यदि स्थायी पदार्थ उन सहकारी क्रियाओं के साथ ही कार्य, करता है तो यह सहकारी कार्य स्थायी का स्वभाव ही है। यदि ऐसा कहें तो हे महाशय! तब तो स्थायी पदार्थ सहकारी क्रिया को छोड़ेगा ही नहीं। बल्कि भागने वाली सहकारी क्रिया को भी गले में फंदा डालकर अपना कार्य करेगा। क्योंकि अपने स्वभाव को कोई छोड़ नहीं सकता।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि सहकारी का साथ लेकर स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो सकता है। पूर्वपक्षी का खण्डन करने के लिए सिद्धान्त ने दो विकल्प दिये हैं-क्या सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं या नहीं? यदि सहकारी क्रियाएँ स्थायी पदार्थ का उपकार नहीं करती, तो फिर तो स्थायी पदार्थ को उन सहकारी कार्यों की आवश्यकता ही क्या है? फिर उन सहकारी कार्यों के बिना स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया कारी भी नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाए कि सहकारी क्रियाएँ, स्थायी पदार्थ का उपकार करती हैं, तो फिर तो सहकारी क्रिया स्थायी का स्वभाव ही है और स्वभाव मानने पर स्थायी पदार्थ सहकारी क्रियाओं को साथ लेकर निरन्तर अर्थक्रिया करता रहेगा। क्योंकि किसी के स्वभाव को उससे दूर नहीं किया जा सकता।

उपकारकत्वपक्षे सोऽयमुपकारः किं भावाद्भिद्यते न वा। भेदपक्ष आगन्तुकस्येव तस्य कारणत्वं स्यात्। न भावस्याक्षणिकस्य। आगन्तुकातिशयान्वेयव्यतिरेकानुविधायित्वात्कार्यस्य तदुक्तम्—

४. वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ।। इति।

अनुवाद—सहकारी क्रियाओं से स्थायी पदार्थ का उपकार मानने पर भी दो पक्ष उपस्थित होते हैं-क्या यह उपकार स्थायी पदार्थ से अलग है या अलग नहीं है? उपकार को स्थायी पदार्थ से अलग मानने पर अर्थ क्रिया के लिए उपकार को ही आगन्तुक के समान कारण मानना होगा न कि स्थायी भाव को अर्थक्रिया का कारण कहा जायेगा। क्योंकि आगन्तुकातिशय का कार्य के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक के कारण उस आगन्तुक का कारणत्व सिद्ध होता है। जैसा कि कहा गया है-

वर्षा तथा धूप से आकाश के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा? उन दोनों का प्रभाव तो चमड़े पर होता है। इसलिए स्थायी पदार्थ को यदि चमड़े के समान कहा जाए तो वह अनित्य कहा जायेगा और यदि स्थायी पदार्थ को आकाश के समान कहा जाय तो वह निष्फल हो जायेगा।

विशेष—पूर्व में दो पक्ष उठाये गये थे कि सहकारी क्रिया स्थायी पदार्थ का उपकार करती है या नहीं। यदि सहकारी क्रिया से स्थायी पदार्थ का उपकार माना जाए तो फिर से दो पक्ष उपस्थित होते हैं कि उपकार स्थायी पदार्थ से अलग है या नहीं। यदि उपकार को स्थायी पदार्थ से अलग कहा जाए तो वह उपकार ही अर्थक्रिया का कारण होगा क्योंकि उपकार के आने पर स्थायी पदार्थ अर्थक्रिया करता है (अन्वय) और उपकार के न आने पर स्थायी पदार्थ अर्थ—क्रिया नहीं करता (व्यतिरेक) इसलिए उपकार या अतिशय आगन्तुक के समान हुआ और वह आगन्तुक ही अर्थक्रिया का कारण बनेगा न कि स्थायी पदार्थ।

इसी बात के समझाने के लिए उदाहरण दिया गया है कि वर्षा का फल चमड़े पर दिखलाई पड़ता है आकाश पर नहीं। यदि स्थायी पदार्थ को चमड़े की तरह विकारी माना जाए अर्थात् स्थायी पदार्थ से अर्थक्रिया मानी जाए तब तो उसका स्थायित्व ही समाप्त हो जाएगा, उसे अनित्य कहना पड़ेगा और यदि स्थायी पदार्थ को आकाश की तरह कहा जाए तब तो स्थायी पदार्थ निष्फल माना जाएगा। उसमें विकार मानने या न मानने से कोई फर्क नहीं पड़ता। वह कदापि अर्थक्रियाकारी नहीं है और यही तो बौद्धों का सिद्धान्त मत है। वे स्थायी पदार्थ को अर्थक्रियाकारी नहीं मानते।

(१०. अतिशय द्वारा दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में दोष)

किं च, सहकारिजन्योऽतिशयः किमतिशयान्तरमारभते न वा उभयथाऽपि प्रागुक्तदूषणपाषाणवर्षणप्रसङ्गः। अतिशयान्तरारम्भपक्षे बहुमुखानवस्थादौःस्थ्यमपि स्यात्। अतिशये जनयितव्ये सहकार्यन्तरापेक्षायां तत्परम्परापात इत्येकानवस्थाऽऽस्थेया।

तथा सहकारिभिः सलिलपवनादिभिः पदार्थसार्थैराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकमभ्युपेयम्। अपरथा तदभावेऽप्यतिशयः प्रादुर्भवेत्।

अनुवाद—और सहकारी से उत्पन्न उपकार (अतिशय) क्या दूसरे उपकार (अतिशय) को प्रारम्भ करता है या नहीं? दोनों ही प्रकार से पूर्वोक्त दोषरूपी पाषाण वर्षा होगी। यदि उपकार उपकारान्तर को आरम्भ करता है यह पक्ष मानें तो बहुत प्रकार से अनवस्था रूपी दोष होगा। उपकार से उपकारान्तर मानने पर पुनः सहकारी कार्य की अपेक्षा होने से पुनः सहकारी कार्य सम्बन्धी सारी परम्परा (अर्थात् सहकारी कार्य जन्य अतिशय पुनः दूसरे अतिशय को प्रारम्भ करेगा इत्यादि) आ जायेगी इसलिए अनवस्था दोष आ जायेगा।

ऐसा मानने पर जल, पवन आदि सहकारी पदार्थों के द्वारा बीज में उपकार आ जाने पर बीज को ही उत्पादक मानना चाहिये। अन्यथा बीज के न रहने पर भी अतिशय हो सकता है।

विशेष—यदि सहकारी पदार्थों से उत्पन्न उपकार दूसरे उपकार को प्रारम्भ करता है यह मानेंगे तो अनवस्था दोष आयेगा। एक को सिद्ध करने के लिए दूसरे की कल्पना,

दूसरे के लिए तीसरे की कल्पना, तीसरे के लिए चौथे की कल्पना ऐसी अनन्त परम्परा ही अनवस्था दोष है।

यह अवस्था दोष आगे विस्तारपूर्वक दिखलाया जाएगा। दूसरी बात यह है कि बीज में अतिशय आने बीज को उत्पादक कहना पड़ेगा। लेकिन इसके पूर्व के प्रसंग में अतिशय को ही अर्थक्रिया का कारण माना गया है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध आ जायेगा।

(११. दूसरा अतिशय उत्पन्न करने में अनवस्था सं० १)

बीजं चातिशयमादधानं, सहकारिसापेक्षमेवाधत्ते। अन्यथा सर्वदोपकारापत्तौ अङ्कुरस्यापि सदोदयः प्रसज्येत तस्मादतिशयार्थमपेक्ष्यमाणैः सहकारिभिः अतिशयान्तरमाधेयं बीजे। तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन सहकरिसापेक्षस्य बीजस्य जनकत्वे सहकारिसम्पाद्यबीजगतातिशयानवस्था प्रथमा व्यवस्थिता।

अनुवाद—बीज अतिशय को ग्रहण करते हुए पुनः सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। अन्यथा सदा बीज से उपकार मानने पर अङ्कुर का भी सदा ही उदय होने लगेगा। इसलिए अतिशय की अपेक्षा करने वाले सहकारियों को बीज में दूसरे अतिशय का आधान करना चाहिये। इस प्रकार से उपकार हो जाने पर तथा पूर्व न्याय से सहकारी की अपेक्षा रखने वाले बीज के उत्पादक बनने पर सहकारी कारणों से सम्पादित बीज में अतिशय की प्रथम अनवस्था आ जाती है।

विशेष—यह पहली अवस्था दिखाई गयी है। बीज उपकार के लिए सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। उपकार के लिए अपेक्षित सहकारी कारण से बीज में दूसरे उपकार का आधान होता है। वह उपकार पुनः सहकारी कारण की अपेक्षा करता है। सहकारी कारण से फिर से बीज में उपकार आता है। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

(११. अनवस्था सं० २)

अथोपकारः कार्यार्थमपेक्ष्यमाणोऽपि बीजादिनिपेक्षं कार्यं जनयति, तत्सापेक्षं वा। प्रथमे बीजादेरहेतुत्वमापतेत्। द्वितीयेऽपेक्ष्यमाणेन बीजादिनोपकारेऽतिशय आधेयः। एवं तत्र तत्रापीति बीजादिजन्यातिशयनिष्ठातिशयपरम्परापात इति द्वितीयानवस्था स्थिरा भवेत्।

अनुवाद—अब कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित जो उपकार है, वह बीजादि से निरपेक्ष होकर कार्य को उत्पन्न करता है या बीजादि की अपेक्षा रखकर? (कार्य को उत्पन्न करता है) प्रथम पक्ष मानने पर बीजादि को कारण नहीं कह सकते। द्वितीय पक्ष मानने पर अपेक्षित बीजादि के द्वारा उपकार में अतिशय मानना पड़ेगा। उस अतिशय में फिर अतिशय मानना पड़ेगा–इस प्रकार बीज से उत्पन्न अतिशय निष्ठ अतिशय की परम्परा आ पड़ेगी-यह दूसरी अनवस्था स्थिर होगी।

विशेष—यदि उपकार को बीज की आवश्यकता नहीं फिर तो बीज को को कारण मानना ही व्यर्थ है और यदि उपकार के द्वारा बीज में अतिशय मानते हैं तो उस अतिशय में फिर अतिशय मानना पड़ेगा–इस प्रकार अनवस्था आयेगी। यह दूसरी अवस्था है।

(११. अनवस्था सं० ३)

एवमपेक्ष्यमाणेनोपकारेण बीजादौ धर्मिण्युपकारान्तरमाधेयम्–इत्युपकाराधेयबीजाश्रयातिशयपरम्परापात इति तृतीयानवस्था दुरवस्था स्यात्।

अनुवाद—इस प्रकार अपेक्षित उपकार के द्वारा बीजादि धर्मी में भी दूसरा उपकार मानना पड़ेगा। इस प्रकार उपकार के आधेय बीज के आश्रय में अतिशय की परम्परा आ पड़ेगी-यह तीसरी अनवस्था कठिन हो जायेगी।

विशेष—उपकार के द्वारा बीज में दूसरा उपकार, उस उपकार के द्वारा फिर बीज में तीसरा उपकार–इस प्रकार की तीसरी अनवस्था है।

पूर्व में यह विषय चला था कि सहकारी स्थायी पदार्थ का उपकार करते हैं या नहीं? उपकार पक्ष में दो विकल्प किये गये–उपकार भाव (स्थायी पदार्थ) से भिन्न है या नहीं? भिन्न मानने पर ये तीन अनवस्था दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अब उपकार को स्थायी पदार्थ से अभिन्न मानने पर क्या होगा-यह आगे दिखला रहे हैं।

१२. स्थायी भाव से अतिशय के अभिन्न होने पर आपत्ति

अथ भावादभिन्नोऽतिशयः सहकारिभिराधीयत इत्यभ्युपगम्येत, तर्हि प्राचीनो भावोऽनतिशयात्मा निवृत्तोऽन्यश्चातिशयात्मा कुर्वद्रूपादिपदवेदनीयो जायत इति फलितं ममापि मनोरथद्रुमेण। तस्मात्क्रमेण अक्षणिकस्य अर्थक्रिया दुर्घटा।

अनुवाद—यदि यह मानते हैं कि उपकार स्थायी पदार्थ से भिन्न नहीं है तथा सहकारी कारणों के द्वारा उपकार होता है तो प्राचीन स्थायी पदार्थ अतिशय नहीं है, इसलिए निवृत्त हो जायेगा। दूसरा स्थायी भाव अतिशय के रूप में कुर्वद्रूप (कार्योत्पादक वस्तु) के रूप में जाना जायेगा–इससे मेरा ही मनोरथ रूपी वृक्ष फलीभूत हो जायेगा। इसलिए क्रम से स्थायी पदार्थ की अर्थक्रिया सम्भव नहीं है।

विशेष—उपकार को भाव (स्थायी पदार्थ) से अभिन्न मानने पर यह कहना होगा कि स्थायी पदार्थ की अग्रिम अवस्था उपकार है और प्राचीन अवस्था स्थायी पदार्थ है। ऐसी स्थिति में प्राचीन अवस्था में स्थायीपदार्थ उपकार नहीं है तथा अतिशय (उपकार) बन जाने पर ही कार्योत्पादक होता है अर्थात् स्थायी पदार्थ कार्योत्पादक नहीं, बल्कि अतिशय रूप होने पर कार्योत्पादक है। फिर तो बौद्धों का सिद्धान्त मत (स्थायी पदार्थ कार्योत्पादक नहीं) ही फलीभूत हो रहा है। अभी तक यह सिद्ध किया गया कि स्थायी पदार्थ क्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं है। अब अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं यह बात बतलायी जा रही है।

१३. अक्षणिक पदार्थ का 'अक्रम' से अर्थक्रियाकारी नहीं होना

नाप्यक्रमेण घटते। विकल्पासहत्वात्। तथाहि-युगपत्सकलकार्य-करणसमर्थः स्वभावस्तदुत्तरकालमनुवर्तते न वा? प्रथमे तत्कालवत्कालान्तरेऽपि तावत्कार्यकरणमापतेत्। द्वितीये स्थायित्ववृत्त्याशा मूषिकभक्षितबीजादौ अङ्कु-रादिजननप्रार्थनामनुहरेत्।

अनुवाद—अक्रम से भी स्थायी पदार्थ अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों विकल्पों को सहन नहीं कर सकता। क्योंकि-एक साथ सभी कार्य करने में समर्थ स्वभाव उस कार्य की उत्पत्ति के बाद भी रहता है या नहीं? प्रथम विकल्प मानने पर इस काल के समान ही कालान्तर में भी स्थायी पदार्थ कार्य करने लगेगा। दूसरा विकल्प मानने पर भाव के स्थायित्व होने की आशा चूहे के द्वारा खाये हुए बीज से अङ्कुर उत्पन्न करने की प्रार्थना के समान होगी।

विशेष—स्थायी पदार्थ को अक्रम से अर्थक्रियाकारी नहीं कह सकते हैं। यदि स्थायी पदार्थ को कालान्तर में कार्योत्पत्ति में समर्थ मानते हैं तो वह लगातार कार्योत्पत्ति करता ही रहेगा। यदि कहें कि वह स्थायी पदार्थ एक काल में कार्योत्पत्ति करके निवृत्त हो जाता है फिर दूसरे काल कार्योत्पत्ति नहीं करता तब तो स्थायी पदार्थ का स्थायित्व ही समाप्त हो जाएगा। वह क्षणिक कहा जाने लगेगा। जिस प्रकार चूहे के द्वारा खाये गये बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करते उसी प्रकार कार्योत्पत्ति करके निवृत्त पदार्थ को स्थायी कहना भी उचित नहीं है।

१३. क. असामर्थ्य-साधक प्रसंग और उसका विपर्यय

यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं तन्नाना, यथा शीतोष्णे। विरुद्धधर्माध्यस्तश्चायमिति जलधरे प्रतिबन्धसिद्धिः। न चायमसिद्धो हेतुः। स्थायिनि कालभेदेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोः प्रसङ्गतद्विपर्ययसिद्धत्वात्। तत्रासामर्थ्यसाधकौ प्रसङ्गतद्वि-पर्ययौ प्रागुक्तौ।

अनुवाद—जो पदार्थ विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हैं, वे अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे-शीत और उष्ण। इसलिये यह स्वभाव भी विरुद्ध धर्म से युक्त है, इस प्रकार मेघ में व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है। यह हेतु (विरुद्ध धर्म से युक्त होना) असिद्ध नहीं है। स्थायी प्रदार्थ में कालभेद से सामर्थ्य तथा असामर्थ्य दोनों की सिद्धि प्रसङ्गानुमान तथा उसके विपर्ययानुभाव से होती है। इन दोनों (सामर्थ्य तथा असमार्थ्य) में असामर्थ्य का साधक प्रसङ्ग तथा उसका विपर्यय पहले ही कहा जा चुका है।

विशेष—जिस वस्तु में विरुद्ध धर्म होते हैं, वह वस्तु अनेक प्रकार की होती है जैसे मेघ में काला, सफेद आदि अनेक विरुद्ध धर्म दिखलाई पड़ते हैं इसलिये मेघ अनेक प्रकार का है। इस अनुमान से स्थायी पदार्थ को भी विरुद्ध धर्म से युक्त तथा अनेकविध माना गया है। स्थायी पदार्थ में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य को सिद्ध करने के लिए प्रसङ्गानुमान तथा

प्रसङ्गानुमान का विपर्यय होता है। इसमें असामर्थ्य साधक प्रसङ्ग तथा विपर्यय पहले (८ वाँ परिच्छेद) में हो चुका है। अब सामर्थ्य साधक प्रसंग और तद्विपर्यय आगे दिखलायेंगे।

असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती। असिद्ध हेतु तीन प्रकार का होता है—

१. आश्रयासिद्ध २. स्वरूपासिद्ध ३. व्याप्यत्वासिद्ध

१. आश्रयासिद्ध-जैसे-गगनारविन्द सुगन्धित है, क्योंकि वह अरविन्द है।

यहाँ आश्रय (पक्ष) ही नहीं हैं क्योंकि गगनारविन्द होता ही नहीं, इसलिए आश्रयासिद्ध हेतु है।

२. स्वरूपासिद्ध–जैसे शब्द गुण है, चाक्षुष होने के कारण। यहाँ हेतु चाक्षुषत्व शब्द में होता ही नहीं। इसलिये स्वरूपासिद्ध हेतु है।

२. व्याप्यत्वासिद्ध–उपाधि से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। उपाधि की चर्चा पूर्व में (चार्वाक दर्शन परि० ११) हो चुकी है। जैसे-पर्वत पर धूम है क्योंकि वहाँ अग्नि है। यहाँ पर "जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है" यह व्याप्ति तभी बन सकती है जब "आर्द्रेन्धनसंयोग" उपाधि हो। अतः पूर्वोक्त अनुमान में अग्नि हेतु सोपाधिक है इसलिए व्याप्यत्वासिद्ध हेतु है।

१३. ख. सामर्थ्य-साधक प्रसंग और तद्विपर्यय

सामर्थ्यसाधकावभिधीयते। यद्यदा यज्जननासमर्थं तत्तदा तन्न करोति यथा शिलाशकलमङ्कुरम् असमर्थश्चायं वर्तमानार्थक्रियाकरणकालेऽतीता-नागतयोरर्थक्रियायोरिति प्रसङ्गः। यद्यदा यत्करोति तत्तदा तत्र समर्थं यथा सामग्री स्वकार्ये। करोति चायमतीतानागतकाले तत्कालवर्तिन्यावर्थक्रिये भाव इति प्रसङ्गव्यत्ययो विपर्ययः।

अनुवाद—अब स्थायीपदार्थ में सामर्थ्यसाधक अनुमान (प्रसंगानुमान तथा उसका विपर्यय) बताया जा रहा है। जो जब जिसको उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, वह तब वह कार्य उत्पन्न नहीं करता। जैसे-पत्थर का टुकड़ा अंकुर उत्पन्न करने में असमर्थ है। इसलिये वह अंकुर उत्पन्न नहीं करता। उसी तरह यह भाव भी वर्तमान अर्थक्रिया को उत्पन्न करने के समय भूत तथा भविष्य की अर्थक्रिया को भी उत्पन्न करता है। यह अप्रसङ्गानुमान है। जो वस्तु जब जो कार्य करता है यह प्रसङ्गानुमान है। जो वस्तु जब जो कार्य करता है, वह तब उस कार्य में समर्थ है जैसे सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करती है। यह भाव भी अतीत और अनागत काल में उस समय की अर्थक्रिया को करता है यह प्रसङ्ग का व्यत्यय अर्थात् विपर्यय है।

विशेष—व्याप्ति दो तरह की मानी गयी है—

१. अन्वयव्याप्ति—यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र अग्निः।

२. व्यतिरेकव्याप्ति—यत्र-यत्र अग्निः नास्ति तत्र-तत्र धूमः नास्ति।

स्थायी भाव में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य सिद्ध करने के लिए चार अनुमान दिखाये गये है। पूर्व में (८ वाँ परिच्छेद) असामर्थ्य साधक अनुमानद्वय दिखाये गये थे—

यद् समर्थं तत् करोति (असामर्थ्य साधक व्यतिरेक व्याप्ति)

असामर्थ्याभाव=सामर्थ्य=व्याप्य,

अकरणाभाव=करण=व्यापक

दूसरे शब्दों में "यत् असमर्थ नास्ति तत् 'न करोति' इति नास्ति।" इसकी अन्वयव्याप्ति है-

यत् न करोति तद् असमर्थम् (असामर्थ्य साधिका अन्वयव्याप्ति, अकरण=व्याप्य असामर्थ्य=व्यापक)।

सामर्थ्यसाधक अन्वयव्यतिरेक यहाँ दिखाया गया है—सामर्थ्य साधक अन्वय व्याप्ति—

यत्करोति तत्समर्थम् (करण=व्याप्य, सामर्थ्य=व्यापक)

सामर्थ्यसाधक व्यतिरेक व्याप्ति—

यत् असमर्थं तत् न करोति (सामर्थ्याभाव=व्याप्य, करणाभाव=व्यापक)

१४. निष्कर्ष-क्षणिकवाद की स्थापना

तस्माद्विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या, व्यापकानुपलम्भेन अधिगतव्यतिरेकव्याप्तिकं, प्रसङ्गतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थास्यतीति सिद्धम्। तदुक्तं ज्ञानश्रिया-

५. **यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी**
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेद्।
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ।।

अनुवाद—इस प्रकार विपक्ष में क्रम तथा अक्रम की व्यावृत्ति होने से, व्यापक (क्रमाक्रम) के न रहने से व्यतिरेक व्याप्ति से युक्त तथा प्रसङ्ग एवं प्रसङ्गविपर्यय के कारण अन्वयव्याप्ति से युक्त सत्त्व को क्षणिकत्व पक्ष में ही व्यवस्थापित किया जाएगा यह सिद्ध है। जैसा कि ज्ञानश्री ने कहा है—जो सत् है वह क्षणिक है जैसे-बादल। और ये भाव भी सत् है (अत: क्षणिक हैं) अर्थकर्म की जो शक्ति है वही सत् हैं क्योंकि (सत् प्रत्यक्ष) प्रमाण से सिद्ध (स्थिर) नहीं है। न ही यह सत्ता एक ही प्रकार की है अन्यथा दूसरे के द्वारा दूसरे की क्रिया हो सकती है। दोनों ही प्रकार से क्षणिक पदार्थों के भंग (विनाश) की सिद्धि होती है। अत: अन्ततः (क्षणिकत्व) ही सिद्ध होता है।

विशेष—पूर्व में (परि०७) यह बताया गया था कि जो सत् है वह क्षणिक है- इस व्याप्ति के द्वारा सभी पदार्थों के क्षणिक होने का अनुमान किया जाता है। क्रमाक्रम की सत् के साथ व्याप्ति है, क्रमाक्रम व्यापक हैं और सत् व्याप्य। अत: जहाँ-जहाँ

क्रमाक्रम नहीं हैं वहाँ-वहाँ सत् भी नहीं है। इस व्यतिरेक के द्वारा भावों में क्रमाक्रम न होने से सत्व भी हट जाता है। साथ ही अन्वय व्याप्ति (जो सत् है वह क्षणिक है) के द्वारा क्षणिक पदार्थों में सत्त्व स्थापित किया जाता है।

अर्थकर्म की शक्ति अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व ही सत् है। सत्त्व यानि अर्थक्रियाकारित्व एक ही प्रकार का नहीं बल्कि अनेक प्रकार का है। सभी क्षणिक पदार्थों में भिन्न-भिन्न अर्थ- क्रियाकारित्व है, इसीलिए सभी से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति होती है, नहीं तो सभी से सभी कार्य उत्पन्न हो जाते। इस प्रकार अन्ततः सभी पदार्थ क्षणिक हैं यह सिद्ध होता है।

परि० ६ में बौद्धों के जो चार सम्प्रदाय बताये गये थे, उनमें से क्षणिकवाद (वैभाषिक-बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद) की स्थापना यहाँ तक की गयी है। अब सामान्यवाद का खण्डन प्रारम्भ हो रहा है।

१५. सामान्य का खण्डन

न च कणभक्षाक्षचरणादिपक्षकक्षीकारणे सत्तासामान्ययोगित्वमेव सत्त्वमिति मन्तव्यम्। सामान्यविशेषसमवायानामसत्त्वप्रसङ्गात्।

न च तत्र स्वरूपसत्तानिबन्धनः सद्व्यवहारः। प्रयोजकगौरवापत्तेः। अनुगतत्वाननुगतत्वविकल्पपराहतेश्च। सर्षपमहीधरादिषु विलक्षणेषु क्षणेष्वनुगतस्याकारस्य मणिषु सूत्रवद्, भूतगणेषु गुणवच्चाप्रतिभासनाच्च।

अनुवाद—कणाद तथा अक्षपाद आदि लोगों का मत स्वीकार करने पर सत्तासामान्य ही सत्त्व है ऐसा नहीं मानना चाहिये। अन्यथा सामान्य, विशेष तथा समवाय के असत्त्व होने का प्रसङ्ग आ जायेगा।

उनमें (सामान्य, विशेष तथा समवायमें) अपने रूप की सत्ता के कारण "सत्ता" का व्यवहार होता है यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि ऐसा कहने पर बहुत से प्रयोजकों की आवश्यकता पड़ेगी तथा अनुगतत्व और अननुगतत्व विकल्पों से खण्डन भी हो जायेगा। सरसों और पर्वतादि विलक्षण पदार्थों में अनुगत आकार का मणियों में सूत्र की तरह तथा प्राणियों में गुणों की तरह कोई आकार दिखलाई नहीं पड़ता।

विशेष—न्याय मत में सामान्य दो प्रकार का माना गया है—पर सामान्य तथा अपर सामान्य। पर सामान्य को ही 'सत्ता' कहा गया है। सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में व्याप्त रहती है। यदि बौद्ध समस्त 'सत्त्व' (अर्थक्रियाकारित्व) को सत्ता मान लिया जाए फिर तो सामान्य, विशेष तथा समवाय में बौद्ध सम्मत सत्त्व को नहीं मानना पड़ेगा।

उन तीनों सामान्य, विशेष, समवाय में केवल अपना रूप होने से सत्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि फिर सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म-तीनों में अनुगत है, यह कहना अनुपपन्न हो जायेगा। सामान्य, विशेष तथा समवाय मात्र इन तीनों में ही अनुगत कोई एक धर्म दिखलाई नहीं पड़ता। अनुगत का अर्थ है=समवेत=समवाय सम्बन्ध से रहने वाला।

किं च सामान्यं सर्वगतं स्वाश्रयसर्वगतं वा? प्रथमे सर्ववस्तु-सङ्करप्रसङ्गः। अपसिद्धान्तापत्तिश्च। यतः प्रोक्तं प्रशस्तपादेन-'स्वविषय-सर्वगतमिति'।

किं च विद्यमाने घटे वर्तमानं सामान्यमन्यत्र जायमानेन सम्बध्यमानं तस्मादागच्छत्सम्बध्यते अनागच्छद्वा? आद्ये द्रव्यत्वापत्तिः। द्वितीये सम्बन्धा-नुपपत्तिः।

अनुवाद—और सामान्य सबमें है या केवल अपने आश्रय में है? प्रथम पक्ष मानने पर सब वस्तुओं के संकर (मिलने) की आपत्ति आयेगी तथा विरोधी सिद्धान्त (अपसिद्धान्त) भी मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रशस्तपाद ने कहा है—(सामान्य) अपने विषय में सर्वत्र विद्यमान है।

और विद्यमान घट में रहनेवाला सामान्य दूसरी ओर होने वाले घट से सम्बन्धित होते समय पहले घट से निकलकर सम्बन्धित होता है या न निकलकर सम्बन्धित होता है? प्रथम पक्ष मानने पर सामान्य को द्रव्य कहना पड़ेगा। दूसरा पक्ष मानने पर सामान्य का सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

विशेष—यदि सामान्य को सभी पदार्थों में माना जाए तो सारे पदार्थ एक जैसे मानने पड़ेंगे।

दूसरी बात यह हे कि घटत्व सामान्य सब घड़ों में तो है लेकिन किसी नये घड़े का निर्माण होने पर उस नये घड़े में जो 'घटत्व' सामान्य आता है वह पहले घड़े से निकलकर जाता है या बिना निकले ही। यदि कहें कि सामान्य पुराने घड़े से निकलकर नये घड़े में जाता है, तो गमनादि क्रिया तो द्रव्य में होती है, सामान्य में नहीं ऐसी स्थिति में सामान्य को द्रव्यरूप कहना पड़ेगा। और यदि यह कहें कि सामान्य पूर्वघट से बिना निकले ही नये घर में चला जाता है तब तो सामान्य का नये घट से भी सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

किं च विनष्टे घटे सामान्यमवतिष्ठते, विनश्यति, स्थानान्तरं गच्छति वा? प्रथमे निराधारत्वापत्तिः। द्वितीये नित्यत्ववाचोयुक्त्ययुक्तिः। तृतीये द्रव्यत्वप्रसक्तिः-इत्यादि दूषणग्रहणग्रस्तत्वात्सामान्यमप्रामाणिकम्। तदुक्तम्—

६. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।
तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यतियुक्तता॥

अनुवाद—और घट के नष्ट हो जाने पर सामान्य भी वहीं रहता है, नष्ट हो जाता है या अन्य स्थानों को चला जाता है। प्रथम मत जाने पर सामान्य को निराधार मानना पड़ेगा। दूसरा मत मानने पर सामान्य को नित्य कहने की बात नहीं लग पायेगी। तीसरा मत मानने पर (सामान्य को) द्रव्य कहना पड़ेगा। इस प्रकार अनेक दोषों से ग्रस्त होने के कारण सामान्य कहना ही अप्रामाणिक है। कहा भी गया है—

किसी जगह (घटादि में) वर्तमान सामान्य (घटत्व) अन्य स्थान में (घटादि विशेष का) जन्म होने पर वह सामान्य बिना चले ही दूसरी जगह पहुँच जाता है यह अतियुक्ति है (अर्थात् यह युक्ति ठीक नहीं है)

७. यत्रासौ वर्तते भावस्तेन सम्बध्यते न तु।
तद्देशिनं च व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम्।।
८. न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः।। इति।

अनुवृत्तप्रत्ययः किमालम्बन इति चेत्—अङ्ग, अन्यापोहालम्बन एवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता, इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अनुवाद—यह भाव (सामान्य) जहाँ पर है, उस स्थान से तो यह सम्बन्धित नहीं होता, लेकिन उस स्थान पर रहने वाले पदार्थ को वह व्याप्त करता है, यह कैसा महान् आश्चर्य है?

यह (सामान्य) न तो जाता है, न तो वहाँ था, न ही बाद में अंश (खण्डित) होकर रहता है, न ही पूर्व आधार को छोड़ता है, और! कैसी परेशानियों की परम्परा है।

"यह सामान्य सबमें रहता है। यह ज्ञान किस पर आधारित है यदि ऐसा कहें तो हे प्रिय! (उत्तर यही है कि) अन्य अपोह का आश्रय लेकर ही। इससे ही आप चिरंजीवी सन्तोष का अनुभव करें। बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

विशेष—घटत्व भूतल पर तो है लेकिन वह भूतल पर स्थित घट को ही व्याप्त करता है, भूतल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नहीं कह सकते कि घटत्व पहले था अब नहीं है। "पुराने घट से वह नये घट में चला गया" ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि कहें कि घटत्व एक घट से हट कर दूसरे में चला गया, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि घटत्व का टुकड़ा नहीं हो सकता है।

अपोहवाद बौद्धों का मत है। वे सामान्य न मानकर अपोह मानते हैं। अपोह का अर्थ है—अतद्भिन्न। घट घटभिन्न सभी पदार्थों से भिन्न है।

१६. दुःख और स्वलक्षण की भावनाएँ

सर्वस्य संसारस्य दुःखात्मकत्वं सर्वतीर्थङ्करसम्मतम्। अन्यथा तन्निविवृत्सूनां तेषां तन्निवृत्त्युपाये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्सर्वं दुःखं दुःखमिति भावनीयम्।

ननु किंवदिति पृष्टे दृष्टान्तः कथनीय इति चेत्—मैवम्। स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात्। ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम्।

अनुवाद—समस्त संसार को दुःखरूप मानना सभी तीर्थंकरों को सम्मत है। अन्यथा दुःख से बचने की इच्छावाले लोगों की प्रवृत्ति दुःख की निवृत्ति के उपायों में नहीं हो पाती। इसलिये सब कुछ दुःख है, दुःख है, यह भावना करनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि किसकी तरह (सभी पदार्थ दुःखदायी हैं) ऐसा कहने पर दृष्टान्त बतलाइये तो ऐसी बात नहीं है। स्वलक्षण क्षणिक पदार्थों का क्षणिक होने के कारण सामान्य लक्षण न होने से "इसके समान यह पदार्थ है" ऐसा कहना सम्भव नहीं है। इसलिए सभी पदार्थ स्वलक्षण हैं स्वलक्षण हैं यह भावना करनी चाहिये।

विशेष—पूर्व में (परिच्छेद ६) बौद्धों के चार सम्प्रदाय बतलाये गये थे जिनमें वैभाषिकों (सर्वं क्षणिक क्षणिकम्) का वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत परिच्छेद में सौत्रान्तिक (सर्वं दुःखं दुःखम्) तथा योगाचार (सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्) का वर्णन किया गया है।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि सब कुछ दुःख ही दुःख है। संसार में सुखमय प्रतीत होने वाले सभी पदार्थ भी दुःखमय ही हैं। शंकराचार्य भी कहते हैं "सर्वं दुःखमयं जगत्" सांख्यकारिका की पहली कारिका दुःखत्रयनिवारणोपाय से ही प्रारम्भ होती है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तोऽभावात् ।।

भगवान् बुद्ध के चार आर्य सत्यों में प्रथम सत्य यही है कि सारा संसार दुःखमय है।

योगचार सम्प्रदाय का कहना है कि सब कुछ स्वलक्षण है। इनका मानना है कि किन्हीं दो पदार्थों में कोई सामान्य धर्म नहीं है। सभी स्वलक्षण हैं। सभी का अपना-अपना लक्षण है।

१७. शून्य की भावना-माध्यमिक-सम्प्रदाय

एवं शून्यं शून्यमित्यपि भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च न मया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात्। यदि दृष्टं सत्तदा तद्विशिष्टस्य दर्शनस्येदन्ताया अधिष्ठानस्य च तस्मिन्नध्यस्तस्य रजतत्वादेस्तत्संबन्धस्य च समवायादेः सत्त्वं स्यात्। न चैतदिष्टं कस्यचिद्वादिनः। न चार्धजरतीयमुचितम्। न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते।

अनुवाद—इसी प्रकार "सभी कुछ शून्य है, शून्य है" यह भावना करनी चाहिये क्योंकि "स्वप्न में तथा जागरण में मैंने यह रजत आदि नहीं देखा है" इस तरह विशेष प्रकार के निषेध की प्राप्ति होती है। यदि सामने दिखाई देने वाले पदार्थ को सत् कहें तो उस पदार्थ से सम्बद्ध दर्शन क्रिया का, इस वस्तु के धर्म के (इदन्ता के) अधिष्ठान का,

उस वस्तु पर आरोपित रजतत्त्व आदि का तथा रजतत्व के समवायादिसम्बन्ध का भी सत्त्व मानना पड़ेगा। यह किसी भी वादी को अभीष्ट नहीं है। अर्धजरतीय न्याय उचित नहीं है। मुर्गी का एक भाग पकाने के लिए और दूसरा भाग प्रसव के लिए रख दें ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।

विशेष—बौद्ध दर्शन के पूर्वोक्त चार सम्प्रदायों में चौथा सम्प्रदाय 'शून्यवाद' है। इसके प्रवर्तक नागार्जुन थे।

इनका यह मत है कि जो वस्तु सामने दिखलाई पड़ रही है उसे किसी भी प्रकार से सत् नहीं माना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति जाग्रत अवस्था में चांदी देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है कि "मैंने स्वप्न में चांदी नहीं देखी है।" यदि वह स्वप्न में चांदी देखता है तो उसे यह ज्ञान रहता है कि "मैंने जाग्रत अवस्था में चांदी नहीं देखी है"। इस प्रकार "स्वप्न में चांदी नहीं देखी" या "जाग्रत में चांदी नहीं देखी" यह विशिष्ट निषेध होता है।

इसी प्रकार जब शुक्ति में रजत का भ्रम होता है तब यदि उस ज्ञान को सत्य मानें तो "इदं रजतम्" इस ज्ञान में दर्शन क्रिया को सत्य मानना होगा। साथ ही "इदन्ता" के अधिष्ठान शुक्ति को, रजतत्व धर्म के ज्ञान को तथा रजत एवं रजतत्व के समवाय सम्बन्ध को भी सत्य मानना होगा। जबकि इन सभी को सत्य मानना सम्भव नहीं है। यदि कोई कहे कि हम इदन्ता के आधार 'शुक्ति' के ज्ञान को सत्य कहते हैं तथा अन्य ज्ञानों को असत्य कहते हैं। यही तो अर्ध जरतीय न्याय हुआ। अर्थ जरतीय का अर्थ है—आधा बूढ़ा यानि आधा बूढ़ा, आधा जवान। यह भी सम्भव नहीं है। मुर्गी का आधा भाग खाने केलिये तथा आधा भाग प्रसव के लिये रख देना सम्भव नहीं है । इसलिये "सब कुछ शून्य है" यही भावना उचित है।

तस्मादध्यस्ताधिष्ठान-तत्सम्बन्ध-दर्शन-दृष्टॄणां मध्य एकस्यानेकस्य वा असत्त्वे निषेधविषयत्वेन सर्वस्यासत्त्वं बलादापतेदिति भगवतोपदिष्टे 'माध्यमिका:' तावदुत्तमप्रज्ञा इत्थमचीकथन्–भिक्षुपादप्रसारणन्यायेन, क्षणभङ्गाद्यभिधानमुखेन, स्थायित्वानुकूलवेदनीयत्वानुगतत्व-सर्वसत्यत्वभ्रमव्यावर्तनेन सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानम्। अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

अनुवाद—इसलिये आरोपित वस्तु के अधिष्ठान, उसके सम्बन्ध, दर्शन क्रिया तथा द्रष्टा-इनके मध्य में एक या अनेक के असत् होने पर निषेध का विषय हो जाने से सभी का असत्त्व जबरदस्ती आ जाता है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध का उपदेश होने पर उत्तमबुद्धिवाले माध्यमिकों ने यह कहा है:–भिक्षुपादप्रसरण न्याय से, क्षणभङ्ग आदि शब्दों को कहने के

माध्यम से स्थायित्व, अनुकूल वेदना का होना, अनुगतत्व (समवाय सम्बन्ध से रहना), सर्वसत्यत्व आदि भ्रम को हटाकर सर्वशून्यता में ही पर्यवसान होता है। अत: सत्, असत्, सदसत् दोनों तथा दोनों से रहित-इन चार कोटियों से मुक्त शून्य ही तत्त्व है।

विशेष—अधिष्ठान (शुक्ति आदि), सम्बन्ध (समवायादि), दर्शनक्रिया तथा द्रष्टा-इन चारों में से यदि कोई एक भी असत् है तो चारों को असत् कहना पड़ेगा। 'भिक्षुपादप्रसरण' न्याय का तात्पर्य है कि लोगों की भीड़ से भरे स्थान में कोई भिक्षु पहले तो कहीं बैठने की जगह बनाता है फिर धीरे-धीरे पैर फैलाकर सोने तक की जगह बना लेता है, उसी तरह धीरे-धीरे क्षणभङ्गवाद आदि का वर्णन करके पहले वस्तु के स्थायित्व को दूर किया जाता है फिर यह बताया जाता है कि कोई भी वस्तु अनुकूलवेदनीय नहीं है अर्थात् सभी पदार्थ दु:खदायी हैं। फिर अनुगतत्व तथा सर्व सत्यत्व आदि भ्रम को भी हटाकर अन्ततः यह सिद्ध किया जाता है कि "सर्व शून्यम् शून्यम्।" यह शून्यवाद शङ्कराचार्य के मत से मिलता-जुलता है। शंकराचार्य ने भी माया को चारों कोटियों से परे बतलाया है। उन्होंने माया को सत्, असत्, सदसत् तथा न सत् या असत्—इन चारों से परे अनिर्वचनीय कहा है।

तथा हि—यदि घटादेः सत्त्वं स्वभावस्तर्हि कारकव्यापारवैयर्थ्यम्। असत्त्वं स्वभाव इति पक्षे प्राचीन एव दोषः प्रादुःष्यात्। यथोक्तम्।

९. न सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः।। इति।

अनुवाद—यदि घट आदि का स्वभाव सत्त्व है, तो इसे बनाने का व्यापार व्यर्थ है। यदि घटादि का स्वभाव असत्त्व है यह पक्ष मानें तो पहले के दोष ही आयेंगे। जैसा कि कहा गया है-

"आकाश आदि के समान सत् वस्तु को कारण भी अपेक्षा नहीं होती तथा आकाश पुष्प के समान असत् कार्य का हेतु भी सम्भव नहीं है।

विशेष—यदि घटादि को सत् माना जाए या असत्। दोनों ही स्थितियों में दोष आते हैं। अत: उसे अनिर्वचनीय शून्य ही मानना पड़ेगा।

विरोधादितरौ पक्षावनुपपन्नौ। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

१०. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः।। इति।

११. इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा।। इति च।।

न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

अनुवाद—बाद के दोनों पक्ष (सदसत् उभय तथा अनुभय) भी विरोध के कारण ठीक नहीं हैं। जैसे कि भगवान् के लङ्कावतार में कहा है–बुद्धि के द्वारा विवेचनीय पदार्थों का स्वभाव निश्चित नहीं होता। इसलिये वे पदार्थ अविर्चनीय तथा स्वभावहीन दिखलाये गये हैं।

विद्वान् लोग जो कहते हैं कि यह वस्तु जबरदस्ती उत्पन्न हुई है। जैसे-जैसे पदार्थों का विचार करते हैं, वैसे-वैसे पदार्थ नष्ट होते जाते हैं।

किसी भी पक्ष में पदार्थ स्थिर नहीं रहते यह तात्पर्य है।

दृष्टार्थव्यवहाराश्च स्वप्नव्यवहारवत्संवृत्या संगच्छते। अत एवोक्तम्—

१२. **परिव्राट्-कामुक-शुनामेकस्यां प्रमदातनौ ।**
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ।। इति।

तदेवं भावनाचतुष्टयवशान्निखिलवासनानिवृत्तौ परनिर्वाणं शून्यरूपं सेत्स्यतीति वयं कृतार्थाः, नास्माकमुपदेश्यं किंचिदस्तीति।

अनुवाद—दृष्ट वस्तुओं का व्यवहार स्वप्न व्यवहार के ज्ञान की तरह चलता हैं। इसीलिये कहा गया है–एक ही स्त्री के शरीर में संन्यासी, कामी तथा कुत्ते को शव, स्त्री तथा भोजन तीन तरह के विकल्प होते हैं।

तो इस प्रकार इन चार भावनाओं के कारण समस्त वासनाओं के निवृत्त हो जाने पर शून्यरूप परमोक्ष मिल जायेगा इतने से ही हम कृतार्थ हैं। अब हमारे लिए कुछ भी उपदेष्टव्य नहीं है।

विशेष—इस जगत् के समस्त व्यवहार स्वप्न की तरह मिथ्या हैं-ऐसा शङ्कराचार्य भी मानते हैं।

शिष्यस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् तत्राप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः। गुरूक्तस्याङ्गीकरणादुत्तमाः पर्यनुयोगस्याकरणादधमाश्च। अतस्तेषां माध्यमिका इति प्रसिद्धिः।।

अनुवाद—(भगवान् बुद्ध के) शिष्यों को दो कार्य करने चाहिये–योग तथा आचार। उसमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रश्न करना योग है तथा गुरु के द्वारा बतलायी गयी बात को स्वीकार करना आचार है। गुरु के द्वारा बतलायी गयी बात को स्वीकार करने के कारण ये उत्तम कहलाते हैं तथा (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का) प्रश्न न करने के कारण अधम भी कहलाते हैं इसलिए उनकी ''माध्यमिक'' ऐसी प्रसिद्धि है।

विशेष—बौद्धों के एक सम्प्रदाय को 'माध्यमिक' क्यों कहा जाता है, इसका कारण यह हैं कि वे उत्तम भी हैं और अधम भी अतः, उन्हें माध्यमिक कहा जाता है। अन्य

मत के अनुसार शाश्वतवाद तथा उच्छेद वाद इन दो धाराओं के मध्य का मार्ग स्वीकार करने के कारण इन्हें माध्यमिक कहा जाता है। शाश्वतवाद के अनुसार आत्मा नित्य है लेकिन उच्छेदवाद के अनुसार आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। लेकिन माध्यमिक सम्प्रदाय शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के बीच का मार्ग अपनाता है।

१८. योगाचार-मत-विज्ञानवाद

गुरूक्तं भावनाचतुष्टयं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनुयोगस्य करणात् केषाञ्चिद्योगाचारप्रथा। एषा हि तेषां परिभाषा-स्वयंवेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। तत्कीर्तितं धर्मकीर्तिना—

अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। इति।

अनुवाद—गुरु के बाद बतलायी गयी चारों भावनाओं तथा बाह्य पदार्थों की शून्यता को स्वीकार करके "आन्तरिक पदार्थ की शून्यता को कैसे स्वीकार करते हैं?" यह प्रश्न करने के कारण कुछ लोगों को योगचार सम्प्रदाय का कहा जाता हैं उनकी यह परिभाषा है कि स्वयं वेदन को स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा समस्त संसार को अन्धा मानना पड़ेगा। यही बात धर्मकीर्ति ने कही है-

प्रत्यक्ष को न मानने वालों की पदार्थ की दृष्टि ठीक नहीं है।

विशेष—योग (पर्यनुयोग=प्रश्न) करने के कारण (आचार) कुछ लोगों को योगाचार कहा जाता है। योगाचार मत का मानना है स्वयंवेदन अर्थात् स्वयं के ज्ञान को तो मानना ही चाहिये। यदि स्वयं के ज्ञान को भी नहीं माना जायेगा, अर्थात् ज्ञाता का भी ज्ञान यदि नहीं है, तो सारा जगत् ही अन्धा कहा जाएगा। कौन किसका ज्ञान करेगा? जब ज्ञाता ही नहीं है तो ज्ञान करेगा कौन? इसलिए स्वज्ञान को तो मानना ही पड़ेगा।

१९. बाह्य पदार्थ का खण्डन

बाह्यं ग्राह्यं नोपपद्यत एव। विकल्पानुपपत्तेः। अर्थो ज्ञानग्राह्यो भवन्नुत्पन्नो भवति अनुत्पन्नो वा? न पूर्वः, उत्पन्नस्य स्थित्यभावात्। नापरः, अनुत्पन्नस्या-सत्त्वात्। अथ मन्येथाः-'अतीत एवार्थो ज्ञानग्राह्यस्तज्जनकत्वादिति' तदपि बालभाषितम्। वर्तमानतावभासविरोधात्। इन्द्रियादेरपि ज्ञानजनकत्वेन ग्राह्यत्व-प्रसंगाच्च।

अनुवाद—बाह्यपदार्थ ग्राह्य के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि दोनों विकल्प नहीं लग पाते। पदार्थ ज्ञान के द्वारा ग्रहण होते हुए उत्पन्न होता है या उत्पन्न नहीं होता? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ स्थित नहीं रह सकता अर्थात् दूसरे ही क्षण विनष्ट हो जाता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ बिना उत्पन्न हुए रह

ही नहीं सकता। यदि यह मानें कि भूतकालिक पदार्थ ही ज्ञानग्राह्य है क्योंकि वे पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं तो यह भी मूर्खों की बात है क्योंकि ऐसा मानने पर वस्तुओं की वर्तमान काल की प्रतीति का भी विरोध हो जायेगा। इन्द्रिय आदि भी ज्ञान उत्पन्न करने के कारण ग्राह्य बन जायेंगी।

विशेष—जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं अर्थात् एक क्षण में उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जब वह टिकता नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे सम्भव है? इसलिए उत्पन्न पदार्थ ज्ञान ग्राह्य नहीं हो सकता, न ही अनुत्पन्न पदार्थ ज्ञान ग्राह्य हो सकता है।

फिर यदि बीते हुए पदार्थ को ज्ञानग्राह्य कहने लगें तो वर्तमान काल में उनकी प्रतीति भी अनुपपन्न हो जायेगी। इसलिए कथमपि बाह्य पदार्थ ज्ञान ग्राह्य नहीं हो सकते हैं।

किं च, ग्राह्यः किं परमाणुरूपोऽर्थोऽवयविरूपो वा। न चरमः कृत्स्नैकदेशविकल्पादिना तन्निराकरणात्। न प्रथमः अतीन्द्रियत्वात्। षट्केन युगपद्योगस्य बाधकत्वाच्च। यथोक्तम्–

१३. षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः ।। इति।।

अनुवाद—फिर ग्राह्य पदार्थ परमाणुरूप है या अवयवीरूप है। दूसरा विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि "सम्पूर्ण पदार्थ ग्राह्य है या उसका एकभाग ग्राह्य है" यह विकल्प देकर दूसरे विकल्प का निरास हो जाएगा। प्रथम विकल्प (ग्राह्य पदार्थ परमाणु रूप है) भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु रूप पदार्थ के अतीन्द्रिय होने से वह ग्राह्य नहीं बन सकता। छह दिशाओं के साथ एक साथ परमाणु का योग होने में बाधकता है जैसा कि कहा गया है–

छह दिशाओं के साथ एकसाथ परमाणु का योग होने पर परमाणु के छह अंश हो जाएँगे। उन सबका एक-एक भाग करने पर पिण्ड तो अणुभाव ही बचेगा।

विशेश—यदि परमाणु का सम्बन्ध छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे) से माना जाए, तो उसे अवयवी मानना पड़ेगा। यदि सभी दिशाओं से सम्बन्धित भागों को अलग-अलग कर दिया जाए, तो फिर सभी भागों को अणु ही कहा जाएगा, फिर पूर्व से अन्तर ही क्या हुआ?

२०. *बुद्धि का स्वयं प्रकाशित होना*

तस्मात्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति सिद्धम्। तदुक्तम्–

१४. नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।। इति।।

ग्राह्याग्राहकयोरभेदश्चानुमातव्यः। यद्वेद्यते येन वेदनेन, तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानेनात्मा। वेद्यन्ते तैश्च नीलादयः।

अनुवाद—इसलिए अपने से अतिरिक्त किसी ग्राह्य के न होने से उन विषयों को ग्रहण करने वाली बुद्धि स्वयं अपने ही रूप का प्रकाश करती है, प्रकाश के समान यह सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—बुद्धि का (स्वयं से अतिरिक्त) दूसरा कोई ग्राह्य नहीं है तथा बुद्धि को ग्रहण करने वाला भी (बुद्धि से अतिरिक्त) कोई दूसरा नहीं है। इसलिए (बुद्धि से व्यतिरिक्त) ग्राह्य तथा ग्राहक न होने से स्वयं बुद्धि ही प्रकाशित होती है।

ग्राह्य तथा ग्राहक के भेद का अनुमान कर लेना चाहिये। जिसके ज्ञान से जो जाना जाता है वह उससे भिन्न नहीं है, जैसे ज्ञान से आत्मा (भिन्न नहीं है) ज्ञान से ही नीलादि पदार्थो को जाना जाता है।

विशेष—बुद्धि अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ को ग्रहण नहीं करती। इसलिये जिसे वह ग्रहण करती है वह पदार्थ बुद्धि ही कहलायेगा।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ज्ञानरूप ही माना गया है। इसलिए जिससे जिसको जानते हैं वे दोनों एक ही है। आत्मा से जिन नीलादि पदार्थों को जानते हैं वे सभी पदार्थ का ज्ञान- रूप ही है।

भेदे हि सति न अनेनार्थस्य सम्बन्धित्वं स्यात्। तादात्म्यस्य नियम-हेतोरभावात्। तदुत्पत्तेरनियामकत्वात्। यश्चायं ग्राह्यग्राहकसंवित्तीनां पृथगवभासः स एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अत्राप्यनादिरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासनैव निमित्तम्। यथोक्तम्—

१५. **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।**
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।। इति।।

१६. **अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।**
ग्राह्याग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लभ्यते ।। इति च।।

(स.सि.सं.पृ. १२)

अनुवाद—यदि (ग्राह्य और ग्राहक में) भेद माना जाए तो ज्ञान (ग्राहक) के साथ ग्राह्य वस्तु का सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। तादात्म्य सम्बन्ध से इन दोनों (ग्राह्य-ग्राहक) के सम्बन्ध का नियम नहीं बनेगा, तदुत्पत्ति (कार्य-कारण सम्बन्ध) भी इन दोनों के सम्बन्ध का नियामक नहीं है। जो यह ग्राह्य और ग्राहक के ज्ञान का अलग-अलग आभास होता है, वह एक चन्द्र में दो चन्द्र की प्रतीति के समान भ्रम ही है। इस भ्रम में अनादि तथा अविच्छिन्न प्रवाह वाली भेद की वासना ही कारण है। जैसा कि कहा गया है—

एक साथ उपलब्ध होने के नियम से नीलादि विषय तथा उसके ज्ञान का अभेद होता है। तथा उनके भेद की जो प्रतीति होती है, वह एक चन्द्र में दो चन्द्रमा की प्रतीति के समान भ्रम ज्ञान से होती है।

बुद्धि का स्वरूप अविभक्त होने पर भी भ्रम-ज्ञान के कारण ग्राह्य और ग्राहक के ज्ञान के भेद के समान ही प्राप्त होता है।

विशेष—ग्राह्य-ग्राहक में भेद मानने पर किसी प्रकार से भी उन दोनों का सम्बन्ध ही नहीं बन पायेगा। भेद पक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध या तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी इन दोनों को सम्बन्धित नहीं कर सकता। तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर तो इन दोनों का भेद ही नहीं बनेगा और तदुत्पत्ति मानने पर विषय के ज्ञान से उत्पन्न मानना पड़ेगा लेकिन यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि घटादि विषय तो दण्ड चक्र कपालादि से उत्पन्न होते हैं।

न च रसवीर्यविपाकादि समानमाशामोदकोपार्जितमोदकानां स्यादिति वेदितव्यम्। वस्तुतो वेद्य-वेदकाकारविधुराया अपि बुद्धेः व्यवहर्तृपरिज्ञानानुरोधेन विभिन्नग्राह्यग्राहकाकाररूपवत्तया तिमिराद्युपहताक्ष्या केशोण्डुकनाडीज्ञानभेदवत् अनाद्युपप्लववासनासामर्थ्यात् व्यवस्थोपपत्तेः पर्यनुयोगायोगात्। यथोक्तम्—

१७. अवेद्यवेदकाकारा यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते ।
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ।।

अनुवाद—फिर आशामोदक (काल्पनिक लड्डू) तथा उपार्जित मोदक (वास्तविक रूप से प्राप्त लड्डू) दोनों में रस, वीर्य तथा विपाक (पाचना) आदि भी समान ही होना चाहिये-ऐसा मत समझें। वास्तव में यह प्रश्न ही नहीं किया जा सकता हैं, क्योकि व्यवहार करने वालों के ज्ञान के कारण ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से रहित बुद्धि को भी अनादिकाल से युक्त वासना के कारण विभिन्न-विभिन्न ग्राह्य तथा ग्राहकों का रूप ठीक उसी तरह प्राप्त होता है, जिस प्रकार तिमिर आदि रोग से ग्रस्त आँखों से केश, उण्डुण (मकड़ी का जाला) नाड़ी आदि का ज्ञान होता है यह व्यवस्था होती हैं—जैसा कि कहा गया है–ज्ञेय तथा ज्ञाता के आकार से रहित बुद्धि भी भ्रान्त लोगों के द्वारा ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से युक्त अलग-अलग दिखलाई पड़ती है।

विशेष—ग्राह्य तथा ग्राहक के आकार से रहित बुद्धि भी उन दोनों के आकार से युक्त इस कारण प्रतीत होती है क्योंकि अनादि वासना वैसी ही बनी हुई। इसीलिये काल्पनिक मोदक रस, वीर्यादि प्रदान नहीं करता लेकिन वास्तविक मोदक रस, वीर्यादि प्रदान करता है। इसका कारण भी अनादि वासना ही है।

१८. तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत् ।
यदा तदा न संचोद्या ग्राह्यग्राहकलक्षणा ।। इति।

तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशात् अनेकाकारावभासत-इति सिद्धम्। ततश्च प्रागुक्त-भावना-प्रचय-बलात् निखिल-वासनोच्छेद-विगलित-विविध-विषयाकारोपल्लव-विशुद्ध-विज्ञानोदयो महोदय इति।

अनुवाद—उसी प्रकार जब ग्राह्य और ग्राहक रूप यह व्यवस्था केशादि ज्ञान के भेद के समान ही रहती है तो इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये।

इसलिए बुद्धि ही अनादि वासना के कारण अनेक आकार में प्रकाशित होती है-यह यह सिद्ध है। फिर पूर्वोक्त (चारों) भावनाओं की एकजुटता के बल से समस्त वासनाओं का उच्छेद होने पर विविध विषयों के आकार के गल (समाप्त) जाने पर विशुद्ध विज्ञान का जो उदय है, वही महोदय (मोक्ष) है।

विशेष—पूर्वोक्त चार भावनाओं (सर्वं, क्षणिकं, सर्वं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यम्) के कारण जब समस्त वासनाओं को उच्छेद होता है। फिर वासनाओं के उच्छेद से विविध विषयों का आकार समाप्त होकर, एकाकारा विशुद्ध बुद्धि (ज्ञान=विज्ञान) का उदय हो जाता है, यही तो मोक्ष (महोदय) है।

२१. *सौत्रान्तिक-मत-बाह्यार्थानुमेयावाद*

अन्ये तु मन्यन्ते—यथोक्तं 'बाह्यं वस्तुजातं नास्तीति' तदयुक्तम्। प्रमाणाभावात्। न च सहोपलम्भनियमः प्रमाणमिति वक्तव्यम्। वेद्यवेदकयोर-भेदसाधकत्वेनाभिमतस्य तस्याप्रयोजकत्वेन सन्दिग्धविपक्षव्या-वृत्तिकत्वात्।

ननु भेदे सहोपलम्भनियमात्मकं साधनं न स्यादिति चेन्न। ज्ञानस्यान्त-र्मुखतया, ज्ञेयस्य बहिर्मुखतया च भेदेन प्रतिभासमानत्वात्। एकदेशत्वैक-कालत्व-लक्षणसहत्व-नियमासम्भवाच्च।

अनुवाद—अन्य लोग मानते है कि जो यह कहा जाता है कि "बाह्य वस्तु नहीं हैं" वह ठीक नहीं है, क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है। सहोपलम्भ नियम (अर्थात् साथ साथ रहने का नियम) प्रमाण है यह भी नहीं कहना चाहिये वेद्य और वेदक में अभेद सिद्ध करने के लिए अभिमत उस निमय के अप्रयोजक होने के कारण उस नियम का विपक्ष में अभाव सन्दिग्ध है।

भेद को सिद्ध करने में सहोपलम्भ नियम साधन नहीं होगा यदि ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं है। ज्ञान के अन्तर्मुख होने से तथा ज्ञेय के बहिर्मुख होने से भेद से दोनों भासते हैं इसलिये एकदेशत्व, एककालत्व तथा लक्षणसहत्व (दोनों के लक्षण मिलना) ये सभी नियम सम्भव नहीं है।

विशेष—पीछे ग्राह्य और ग्राहक में अभेद सिद्ध करने के लिये सहोपलम्भ नियम माना गया था। लेकिन इस अभेद को सिद्ध करने के लिए यह नियम नहीं बनाया जा सकता।

यह नियम है कि हेतु को विपक्ष में नहीं रहना चाहिये। जैसे 'धूम' हेतु के द्वारा पर्वत पर अग्नि सिद्ध करते समय महाह्रद विपक्ष है। महाह्रद में अग्नि का अभाव पूर्व से ही सिद्ध है। अतः महाह्रद में धूम भी नहीं रहना चाहिये। उसी तरह हेतु "सहोपलम्भ नियम" से अभेद को सिद्ध करते समय वे सभी पदार्थ विपक्ष हैं, जिनमें भेद होता है। लेकिन सहोपलम्भ नियम तो भेद वाले पदार्थों में है या नहीं यह सन्देह है। इस प्रकार सहोपलम्भ नियम विपक्ष में सन्दिग्ध है।

साथ ही भेद को सिद्ध करने के लिए भी सहोपलम्भ नियम को मानना पड़ता है। सहोपलम्भनियम से ज्ञान तथा ज्ञेय में भेद सिद्ध होता है। इसलिए सहोपलम्भ कोई नियम ही नहीं है। साथ ही एकदेशत्व, एककालत्व, लक्षणसहत्व आदि नियम भी सम्भव नहीं है।

किं च नीलाद्यर्थस्य ज्ञानकारत्वेऽहमिति प्रतिभासः स्यात्। न तु 'इदमिति' प्रतिपत्तिः। प्रत्ययादव्यतिरेकात्। अथोच्यते-ज्ञानस्वरूपोऽपि नीलाकारो भ्रान्त्या बहिर्वत् भेदेन प्रतिभासत इति, न च तत्राहमुल्लेख इति। तथोक्तम्–

१९. परिच्छेदान्तराद्योऽयं भागो बहिरिव स्थितः।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासोऽप्युपल्लवः।। इति।
२०. यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते। इति।

अनुवाद—फिर नीलादि पदार्थों को ज्ञानरूप मानने पर अहम् (मैं) ऐसा भास होना चाहिये न कि "इदम्" (यह) ऐसा ज्ञान। क्योंकि बाह्य पदार्थ ज्ञान से भिन्न नहीं है। यदि योगाचारी कहते हैं नीलादि आकार ज्ञानरूप होने पर भी भ्रमवश भेद के द्वारा बाह्य पदार्थ के समान भासते हैं इसलिये उसमें 'अहम्' का उल्लेख नहीं किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—ज्ञान के आन्तरिक परिच्छेद से पृथक् जो यह बाह्य के समान स्थित भाग है, वह ज्ञान से अभिन्न होने पर भी भेद का आभास मात्र भ्रम ही है।

जो अन्दर ज्ञेय तत्व है वह बाह्य के समान ही भासता है।

विशेष—सौत्रान्तिकों ने योगाचार मत (विज्ञानवादी) पर यह आक्षेप किया है कि यदि बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप है तो नीलादि पदार्थों के विषय में "अहं नीलः" ऐसा बोध होना चाहिये। जबकि वहाँ तो "इदं नीलम्" यह बोध होता है। इसका योगचारी उत्तर देते हैं कि बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही है लेकिन भ्रमवश उसकी अलग प्रतीति होती है। इसीलिये बाह्य वस्तुओं को अहम् से सम्बोधित नहीं किया जाता है।

तदयुक्तम्। बाह्यार्थाभावे तद्व्युत्पत्तिरहिततया बहिर्वदित्युपमानोक्तेरयुक्तेः। न हि वसुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति प्रेक्षावानाचक्षीत। भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वेऽभेदप्रतिभासस्य प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्ये च भेदप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमिति परस्पराश्रयप्रसंगाच्च। अविसंवादान्नीलतत्तादिकमेव संविदाना बाह्यमेवोपाददते, जगत्युपेक्षन्ते चान्तरमिति व्यवस्थादर्शनाच्च।

अनुवाद—यह ठीक नहीं है। बाह्य पदार्थ के न होने से उसकी व्युत्पत्ति के न होने के कारण "बाह्यवस्तु के समान" यह उपमान देना भी ठीक नहीं है।" वसुवित्र वन्ध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है" ऐसा कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कहता। भेद की प्रतीति को भ्रान्त कहने पर अभेद की प्रतीति का प्रामाण्य तथा अभेद की प्रतीति को प्रमाण कहने पर भेद की प्रतीति को भ्रान्त कहना-इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग आयेगा। विरोध न होने से नीलादि पदार्थों को ही ज्ञान का विषय मानकर बाह्य पदार्थों को ग्रहण किया जाता है और आन्तरिक पदार्थ की उपेक्षा की जाती है-ऐसी व्यवस्था देखी जाती है।

विशेष—जब बाह्य पदार्थ है ही नहीं तो बाह्य पदार्थ में बाह्य शब्द की व्युत्पत्ति ही नहीं है। इसलिए बाह्य वस्तु से उपमा देना भी बन्ध्यापुत्र से उपमा देने के समान मूर्खता है। साथ ही अन्योन्याश्रय दोष भी उपस्थित होता है।

कुछ लोग यानी नैयायिक गण बाध्य पदार्थ की सत्ता को ही मानते हैं। वे आन्तर पदार्थ की सत्ता नहीं मानते।

२२. *बाह्यार्थ का सत्ता-निष्कर्ष*

एवं चायमभेदसाधको हेतुर्गोमयपायसीयन्यायवत् आभासतां भजेत्। अतो बहिर्वदिति वदता बाह्यं ग्राह्यमेवेति भावनीयमिति भवदीय एव बाणो भवन्तं प्रहरेत्।

अनुवाद—इस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय अभेद सिद्ध करने वाला हेतु गोमय-पायसी-न्याय के समान आभास मात्र है। अत: "बहिर्वत्" यह कहते हुए बाहय पदार्थ भी ग्रहण करना चाहिये-यह समझना चाहिये। इस प्रकार आपका बाण ही आप पर प्रहार करेगा।

विशेष—जैसे कहा जाए कि सभी गव्य (गाय से बने पदार्थ) पायस होते हैं इसलिये गोमय भी पायस (गोबर) है क्योंकि वह गव्य है। उसी प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय में अभेद सिद्ध करना ही भ्रम ही है।

२३. *बाहयार्थ प्रत्यक्ष नहीं, अनुमेय है*

ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नमिति चेत्-तदनुपपन्नम्। इन्द्रियसन्निकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेतयोपपत्तेः। अत एव पर्यनुयोगपरिहारौ समग्राहिषाताम्—

२१. भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव च व्यक्तेर्ज्ञानाकारार्पणक्षमम्।। इति।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि ज्ञान से भिन्न काल वाले अर्थ का ग्राह्यत्व अनुपपन्न है तो यह भी ठीक नहीं है। इन्द्रिय के सन्निकर्ष से युक्त विषय का

उससे उत्पन्न ज्ञान में अपना आकार समर्पित करने के कारण तथा समर्पित आकार से उस विषय की अनुमेयता की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए प्रश्न तथा समाधान दोनों का संग्रह किया गया है—

यदि यह कहा जाए कि ज्ञान से भिन्न काल वाले विषय का ग्राह्यत्व कैसे होगा तो (उत्तर यह है कि) विषय के ज्ञानाकार में अर्पित करने में समर्थ हेतु को ग्राह्य कहा जाता है।

विशेष—विषय पूर्वकाल में है तथा उसका ज्ञान तो उत्तर काल में है तो फिर उस ज्ञान से विषय का ग्रहण कैसे होता है? इसके उत्तर में यही कहा गया हैं कि कि ज्ञान में अपना आकार दे देता है क्या उसी आकार से ही विषय का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार विषय अनुमेय है। श्लोक में यही बात कही गयी कि व्यक्ति (विषय) के ज्ञान में आकार समर्पित करने की जो शक्ति है वही विषय को ग्रहण (अनुमान) करने का हेतु है।

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते, यथा च भाषया देशः, यथा वा सम्भ्रमेण स्नेहः, तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्। तदुक्तम्—

२२. अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।। इति।।

अनुवाद—उसी तरह जिस प्रकार (शरीर की) पुष्टि से भोजन का अनुमान होता है या जिस प्रकार भाषा से देश का अनुमान होता है या सम्मान से स्नेह का अनुमान होता है, उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय के आकार से ज्ञेय का अनुमान होता है। जैसा कि कहा गया है—इस ज्ञेय के आकार को बिना छोड़े ही ज्ञान ज्ञेय से जुड़ता है। अतः ज्ञान का (विषय) रूप होना ही विषय के ज्ञान का प्रमाण है।

२४. आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान

न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता। तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयितुं घटयेदिति च। तथा बाह्यार्थसद्भावे प्रयोगः—ये यस्मिन्सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तसापेक्षाः। यथा-अविवक्षति अजिगमिष्यति मयि वचनगमनप्रतिभासा विवक्षु-जिगमिषु-पुरुषान्तर-सन्तान-सापेक्षाः। तथा च विवादाध्यासिताः प्रवृत्तिप्रत्ययाः सत्यप्यालयविज्ञाने कदाचिदेव नीलाद्युल्लेखिनः।। इति।।

अनुवाद—ज्ञान (वित्ति) की सत्ता ही विषयों का ज्ञान है यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वह ज्ञान की सत्ता सर्वत्र सामान्य हो जाएगी। उस ज्ञान की सत्ता में सारूप्य (विषयों का एक जैसा आकार) प्रविष्ट होकर उसे सरूप बनाने में लिए विषयों से जोड़ता है।

बाह्य पदार्थ की सत्ता की सिद्धि के लिए यह प्रयोग है-जो वस्तुएँ जिस पदार्थ के रहने पर कभी-कभी उत्पन्न होते हैं वे वस्तुएँ उस पदार्थ से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा

रखती हैं। जैसे मेरे बोलने की इच्छा न करने पर या चलने की इच्छा न करने पर भी वचन तथा गमन की प्रतीतियाँ बोलने तथा चलने की इच्छा करने वाले अन्य पुरुषों के अधीन होगी। उसी तरह विचारणीय विषय के अन्तर्गत आये हुए प्रवृत्ति प्रत्यय आलयविज्ञान के होने पर भी कभी-कभी ही नीलादि विषयों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

विशेष—बाह्य पदार्थ की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग दिखाया गया है कि जो कार्य जिस कारण के रहने पर भी कभी-कभी ही उत्पन्न होता है, उस कार्य की उत्पत्ति में उस कारण से अतिरिक्त अन्य कारण भी लगते हैं। जैसे कोठी में बीज रहने पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अंकुर की उत्पत्ति में बीज के अतिरिक्त मिट्टी, पानी, जलवायु आदि कारण भी लगते हैं।

जैसे कोई एक व्यक्ति बोलना या चलना नहीं चाहता तो इसका अर्थ यह नहीं कि कोई भी व्यक्ति बोलेगा या चलेगा नहीं क्योंकि बोलने या चलने की क्रिया अन्य पुरुषों के भी अधीन है। ठीक उसी तरह ज्ञान (आलय विज्ञान) कभी-२ नीलादिविषयों के रूप में अभिव्यक्त होता है तो कभी-कभी नहीं होता।

विज्ञानवाद में विज्ञान को दो तरह का माना गया है-आलय विज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान।

आलयविज्ञान समस्त ज्ञान का आलय (भण्डार) है। वह समुद्र के समान है तथा विषय पवन के समान और प्रवृत्ति विज्ञान तरंग है।

प्रवृत्ति विज्ञान सात प्रकार कहा है–चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, घ्राणविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान। लंकावतार सूत्र में कहा गया है—

तरंगा उदधेर्यद्वत्पवनप्रत्ययेरिताः ।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न वर्तते ॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः ।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥

–लंकारवतारसूत्र (२/९९-१००)

तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानम्। नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम्। यथोक्तम्—

२३. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।। इति।।

तस्मादालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिविज्ञानहेतुर्बाह्योऽर्थो ग्राह्य एव, न वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद इति वेदितव्यम्।

अनुवाद—उसमें आलयविज्ञान अहम् का आश्रय विज्ञान है। नील आदि विषयों को विषय बनाने वाला विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है। जैसा कि कहा गया है—"जो 'अहम्' का आश्रय ज्ञान है, वह आलयविज्ञान है तथा जो नीलादि का उल्लेख करता है वह प्रवृत्ति विज्ञान है।"

इसलिये आलयविज्ञान की परम्परा से अतिरिक्त कभी-कभी होने वाले प्रवृत्तिविज्ञान का हेतु बाह्य विषय ग्राह्य ही है। वासना के परिपाक की प्रतीति कभी-कभी ही होती है इस कारण बाह्य विषय भी कभी-कभी ही होगा-यह नहीं समझना चाहिये।

२५. *विज्ञानवादियों के मत पर दोषारोपण*

विज्ञानवादिनये हि वासना नाम एकसन्तानवर्तिनामालय-विज्ञानानां तत्तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः। तस्याश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः। तस्य च प्रत्ययः कारणं स्वसन्तानवर्तिपूर्वक्षणः कक्षीक्रियते। सन्तानान्तर-निबन्धनत्वानङ्गीकारात्।

अनुवाद—विज्ञानवादियों के मतानुसार एक परम्परा में रहने वाले आलयविज्ञानों की उस-प्रवृत्ति विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ही वासना हैं। उस वासना का अपने कार्य के उत्पादन के प्रति प्रवृत्त होना ही परिपाक हैं। उस परिपाक का कारण अपनी परम्परा में रहने वाला पूर्वक्षण स्वीकार किया जाता है। क्योंकि दूसरी परम्परा के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया जाता।

विशेष—आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान के स्वरूप पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि आलय विज्ञान 'अहंकार' का आश्रय है। यह आन्तर विज्ञान है, जबकि प्रवृत्ति विज्ञान का सम्बन्ध विषयों से होता है। प्रवृत्ति विज्ञान वासना के कारण उत्पन्न होता है। एक परम्परा में रहने वाले आलयविज्ञानों से उसी परम्परा से सम्बद्ध प्रवृत्तिविज्ञानों को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वही वासना कहलाती है। वासना का परिपाक पूर्वक्षण पर निर्भर करता है। अतः वासना के परिपाक का कारण पूर्वक्षण ही है।

ततश्च प्रवृत्तिविज्ञानजनकालयविज्ञानवर्तिवासनापरिपाकं प्रति सर्वेऽप्यालयविज्ञानवर्तिनः क्षणाः समर्था एवेति वक्तव्यम्। न चेदेकोऽपि न समर्थः स्यात्। आलयविज्ञानसन्तानवर्तित्वाविशेषात्। सर्वे समर्था इति पक्षे कालक्षेपानुपपत्तिः। ततश्च कादाचित्कत्वनिर्वाहाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः सुखादिविषयाः षडपि प्रत्ययाश्चतुरः प्रत्ययान् प्रतीत्योत्पाद्यन्त इति चतुरेणानिच्छताप्यच्छमतिना स्वानुभवमनाच्छाद्य परिच्छेत्तव्यम्।।

अनुवाद—इस प्रकार प्रवृत्ति विज्ञान को उत्पन करने वाली आलय विज्ञान में रहने वाली वासना के परिपाक के प्रति आलय विज्ञान के सभी क्षण समर्थ ही हैं ऐसा

कहना चाहिये। यदि (सभी क्षणों में सामर्थ्य) नहीं होगा, तो एक भी क्षण समर्थ नहीं होगा। क्योंकि आलयविज्ञान की परम्परा में रहने का सामान्य लक्षण सभी क्षणों में है। यदि सभी क्षण समय हैं ऐसा कहें तो समय नहीं बीत सकता (अर्थात् सभी क्षण तुरन्त कार्य को उत्पन्न करेंगे, वे समय की प्रतीक्षा नहीं करेंगे) फिर "वासनाएँ कभी-कभी कार्य करेंगी" (कादाचित्कत्व) इसे सिद्ध करने के लिये स्वच्छ बुद्धि वाले चतुर व्यक्ति को न चाहते हुए भी अपने अनुभवों को बिना छिपाये यह मानना चाहिये कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषय तथा सुख आदि विषय—ये छह ज्ञान (आगे कई जाने वाले) चार प्रत्ययों की प्रतीति करके ही उत्पन्न होते हैं।

विशेष—आलय विज्ञान के सभी क्षण कार्योत्पादन में समर्थ हैं या सभी क्षण कार्योत्पादन में समर्थ नहीं हैं दोनों ही स्थितियाँ सम्भव न होने से "कादाचित्कत्व" स्वीकार किया गया है। कदाचित्कत्व के निर्वाह के लिये चार प्रत्यय माने गये हैं जो कि आगे बतलाये गये हैं।

२६. *ज्ञान के चार कारण*

ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धा आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यधिपति-रूपाः। तत्र ज्ञानपदवेदनीयस्य नीलाद्यवभासस्य चित्तस्य नीलादालम्बन-प्रत्ययान्नीलकारता भवति। समनन्तरप्रत्ययात् प्राचीनज्ञानोद्बोधरूपता। सहकारि-प्रत्ययात् आलोकात् स्पष्टता। चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्विषयग्रहणप्रतिनियमः।।

अनुवाद—वे चार प्रत्यय प्रसिद्ध हैं—आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति। उसमें ज्ञानपद से जाने जाने वाले नीलादि प्रतीति वाले चित्त का नीलरूप आलम्बन प्रत्यय के कारण नीलाकारता होती है। समनन्तर प्रत्यय के कारण प्राचीन ज्ञान की उद्बोधरूपता आती है। सहकारी ज्ञान 'प्रकाश' से स्पष्टता आती है। चक्षुरूप अधिपतिप्रत्यय से विषयग्रहण की प्रतीति का नियम होता है।

विशेष—चार प्रत्ययों के कारण चित्त साकार रूप धारण करता है। नीलादि प्रतीति वाले चित्त को ही ज्ञान पद से कहा जाता है। नीलादि विषयाकार चित्त का आलम्बन प्रत्यय नीलादिविषय है। नीलादि विषय ही चित्त के आलम्बन (आधार या विषय) बनते हैं। पूर्वक्षण के घटादि विषय से इसी आकार में उत्तर क्षण में घट उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्व क्षण के आकार से उत्तर क्षण में भी जो तदाकार उत्पन्न होता है इस परम्परा का कारण समनन्तर प्रत्यय है।

प्रकाश आदि सहकारी से ज्ञान स्पष्ट होता है। अन्धकार में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता। चक्षु आदि इन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है। अधिपति प्रत्यय से विषय ग्रहण का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार ये चार प्रत्यय प्रवृत्ति विज्ञान को जन्म देते हैं।

उदितस्य ज्ञानस्य रसादिसाधारण्ये प्राप्ते नियामकं चक्षुर-धिपतिर्भवितुमर्हति। लोके नियामकस्याधिपतित्वोपलम्भात्। एवं चित्तचैत्तात्मकानां सुखादीनां चत्वारि कारणानि द्रष्टव्यानि।।

अनुवाद—उत्पन्न हुआ ज्ञान रसादिविषयों के समान होने से नियामक चक्षु इन्द्रिय अधिपति हो सकता है। लोक में नियामक को ही अधिपति माना जाता है। इस प्रकार चित्त चित्तरूप सुखादि विषयों के चार कारण देखे जाने चाहिये।

विशेष—विषय तो रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, स्पर्श पांच हैं लेकिन किस विषय का ग्रहण कौन सी इन्द्रिय से होगा? यह नियमन इन्द्रिय करती है। जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप को ग्रहण करता है। अत: इन्द्रिय को अधिपति प्रत्यय कहा जाता है।

२७. चित्त और उसके विकार-पाँच स्कन्ध

सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारसंज्ञकः। तत्र रूप्यन्त एभिर्विषया इति रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञान-स्कन्धः। प्रागुक्तस्कन्धद्वयसम्बन्धजन्यः सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः। गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः। वेदना-स्कन्ध-निबन्धा राग-द्वेषादयः क्लेशाः उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धाः।।

अनुवाद—यह चित्त तथा चित्त का विकाररूप स्कन्ध पांच प्रकार का है—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार। उसमें ''जिससे विषयों का निरूपण होता है'' या ''जो निरूपित होते हैं'' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार विषयों से युक्त इन्द्रियाँ ही रूपस्कन्ध हैं। आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है। पूर्वोक्त दोनों स्कन्धों के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख-दु:ख आदि प्रत्ययों का प्रवाह वेदना स्कन्ध है। गौ इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाला ज्ञान प्रवाह संज्ञास्कन्ध है। वेदना स्कन्ध पर आश्रित राग द्वेषादि क्लेश उपक्लेश, मद-मान आदि तथा धर्म-धिर्म संस्कार स्कन्ध है।

विशेष—यहाँ पञ्च स्कन्धों का वर्णन किया गया है। ये पञ्चस्कन्ध ही शरीर का निर्माण करते हैं। इन पञ्चस्कन्धों के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है। विज्ञान दो तरह का होता है—आलयविज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान। सुख-दु:ख का अनुभव वेदनास्कन्ध है। यह अनुभव जिन सुख-दु:ख आदि से होता है, वे सुख-दु:ख तथा धर्म-अधर्म ही संस्कार कहलाते हैं। इन पञ्च स्कन्धों के पूर्ण ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

२८. चार आर्य सत्य-दुःख, समुदाय, निरोध, मार्ग

तदिदं सर्वं दुःखं दुःखसाधनं चेति भावयित्वा तन्निरोधोपायं तत्त्वज्ञानं संपादयेत्। अत एवोक्तम्—दुःखसमुदायनिरोधमार्गाश्चत्वार आर्यबुद्धस्याभिमतानि तत्त्वानि। तत्र दुःखं प्रसिद्धम्।

अनुवाद—तब यह सारा कुछ दुःख है, दुःख का आश्रय है तथा दुःख का साधन है, यह समझकर इसे रोकने के उपाय तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। इसीलिये कहा गया है—दुःख, समुदाय, निरोध तथा उपाय—ये चारों आर्य बुद्ध के अभिमत तत्त्व हैं। उनमें दुःख प्रसिद्ध है।

विशेष—बुद्ध ने चार आर्य सत्य बतलाये हैं—

१. समस्त संसार दुःखरूप है। (दुःख)

२. दुःख का कारण है। (दुःखसमुदाय)

३. दुःख को रोका जा सकता है। (दुःखनिरोध)

४. दुःख को रोकने का मार्ग है। (दुःखनिरोधमार्ग)

बुद्ध का सारा उपदेश इन चारो आर्य सत्यों पर टिका है। संसार को दुःखमय सभी दार्शनिक मानते हैं। दुःख से निवृत्ति ही दर्शन का प्रयोजन है। सांख्यकारिका का प्रारम्भ दुःखत्रय से निवृत्ति के उपाय की खोज से ही हुआ है। बुद्ध के अनुसार दुःख का कारण प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसका विवेचन आगे के ग्रन्थ में किया जायेगा। तृतीय सत्य है कि दुःख का निरोध सम्भव है। यही तो मुक्ति है कि दुःखों का आत्यान्तिक और ऐकान्तिक निरोध। दुःख निरोध के मार्ग के आठ अङ्ग हैं। उन्हें आष्टाङ्गिक मार्ग कहा जाता है।

१. सम्यक् ज्ञान	५. सम्यक् आजीव
२. सम्यक् सङ्कल्प	६. सम्यक् व्यायाम
३. सम्यक् वचन	७. सम्यक् स्मृति
४. सम्यक् कर्मान्त	८. सम्यक् समाधि।

समुदायो दुःखकारणम्। तद् द्विविधं-प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्-'इदं प्रत्ययफलम्' इति। इदं कार्यं ये अन्ये हेतवः प्रत्ययन्ति गच्छन्ति, तेषामवमानानां हेतूनां भावः प्रत्ययत्वं कारणसमवायः, तन्मात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदिति सूत्रार्थः।

अनुवाद—समुदाय का तात्पर्य है दुःख का कारण। यह दो प्रकार का है-प्रत्यय पर आधारित तथा हेतु पर आधारित। उसमें प्रत्यय पर आधारित का संग्राहक सूत्र है-यह प्रत्यय का फल है। (इदं प्रत्ययफलम्) इस कार्य के प्रति जो दूसरे हेतु हैं, उन हेतुओं का भाव ही प्रत्यय या कारणसमवाय (कारणसमुदाय) है। (यह कार्य) उस प्रत्यय मात्र का फल है न कि किसी चेतन का-सूत्र का यही अर्थ है।

विशेष—गौतम बुद्ध का दूसरा आर्य सत्य अन्यत्र दुःख समुदाय नाम से मिलता है। समुदाय का अर्थ है कारण किन्तु यहाँ सर्वदर्शनसङ्ग्रह में इसे 'समुदाय' कहा

गया है। चूँकि दुःख के कारणों का एक समवाय है, इसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं इसलिए यहाँ समवायार्थक 'समुदाय' शब्द लिया गया है।

यथा बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां समवायाज्जायते। तत्र पृथिवीधातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। तेजोधातू रूपमौष्ण्यं च। वायुधातुः स्पर्शनं चलनं च। आकाशधातुरवकाशं शब्दं च। ऋतुधातुर्यथायोगं पृथिव्यादिकम्।

अनुवाद—जिस प्रकार बीज का कारण अंकुर छह धातुओं के समवाय से होता है। उसमें पृथिवीधातु अङ्कुर की कठोरता और गन्ध को उत्पन्न करती है। जलधातु चिकनाई तथा रस को उत्पन्न करता है। तेज धातु रूप तथा उष्णता को उत्पन्न करता है। वायुधातु स्पर्श तथा गति को उत्पन्न करता है। आकाश धातु अवकाश तथा शब्द के उत्पन्न करता है। ऋतु धातु यथायोग्य पृथिवी आदि को उत्पन्न करता है।

विशेष—बौद्धमतानुसार छह धातु ही मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं। जैसे अंकुर की उत्पत्ति में छह धातुओं का सहयोग है।

'अवकाश का अर्थ है—खाली जगह। ऋतु (मौसम) के कारण पृथ्वी आदि पाँच धातुओं में न्यूनाधिक्य आता है। प्रत्येक ऋतु के पदार्थ उस ऋतु की विशेषता को लेकर उत्पन्न होते हैं।

दुःखसमुदाय यानी दुःखकारण प्रत्यय पर है, उसका विवेचन यहाँ किया गया है। अर्थात् किसी वस्तु की उत्पत्ति में कारणों का समुदाय ही कारण है, न कि कोई चेतन शक्ति।

२९. *हेतूपनिबन्धन समुदाय का स्वरूप*

हेतूपनिबन्धस्य च संग्राहकं सूत्रम्—उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता।' तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्यकारणरूपाणां या धर्मता कार्यकारणभावरूपा, एषा उत्पादादनुत्पादाद्वा स्थिता। यस्मिन्सति यदुत्पद्यते, यस्मिन्नसति यन्नोत्पद्यते तत्तस्य कारणस्य कार्यम्—इति। 'धर्मता' इत्यस्य विवरणं धर्मस्थितितेत्यादि। धर्मस्य कार्यस्य कारणनतिक्रमेण स्थितिः। स्थार्थिकः तल् प्रत्ययः, धर्मस्य कारणस्य कार्यं प्रति नियामकता।

अनुवाद—हेतु पर आधारित दुःखसमुदाय का संग्राहक सूत्र है—तथागत के मतानुसार उत्पत्ति या अनुत्पत्ति से स्थित इन धर्मों की धर्मता (धर्म स्थितिता) तथा धर्म नियामकता प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुकूल है।'' तथागत बुद्ध के मत में धर्मों के कार्यकारण रूपों की जो धर्मता कार्यकारण भावरूपा है, वह उत्पाद या अनुत्पाद से स्थित है। जिसके होने पर जो उत्पन्न होता है तथा जिसके न होने पर जो उत्पन्न नहीं होता वह उस कारण का कार्य है। धर्मता का अर्थ है–धर्मस्थितिता आदि। धर्म (कार्य) का कारण का उल्लङ्घन

न करके स्थित रहना। स्वार्थ में तल् प्रत्यय हुआ है। धर्म कारण की कार्य के प्रति नियामकता।

विशेष—यहाँ दु:ख समुदाय (अर्थात् दु:खकारण) हेतु पर आधारित होता है—इसका विवेचन किया गया है। हेतु पर आधारित होने का तात्पर्य है कि दु:ख की एक क्रमिक कारण परम्परा है उस कारण परम्परा से दु:ख उत्पन्न होता है।

यहाँ उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति का तात्पर्य अन्वय तथा व्यतिरेक है। धर्म से कार्य तथा कारण दोनों का ग्रहण होता है। अत: धर्म को कार्य कारण कहा गया है। कार्य अर्थात् धर्म कारण को बिना छोड़ नहीं रहता है। इसे धर्मस्थितिता या धर्मता कहते हैं। दूसरा है धर्मनियामकता। यहाँ धर्म का अर्थ कारण है। यानी कि कारण का कार्य के प्रति नियन्त्रण रखना।

नन्वयं कार्यकारणभावश्चेतनमन्तरेण न संभवतीत्यत उक्तम्–प्रतीत्येति। कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादाऽनुलोमता=अनुसारिता या, सैव धर्मतोत्पादादनुत्पादाद्वा धर्माणां स्थिता। न चात्र कश्चिच्चेतनोऽधिष्ठातोपलभ्यत–इति सूत्रार्थः।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि यह कार्य कारणभाव चेतन के बिना सम्भव नहीं है, इसलिये कहा गया है—प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता (अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुकूलता) कारण के होने पर उसे प्रतीत करके अर्थात् उसे प्राप्त करके समुत्पाद (उत्पत्ति) में जो अनुलोमता (=अनुकूल होना) है वही धर्मता उत्पत्ति या अनुत्पत्ति के नियम से धर्मों में स्थित है। इसमें कोई चेतन अधिष्ठता उपलब्ध नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है।

विशेष—प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है—प्रतीत्य=कारण को प्राप्त करके, समुत्पाद=कार्य की उत्पत्ति। पूर्व परिच्छेद में धर्मता के दो रूप बतलाये गये थे—१. धर्मस्थितिता अर्थात् धर्म=कार्य का कारण के बिना न रहना। २. धर्म नियामकता अर्थात् धर्म=कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना। यह धर्मता प्रतीत्य समुत्पाद के अनुकूल (अनुलोम) है। अर्थात् बिना किसी चेतन पदार्थ के प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा ही धर्मता (कार्य कारण भावरूपता) होती है। तात्पर्य है कि कार्यकारणभाव चैतन्याश्रित नहीं है। अपितु अचेतन प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा कार्यकारण भाव होता है।

प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा–बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद् गर्भं, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते-'अहमङ्कुरं निर्वर्तयामि, अहं बीजेन निर्वर्तितः' इति। एवमाध्यात्मिकेष्वपि कारणद्वयमवगन्तव्यम्। 'पुरः स्थिते प्रमेयादौ ग्रन्थविस्तरभीरुभिः' इति न्यायेनोपरम्यते।

अनुवाद—प्रतीत्यसमुत्पाद के हेतु पर आधारित होने का उदाहरण है जैसे—बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से ग्रन्थि, ग्रन्थि से डंठल, डंठल (नाल) से कली, कली से टूँड़,

ठूँड़ से फूल तथा फूल से फल होता है। इस बाह्य कार्यकारणसमुदाय में कारण बीजादि तथा कार्य अङ्कुर आदि यह नहीं सोचते-"मैं अङ्कुर बना रहा हूँ या मैं बीज से बना हूँ। इसी प्रकार आध्यात्मिक पदार्थों में भी प्रत्यय पर आधारित तथा हेतु पर आधारित-दोनों ही कारणों को जान लेना चाहिये। अब इस न्याय से यही विरोध हो रहा है—प्रमेय रूपी समुद्र के सामने होने पर ग्रन्थ विस्तार के भय से (यहीं विराम हो रहा हैं)

विशेष—जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं के कार्यकारणभाव की परम्परा प्रत्यय तथा हेतु पर आधारित है जैसे ही आन्तारिक पदार्थों की कार्यकारणपरम्परा भी प्रत्यय तथा हेतु पर आधारित है। बाह्य या आन्तरिक पदार्थों की उत्पत्ति में किसी चेतन पदार्थ की भूमिका नहीं है। कार्य तथा कारण भी चेतन नहीं हैं। कार्य को ऐसी प्रतीति नहीं होती कि "मैं बन रहा हूँ" या कारण को ऐसी प्रतीति नहीं होती कि "मैं बना रहा हूँ।"

प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत १२ पदार्थ आते हैं। ये ही भवचक्र कहलाते हैं। आध्यात्मिक पदार्थों का यही कारण हैं। ये १२ पदार्थ हैं—

१.	अविद्या	२.	संस्कार
३.	विज्ञान	४.	नामरूप
५.	षडायतन	६.	स्पर्श
७.	वेदना	८.	तृष्णा
९.	उपादान	१०.	भव
११.	जाति	१२.	जरामरण

३०. सौत्रान्तिक-मत का उपसंहार

तदुभयनिरोधः। तदनन्तरं विमलज्ञानोदयो वा मुक्तिः। तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्त्वज्ञानम्। तच्च प्राचीनभावनाबलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। सूत्रस्यान्तं पृच्छतां कथितं-'भवन्तश्च सूत्रस्यान्तं पृष्टवन्तः, सौत्रान्तिका भवन्तु' इति। भगवताऽभिहिततया सौत्रान्तिकसंज्ञा संजातेति।।

अनुवाद—इन दोनों का (दुःख के हेतूपनिबन्धन कारण तथा प्रत्ययोपनिबन्ध कारण) निरोध होता है। उसके बाद विमल ज्ञान का उदय या मुक्ति होती है। उसके निरोध का उपाय ही मार्ग है। वह मार्ग है-तत्त्व ज्ञान। वह तत्त्वज्ञान प्राचीन भावना के कारण होता है, यही परम रहस्य है। पूत्र का अन्निमभाग पूछने वालों को कहा गया—"आप लोगों ने सूत्र का अन्तिम भाग पूछा है इसलिये आप लोग सौत्रान्तिक हो।" भगवान् बुद्ध के कहने से उनका सौत्रान्तिक नाम हो गया।

विशेष—विलम ज्ञान का उदय ही मुक्ति कहलाता है। मुक्ति का उपाय भी तत्त्व ज्ञान ही है। साध्य (मुक्ति) तथा साधन दोनों ही ज्ञान रूप है। दुःख निरोधोपाय आष्टाङ्गिकमार्ग है—

१. सम्यक् दृष्टि (ज्ञान)

२. सम्यक् संकल्प

३. सम्यक् वचन

४. सम्यक् कर्मान्त (पंचशील-सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, नशा का असेवन)

५. सम्यक् आजीव

६. सम्यक् व्यायाम

७. सम्यक् स्मृति

८. सम्यक् समाधि

सूत्र के अन्तिम भाग के सम्बन्ध में प्रश्न करने के कारण ये सौत्रान्तिक कहलाये हैं।

३१. वैभाषिक-मत-बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद

केचन बौद्धाः–बाह्येषु गन्धादिष्वान्तरेषु रूपादिस्कन्धेषु सत्स्वपि, तत्रानास्थामुत्पादयितुं सर्वं शून्यमिति प्राथमिकान्विनेयान् अचकथद्भगवान्, द्वितीयांस्तु विज्ञानमात्रग्रहाविष्टान्विज्ञानमेवैकं सदिति, तृतीयानुभयं सत्यमित्यास्थितान्विज्ञेयमनुमेयमिति, सेयं विरुद्धा भाषेति वर्णयन्तः–वैभाषिकाख्यया ख्याताः।

अनुवाद—बाह्य गन्धादि विषय तथा आन्तरिक रूपादि स्कन्धों के होने पर भी उनमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए भगवान् बुद्ध ने प्रारम्भिक शिष्यों को "सब कुछ शून्य है" ऐसा कहा, दूसरे शिष्य जो कि केवल विज्ञान का ग्रहण करने में लगे थे उन्हें "विज्ञान ही सत् है "ऐसा कहा तथा तीसरे शिष्य जो कि "बाह्य तथा आन्तरिक पदार्थ दोनों ही सत्य हैं" ऐसा मानते थे उन्हें "बाह्य पदार्थ अनुमेय है" ऐसा कहा—इस प्रकार की विरुद्ध भाषा (बात) का वर्णन करने के कारण कुछ बौद्ध लोग 'वैभाषिक' नाम से प्रसिद्ध हुए।

विशेष—यहाँ जो तीन मत दिये गये हैं, क्रमशः वे तीनों मत माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिकों के हैं। भगवान् बुद्ध ने इन तीनों के मतों को बतलाया—इस तरह की विरुद्ध बात कहने वाले लोग ही वैभाषिक हो गये।

अन्य मत के अनुसार जब कनिष्क के समय बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई थी उस समय 'कात्यायनीपुत्र' नामक विद्वान् के द्वारा "ज्ञान प्रस्थान शास्त्र" नामक ग्रन्थ लिखा गया उस ग्रन्थ की एक टीका थी, जिसका नाम 'विभाषा था। इसी टीका को मानने वाले बौद्ध लोग 'वैभाषिक' कहलाये।

एषा हि तेषां परिभाषा समुन्मिषति। विज्ञेयानुमेयत्ववादे प्रात्यक्षिकस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावेन, व्याप्तिसंवेदनस्थानाभावेन अनुमानप्रवृत्त्यनुपपत्तिः सकललोकानुभवविरोधश्च।

ततश्चार्थो द्विविधः–ग्राह्योऽध्यवसेयश्च। तत्र ग्रहणं निर्विकल्पकरूपं प्रमाणम्। कल्पनापोढत्वात्। अध्यवसायः सविकल्पकरूपोऽप्रमाणम्। कल्पना-ज्ञानत्वात्।

अनुवाद—यह उनकी परिभाषा दिखलाई पड़ती है। जिज्ञेय पदार्थों को अनुमेय मानने के पक्ष में, प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाले किसी भी अर्थ के अभाव में, व्याप्तिज्ञान के स्थान का अभाव होने पर अनुमान प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है तथा सभी लोगों के अनुभव का भी विरोध है।

इसलिये अर्थ दो प्रकार कहा है–ग्राह्य तथा अध्यवसेय। उनमें निर्विकल्पक के रूप में ग्रहण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, कल्पना से रहित होने के कारण। सविकल्पक रूप अध्यवसाय प्रमाण नहीं है, कल्पना ज्ञान होने के कारण।

विशेष—सौत्रान्तिक बौद्धों के मतानुसार सभी बाह्य वस्तुएँ अनुमेय हैं। इसलिये कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है। जब कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, तो अग्नि तथा धूम की व्याप्ति भी नहीं बन सकती है। व्याप्ति तो तभी बनती है जब कई बार धूम तथा अग्नि को एकसाथ प्रत्यक्ष देख लें। अतः बाह्य पदार्थ को अनुमेय भी नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि बाह्य पदार्थ को अनुमेय मानने पर लौकिक अनुभव का भी विरोध हेगा। लोक में कोई भी व्याप्ति बाह्य पदार्थों का अप्रत्यक्ष नहीं कहता।

बौद्धों के मतानुसार बाह्य विषय दो प्रकार के हैं—ग्राह्य तथा अध्यवसेय। ग्राह्य को ही निर्विकल्पक कहते हैं तथा अध्यवसेय को सविकल्पक कहा जाता है। कल्पना या प्रकार से रहित ज्ञान निर्विकल्क है। कल्पना अनेक प्रकार की होती है–जातिकल्पना, गुणकल्पना, क्रिया कल्पना, द्रव्यकल्पना आदि। जैसे–किसी वस्तु को दूर से देखने पर "यह कुछ है" इस प्रकार का कल्पनारहित ज्ञान विर्विकल्पक है। कल्पना से युक्त ज्ञान सविकल्पक है। जैसे–यह पुस्तक है। (द्रव्य-कल्पना), यह शुक्ल है (गुण कल्पना), यह ब्राह्मण है (जाति कल्पना), यह चल रहा है (क्रिया कल्पना)। बौद्धमतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है। सविकल्पक ज्ञान, प्रामाणिक नहीं है।

३२. *निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है*

तदुक्तम्–

२४. **कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् ।**
विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लवः ।। इति।

२५. **ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा ।**
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम् ।। इति च।।

अनुवाद—कल्पना से रहित अभ्रान्त ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है। वस्तु की प्रतीति से युक्त ज्ञान सविकल्पक है। यह ज्ञान विसंवादी होने के कारण भ्रम है।

ग्राह्य ही वस्तु तथा उसका ग्रहण ही प्रमाण है। उसके अतिरिक्त जो है, वह न तो वस्तु है और न ही प्रमाण है, वह केवल शब्द, लिङ्ग तथा इन्द्रिय आदि से उत्पन्न है।

विशेष—सविकल्पक ज्ञान शब्द, लिङ्ग या इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है। "आदि" पद से उपमानादि प्रमाणों का ग्रहण होता है। शब्द का तात्पर्य है-शब्द प्रमाण। लिङ्ग का अर्थ है-हेतु। लीनम् अर्थ गमयति इति लिङ्गम्। जो अज्ञात (साध्य) का ज्ञान कराता है वह लिङ्ग है। जैसे-धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान। यहाँ 'धूम' लिङ्ग है। 'इन्द्रिय' का तात्पर्य है-प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्षप्रमाण से भी सविकल्पक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक ज्ञान में शब्दादि कल्पनाएँ नहीं होती हैं अतः वही ज्ञान प्रमाण है।

ननु सविकल्पकस्याप्रामाण्ये कथं ततः प्रवृत्तस्यार्थप्राप्तिः संवादश्चोपपद्येयातामिति चेत्—न तद् भद्रम्। मणिप्रभाविषयमणिविकल्पन्यायेन पारंपर्येणार्थप्रतिलम्भसंभवेन तदुपपत्तेः। अवशिष्टं सौत्रान्तिकप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

अनुवाद—यदि कोई यह कहे कि सविकल्पक ज्ञान का प्रामाण्य न होने से उसके द्वारा प्रवृत्त व्यक्ति को अर्थ (पदार्थ) की प्राप्ति कैसे हो सकती है तथा संवाद भी उत्पन्न हो सकता है तो यह ठीक नहीं है। मणि की प्रभा को देखकर मणि होने का विकल्प करके उसी के माध्यम से जैसे मणि की प्राप्ति होती है उसी प्रकार परम्परा से पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है अतः संवाद की उत्पत्ति हो सकती है। अवशिष्ट बात सौत्रान्तिक मत के प्रस्ताव में कही गयी है, इसलिए यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है।

विशेष—जो वस्तु जैसी कही जाए उस वस्तु का वैसा ही उपलब्ध होना संवाद है तथा वैसा उपलब्ध न होना विसंवाद है।

मणि की प्रभा को देखकर पहले कोई उसे मणि समझकर उठाने चलता है लेकिन फिर उसी प्रभा की परम्परा से मणि तक भी पहुँच जाता हैं। उसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान को भ्रम मानने पर भी परम्परा या वस्तु की प्राप्ति हो सकती है।

३३. *तत्त्व की अभिन्नता-मार्गों में भेद*

न च विनेयाशयानुरोधेनोपदेशभेदः साम्प्रदायिको न भवतीति भणितव्यम्। यतो भणितं बोधिचित्तविवरणे—

२६. देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधो लोक उपायैर्बहुभिः पुनः।।
२७. गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा।। इति।

अनुवाद—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि शिष्यों की इच्छा के कारण उपदेश में भेद होना साम्प्रदायिक नहीं होता। क्योंकि बोधिचित्तविवरण में कहा गया है—लोगों की

इच्छा के अनुरूप लोकोपदेशकों का उपदेश लोक में बहुत से उपायों से बहुत प्रकार से भिन्न-भिन्न होता है।

(बुद्ध का) शून्य तथा अद्वयरूप अभिन्न उपदेश भी भिन्न-भिन्न होता है। (वे उपदेश) कहीं गम्भीर, कहीं स्पष्ट तो कहीं दोनो (गम्भीर तथा स्पष्ट) होते हैं।

विशेष—यद्यपि बुद्ध भगवान् ने तो एक ही प्रकार का उपदेश दिया, लेकिन शिष्यों की इच्छा के कारण उस उपदेश के चार प्रकार हो गये। यहीं, बौद्धों के चार सम्प्रदाय हुए। अत: ये चारों मत भी साम्प्रदायिक (पारम्परिक) ही मानने चाहिये।

३४. द्वादश आयतनों की पूजा

द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्धनये प्रसिद्धम्–

२८. अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि वै ।
परितः पूजनीयानि किमन्यैरिह पूजितैः ।
२९. ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
मनोबुद्धिरिति प्रोक्तं द्वादशायतनं बुधैः ।। इति।।

अनुवाद—द्वादश आयतन की पूजा कल्याण कारक है ऐसा बौद्धमत में प्रसिद्ध हैं:—

बहुत सा धन कमा करके चारों ओर (स्थित) बारह आयतनों की पूजा करनी चाहिये, अन्य वस्तु की पूजा करने से क्या लाभ हैं?

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि-इनको विद्वानों ने बारह आयतन कहा है।

विशेष—बारह आयतनों की पूजा का तात्पर्य है उनको नियन्त्रित करना तथा उनके द्वारा सम्यक् कर्म करना। आँख, नाक, कान, त्वक् तथा जिह्वा ये ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं। हाथ, पैर, मुख, मलेन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय–ये ५ कर्मेन्द्रिय हैं।

३५. बौद्ध-मत का संग्रह

विवेकविलासे बौद्धमतमित्यमभ्यधायि–

३०. बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम् ।
आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ।।
३१. दुःखमायततं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ।।

अनुवाद—'विवेक विलास' ग्रन्थ में बौद्धमत इस प्रकार बतलाया गया है—

बौद्धों के देवता बुद्ध हैं तथा जगत् क्षणिक है। आर्यसत्य नामक चार तत्त्व है।, जो कि क्रमशः इस प्रकार हैं—

दुःख, दुःख का आयतन (स्थान), दुःख का समुदाय (कारण) तथा मार्ग (दुःख निरोध का मार्ग)। अब क्रमशः इन चारों की व्याख्या सुनिये।

विशेष—पूर्व में चार आर्य सत्य बतलाये गये थे-१. दुःख, २. दुःख का कारण, ३. दुःख निरोध, ४. दुःखनिरोधमार्ग।

लेकिन 'विवेक विलास' ग्रन्थ में उक्त में चारों आर्य सत्य पूर्वोक्त से भिन्न हैं।

३२. दुखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।।

३३. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु ।।

३४. रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात्समुदयः पुनः ।।

अनुवाद—सांसारिक प्राणी के पाँच स्कन्ध ही दुःख कहे गये हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, तथा रूप।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय, मन (मानस) तथा धर्म का स्थान अर्थात् बुद्धि ये १२ आयतन हैं।

जिसके कारण मनुष्यों के हृदय में राग (आसक्ति) आदि (आदि पद से द्वेष, कमा, क्रोध, आदि का ग्रहण होता है) की उत्पत्ति होती है तथा जो आत्मा के अपने स्वभाव के रूप में प्रसिद्ध है उसे समुदाय कहा जाता है। (प्रतीत्य समुत्पाद ही समुदाय है।)

३५. क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ।।

३६. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं तथा ।
चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ।।

अनुवाद—सभी संस्कार क्षणिक हैं, इस प्रकार की जो स्थिर वासना है। उसे ही मार्ग समझना चाहिये तथा उसे ही मोक्ष कहा जाता है।

(बौद्धों के मत में) प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण हैं। वैभाषिक आदि चार प्रस्थान के अनुयायियों को बौद्ध कहा जाता हैं।

३७. अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ।।

३८. आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता ।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ।।

अनुवाद—वैभाषिक ज्ञान से युक्त विषय को मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य विषय को प्रत्यक्षग्राह्य नहीं मानते। योगाचार के मत में बुद्धि (ज्ञान) आकार से युक्त है। माध्यमिक लोग केवल ज्ञान को अपने में स्थित मानते हैं।

विशेष—बौद्धों के पूर्वोक्त चारों मतों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्या च सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।।

३९. रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता।।
४०. कृतिः कमण्डलुर्मौण्ड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम्।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः।।

(वि०वि० ८।२६५-७५) इति।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे बौद्धदर्शनम्।।

अनुवाद—चारों प्रकार के बौद्धों के लिये राग (आसक्ति) आदि ज्ञान की परम्परा की वासना के उच्छेद से उत्पन्न मुक्ति कही गयी है।

चर्मधारण, कमण्डलु, मुण्डन, चीरवस्त्र, पूर्वाह्ण में भोजन, सङ्घ में रहना, लाल वस्त्र पहनना—इसे बौद्ध भिक्षुओं ने स्वीकार किया है।

।। इति बौद्धदर्शनम् ।।

अध्याय- ३
आर्हत-दर्शनम्

जीवादितत्त्वनिचयं समुपादिशद्यो
ज्ञानप्रपञ्चमखिलं सरलं तथैव।
संदिश्य दर्शनमथापि चरित्रमेवं
जैनो भवेत्पथि निदर्शक एष वीरः ।।-ऋषिः

१. क्षणिकत्व भावना का खण्डन

तदित्थं मुक्तकच्छानां मतमसहमाना विवसनाः कथंचित्स्थायित्वमास्थाय क्षणिकत्वपक्षं प्रतिक्षिपन्ति। यद्यात्मा कश्चिन्नास्थीयेत स्थायी, तदैहलौकिक-पारलौकिकफलसाधनसम्पादनं विफलं भवेत्।

अनुवाद—तो इस प्रकार कच्छ न लगाने वाले बौद्धों के मत को सहन न करते हुए वस्त्रहीन (दिगम्बर जैन) लोग किसी प्रकार से स्थायित्व का आश्रय लेकर क्षणिकत्व पक्ष पर आक्षेप करते हैं। यदि किसी स्थायी आत्मा को न माना जाए तो लौकिक तथा पारलौकिक-दोनों ही फलों के साधन का सम्पादन विफल हो जायेगा।

विशेष—सनातन धर्म में कच्छ अर्थात् धोती में पिछुआ लगाया जाता है। बौद्ध लोग कच्छ नहीं लगाते। वे लुँगी पहनते हैं। जैन मत वाले तो दिगम्बर ही रहते हैं। जैन के दो सम्प्रदाय हैं–श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्र पहनने वाले) तथा दिगम्बर (वस्त्रहीन)।

बौद्ध मत में क्षणिकवाद माना जाता है, लेकिन जैन लोग वस्तु का स्थायित्व स्वीकार करते हैं। वे आत्मा को स्थायी तथा शरीरराकारपरिमित मानते हैं। आत्मा ही इहलोक में किये कर्मों के फल को परलोक में भोगता है। अतः यदि आत्मा को नित्य न कहा जाए तो कोई भी व्यक्ति पारलौकिक फल देने वाले पुण्य कर्मों में कैसे प्रवृत्त होगा?

न ह्येतत्सम्भवत्यन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्त इति। तस्माद्योऽहं प्राक् कर्म अकरवं सोऽहं सम्प्रति तत्फलं भुञ्ज इति पूर्वपरकालानुयायिनः स्थायिनस्तस्य स्पष्टप्रमाणावसिततया पूर्वापरभागविकलकालकलावस्थितिलक्षणक्षणिकता परीक्षकैरर्हद्भिर्न परिग्रहार्हा।।

अनुवाद—यह सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति काम करे और अन्य व्यक्ति फल भुगते। इसलिये जिस मुझने पहले कर्म किया है, वही मैं अब उसका फल भोग रहा हूँ–इस प्रकार से पूर्व तथा अपर (बाद के) काल का अनुसरण करने वाले उस स्थायी

आत्मा में स्पष्टतः प्रमाण निश्चित होने के कारण, परीक्षा करने वाले जैनों ने पूर्वापर के भाग से रहित तथा काल के कला अंश तक ही स्थित रहने वाली क्षणिकता को स्वीकार नहीं किया है।

विशेष—आत्मा को नित्य मानने पर ही कर्म के कर्ता तथा भोक्ता दोनों का एकत्व हो पाता है। बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक कहा है। अर्थात् काल का जो कला नामक अतिसूक्ष्म भेद है उतने समय तक ही किसी वस्तु की स्थिति रहती है। जैनों ने क्षणिकवाद को नहीं माना है। वे आत्मा को स्थायी मानते हैं।

२. क्षणिक-पक्ष में बौद्धों की युक्ति

अथ मन्येथाः—

प्रमाणवत्त्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते?

इति न्यायेन 'यत्सत्तत्क्षणिकम्' इत्यादिना प्रमाणेन क्षणिकतायाः प्रमिततया, तदनुसारेण समानसंतानवर्तिनामेव प्राचीनः प्रत्ययः कर्मकर्त्ता, तदुत्तरः प्रत्ययः फलभोक्ता।

अनुवाद—अब यदि यह माना जाए कि प्रमाण से युक्त होने के कारण आये हुए इस क्षणिकत्व के प्रवाह को कौन रोक सकता है?

इस न्याय से "जो सत् है, वह क्षणिक है" इस प्रमाण से क्षणिकत्व के सिद्ध हो जाने से उसके अनुसार एक ही परम्परा में रहने वाले प्रत्ययों में पहला प्रत्यय कर्म करता है तथा बाद का प्रत्यय फल भोगता है।

विशेष—बौद्ध मत में 'यत्सत् तत्क्षणिकम्' इस व्याप्ति को दर्शाया जा चुका है। जहाँ यह बताया गया है कि एक परम्परा में रहने वाले प्रत्ययों में सभी प्रत्यय क्षणिक ही हैं किन्तु परम्परा के एक होने से कर्ता तथा भोक्ता का एक होना उत्पन्न हो जाता है।

न चातिप्रसङ्गः। कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्। यथा मधुररसभावितानामाम्रबीजानां परिकर्षितायां भूमावुप्तानामङ्कुरकाण्डस्कन्धशाखापल्लवादिपु तद्द्वारा परम्परया फले माधुर्यनियमः। यथा वा लाक्षारसावसिक्तानां कार्पासबीजादीनामङ्कुरादिपारम्पर्येण कार्पासादौ रक्तिमनियमः।

अनुवाद—ऐसा मानने में अतिप्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव नियामक है। जिस प्रकार मधुर रस में डुबोये गये आम के बीजों को जोती हुई भूमि में बोने पर उनके अङ्कुर, जोड़, तना, शाखा, पत्ते आदि में तथा उन्हीं के माध्यम से परम्परया फल में भी मधुरता आ जाती हैं या जिस प्रकार लाह के रस में डूबे हुए कपास के बीज आदि की लालिमा अङ्कुरादि की परम्परा से कपास में आ जाती है।

विशेष—एक परम्परा के सभी प्रत्यय क्षणिक होने पर भी उनमें पूर्व प्रत्यय कारण है तथा उत्तर प्रत्यय कार्य है। अतः उन प्रत्ययों के क्षणिक होने पर भी कार्य कारण भाव उत्पन्न हो जाता है।

यथोक्तम्—

१. यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा।।
२. कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते।
शक्तिराधीयते तत्र काचित्तां किं न पश्यसि? ।। इति।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—

जिस परम्परा में कर्म की वासना लगा दी जाती हैं, वही फल प्राप्त होता है जैसे कि कपास में लालिमा।

बीजौरे आदि के फूल में जो लाह का सिञ्चन किया जाता हैं, उसमें किसी शक्ति का आधान किया जाता है। क्या तुम उसे नहीं देखते?

३. जैनों द्वारा उपर्युक्त मत का खंडन

तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा। नाद्यः। भवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धावस्यानुमानस्यानुत्थानात्। न द्वितीयः। तेनैव न्यायेन सर्वत्र क्षणिकत्वसिद्धौ सत्त्वानुमानवैफल्यापत्तेः। अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमित्यङ्गीकारे मिथ्यासर्पदंशादेरप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वापादनाच्च। अत एवोक्तम्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।

अनुवाद—यह भी काश या कुशा के सहारे के समान है, क्योंकि दो विकल्प को यह मत सह नहीं सकता। जलधर (बादल) आदि के दृष्टान्त में क्षणिकत्व इसी प्रमाण से सिद्ध है या अन्य प्रमाण से। प्रथम विकल्प ठीक नहीं, है, क्योंकि आपके द्वारा अभिमत क्षणिकत्व कभीं भी दृष्ट न होने से दृष्टान्तासिद्ध होने के कारण यह अनुमान ही नहीं उठाता। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। इसी न्याय से सर्वत्र क्षणिकत्व की सिद्धि हो जाने पर ''सत्त्व' हेतु अनुमान को विफल मानने की आपत्ति आ जायेगी। अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है यह मानने पर मिथ्या सर्व देश आदि को भी अर्थक्रियाकारी होने के कारण उसे सत् मानना पड़ेगा। अत: कहा गया है—उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से युक्त ही सत् है।

विशेष—जैनों के दो विकल्प देकर क्षणिकवाद का खण्डन किया है। पहला विकल्प यह है कि ''यत् सत् तत् क्षणिकम्'' इस व्याप्ति को उपस्थित कर जलधर को क्षणिक सिद्ध किया गया है:—

जलधरः क्षणिकः सत्त्वात्।

परन्तु इस अनुमान में दृष्टान्तासिद्ध दोष है। किसी भी व्याप्ति का दृष्टान्त होना आवश्यक है अत: ''यत् सत् तत् क्षणिकम्'' इस व्याप्ति का भी कुछ दृष्टान्त (उदाहरण) होना चाहिये। किन्तु इस व्याप्ति का दृष्टान्त तो तब बनेगा, जब क्षणिकत्व कहीं पर दिखे।

जब हर वस्तु क्षणिक ही है तो वह दिखेगी कैसे? अतः दृष्टान्त न मिलने के कारण क्षणिकत्व साध्यक तथा सत्त्वहेतुक अनुमान ही नहीं बनता।

दूसरा विकल्प यह है कि जलधर में क्षणिकत्व की सिद्दि अनुमानातिरिक्तप्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है। यदि यह विकल्प माना जाए अर्थात् अन्य प्रमाणों से ही क्षणिकत्व सिद्ध है—यह कहा जाए तो "सत्त्व" हेतु देकर क्षणिकत्व की सिद्धि करना ही बेकार हो जाएगा। क्योंकि प्रत्यक्षादि से ही क्षणिकत्व सिद्ध है।

दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने अर्थक्रियाकारी को सत् कहा था। लेकिन सर्पदंश का भ्रम होने पर भी भय, मूर्च्छा आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं। जब साँप ने काटा नहीं, फिर भी भ्रमवश "सर्पदंश हुआ है" यह मानकर लोग भयभीत या मूर्च्छित भी हो जाया करते हैं। इस प्रकार अर्थक्रियाकारी तो मिथ्या सर्पदंश में भी है लेकिन उसे कोई सत् नहीं कहता।

अतः जैनमत के अनुसार सत् का लक्षण है—जिसमें उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता (स्थिति) हो, वही सत् है।

४. क्षणिकत्वाद के खण्डन की दूसरी विधि

अथोच्यते-सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादिनामनेकान्ततावादस्येष्टतया विरोधासिद्धेः। यदुक्तं कार्पासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। युक्तेरनुक्तेः। तत्रापि निरन्वयनाशस्यानङ्गीकाराच्च।

अनुवाद—अब (हम जैनों द्वारा) बताया जा रहा है—सामर्थ्य तथा समार्थ्य रूप विरुद्ध धर्मों की स्थिति से क्षणिकत्व की सिद्धि होती है, यह भी ठीक नहीं है। स्याद्वादियों का अनेकान्तवाद अभीष्ट होने के कारण विरोध (सामर्थ्यासामर्थ्यरूप, विरुद्ध धर्मों की स्थिति) की सिद्धि नहीं होती। जो यह कपास आदि का दृष्टान्त बतलाया गया यह भी केवल कथन मात्र है, क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं बतलायी गयी हैं। उनमें भी निरन्वय नाश को स्वीकार नहीं किया जाता।

विशेष—बौद्धमत के निरूपण के प्रसङ्ग पर स्थायी माने जाने वाले पदार्थों में सामर्थ्य तथा असमार्थ्य को अन्वयानुमान तथा व्यतिरेकानुमान से सिद्ध किया जा चुका है। वहाँ (बौद्ध, दर्शन, परिच्छेद-१३) यह बताया गया है कि जिस वस्तु में विरुद्ध धर्म होते हैं, वह नाना (क्षणिक) होती है। अतः सामर्थ्य तथा असमार्थ्य इन दो विरुद्ध धर्मों के रहने से सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं।

लेकिन यह तो बौद्ध मत है। बौद्ध लोग एक ही पदार्थ में विरूद्ध धर्मों को नहीं मानते। जैनमत में ऐसा नहीं है। जैन लाग अनेकान्तवाद मानते हैं। उनके मतानुसार एक पदार्थ में दो विरूद्ध धर्म रह सकते हैं। अतः किसी भी पदार्थ को पूर्णतः वर्णित नहीं किया जा सकता है। हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु के एक ही पहलू को देख पाता है। इसीलिए जैनों ने "स्याद्वाद" माना है। वे प्रत्येक कथन के पूर्व "स्यात्"

(शायद या सम्भवत:) शब्द जोड़ते है। उनके अनुसार किसी भी कथन को सात प्रकार से कहा जा सकता है। इसे ही सप्तभङ्गी नय कहते हैं। ये सात नय हैं—

१. स्यात् अस्ति
२. स्यात् नास्ति
३. स्यात् अस्ति नास्ति च
४. स्यात् अवक्तव्यम्
५. स्यात् अस्ति अवक्तव्यम् च
६. स्यात् नास्ति अवक्तव्यम् च
७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यम् च

इस प्रकार जब जैनमतानुसार किसी वस्तु में विरुद्ध धर्मों के एक साथ रहने का विरोध ही नहीं है, तो फिर इस विरोध को मानकर क्षणिकतत्व की सिद्धि ही कैसे होगी?

बौद्धों ने कार्पास का उदाहरण देकर पीछे यह बतलाया था कि लाक्षारस में कपास के बीज को डुबाने पर उसकी लालिमा परम्परया कपास तक चली जाती है अर्थात् बीज का नाश होने पर जो अङ्कुर उत्पन्न होता है उसमें बीज से लालिमा चली जाती हैं। यह तो सान्वय (सम्बन्ध से युक्त) नाश हुआ। बीज क्षणिक है। उसका नाश हो गया। लेकिन लालिमा नष्ट नहीं हुई, वह अङ्कुर में चली गयी। जबकि बीज का निरन्वय नाश होना चाहिये था। इस प्रकार बौद्धों ने निरन्वय नाश को स्वीकार नहीं किया, फिर भी वे क्षणिकवाद को मानने का ढोल बजाते फिरते हैं।

न च संतानिव्यतिरेकेण संतानः प्रमाणपदवीमुपारोढुमर्हति। तदुक्तम्—

३. सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम् ।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते ।। इति।।

न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसङ्गं भङ्क्तुमर्हति। तथा ह्युपाध्याय-बुद्ध्यनुभूतस्य शिष्यबुद्धिः स्मरेत्तदुपचितकर्मफलमनुभवेद्वा।

अनुवाद—सन्तानी (परम्परा=सन्तान का सम्बन्धी) के बिना सन्तान=परम्परा को प्रमाणपदवी पर नहीं रखा जाता। जैसा कि कहा गया है—

एक जाति, क्रमश: उत्पन्न तथा परस्पर जुड़े हुए जो व्यक्ति हैं उन व्यक्तियों की सन्तान=परम्परा को एक ही माना जाता है।

कार्य-कारण भाव का नियम इस अतिप्रसङ्ग को रोक नहीं सकता है। ऐसा मानने पर तो अध्यापक की बुद्धि में अनुभूत विषय को शिष्य की बुद्धि भी स्मरण करने लगेगी या संचित कर्म फल का अनुभव करने लगेगी।

विशेष—बौद्धों का यह मत है कि सभी वस्तुएँ क्षणिक होने पर भी वे सभी एक परम्परा में स्थित रहती हैं। इस परम्परा को ही 'सन्तान' कहा जाता है तथा उस परम्परा में स्थित क्षणिक पदार्थों को 'सन्तानी' कहते हैं। यद्यपि सभी पदार्थ तो क्षणिक हैं, वे केवल

व्यक्तिमात्र हैं, सजातीय हैं, लेकिन उन पदार्थों की परम्परा को एक ही माना जाता है। इसका कारण बौद्धों ने कार्य कारण भाव को बताया है। इस परम्परा में पूर्व पदार्थ उत्तरपदार्थ के कारण है। लेकिन ऐसा मानने पर व्यभिचार दोष आता है। अध्यापक की बुद्धि से शिष्य की बुद्धि उत्पन्न होती है। उन दोनों में कार्यकारण भाव है।

अध्यापक के उपदेश बाद अध्यापक की बुद्धि से दो तरह की बुद्धियाँ उत्पन्न होती है। एक तो शिष्य की बुद्धि तथा दूसरी अध्यापक की ही अपनी बुद्धि या अनुभव। इसमें अध्यापक का अनुभव उनकी ही बुद्धि से उत्पन्न होता है तथा शिष्य का अनुभव भी अध्यापक की ही बुद्धि से उत्पन्न होता है। लेकिन यदि दोनों परम्पराओं को एक माना जाए तो अध्यापक को होने वाला अनुभ्व शिष्य करने लगेगा, जबकि ऐसा होता नहीं। अत; कार्यकारणभाव को परम्परा के एक होने में नियामक नहीं माना जा सकता।

तथा च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। तदुक्तं सिद्धसेनवाक्यकारेण-

४. कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ ।।

(अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका १८) इति।

अनुवाद—इसी प्रकार कृतप्रणाश तथा अकृताभ्यागम इन दोषों का भी प्रसंग आ जायेगा। जैसा कि सिद्धसेन के वार्तिककार ने कहा है—कृत कर्म का नाश, अकृत कर्म का भोग, संसार विनाश, मोक्ष का विनाश तथा स्मृति का विनाश इन सभी दोषों को देखकर इस श्रेप्ठ महासाहसी (बौद्धो) ने क्षणिकवाद मानने की इच्छा की है।

विशेष—सिद्धसेन द्वारा रचित ग्रन्थ के वार्तिक कार ने कृतप्राणाश इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है। मूलत: यह कारिका हेमचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका से है। इसी ग्रन्थ पर मल्लिषेण ने एक टीका लिखी है, जिसका नाम स्याद्वादमञ्जरी है।

इस कारिका में यह बतलाया गया है कि क्षणिकवाद मानने पर अधोलिखित पांच दोष आते हैं—

१. कृतप्रणाश—यदि क्षणिकवाद माना जाए तो कृतप्रणाश दोष आता है। अर्थात् किया गया कर्म बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है क्योंकि जो कर्म किया गया है, वह जब पूर्वक्षण में ही नष्ट हो गया, तो वह कर्म कैसे फल प्रदान करेगा? जिस व्यक्ति ने कर्म किया है, वह व्यक्ति भी क्षण भर में बदल गया तो फिर फल पायेगा कौन? यह दोष क्षणभङ्गवाद में आता है।

२. अकृतकर्मभोग—इसी तरह फल का भोग उस व्यक्ति को करना पड़ेगा जिसके कर्म किया ही नहीं।

३. भवभंग—मनुष्य पुनर्जन्म इसलिये पाता है कि पूर्व में किये कर्मों को वह भोग सके, लेकिन जब कर्म किसी ने किया और फल कोई अन्य भोगेगा, तो पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता ही क्या रहेगी?

४. मोक्षभंग—जब सब कुछ क्षणिक है। आत्मा भी क्षणिक है, तो मुक्ति के लिये प्रयास कौन आत्मा करेगी? अतः मोक्ष मानना भी ठीक नहीं है।

५. स्मृतिभंग—जब क्षण-क्षण में व्यक्ति बदल रहे हैं, तो स्मृति की क्या आवश्यकता है?

ये पाँच दोष क्षणभङ्गवाद पक्ष में आते हैं। इसीलिए जैन इन्हें महासाहसी कह रहे है। पाँच दोष आने पर भी बौद्ध क्षणभङ्गवाद को मानते हैं, तो निश्चित ही वे महासाहसी हैं।

५. क्षणिकत्व-पक्ष में ग्राहय-ग्राहक-भाव का न होना

किं च क्षणिकत्व-पक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेयकाले ज्ञानस्यासत्त्वेन च ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ सकललोकयात्रास्तमियात्। न च समसमयवर्तिता शङ्कनीया। सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभावासम्भवेनाग्राह्यस्यालम्बनप्रत्ययत्वानुपपत्तेः।

अनुवाद—और क्षणिकत्व पक्ष में ज्ञान के समय में ज्ञेय की सत्ता न रहने से तथा ज्ञेय पदार्थ के समय में ज्ञान की सत्ता न रहने से ग्राह्यग्राहकभाव की अनुपत्ति हो जाने से समस्त लोगों की दिनचर्या समाप्त हो जायेगी। दोनों (ज्ञान तथा ज्ञेय) के एकसमय में रहने की शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि बायें और दायें सींग के समान ही इन दोनों (ज्ञान तथा ज्ञेय) में कार्य-कारण भाव सम्भव न होने से अग्राह्य वस्तु की आलम्बन प्रत्यय के रूप में भी अनुपपत्ति हो जायेगी।

विशेष—यदि सभी पदार्थों को क्षणिक माना जाए, तो ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों को क्षणिक कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ज्ञान की सत्ता के समय ज्ञेय की सत्ता नहीं रहेगी तथा ज्ञेय पदार्थ के समय ज्ञान की सत्ता नहीं रहेगी। जिस प्रकार गौ के दोनों सींग एक-साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतः उन दोनों में कार्य-कारण भाव नहीं माना जाता। उसी प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय को समान कालिक मानने पर उनमें कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। ऐसी स्थिति में नीलादि विषय जिन्हें अभी तक बौद्ध मत में आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है, वे जब ज्ञान के ग्राह्य ही नहीं बन पाते, तो उन्हें आलम्बन प्रत्यय कहना भी सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है।

६. ज्ञान के साकार होने में दोष

अथ भिन्नकालस्यापि तस्याकारार्पकत्वेन ग्राह्यत्वम्-तदप्यपेशलम्। क्षणिकस्य ज्ञानस्याकारार्पकताश्रयताया दुर्वचत्वेन साकारज्ञानवादप्रत्ययादेशात्।

निराकारज्ञानवादेऽपि योग्यतावशेन प्रतिकर्मव्यवस्थायाः स्थितत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षेण विषयाकाररहितमेव ज्ञानं प्रतिपुरुषमहमहमिकया घटादिग्राहकमनुभूयते, न तु दर्पणादिवत्प्रतिबिम्बाक्रान्तम्।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों का भिन्न-भिन्न काल होने पर भी ज्ञेय पदार्थ ग्राह्य इसलिये बनता है क्योंकि वह ज्ञान में अपने आकार को छोड़ देता है। यह भी ठीक नहीं है। क्षणिक ज्ञान आकारार्पकता का आश्रय लेता है–यह कहना कठिन है। इसलिये साकार ज्ञान के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

निराकार ज्ञान का सिद्धान्त मानने पर भी योग्यता के कारण प्रत्येक कर्म की व्यवस्था तो है ही। जैसे कि प्रत्यक्ष के द्वारा विषय के आकार से रहित ज्ञान भी प्रत्येक पुरुष में व्यक्तिगत रूप से घटादि के ग्राहक के रूप में अनुभूत होता है, दर्पणादि के समान केवल प्रतिबिम्ब मात्र का ग्रहण नहीं करता।

विशेष—ज्ञान ज्ञेय के आकार को ग्रहण करता है या नहीं या दूसरे शब्दों में ज्ञान साकार है या निराकार-यह समस्या उपस्थित होती है। चूँकि ज्ञान भी क्षणिक है, तो वह ज्ञेय के आकार को ग्रहण करेगा कैसे? ज्ञेय का आकार जिस ज्ञान में आता है वह तो क्षण भर में ही नष्ट हो गया, फिर ज्ञेय का आकार ज्ञान में आता ही कहाँ है? यदि ज्ञान को निराकार माना जाए, तो यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान योग्यता के अनुसार विषयों का ग्रहण करता है। चाक्षुष ज्ञान रूप का ही ग्रहण करता है, अन्य रसादि का नहीं। स्पार्शन ज्ञान स्पर्श का, रासन ज्ञान रस का, श्रावण ज्ञान शब्द का ही ग्रहण करता है। इस तरह योग्यता के कारण तत् तत् ज्ञान तत् तत् विषयों का ग्रहण करते हैं।

जिस प्रकार दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, उस तरह ज्ञान प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं करता। आकार रहित ज्ञान भी घटादि का ग्रहण करता है। प्रत्येक व्यक्ति अहमहनिका अर्थात् व्यक्तिशः ज्ञान का अनुभव करता है।

विषयाकारधारित्वे च ज्ञानस्यार्थे दूरनिकटादिव्यवहाराय जलाञ्जलिर्वितीर्येत। न चेदमिष्टापादानमेष्टव्यम्। दवीयान्महीधरो नेदीयान्दीर्घो बाहुरिति व्यवहारस्य निराबाधं जागरूकत्वात्।

न चाकाराधायकस्य तस्य दवीयस्त्वादिशालितया तथा व्यवहार इति कथनीयम्। दर्पणादौ तथानुपलम्भात्।

अनुवाद—ज्ञान को विषयाकार धारण करने की बात मान लेने पर विषय में दूर तथा निकट का जो व्यवहार होता है, उसे तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसे ''इष्ट की प्राप्ति'' मानना भी ठीक नहीं है। ''पहाड़ दूर है'', ''लम्बी भुजा पास है'' यह व्यवहार बिना बाधा के होता है।

आकार का ग्रहण होने पर भी (पर्वतादि में) दूरत्वादि धर्म होने से ''पर्वत दूर है'' ऐसा व्यवहार होता है यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि दर्पणादि में यह उपलब्ध नहीं होता।

विशेष—विषयों के प्रति "यह दूर है" यह पास है" ऐसी सामान्य प्रतीति होती है। लेकिन ज्ञान को विषयाकार कहने पर यह प्रतीति नहीं बन पायेगी तथा प्रतीति का अपलाप भी नहीं किया जा सकता क्योंकि यह प्रतीति व्यवहार सिद्ध है।

यदि बौद्ध यह कहें कि वस्तुओं का जो आकार ज्ञान में आता है उसमें दूरत्व, निकटत्व आदि की प्रतीति होती है अतः "यह दूर है" या "यह पास है" ऐसा व्यवहार होता है। यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि दूर या निकट स्थित सभी वस्तुओं का आकार छोटे से दर्पण में तो आ ही जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि दूर स्थित वस्तु दर्पण में नहीं आती केवल पास स्थित वस्तु ही आती हो।

किं चार्थादुपजयमानं ज्ञानं यथा तस्य नीलाकारतामनुकरोति तथा यदि जडतामपि, तर्हि अर्थवत्तदपि जडं स्यात्। तथा च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि ते नष्टं स्यादिति महत्कष्टमापन्नम्।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ज्ञानं जडतां नानुकरोति-इति ब्रूषे, हन्त, तर्हि तस्या ग्रहणं न स्यादित्येकमनुसंधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति न्यायापातः।

अनुवाद—और यदि विषय से उत्पन्न ज्ञान उस विषय के नीलादि आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यदि विषय की जड़ता को भी ग्रहण करने लगे, तो वह ज्ञान विषय से युक्त होने पर भी जड़ हो जायेगा। इस प्रकार वृद्धि की इच्छा करते हुए आपका मत भी नष्ट हो जायेगा, यह बड़ा कष्ट प्राप्त हुआ है।

अब यदि इस दोष को त्यागने की इच्दा से यह कहा जाए कि ज्ञान जड़ता को ग्रहण नहीं करता है, तो हाय कष्ट है कि फिर उस जड़ता का तो ग्रहण ही नहीं होता है, इस प्रकार एक वस्तु का अनुसन्धान करते हुए दूसरी वस्तु भुला जाती है इय स्थिति आ जायेगी।

विशेष—ज्ञान को साकार मानने पर यह भी दोष है कि जिस प्रकार ज्ञान आकार को ग्रहण करता है, उसी प्रकार विषय की जड़ता को भी ग्रहण करेगा। यदि ज्ञान जड़ता को ग्रहण करने लगे तो स्वयं ज्ञान को भी जड़ कहना पड़ेगा, लेकिन वस्तुतः ज्ञान तो विषय की जड़ता का भी ग्रहण करता ही है अतः "ज्ञान जड़ता को नहीं लेता" यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि कहें कि "ज्ञान जड़ता को ग्रहण नहीं करता" तो फिर तो यी कहना पड़ेगा कि ज्ञान विषय को भी ग्रहण नहीं करता है। फिर तो मूल बात ही नष्ट हो जायेगी।

ननु मा भूज्जडताया ग्रहणम्। किं नश्छिन्नम्? तदग्रहणेऽपि नीलाकारग्रहणे तयोर्भेदोऽनेकान्तो वा भवेत्। नीलाकारग्रहणे चागृहीता जडता कथं तस्य स्वरूपं स्यात्? अपरथा गृहीतस्य स्तम्भस्यागृहीतं त्रैलोक्यमपि रूपं भवेत्। तदेतत् प्रमेयजातं प्रभाचन्द्रप्रभृतिभिरर्हन्मतानुसारिभिः प्रमेयकमलमार्तण्डादौ प्रबन्धे प्रपञ्चितमिति ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नोपन्यस्तम्।

अनुवाद—यदि (बौद्ध) यह कहें जड़ता का ग्रहण न होवे। उससे हमारी क्या हानि है? जड़ता का ग्रहण न होने पर भी नीलाकार (ग्रहण करने पर उन दोनों (जड़ता तथा नील) का या तो भेद होगा या व्यभिचार होगा। नीलाकार का ग्रहण होने पर भी अगृहीत जडता उस नीलाकार का स्वरूप कैसा होगा? अन्यथा गृहीत स्तम्भ का रूप अगृहीत त्रैलोक्य भी हो जायेगा। इन सभी प्रमेयों को प्रभाचन्द्र आदि जैनमतानुसारी विद्वानों ने प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में वर्णित किया है। अत: ग्रन्थ बड़ा होने के डर से उनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है।

विशेष—यदि यह कहें कि नीलादि आकार का ग्रहण होता है तथा उसकी जड़ता का ग्रहण नहीं होता, तो फिर नीलादि आकार तथा जड़ता में अत्यन्त भेद मानना पड़ेगा या फिर यह कहा जायेगा कि जिस प्रकार अग्नि के रहने पर भी कभी-कभी धूम नहीं रहता उसी तरह नीलाकार के रहने पर भी जड़ता नहीं रहती। इसे ही व्यभिचार कहा जाता है।

साथ ही एक समस्या और आती है कि जब जड़ता का ग्रहण ही नहीं होता, तो उस जड़ता को नीलाकार का रूप कहना भी ठीक नहीं है। स्तम्भ का ग्रहण होने पर सम्पूर्ण त्रैलोक्य को स्तम्भ के स्वरूप कहा जाने लगेगा जबकि त्रैलोक्य का तो ग्रहण होता ही नहीं हैं।

प्रभाचन्द्र नवीं शताब्दी ईसा पूर्वार्ध में विद्यमान थे। विद्यानन्दी द्वारा रचित आप्तपरीक्षा ग्रन्थ पर माणिक्य नन्दी ने परीक्षामुख नामक टीका लिखी है। परीक्षामुख की टीका ही 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' है जिसे प्रभाचन्द्र ने लिखा है।

७. अर्हत्-मत की सुगमता, अर्हत् का स्वरूप

तस्मात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैः सौगती गतिर्नानुगन्तव्या, अपि तु आर्हती एवार्हणीया। अर्हत्स्वरूपं च हेमचन्द्रसूरिभिराप्तनिश्चयालङ्कारे निरटङ्कि—

५. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः ।। इति।

अनुवाद—इसलिये पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुषों ने बौद्धमत का अनुसरण नहीं करना चाहिये, अपितु जैन मत का ही अनुसरण करना चाहिये। अर्हत् का स्वरूप हेमचन्द्र सूरि ने "आप्तनिश्चयालङ्कार" ग्रन्थ में लिखा है—सर्वज्ञ, रागादि दोषों को जीतने वाला, त्रैलोक्य में पूजित, यथार्थ बात को कहने वाला परमेश्वर अर्हत् देव है।

विशेष—जैन मत में अर्हत् ही परमेश्वर है।

८. अर्हत् के विषय में विरोधियों की शंका

ननु न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञपदवेदनीयः प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्। तथा चोक्तं तौतातितैः—

६. सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वायोऽनुमापयेत् ।।

७. न चागमविधिः कश्चिन्नित्यसर्वज्ञबोधकः।
न च तन्नार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्प्यते।।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि सर्वज्ञ पद से ज्ञात होने वाला कोई पुरुष विशेष प्रमाण पदवी पर नहीं बैठ जाता है, क्योंकि सर्वज्ञता के ग्राहक पांचों प्रमाण उसमें नहीं मिलते। जैसा कि तौतातिकों (मीमांसकों) ने कहा है—

इस समय हम लोगों को किसी सर्वज्ञ का दर्शन नहीं होता। न ही उस सर्वज्ञ का कोई एकदेश या लिङ्ग (हेतु) ही दिखलाई पड़ता है जो उसका अनुमान करा सके।

नित्य तथा सर्वज्ञ का बोध कराने वाली कोई आगम विधि (शब्द प्रमाण) भी नहीं है। अर्थवादवाक्यों का तात्पर्य भी उस सर्वज्ञ में कल्पित नहीं होता है।

विशेष—भाट्ट मीमांसकों को ही 'तौतातिक' कहा जाता है। मीमांसक सर्वज्ञ अर्हत् को स्वीकार नहीं करते। भाट्ट मीमांसक छह प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि।

इसमें से प्रथम पांच प्रमाण किसी वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, तथा छठां अनुपलब्धि प्रमाण अभाव को सिद्ध करता है। इसलिये यहाँ पांच ही प्रमाणों को लिया गया है। इन पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती।

सर्वज्ञ प्रत्यक्ष तो दिखलाई पड़ता ही नहीं है। सर्वज्ञ का कोई एकदेश या हेतु भी नहीं है। जिससे धूम हेतुक अग्निसाध्यक अनुमान के समान ही सर्वज्ञ का अनुमान कर लें। आगमविधि अर्थात् शब्द प्रमाण भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं करा पाता है।

अर्थवाद वाक्य भी सर्वज्ञ को नहीं बताते हैं। मीमांसकों ने वेद के पांच भाग किये हैं—

१. विधि—अज्ञात विषय का ज्ञान कराने वाला भाग विधि है। जैसे—स्वर्गकामो यजेत।
२. मन्त्र—अनुष्ठेय पदार्थों का स्मरण मन्त्रों से होता है।
३. नामधेय—यज्ञों के नाम। जैसे—चित्रा याग आदि।
४. निषेध—अनिष्ट कर्मों से हटाने वाला वचन। जैसे—न कलञ्जं भक्षयेत्।
५. अर्थवाद—विधेय की प्रशंसा या निषेध्य निन्दा करने वाले वचन।

इस परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा शब्द से सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

८. न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः।।
९. अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते?।।
१०. अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते।
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः।।

अनुवाद—अन्यार्थप्रधान उन अर्थवादवाक्यों से अर्हत् का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अन्य किसी के द्वारा पहले न कहे गये वचन का अनुवाद भी सम्भव नहीं है।

अनादि आगम का विषय आदि से युक्त सर्वज्ञ नहीं हो सकता। कृत्रिम तथा असत्य आगम से सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है?

यदि सर्वज्ञ के वचन से ही अज्ञानी लोगों को सर्वज्ञ की प्रतीति होगी ऐसा कहें तो उन दोनों का अन्योन्याश्रय होने से उन दोनों की सिद्धि कैसे होगी?

विशेष—अर्थवाद वाक्य अन्यार्थप्रधान है। अर्थवाद वाक्यों का स्वयं का कोई मुख्यार्थ नहीं माना जाता बल्कि लक्षणा के द्वारा उनका अर्थ प्रशंसा या निन्दा होता है।

पूर्व में कही बात को पुनः कहना ही अनुवाद है। सर्वज्ञ के विषय में कोई पूर्व कथन भी नहीं है जिसका अनुवाद किया जा सके।

आगम अनादि हैं उनका विषय कोई सादि सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यदि आगम को कृत्रिम कहें तो उन्हें असत्य मानना पड़ेगा। फिर उन असत्य आगम से भी सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे माना जाए?

सर्वज्ञ ऐसा कहता है कि "मै सर्वज्ञ हूँ" इस कारण उसे सर्वज्ञ माना जाए अन्योन्याश्रय दोष है। अतः कथमपि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। सर्वज्ञ के वचनों की सत्यता के कारण उसके अस्तित्व की सिद्धि होती है तथा उसके अस्तित्व के कारण उसके वचनों की सत्यता भी सिद्धि होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है।

११. सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता।
कथं तदुभयं सिध्येत्सिद्धमूलान्तरादृते।।
१२. असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते?
१३. सर्वज्ञसदृशं कञ्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम्।।
१४. उपदेशोऽपि बुद्धस्य धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाभवत्।।
१५. एवमर्थापत्तिरपि प्रमाणं नात्र युज्यते।
उपदेशस्य सत्यत्वं यतो नाध्यक्षमीक्ष्यते।। इत्यादि।।

अनुवाद—सर्वज्ञ के द्वारा कहे जाने के कारण उसके वचनों की सत्यता सिद्ध होती है तथा वचनों की सत्यता से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः मूल को सिद्ध बिना किये इन दोनों की सिद्धि कैसे हो सकती है।

मूल से रहित तथा असर्वज्ञ व्यक्ति के द्वारा बतलाये गये वचन से यदि सर्वज्ञ का ज्ञान होता है तो अपने वचनों से ही उसका ज्ञान क्यों नहीं होता?

यदि सर्वज्ञ के समान किसी व्यक्ति को देखते हैं, तो हम लोग उपमान प्रमाण से सर्वज्ञ को जान सकते हैं।

बुद्ध का उपदेश धर्म तथा अधर्म का ज्ञापक है। अतः यदि बुद्ध को सर्वज्ञ न मानें, तो यह बात नहीं लग पाती—इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्ध के उपदेशों की सत्यता प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ती।

विशेष—इस परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि शेष दो प्रमाण—उपमान तथा अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता है।

उपमान प्रमाण का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है-नीलगाय के स्वरूप को न जानने वाला कोई व्यक्ति "नीलगाय गाय के समान होती है" यह जानकर जब जंगल जाता है, तो वहाँ गाय के सदृश प्राणी को देखकर समझ जाता है कि यही नीलगाय है। यही है उपमान प्रमाण। यह भी तभी सम्भव है जब सर्वज्ञ सदृश कोई व्यक्ति दिखलाई पड़े।

"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" (देवदत्त मोटा होने पर भी दिन में भोजन नहीं करता) इस बात की अनुपपत्ति के कारण "देवदत्त रात्रि में भोजन करता है" यह कल्पना की जाती है। यही प्रमाण है।

बुद्ध का उपदेश सत्य मानने पर बुद्ध के सर्वज्ञ होने की कल्पना करना अर्थापत्ति है। किन्तु बुद्ध का उपदेश सत्य है—जब यह बात ही प्रत्यक्ष नहीं है तो फिर अर्थापत्ति से सर्वज्ञत्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

९. अर्हत् के सम्बन्ध में मीमांसको की शङ्का का समाधान

अत्र प्रतिविधीयते। यदभ्यधायि 'तत्सद्भावग्राहकस्य प्रमाणपञ्चकस्य तत्रानुपलम्भात्' इति तदयुक्तम्। तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात्। तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं, तत् तत्साक्षात्कारि; यथा-अपगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि।

अनुवाद—इस पर कहते हैं। जो कहा गया कि "अर्हत् की सिद्धि के ग्राहक पांचों प्रमाण यहाँ नहीं मिलते" यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ अर्हत् की सिद्धि के ग्राहक अनुमानादि प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे—कोई आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है, उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर सभी प्रतिबन्धक प्रत्ययों के क्षीण हो जाने के कारण जो आत्मा जिन सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखने पर प्रतिबन्धकों से विमुक्त है, वह आत्मा उन सभी पदार्थों को साक्षात्कार करता है। जैसे—अन्धकारादि का प्रतिबन्ध न होने पर नेत्र विज्ञान रूप का साक्षात्कार करता है।

तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मा। तस्मात्सकलपदार्थसाक्षात्कारीति। न तावदशेषार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्।

अनुवाद—आत्मा भी उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर सभी प्रतिबन्धों से विमुक्त है। अत: आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है। सभी पदार्थों को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव भी असिद्ध नहीं है।

विशेष—जैनों ने आत्मा की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के पांच अवयवों वाले अनुमान वाक्य को दर्शाया है—

१. प्रतिज्ञा—कोई आत्मा सब पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

२. हेतु—उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव होने पर प्रतिबन्धकों के क्षीण हो जाने के कारण। हेतु में दो दल है विशेषण दल तथा विशेष्य दल। ''प्रतिबन्धकों का क्षीण हो जाना'' यह विशेष्य दल है।'' ''उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखना'' यह विशेषण दल है।

३. उदाहरण—जो-जो आत्मा जिन सभी पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव रखने पर प्रतिबन्धकों से मुक्त है, वह आत्मा उन सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है। जैसे—अन्धकार आदि प्रतिबन्धक न होने पर नेत्र रूप का साक्षात्कार करता है।

४. उपनय—उसी तरह आत्मा भी समस्त पदार्थों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखने पर भी प्रतिबन्धकों से रहित है।

५. निगमन—अत: आत्मा समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार तात्पर्य यह है कि चूँकि आत्मा का यह स्वभाव है कि प्रतिबन्धक न होने पर वह सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। अत: आत्मा की सर्वज्ञता सिद्ध है।

हेतु के विशेषण भाग के न होने से विशेषणाभाव प्रयुक्त स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता है। यह हेत्वाभास भी यहाँ नहीं है, क्योंकि हेतु का विशेषण ''समस्त पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव'' आत्मा में असिद्ध नहीं है।

चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति व्याप्तिज्ञानोत्पत्तेश्च। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयति' (मी० सू० १।१।२ शाबरभाष्य) इत्येवंजातीयकैरध्वरमीमांसागुरुभिर्विप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं सकलार्थविषय-ज्ञानं प्रतिपाद्यमानैः सकलार्थग्रहणस्वभावकत्वमात्मनोऽभ्युपगतम्।

अनुवाद—अन्यथा चोदना (विधि वाक्यों) से समस्त विषयों के ज्ञान की उत्पत्ति को नहीं माना जा सकेगा तथा ''सब कुछ अनेकान्तात्मक है सत् होने से'' इस व्याप्ति ज्ञान की उत्पत्ति होने के कारण (आत्मा का स्वभाव ''अशेषविषयों को ग्रहण करना'' माना गया है) ''भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूर इन प्रकार के विषयों का ज्ञान विधि (चोदना) कराती है।'' (मी०सू० १.१.२ शाबर भाष्य) इस प्रकार से अध्वर मीमांसा के आचार्यों ने विधि निषेध के विचार पर आधारित समस्त विषयों को ज्ञान प्रतिपादित करते हुए समस्त विषयों को ग्रहण करने का आत्मा का स्वभाव बतलाया है।

विशेष—मीमांसा मतानुसार विधि ही भूत, भविष्य, वर्तमान सभी विषयों का ज्ञान कराती है। "यज्ञ से स्वर्गादि फल प्राप्त होते हैं" यह ज्ञान भी विधि ही कराती है। यदि आत्मा को सर्वज्ञ न माना जाए तो" विधि सब विषयों का ज्ञान कराती है" यह बात भी नहीं लग पायेगी। साथ ही जैन मत में समस्त वस्तुओं को अनैकान्तिक (सापेक्ष) माना गया है। इसे भी तभी माना जा सकता है, जब आत्मा को सर्वज्ञ माना जाए।

न चाखिलार्थप्रतिबन्धकावरणप्रक्षयानुपपत्तिः। सम्यग्दर्शनादित्रय-लक्षणस्यावरणप्रक्षयहेतुभूतस्य सामग्रीविशेषस्य प्रतीतत्वात्। अनया मुद्रयापि क्षुद्रोपद्रवा विद्राव्याः।

अनुवाद—"समस्त विषयों के प्रतिबन्धकों को नाश हो जाना" यह भी अनुपत्र नहीं है। क्योंकि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र-ये तीनों लक्षण प्रतिबन्धकों के नाश की हेतुभूत सामग्री विशेष के रूप में प्रतीत होते हैं। इस प्रकार से छोटी बाधाओं को दूर कर देना चाहिये।

विशेष—पूर्वोक्त हेतु में जो विशेष्य दल था "समस्त विषयो के प्रतिबन्धकों का नाश" वह भी असिद्ध नहीं है। अर्थात् "विशेष्याभावप्रयुक्त स्वरूपासिद्धि" भी नहीं है।

सम्यक् दर्शनादि त्रिरत्नों से समस्त प्रतिबन्धकों का नाश हो जाता है अतः अर्हत् को सर्वज्ञ मानने में कोई बाधा नहीं है।

१०. *नैयायिकों की शंका और उसका समाधान*

नन्वावरणप्रक्षयवशादशेषविषयं विज्ञानं विशुद्धं मुख्यप्रत्यक्षं प्रभवती-त्युक्तं, तदयुक्तम्। तस्य सर्वज्ञस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्-तन्न। अनादिमुक्तत्वस्यैवासिद्धेः। न सर्वज्ञोऽनादिमुक्तः, मुक्तत्वादितरमुक्तवत्। बद्धापेक्षया हि मुक्तव्यपदेशः। तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्।

अनुवाद—यदि यह कहें कि आवरणों (प्रतिबन्धकों) के नष्ट हो जाने से सभी विषयों का विशुद्ध विज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष हो सकता हैं, तो यह भी ठीक नहीं हैं। फिर यदि कहें कि सर्वज्ञ के अनादिमुक्त होने से उसमें आवरण की ही सम्भावना नहीं है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ का अनादि मुक्त होना ही सिद्ध नहीं है। सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है, मुक्त होने से, अन्य मुक्त लोगों की तरह। बद्ध की अपेक्षा से 'मुक्त' ऐसा व्यपदेश होता है। बद्ध के न रहने पर मुक्त का भी अभाव होगा, आकाश के समान।

विशेष—जैन मत में सर्वज्ञ अर्हत् को अनादिमुक्त नहीं माना गया है। "सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है" यह सिद्ध करने के लिए अनुमानप्रयोग किया गया है—

सर्वज्ञ न अनादिमुक्तः मुक्तत्वात् इतरमुक्तवत्। सर्वज्ञ अनादिमुक्त नहीं है, मुक्त होने से, अन्य मुक्तों के समान।

जिस प्रकार अन्य मुक्त पुरुष अनादि मुक्त नहीं हैं उसी तरह सर्वज्ञ अर्हत् भी अनादिमुक्त नहीं है।

बद्ध और मुक्त यह सापेक्ष व्यवहार है। यदि कोई बद्ध नहीं है तो 'मुक्त' यह कहना भी व्यर्थ हो जाएगा। जैसे आकाश न तो बद्ध है न मुक्त। अत: सर्वज्ञ अर्हत् भी मुक्त तो है लेकिन अनादिमुक्त नहीं है।

नन्वनादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृत्वेन तत्सिद्धिः। तथा हि-क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्। तदप्यसमीचीनम्। कार्यत्वस्यैवासिद्धेः। न च सावयवत्वेन तत्साधनमित्यभिधातव्यम्। यस्मादिदं विकल्पजालमवतरति।

अनुवाद—यदि यह कहे कि अनादि पृथ्वी आदि कार्यों की परम्परा के कर्ता के रूप में सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती हैं। जैसे कि–पृथ्वी आदि कार्य कर्तृयुक्त हैं कार्य होने से, घट के समान। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि पृथ्वी आदि में कार्यत्व ही सिद्ध नहीं है। पृथिवी आदि कार्य सावयव होने के कारण उनमें कार्यत्व की सिद्धि हो जाएगी—यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यह विकल्पजाल आ जायेगा।

विशेष—न्यायमत में पृथिव्यादि कार्यों के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि भी की गयी है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के प्रारम्भ में ही पूर्वोक्त अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की गयी है। चूँकि पृथ्वी आदि कार्य (जन्य) हैं अत: उनका कोई कर्ता होना चाहिये, वह कर्ता ही ईश्वर है।

जैनमत में पृथ्वी आदि कार्य (जन्य=उत्पन्न होने वाले) ही नहीं हैं। सावयव होने से भी पृथ्वी आदि को कार्य नहीं कह सकते, क्योंकि आगे कहे गये ५ विकल्पों के कारण पृथ्वी आदि को सावयव नहीं कहा जा सकता है।

११. सावयवत्व के पाँच विकल्प और उनका खण्डन

सावयवत्वं किमवयवसंयोगित्वम्, अवयवसमवायित्वम्, अवयवजन्यत्वम्, समवेतद्रव्यत्वम्, सावयवबुद्धिविषयत्वं वा?

न प्रथमः। आकाशादौ अनेकान्त्यात्। न द्वितीयः। सामान्यादौ व्यभिचारात्। न तृतीयः। साध्याविशिष्टत्वात्।

अनुवाद—'सावयव' का अर्थ अवयवों के साथ संयोग है या अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध है या अवयवों से उत्पन्न होना है या समवेत द्रव्यों का होना है या अवयवों से युक्त बुद्धि का विषय होना है?

पहला विकल्प ठीक नहीं है, आकाश आदि में व्यभिचार हो जाने से। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य में व्यभिचार हो जाता है। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्य से अभिन्न हो जायेगा।

विशेष—यदि ''कार्यत्व'' को सिद्ध करने के लिए ''सावयवत्व'' हेतु दिया जाए, तो अनुमान होगा—

पृथिव्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्।

अब प्रश्न उठा कि सावयवत्वम् कीदृशम्?

इस पर पांच विकल्पों को उपस्थित करके जैनों ने यह बतलाया कि 'सावयवत्व' की कोई व्याख्या संभव नहीं है।

प्रथम विकल्प है कि अवयवों के साथ संयोग होना ही सावयवत्व हैं फिर तो आकाश को भी सावयव कहना पड़ेगा। आकाश का अवयवों के साथ संयोग सम्बन्ध है। फिर सावयव होने से आकाश को कार्य (जन्य) कहना पड़ जायेगा लेकिन न्यायमत में आकाश कार्य नहीं है। कार्य के लक्षण की आकाश में अतिव्याप्ति ही व्यभिचार है। सावयव की प्रथम व्याख्या मानने पर आकाश में व्यभिचार दोष आता है। "साध्याभाववद्वृत्तित्वं व्यभिचारत्वम्" यह व्यभिचार का लक्षण है अर्थात् हेतु का साध्याभाव में रहना।

दूसरा विकल्प है कि सावयव का तात्पर्य है—अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध रखना। सामान्य (जाति) का द्रव्यादि के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है। अतः सामान्य भी सावयव हो गया। फिर "कार्यं सावयवत्वात्" अनुमान से सामान्य को कार्य कहना पड़ेगा। जबकि सामान्य कार्य (जन्य) नहीं है। वह नित्य है। इस प्रकार दूसरा विकल्प मानने पर सामान्य में व्यभिचार आता है।

यदि तीसरा विकल्प माना जाय अर्थात् सावयव का तात्पर्य अवयवों से उत्पन्न माना जाए तो फिर कार्यत्व और सावयवत्व में अन्तर ही क्या रह जायेगा? कार्य का अर्थ भी यही है = उत्पन्न पदार्थ। साध्य और हेतु दोनों अलग-अलग होने चाहिये। दोनों के एक हो जाने पर अनुमान प्रयोग नहीं हो सकता।

न चतुर्थः। विकल्पयुगलार्गलग्रहगलत्वात्। समवायसम्बन्धमात्रवद् द्रव्यत्वं समवेतद्रव्यत्वमन्यत्र समवेतद्रव्यत्वं वा विवक्षितं हेतूक्रियते?

आद्ये गगनादौ व्यभिचारः। तस्यापि गुणादिसमवायवत्वद्रव्यत्वयोः सम्भवात्। द्वितीये साध्याविशिष्टता। अन्यशब्दार्थेषु समवायकारणभूतेष्ववयवेषु समवायस्य साधनीयत्वात्। अभ्युपगम्यैतदभाणि। वस्तुतस्तु समवाय एव न समस्ति। प्रमाणाभावात्।

अनुवाद—चौथा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो विकल्प रूपी अर्गला से इसका गला पकड़ लिया जाता है। केवल समवाय सम्बन्ध से युक्त द्रव्यत्व समवेत द्रव्यत्व है या किसी दूसरे पदार्थ में समवेतद्रव्यत्व को विवक्षित करके उसे हेतु बनाया गया है?

प्रथम पक्ष मानने पर आकाश आदि में व्यभिचार आता है, क्योंकि आकाश में गुण आदि का समवायत्व तथा द्रव्यत्व दोनों सम्भव है। दूसरा पक्ष मानने पर 'सावयवत्व' साध्य से अभिन्न हो जायेगा। समवाय के कारणभूत अन्य पदार्थ अवयवों में समवाय को

सिद्ध करना होगा। यह सब (समवाय को सम्बन्ध) मानकर ही कहा गया है। वस्तुतः समवाय सम्बन्ध ही नहीं है, प्रमाण के न होने से।

विशेष—चतुर्थ विकल्प के अनुसार सावयव का तात्पर्य है समवेत द्रव्यों का होना है। इस "समवेत द्रव्यत्व" का क्या तात्पर्य है? इसके भी दो विकल्प हैं। पहले विकल्प के अनुसार "समवेतद्रव्यत्व" का अर्थ है—समवाय सम्बन्ध से युक्त द्रव्यत्व। ऐसा मानने पर फिर से आकाश में व्यभिचार आयेगा। आकाश में समवाय सम्बन्ध से शब्द गुण रहता है तथा आकाश स्वयं द्रव्य भी है। अतः आकाश को सावयव मानना होगा और "कार्यं सावयवत्वात्" अनुमान से आकाश को कार्य (जन्य) होने की आपत्ति आयेगी। लेकिन आकाश तो जन्य नहीं है। यही व्यभिचार दोष है।

'समवेत द्रव्यत्व' का दूसरा अर्थ है—अन्य किसी पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले द्रव्य। जैसे पट तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। पट अपने समवायिकारण तन्तु से उत्पन्न हुआ है। किन्तु ऐसा मानने पर सावयव (हेतु) तथा कार्य (साध्य) में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। साथ ही पट के समवायिकरण तन्तु में भी पहले तो समवाय को सिद्ध करना होगा। जैन मत में तो समवाय सम्बन्ध होता ही नहीं। इतना सब विचार समवाय को सम्बन्ध मानकर किया गया है। वस्तुतः प्रमाण न होने से समवाय को सम्बन्ध ही नहीं मानना चाहिये।

नापि पञ्चमः। आत्मादिनानैकान्त्यात्। तस्य सावयवबुद्धिविषयत्वेऽपि कार्यत्वाभावात्। न च निरवयवत्वेऽप्यस्य सावयवार्थसम्बन्धेन सावयवबुद्धि-विषयत्वमौपचारिकमित्येष्टव्यम्। निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात्परमाणुवत्।

अनुमान—पांचवा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा आदि के कारण व्यभिचार आ जाता है। सावयव बुद्धि का विषय होने पर भी आत्मा में कार्यत्व का अभाव है। यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा के निरवयव होने पर भी सावयव विषयों के सम्बन्ध से "सावयव बुद्धि का विषयत्व" यह औपचारिक प्रयोग है। निरवयव पदार्थ में व्यापकता का विरोध है, परमाणु के समान।

विशेष—आत्मा सावयव बुद्धि (ज्ञान) का विषय तो है, पर वह कार्य (जन्य) नहीं है। अतः सावयव की उक्त परिभाषा मानने पर आत्मा में व्यभिचार आता है।

"सावयव बुद्धि विषयत्व" को 'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि प्रयोगों की तरह औपचारिक (गौण) भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आत्मा सावयव ही है निरवयव नहीं। जो निरवयव होता है वह व्यापक नहीं होता। चूंकि आत्मा व्यापक है अतः उसे सावयव मानना पड़ेगा।

इस प्रकार सावयव हेतु देकर कार्यत्व की सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व की सिद्धि भी नही हो सकती। परिशेषतः नैयायिकों ने "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्" अनुमान से जो ईश्वरसिद्धि की थी वह सम्भव नहीं है।

१२. ईश्वर को कर्त्ता मानने में आपत्ति

किं च, किमेकः कर्त्ता साध्यते, किं वाऽनेके? प्रथमे प्रासादादौ व्यभिचारः। स्थपत्यादीनां बहूनां पुरुषाणां तत्र कर्तृत्वोपलम्भात्। द्वितीये बहूनां विश्वनिर्मातृत्वे तेषु मिथो वैमत्यसम्भावनाया अनिवार्यत्वादेकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया सर्वमसमञ्जसमापद्येत। सर्वेषां सामर्थ्यसाम्येनैकेनैव सकलजगदुत्पत्तिसिद्धौ इतरवैयर्थ्यं च।

अनुवाद—फिर क्या एक कर्ता को सिद्ध करते हैं या अनेक? प्रथम पक्ष मानने पर महल आदि में व्यभिचार होता है, क्योंकि महल के निर्माण में बढ़ई आदि बहुत से पुरुषों का कर्तृत्व दिखलाई पड़ता है। दूसरा पक्ष मानने पर बहुत से लोगों को विश्व का निर्माता मानने पर उनमें परस्पर वैमत्य की सम्भावना अनिवार्य होने के कारण एक-एक वस्तु के अनेक रूप होने से सब कुछ असमञ्जस हो जायेगा। साथ ही सभी का एक जैसा सामर्थ्य मानने पर एक ही व्यक्ति से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है और अन्य कर्ता बेकार हो जाते हैं।

विशेष—महल को बहुत से लोग मिलकर बनाते हैं अतः एक कर्ता मानना उचित नहीं। यदि अनेक कर्ता माने जायें तो एक ही वस्तु के अनेक रूप मानने पड़ेंगे, क्योंकि हर व्यक्ति में वैमत्य है।

तदुक्तं वीतरागस्तुतौ—

१६. कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।। (वी० स्तु० ६) इति।।

अन्यत्रापि—

१७. कर्त्ता न तावदिह कोऽपि यथेच्छया वा
दृष्टोऽन्यथा कटकृतावपि तत्प्रसङ्गः।
कार्यं किमत्रभवतापि च तक्षकाद्यै-
राहत्य च त्रिभुवनं पुरुषः करोति।। इति।।

अनुवाद—जैसा कि "वीतराग स्तुति" में कहा गया है—इस जगत् का जो कोई कर्ता है, वह एक ही है, वह सर्वव्यापक है, वह स्वतन्त्र तथा वह नित्य है। यह उन लोगों की अनुचित इच्छा (कुहेवाक) रुपी विडम्बना है, जिनके उपदेशक तुम नहीं हो। (वी०स्तु० ६)

और भी—इस संसार में कोई भी अपनी इच्छा से कर्ता नहीं है, नहीं तो चटाई बनाने में भी उसकी प्रसक्ति दिखलाई पड़ती। अन्यथा आप लोगों को तथा बढ़ई आदि को भी क्या कार्य रह जायेगा? यह पुरुष एक साथ तीनों लोकों को बनाता है।

विशेष—जैनमतानुसार अर्हत् ही जगत् का कर्ता है, वह एक, नित्य, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है। कुहेवाक शब्द सम्भवत: फारसी या अरबी के प्रभाव से संस्कृत में आया है। विल्हण ने हेवाक शब्द का प्रयोग अपने काव्य में किया है—

आसीन्नासीत्तदनु निविडाश्लेषहेवाकलीला-
वेल्लद्बाहुक्वणितवलया सन्ततं राजलक्ष्मीः।।

—विक्रमाङ्कदेवचरित (१८.१०१)

कु = अनुचित, गलत, कुत्सित
हेवाक = इच्छा, उत्कण्ठा

इस संसार में यदि स्वेच्छया ही लोग वस्तुओं का निर्माण करते तो हर व्यक्ति चटाई ही बनाने लगे। बढ़ई आदि का कार्य भी कोई भी व्यक्ति कर ले, उनकी क्या आवश्यकता है।

१३. सर्वज्ञ की सिद्धि

तस्मात्प्रागुक्तकारणत्रितयबलादावरणप्रक्षये सार्वज्ञ्यं युक्तम्। न चास्योपदेष्ट्रन्तराभावात् सम्यग्दर्शनादित्रितयानुपपत्तिरिति भणनीयम्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवत्वादमुष्य अशेषार्थज्ञानस्य। न चान्योन्याश्रयादिदोषः। आगमसर्वज्ञपरम्पराया बीजांकुरवदनादित्वाङ्गीकारादित्यलम्।

अनुवाद—इसलिये पूर्वोक्त तीनों कारणों के बल से आवरण का नाश हो जाने पर सर्वज्ञता ठीक ही है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि इस वाक्य का कोई दूसरा उपदेशक न होने से सम्यक्दर्शनादि तीनों की अनुपपत्ति है। क्योंकि समस्त ज्ञान पहले के सर्वज्ञों द्वारा बतलाये गये आगम से उत्पन्न हुआ है। इसमें अन्यान्याश्रय आदि दोष भी नहीं है। आगम तथा सर्वज्ञ की परम्परा बीज तथा अङ्कुर के समान अनादि है।

विशेष—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र ये तीनों त्रिरत्न कहे जाते हैं। इन तीनों के द्वारा जब आवरण का नाश हो जाता है, तब सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। फिर यह प्रश्न उठा कि जब त्रिरत्नों का उपदेश मिलने पर सर्वज्ञता आती है तो फिर उन त्रिरत्नों का उपदेश कौन सा सर्वज्ञ देता है। इसका समाधान यह है कि पूर्व के सर्वज्ञ द्वारा त्रिरत्न का उपदेश दिया गया है। और फिर उन त्रिरत्नों के उपदेश से सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

१४. त्रिरत्नों का वर्णन-सम्यक् दर्शन

रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचनसंग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति (त०सू० १।१)

विवृतं च योगदेवेन–'येन रूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेन रूपेण अर्हता प्रतिपादिते तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशरहितत्वाद्यपरपर्यायं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' तथा च तत्त्वार्थसूत्रं-तत्त्वार्थं (र्थे) श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति।

अनुवाद—'त्रिरत्न' नाम से समझे जाने वाले सम्यक् दर्शन आदि तीनों का
वर्णन अर्हत् प्रवचन के संग्रह से युक्त परमागमसारग्रन्थ में किया गया है—सम्यक् दर्शन,
सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र मोक्ष का मार्ग है। (त०सू० १.१)

योगदेव ने व्याख्या भी की है—जिस रूप में जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं,
उसी रूप में अर्हत् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थ में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है, इसी का दूसरा
पर्याय है—विपरीत अभिनिवेश से रहित होना। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र है—तत्त्वार्थ में श्रद्धा
रखना सम्यक् दर्शन है।

विशेष—"परमागमसार" ग्रन्थ में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का परिचय दिया
गया है। तत्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता उमास्वाति हैं। इनका काल प्रथम शताब्दी ईसवी
है। इसी ग्रन्थ में "परमागमसार" का उद्धरण दिया गया है। त्रिरत्नों से दण्डचक्रचीवरादि
न्याय से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। जिस प्रकार दण्ड आदि मिलकर घट का निर्माण करते
हैं, अलग-अलग नहीं; उसी तरह त्रिरत्न मिलकर सर्वज्ञता उत्पन्न करते हैं।

अन्यदपि—

१८. रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा।। इति।।

**परोपदेशनिरपेक्षमात्मस्वरूपं निसर्गः। व्याख्यानादिरूपपरोपदेशजनितं
ज्ञानमधिगमः।**

अनुवाद—जिन देव के कहे गये तत्त्वों में रुचि रखना ही सम्यक् श्रद्धा (सम्यक्
दर्शन) है। यह या तो स्वभाव से ही होता है या फिर गुरु के उपदेश से होता है।

परोपदेश से निरपेक्ष आत्मस्वरूप ही स्वभाव है। व्याख्यानादि परोपदेश से
उत्पन्न ज्ञान अधिगम है।

१५. सम्यक् ज्ञान और उसके पाँच रूप

**येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशय-
रहितत्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् यथोक्तम्—**

१९. यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा।
योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः।। इति।।

अनुवाद—जिस स्वभाव से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उस स्वभाव से मोह,
संशय से रहित उपदेश ही सम्यक् ज्ञान है। जैसा कि कहा गया है—

यथास्थित पदार्थों का संक्षेप या विस्तार से जो ज्ञान होता है, उसे विद्वानों ने
सम्यक् ज्ञान कहा है।

**तज्ज्ञानं पञ्चविधं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेन। तदुक्तम्—
मतिश्रुतावधिमनः पर्याय-केवलानि ज्ञानमिति। अस्यार्थः—ज्ञानावरणक्षयोपशमे
सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य व्यापृतः सन्यथार्थं मनुते सा मतिः। ज्ञानावरण-**

क्षयोपशमे सति मतिजनितं स्पष्टं ज्ञानं श्रुतम्। सम्यग्दर्शनादिगुण-जनितक्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः। ईर्ष्यान्तरायज्ञानावरण-क्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदं ज्ञानं मनःपर्यायः। तपः क्रियाविशेषान्यदर्थं तपस्विनः तज्ज्ञानमन्यज्ञानासंसृष्टं केवलम्।

अनुवाद—वह ज्ञान पाँच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय तथा केवल के भेद से। जैसा कि कहा गया है—मति, श्रुत, अगधि, मनःपर्याय तथा केवल ही सम्यक् ज्ञान है। इसका अर्थ है—ज्ञान के आवरण का नाश या उपशम हो जाने पर इन्द्रियों तथा मन को आगे कर विषय को व्यापृत करके जो विषय को यथार्थ माना जाता है, वह मति है। ज्ञान के आवरण का नाश या उपशम हो जाने पर मति से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान ही श्रुत है। सम्यक् दर्शनादि के कारण ज्ञानावरण का क्षय या उपशम होने के कारण विषयों को व्याप्त करने वाला ज्ञान अवधि है। ईर्ष्यादि विघ्नरुप ज्ञानावरण के क्षय या उपशम होने पर दूसरे के मन की बात को स्पष्टतः व्याप्त करने वाले ज्ञान को मनः पर्याय कहते हैं। तपस्वी लोग जिस ज्ञान के लिए तपस्या करते हैं, अन्य ज्ञान से अमिश्रित उस ज्ञान को केवल ज्ञान कहा जाता है।

विशेष—सम्यक् दर्शन की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान से होती है। जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। यह पाँच प्रकार का है—

१. मतिज्ञान—ज्ञान के आवरण अर्थात् प्रतिबन्धकों का नाश होने पर इन्द्रिय तथा मन की सहायता से किसी विषय का अस्पष्ट ज्ञान ही मतिज्ञान है। इस ज्ञान को ही न्याय मत में निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में केवल यही बोध होता है—किञ्चिदिदम्। किसी वस्तु को देखते साथ ही उसका अस्पष्ट ज्ञान ही मतिज्ञान है। इस ज्ञान में दृष्टि किसी विषय पर स्थिर तो रहती है लेकिन यह नहीं पता चल पाता कि वह विषय क्या है?

२. श्रुतज्ञान—मति ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह विषयों का स्पष्ट ज्ञान है। न्यायमत में इसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है।

३. अवधि—श्रुत ज्ञान में विषय का स्पष्ट ज्ञान अर्थात् उस विषय के रूप रंग का ज्ञान होता है लेकिन उस विषय का सम्पूर्ण ज्ञान ही अवधि ज्ञान है। उस वस्तु के द्रव्य, देश, काल आदि से युक्त ज्ञान ही अवधि ज्ञान है। "द्रव्यदेशकालैः परिच्छिद्यते विषयोऽनेन" अर्थात् द्रव्य देश काल से विषय का परिच्छेद अवधिज्ञान से होता है।

४. मनःपर्याय—दूसरे के मन की बात को जानना ही मनःपर्याय है। साधक लोग मनः पर्याय ज्ञान से दूसरे के मन की बात को जान लेते हैं। योगदर्शन में दूसरे के चित्त को जानने के विषय में कहा गया है—प्रत्यस्य परचित्तज्ञानम्। ३.१९ योगसूत्र

अर्थात् चित्त में संयम करने से दूसरे के चित्त का भी ज्ञान हो जाता है।

५. केवल ज्ञान—यह ज्ञान ही परम ज्ञान है। इसी ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। इस ज्ञान में अन्य किसी ज्ञान का सम्पर्क नहीं रहता है। अतः इसे केवल ज्ञान कहते हैं।

तत्राद्यं परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत्। तदुक्तम्—

२०. विज्ञानं त्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयं विनिश्चयात्।। इति।।

अन्तर्गणिकभेदस्तु सविस्तरः तत्रैवागमेऽवगन्तव्यः।

अनुवाद—इन ५ भेदों में पहला ज्ञान परोक्ष है तथा अन्य चारों प्रत्यक्ष हैं। जैसा कि कहा गया है—

बाघ (प्रतिबन्धक) से रहित तथा दूसरे को प्रकाशित करने वाला विज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञेय विषय का निश्चय करने के कारण यह दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। इनके अवान्तर भेदों का वर्णन वहीं आगम (परमागमसार) में विस्तारपूर्वक देख लेना चाहिये।

विशेष—जैन मतानुसार मति ज्ञान परोक्ष ज्ञान है तथा अन्य सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

१६. सम्यक् चरित्र और पञ्च महाव्रत

संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारण-क्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्। तदेतत्सप्रपञ्चमुक्तमर्हता—

२१. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा।।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।।

अनुवाद—सरण हेतु कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष के पाप के कारण क्रिया की निवृत्ति हो जाना सम्यक् चरित्र है। अर्हत् ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—

निन्दित कर्मों का सर्वथा त्याग ही सम्यक् चरित्र है। वह अहिंसा आदि व्रत के भेद से पांच प्रकार का है। अहिंसा आदि पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।

२२. न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्।।

२३. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।।

२४. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हिते।।

२५. दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।।

२६. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः।।

अनुवाद—असावधानी से भी जो स्थावर तथा जंगम जीवों के जीवन का नाश नहीं किया जाता, उसे अहिंसाव्रत कहा जाता है।

प्रिय, अनुकूल तथा सत्य वचन ही सूनृतव्रत कहा जाता है। वह सत्य वचन भी सत्य नहीं है, जो अप्रिय तथा अहितकारी है।

न दी हुई वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय कहा जाता है। धन मनुष्य का बाह्य प्राण है। उसको हरने से लोग मारे जाते हैं।

दिव्य तथा उदर की कामनाओं का कृत, अनुमत तथा कारित-तीनों प्रकार से मन, वाणी तथा शरीर से त्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है। यह १८ प्रकार का है।

सभी वस्तुओं की मूर्च्छा (इच्छा) का त्याग अपरिग्रह है, क्योंकि वस्तु के न होने पर भी केवल इच्छा से ही चित्त में विकार आ जाता है।

विशेष—प्रिय तथा सत्य वाणी को सूनृता कहते हैं। जो वाणी सत्य होकर भी अप्रिय है अथवा प्रिय होकर असत्य है उस वाणी का त्याग करना चाहिये। कहा गया है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न बूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एव धर्मः सनातनः ॥

ब्रह्मचर्य १८ प्रकार का है। दिव्य का तात्पर्य है-—भविष्य में प्राप्य। औदरिक का तात्पर्य है—शरीर सुख के लिए होने वाली इच्छा। जो इच्छा स्वयं की जाती है उसे कृत कहते हैं तथा जो दूसरे के द्वारा करायी जाती है उसे कारित कहते हैं। जो इच्छा दूसरे ने की है, परन्तु उसे अनुमति प्रदान की जाती है वह अनुमत इच्छा है। इस कारण ब्रह्मचर्य के भेद हैं—

१. मन से दिव्य इच्छा का त्याग— कारित
२. " - कृत
३. " - अनुमत
४. मन से औदारिक इच्छा का त्याग- कारित
५. " " - कृत
६. " " - अनुमत
७. वचन से दिव्य इच्छा का त्याग- कारित
८. " " - कृत
९. " " - अनुमत
१०. वचन से औदारिक इच्छा का त्याग-कारित
११. " " - कृत
१२. " " - अनुमत
१३. शरीर से दिव्य इच्छा का त्याग- कारित
१४. " - कृत
१५. " - अनुमत

१६. शरीर से औदरिक इच्छा का त्याग-कारित
१७. " - कृत
१८. " - अनुमत

१७. प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ

२७. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात् ।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्यं पदम् ।। इति।

भावनापञ्चकप्रपञ्चनं च निरूपितम्—

२८. हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम् ।।

इत्यादिना। एतानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मिलितानि मोक्षकारणं न प्रत्येकम्। यथा रसायनम्, तथा चात्र ज्ञानश्रद्धानाचरणानि सम्भूय फलं साधयन्ति, न प्रत्येकम्।

अनुवाद—इन पाँच भावनाओं से क्रमशः पाँच प्रकार के महाव्रत होते हैं , जो लोगों को अव्यय पद की सिद्धि कराते हैं।

पांचों भावनाओं का विवरण इस प्रकार बताया गया है—

हास्य, लोभ, भय, क्रोध को निरन्तर दूर करके विचारपूर्वक वाणी से सनृत व्रत को धारण करना चाहिये।

ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र-तीनों मिलकर मोक्ष का कारण हैं, प्रत्येक अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार रसायन। उसी तरह यहाँ भी ज्ञान, श्रद्धा तथा आचरण मिलकर फल देते हैं, अलग-अलग नहीं।

विशेष—जिस प्रकार औषधि या रसायन खाने पर तभी फल मिलता है जब उस रसायन का सम्यक् ज्ञान हो, उसके प्रति सम्यक् श्रद्धा हो तथा उसे खाया जाए। उसी तरह मोक्ष में भी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण मिलकर कारण है।

अहिंसादि पांच ही पञ्चमहाव्रत हैं। इस प्रत्येक व्रत में पांच तरह की भावना की जाती है। प्रकृत में केवल सनृताव्रत में होने वाली पांचों भावनाओं का वर्णन श्लोक में किया गया है। इसी तरह अन्य चारों व्रतों में भी पाँच-पाँच भावनाएँ होने पर ये पांचों व्रत महाव्रत की कोटि में आ जाते हैं। सूनृता व्रत की ५ भावनायें हैं—

१. हास्य का त्याग, २. लोभ का त्याग, ३. भय का त्याग, ४. क्रोध का त्याग, ५. विचारपूर्वक बोलना।

१८. जैन तत्त्व-मीमांसा-दो तत्त्व

अत्र संक्षेपतस्तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्तः। तत्र बोधात्मको जीवः। अबोधात्मस्त्वजीवः। तदुक्तं पद्मनन्दिना।

२९. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः।।
३०. हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्।। इति।।

अनुवाद—जैनमत में संक्षेप में जीव तथा अजीव नामक दो तत्त्व हैं। उसमें जीव ज्ञानरूप है तथा अजीव अज्ञानरूप है। जैसा कि पद्मनन्दी ने कहा है—

चित् और अचित्—ये दो परमतत्त्व हैं। उन दोनों को अलग-अलग करना ही विवेक है। कर्ता के उपादेयों को ग्रहण करना चाहिये तथा हेय का त्याग करना चाहिये।

कर्ता के रागादि दोष ही हेय हैं और उनका कार्य अविवेक है। परम ज्योति ही उपादेय है जिसका एकमात्र लक्षण है उपयोग।

विशेष—कर्ता का अर्थ है साधक। साधक को चाहिये कि वह परमज्योति अर्थात् (परम चित् या जीव तत्त्व) को ग्रहण करे तथा अजीव तत्त्व अर्थात् अचित् रागादि का त्याग कर दे। रागादि से ही अविवेक उत्पन्न होता है। परमज्योति या चित् तत्त्व का एकमात्र लक्षण है उपयोग। उपयोग का अर्थ आगे बताया गया है।

सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीव-साधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायौपश-मिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीव-स्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः—'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिमाणिकौ च' (त०सू० २।१) इति।

अनुवाद—स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणाम को स्वीकार करनेवाले ज्ञान और दर्शन को ही उपयोग कहा जाता है। वह उपयोग पारस्परिक प्रदेशों के बन्धन के कारण कर्म के साथ एकीभूत आत्मा के अन्योन्यत्व को (अर्थात् कर्म तथा आत्मा के अलग-अलग रूप को) जानने का कारण बनता है। सभी जीवों में सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य ही क्रमशः कर्म के उपशम तथा क्षय के कारण या क्रमशः क्षय तथा उपशम के कारण औपशमिक क्षयात्मक तथा क्षायौपशमिक भाव के द्वारा कर्म के उदय के कारण कालुष्य से भिन्नरूप धारग करके परिणत जीव की अवस्थाओं की विवक्षा होने पर जीवस्वरूप ही बनता है। जैसा कि वाचकाचार्य ने कहा है—''जीव के औपशमिक और क्षयिक भाव, मिश्रभाव तथा औदयिक और पारिणामिक भाव उसके अपने रूप हैं।''

विशेष—परमज्योति या चित् तत्त्व का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन)। जीवात्मा का प्रत्यक्ष और साकार परिणाम होने पर ज्ञान का उदय

होता है तथा जीवात्मा का परोक्ष और निराकार परिणाम होने पर दर्शन (श्रद्धा) का उदय होता है।

आत्मा एवं कर्म भिन्न-भिन्न हैं—यह ज्ञान उपयोग से ही होता है। जीव के जो अवयव हैं, उन्हें ही प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश के साथ कभी-कभी कर्म का बन्धन होता है तो कभी कर्म प्रदेश से शिथिल रहता है। कर्म तथा जीव के प्रदेशों का मिश्रण ही बन्ध कहलाता है। आत्मा की मुक्ति तब तक नहीं होती, जब तक वह कर्म के बन्ध से मुक्त न हो जाए। कर्म के बन्ध से आत्मा की मुक्ति का उपाय है उपयोग।

चैतन्य सभी जीवों में सामान्यरूप से रहता है। कभी कर्म का उपशम होता है तो कभी क्षय होता है। उपशम के बाद क्षय होने पर औपशमिक क्षयात्मक अवस्था रहती है तथा क्षय के बाद उपशम होने पर क्षायौपशमिक अवस्था रहती है।

वाचकाचार्य ने तो किसी भाव की पांच अवस्थाएँ बतायी हैं—

१. उपशम—उपशम का अर्थ है दब जाना। जैसे कि फिटकिरी छोड़ने पर पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती है। यह उपशम भाव है। उसी तरह जब आत्मा में कर्त्ता किसी कारणवश दबा रहता है, तो वह जीव की उपशम-अवस्था है।

२. क्षय—किसी पदार्थ का आत्यन्तिक अभाव क्षय है। जब जल से गन्दगी का पूरी तरह से विनाश हो जाता है उसे ही क्षयावस्था कहा जाता है।

३. क्षयोपशम (मिश्रण) क्षय तथा उपशम का मिश्रण तीसरी अवस्था है। जैसे कुएँ के जल में कहीं गन्दगी रहती हैं तो कहीं पर नहीं रहती।

४. उदय—जब कर्मफल की प्राप्ति शुरु होती है, उसे उदयावस्था कहा जाता है। जैसे जल में कीचड़ का उत्पन्न होना।

५. परिणाम—चेतनता आदि का जो सहज भाव है वही पारिणामिक भाव है।

इन पांचों अवस्थाओं का वर्णन आगे किया गया है—

अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्यात्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकातिद्रव्यसम्बन्यादधः पतिते जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मलतापादकः क्षायिको भावः) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलास्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः।।

२९. चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम्।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः।।
३०. हेयं हि कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिता।
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम्।। इति।।

अनुवाद—जैनमत में संक्षेप में जीव तथा अजीव नामक दो तत्त्व हैं। उसमें जीव ज्ञानरूप है तथा अजीव अज्ञानरूप है। जैसा कि पद्मनन्दी ने कहा है—

चित् और अचित्—ये दो परमतत्त्व हैं। उन दोनों को अलग-अलग करना ही विवेक है। कर्ता के उपादेयों को ग्रहण करना चाहिये तथा हेय का त्याग करना चाहिये।

कर्ता के रागादि दोष ही हेय हैं और उनका कार्य अविवेक है। परम ज्योति ही उपादेय है जिसका एकमात्र लक्षण है उपयोग।

विशेष—कर्ता का अर्थ है साधक। साधक को चाहिये कि वह परमज्योति अर्थात् (परम चित् या जीव तत्त्व) को ग्रहण करे तथा अजीव तत्त्व अर्थात् अचित् रागादि का त्याग कर दे। रागादि से ही अविवेक उत्पन्न होता है। परमज्योति या चित् तत्त्व का एकमात्र लक्षण है उपयोग। उपयोग का अर्थ आगे बताया गया है।

सहजचिद्रूपपरिणतिं स्वीकुर्वाणे ज्ञानदर्शने उपयोगः। स परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात्कर्मणैकीभूतस्यात्मनोऽन्योन्यत्वप्रतिपत्तिकारणं भवति। सकलजीव-साधारणं चैतन्यम् उपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षयात्मक-क्षायौपश-मिकभावेन कर्मोदयवशात्कलुषान्याकारेण च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीव-स्वरूपं भवति। यदवोचद्वाचकाचार्यः—'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिमाणिकौ च' (त०सू० २।१) इति।

अनुवाद—स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणाम को स्वीकार करनेवाले ज्ञान और दर्शन को ही उपयोग कहा जाता है। वह उपयोग पारस्परिक प्रदेशों के बन्धन के कारण कर्म के साथ एकीभूत आत्मा के अन्योन्यत्व को (अर्थात् कर्म तथा आत्मा के अलग-अलग रूप को) जानने का कारण बनता है। सभी जीवों में सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य ही क्रमशः कर्म के उपशम तथा क्षय के कारण या क्रमशः क्षय तथा उपशम के कारण औपशमिक क्षयात्मक तथा क्षायौपशमिक भाव के द्वारा कर्म के उदय के कारण कालुष्य से भिन्नरूप धारण करके परिणत जीव की अवस्थाओं की विवक्षा होने पर जीवस्वरूप ही बनता है। जैसा कि वाचकाचार्य ने कहा है—''जीव के औपशमिक और क्षयिक भाव, मिश्रभाव तथा औदयिक और पारिणामिक भाव उसके अपने रूप हैं।''

विशेष—परमज्योति या चित् तत्त्व का लक्षण उपयोग है। उपयोग का अर्थ है ज्ञान और श्रद्धा (दर्शन)। जीवात्मा का प्रत्यक्ष और साकार परिणाम होने पर ज्ञान का उदय

होता है तथा जीवात्मा का परोक्ष और निराकार परिणाम होने पर दर्शन (श्रद्धा) का उदय होता है।

आत्मा एवं कर्म भिन्न-भिन्न हैं—यह ज्ञान उपयोग से ही होता है। जीव के जो अवयव हैं, उन्हें ही प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश के साथ कभी-कभी कर्म का बन्धन होता है तो कभी कर्म प्रदेश से शिथिल रहता है। कर्म तथा जीव के प्रदेशों का मिश्रण ही बन्ध कहलाता है। आत्मा की मुक्ति तब तक नहीं होती, जब तक वह कर्म के बन्ध से मुक्त न हो जाए। कर्म के बन्ध से आत्मा की मुक्ति का उपाय है उपयोग।

चैतन्य सभी जीवों में सामान्यरूप से रहता है। कभी कर्म का उपशम होता है तो कभी क्षय होता है। उपशम के बाद क्षय होने पर औपशमिक क्षयात्मक अवस्था रहती है तथा क्षय के बाद उपशम होने पर क्षायौपशमिक अवस्था रहती है।

वाचकाचार्य ने तो किसी भाव की पांच अवस्थाएँ बतायी हैं—

१. उपशम—उपशम का अर्थ है दब जाना। जैसे कि फिटकिरी छोड़ने पर पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती है। यह उपशम भाव है। उसी तरह जब आत्मा में कर्त्ता किसी कारणवश दबा रहता है, तो वह जीव की उपशम-अवस्था है।

२. क्षय—किसी पदार्थ का आत्यन्तिक अभाव क्षय है। जब जल से गन्दगी का पूरी तरह से विनाश हो जाता है उसे ही क्षयावस्था कहा जाता है।

३. क्षयोपशम (मिश्रण) क्षय तथा उपशम का मिश्रण तीसरी अवस्था है। जैसे कुएँ के जल में कहीं गन्दगी रहती हैं तो कहीं पर नहीं रहती।

४. उदय—जब कर्मफल की प्राप्ति शुरु होती है, उसे उदयावस्था कहा जाता है। जैसे जल में कीचड़ का उत्पन्न होना।

५. परिणाम—चेतनता आदि का जो सहज भाव है वही पारिणामिक भाव है।

इन पांचों अवस्थाओं का वर्णन आगे किया गया है—

अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्यात्पद्यमानो भाव औपशमिकः। यथा पङ्के कलुषतां कुर्वति कतकातिद्रव्यसम्बन्धादधः पतिते जलस्य स्वच्छता। (आर्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् रागादिपङ्कक्षालनेन निर्मल-तापादकः क्षायिको भावः) कर्मणः क्षये सति जायमानो भावः क्षायिकः। यथा पङ्कात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिभाजनान्तर्गतस्य जलस्य स्वच्छता। यथा मोक्षः।

उभयात्मा भावो मिश्रः। यथा जलास्यार्धस्वच्छता। कर्मोदये सति भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारि-णामिकः। तदेतद्यथासम्भवं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमिति सूत्रार्थः।।

अनुवाद—कर्म का अनुदय रूप उपशम होने पर जीव (आत्मा) की उत्पन्न होने वाली अवस्था औपशमिक है। जिस प्रकार कतकादि (फिटकिरी वगैरह) द्रव्यों के सम्बन्ध से गन्दा करने वाले कीचड़ के नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता आती है। (जैनों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व का अनुसन्धान करने पर रागादि=आसक्ति आदि कीचड़ को धो देने पर निर्मलता उत्पन्न करने वाला भाव क्षायिक है।) कर्म का क्षय होने पर उत्पन्न भाव क्षायिक है। जिस प्रकार कीचड़ से अलग हुए निर्मल स्फटिक आदि के पात्र के अन्दर जल की स्वच्छता रहती है, जैसे कि मोक्ष।

दोनों का मिश्रण ही मिश्र भाव है। जैसे-जल की आधी स्वच्छता। कर्म का उदय होने पर होने वाला भाव औदयिक है। कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा न रहने वाला चैतन्य का सहज भाव् पारिणामिक है। यही भाव यथा सम्भव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप है—यही सूत्र का अर्थ है।

विशेष—जीव भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के होते हैं। जो जीव मोक्षप्राप्ति के इच्छुक हैं, वे भव्य जीव हैं तथा जो जीव मोक्षप्राप्ति के इच्छुक नहीं हैं, वे अभव्य जीव हैं।

तदुक्तं स्वरूपसम्बोधने-

३१. ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्न: कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।। इति।

ननु भेदाभेदयोः परस्परपरिहारेण अवस्थानादन्यतरस्यैव वास्तवत्वादुभयात्मकत्वमयुक्तमिति चेत्—तदयुक्तम्। बाधे प्रमाणाभावात्। अनुपलम्भो हि बाधकं प्रमाणम्। न सोऽस्ति। समस्तेषु वस्तुष्वनेकान्तात्मकत्वस्य स्याद्वादिनो मते सुप्रसिद्धत्वादित्यलम्।

अनुवाद—स्वरूपसम्बोधन नामक ग्रन्थ में कहा गया है—जो ज्ञान से भिन्न नहीं है, न ही ज्ञान से अभिन्न है। वह किसी तरह से भिन्न तथा अभिन्न दोनों है। उसके पहले और बाद में ज्ञान है। वही आत्मा कहा गया है।

यदि कोई कहे कि भेद तथा अभेद एक-दूसरे का परिहार करके स्थित हैं, इसलिये उन दोनों में से एक ही वास्तविक है, दोनों का वास्तविक होना ठीक नहीं है। तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस बात के बाध में कोई प्रमाण नहीं है। किसी वस्तु का प्राप्त न होना बाधक प्रमाण है। यहाँ अप्राप्ति नहीं है। स्याद्वादी जैन के मत में सभी वस्तुओं में अनेकान्तात्मकता सुप्रसिद्ध है—इतना ही कहना पर्याप्त हो गया।

विशेष—भेद तथा अभेद परस्पर के विरोधी है। इसलिये आत्मा में या तो ज्ञान का भेद रह सकता है या ज्ञान का अभेद। इस प्रकार की शंका की जा सकती है। लेकिन इस शंका का समाधान है कि जैनमत में अनेकान्तवाद माना गया है। अनेकान्तवाद के अनुसार किसी भी वस्तु में दो विरुद्धधर्म रह सकते हैं। अत: अनेकान्तबाद मानने पर यह पूर्वोक्त शंका नहीं उठ सकती है।

१९. दूसरा मत–पाँच तत्त्व

अपरे पुनर्जीवाजीवयोरपरं प्रपञ्चमाचक्षते जीवाकाशधर्माधर्मपुद्गलास्तिकायभेदात्। एतेषु पञ्चसु तत्त्वेषु कालत्रयसम्बन्धितया अस्तीति स्थितिव्यपदेशः। अनेकप्रदेशत्वेन शरीरवत्कायव्यपदेशः।

अनुवाद—अन्य दार्शनिक जीव तथा अजीव का दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं। जिसके अनुसार पांच प्रकार के अस्तिकाय हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म तथा पुद्‌गल। इस पांच तत्वों में तीन काल का सम्वन्ध होने से 'अस्ति' के द्वारा स्थिति का बोध होता है। अनेक प्रदेशों में रहने के कारण शरीर के समान 'काय' यह नाम है।

विशेष—जैन मत में द्रव्य के दो भेद हैं—अस्तिकाय और अनस्तिकाय (काल)। अस्तिकाय के दो भेद हैं—जीव तथा अजीव। अजीव के चार भेद हैं—आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्‌गल। इस प्रकार कुल मिलाकर अस्तिकाय के ५ भेद होते हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्‌गल। 'अस्तिकाय' में दो शब्द हैं—अस्ति तथा काय। अस्ति का अर्थ है—स्थिति तथा काय का अर्थ है—शरीर के समान व्यापक।

तत्र जीवा द्विविधाः, संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः—समनस्काः अमनस्काश्च। तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियाऽऽलापग्रहणरूपा संज्ञा। तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र द्वीन्द्रियादयः शङ्खगण्डोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

अनुवाद—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी तथा मुक्त। एक जन्म से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले संसारी हैं। वे दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। एक जन्म से दूसरे जन्म की प्राप्ति करने वाले संसारी हैं। वे भी दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क। उनमें संज्ञा से युक्त जीव समनस्क हैं। शिक्षा, क्रिया तथा बातचीत को ग्रहण करना ही संज्ञा है। संज्ञा से रहित जीव अमनस्क है। अमनस्क भी दो प्रकार के हैं—त्रस तथा स्थावर। उसमें दो इन्द्रियवाले शङ्ख, गण्डोलक आदि चार प्रकार के त्रस हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति स्थावर हैं।

विशेष—जिनमें संज्ञा होती है उनको 'समनस्क' कहा जाता है। संज्ञा का अर्थ केवल नाम नहीं है, बल्कि जैनमतानुसार संज्ञा का तात्पर्य है, जिसमें शिक्षा, क्रिया तथा बातचीत का ग्रहण होता है, उन्हें संज्ञावान् या समनस्क कहा जाता है। जिसमें यह सब नहीं होता, वे अमनस्क हैं।

जो जीव उद्देश्यपूर्वक एकस्थान से दूसरे स्थान में जाने की शक्ति रखते हैं उन्हें त्रस कहा जाता है। जो जीव ऐसी शक्ति नहीं रखते, उन्हें स्थावर कहते हैं। सामान्यतया त्रस का तात्पर्य जंगम है। साथ ही जैन मतानुसार उत्कृष्ट कर्म करने पर 'त्रस का जन्म मिलता है, लेकिन अशुभकर्म करने पर स्थावर का जन्म मिलता है। जैनमतानुसार पृथ्वी,

जल, तेज, वायु तथा पेड़-पौधे भी जीव हैं, लेकिन ये स्थावरकोटि में आते हैं। त्रस जीवों के चार प्रकार हैं–

१. **द्वीन्द्रिय**–केवल स्पर्शेन्द्रिय, और रसनेन्द्रिय वाले जीव द्वीन्द्रिय हैं। जैसे-शंख, सीपी, गण्डोलक आदि।

२. **त्रीन्द्रिय**–केवल स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, तथा घ्राणेन्द्रिय वाले जीव त्रीन्द्रिय हैं। जैसे-चींटी, जोंक आदि।

३. **चतुरिन्द्रिय**–स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय वाले जीव चतुरिन्द्रिय हैं। जैसे-मच्छर, भ्रमर आदि।

४. **पञ्चेन्द्रिय**–पाँचों ज्ञानेन्द्रिय चक्षु, रसन, घ्राण, श्रवण तथा स्पर्श वाले जीव पञ्चेन्द्रिय हैं। जैसे–मनुष्य आदि।

तत्र मार्गगतधूलिः पृथिवी। इष्टकादिः पृथिवीकायः। पृथिवी कायत्वेन येन गृहीता सः पृथिवीकायिकः। पृथिवीं कायत्वेन यो ग्रहीष्यति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि भेदचतुष्टयं योज्यम्। तत्र पृथिव्यादि कायत्वेन गृहीतवन्तो ग्रहीष्यन्तश्च स्थावरा गृह्यन्ते न पृथिव्यादिपृथिवीकायादयः। तेषामजीवत्वात्। ते च स्थावराः स्पर्शनैकेन्द्रियाः। भवान्तरप्राप्तिविधुरा मुक्ताः।

अनुवाद—उसमें मार्ग की धूलि को पृथ्वी कहते हैं। ईंट आदि पृथ्वी काय (शरीर) हैं। पृथ्वी को काय के रूप में जिसने ग्रहण किया है, वह पृथिवीकायिक है। पृथ्वी को काय के रूप में जो ग्रहण करेगा, वह पृथ्वीजीव है। इसी तरह जल आदि चारों में भी चार-चार भेद लगाने चाहिये। पृथ्वी आदि को काय के रूप में ग्रहण कर रहे या जो ग्रहण करेंगे, वे ही जीव ही स्थावर के रूप में लिये जाते हैं, पृथ्वी आदि या पृथ्वी काय आदि को स्थावर नहीं कहा जाता। क्योंकि वे अजीव हैं। स्थावर जीवों में एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। जिन्हें दूसरे जन्म की प्राप्ति नहीं होती, उन्हें मुक्त कहा जाता है।

विशेष—स्थावर जीव पाँच तरह के होते हैं–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति। पृथ्वी के चार भेद हैं–पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव। इसी जल, तेज, वायु तथा वनस्पति के भी चार-चार भेद हैं–

जल–जल, जलकाय, जल कायिक, जलजीव

तेज–तेज, तेजकाय, तेजकायिक, तेजजीव

वायु–वायु, वायुकाय, वायुकायिक, वायुजीव

वनस्पति–वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक, वनस्पतिजीव

पृथ्वी आदि के इन चार-चार भेदों में पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव, जलकायिक, जलजीव, तेजकायिक, तेजजीव, वायुकायिक, वायुजीव, वनस्पतिकायिक तथा वनस्पतिजीव को स्थावर कहा जाता है। अन्य भेदों को स्थावर नहीं कहा जाता है।

धर्माधर्माकाशास्तिकायाः ते एकत्वशालिनो निष्क्रियाश्च द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतवः। तत्र धर्माधर्मौ प्रसिद्धौ। आलोकेनावच्छिन्ने नभसि लोकाकाशपदवेदनीये तयोः सर्वत्रावस्थितिः। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। अत एव धर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः। अन्यवस्तुप्रदेशमध्येऽन्यस्य वस्तुनः प्रवेशोऽवगाहः। तदाकाशकृत्यम्।

अनुवाद—धर्म, अधर्म और आकाश का अस्तिकाय एक तथा निष्क्रिय है और द्रव्य को अन्य देश में प्राप्ति का कारण है। उसमें धर्म और अधर्म तो प्रसिद्ध हैं। प्रकाश से घिरे आकाश में, जिसे "लोकाकाश" पद से कहा जाता है, वहाँ धर्म, अधर्म की सदा स्थिति है। गति और स्थिति के ग्रहण से धर्म और अधर्म का उपकार होता है। अतः धर्मास्तिकाय का अनुमान प्रवृत्ति (गति) को देखकर होता है। अधर्मास्तिकाय का अनुमान स्थिति को देखकर होता है। अन्य वस्तु के प्रदेश के मध्य में अन्य वस्तु का प्रवेश 'अवगाह' कहलाता है। यही आकाश का कार्य है।

विशेष—धर्म, अधर्म और आकाश के कारण द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता हैं। धर्म और अधर्म की स्थिति आकाश में ही होती है। धर्म का कार्य है प्रवृत्ति या गति। और अधर्म का कार्य स्थिति है। अतः प्रवृत्ति से धर्म का अनुमान होता है और स्थिति से अधर्म का अनुमान होता है।

आकाश दो प्रकार का है–लोकाकाश और आलोकाकाश। इनमें से लोकाकाश में ही धर्म और अधर्म रहते हैं।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (त०सू०५।२४)। ते च द्विविधाः– अणवः स्कन्धाश्च। भोक्तुमशक्या अणवः। द्व्यणुकादयः स्कन्धाः। तत्र द्व्यणुकादिस्कन्धभेदात् अण्वादिरुत्पद्यते। अण्वादिसङ्घाताद् द्व्यणुकादिरुत्पद्यते। क्वचिद् भेदसङ्घाताभ्यां स्कन्धोत्पत्तिः (त०सू०५।२६)। अत एव पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः।

अनुवाद—पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त होते हैं। वे दो प्रकार के हैं—अुण और स्कन्ध। जिनका उपभोग नहीं किया जा सकता, वे अणु कहे जाते हैं। द्व्यणुक आदि स्कन्ध हैं। द्व्यणुक आदि स्कन्धों का भेद करने पर अणु आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के संघात से द्व्यणुक आदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के संघात से द्व्यणुक आदि उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी भेद एवं संघात से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है (त० सू० ५/२६) अतः जो पूर्ण करे (संघाटित हो) या विगलित हो (भेद करे) उसे पुद्गल कहा जाता है।

विशेष—अणु के संघात से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्ध के भेद से अणु बनते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि संघात या भेद दोनों करने पर स्कन्ध की ही उत्पत्ति होती है।

जैनमतानुसार स्पर्श के ८ भेद हैं—कठोर, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष। रस के ५ भेद हैं—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। गन्ध के दो भेद हैं—सुरभि, असुरभि। वर्ण के ५ भेद हैं—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल।

२०. काल भी एक द्रव्य है

कालस्यानेकप्रदेशत्वाभावेन अस्तिकायत्वाभावेऽपि द्रव्यत्वमस्ति। तल्लक्षणयोगात्। तदुक्तं–गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (त०सू०५।३८) इति। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः (त०सू०५।३९)। यथा जीवस्य ज्ञानत्वादिधर्मरूपाः, पुद्गलस्य रूपत्वादिसामान्यस्वभावाः। धर्माधर्माकाशकालानां यथासम्भवं गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वादिसामान्यानि गुणाः।

तस्य द्रव्यस्योक्तरूपेण भवनं पर्यायः। उत्पादस्तद्भावः परिणामः पर्याय इति पर्यायाः। यथा जीवस्य घटादिज्ञानसुखक्लेशादयः। पुद्गलस्य मृत्पिण्डघटादयः। धर्मादीनां गत्यादिविशेषाः। अत एव षड् द्रव्याणीति प्रसिद्धिः।

अनुवाद—काल के अनेक प्रदेशों में स्थित न रहने पर भी आस्तिकाय न होने पर भी उसमें द्रव्यत्व है। क्योंकि उसमें द्रव्यत्व का लक्षण है। जैसा कि कहा गया है- गुण तथा पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। (त० सू० ५/३८) द्रव्य में रहने वाला तथा स्वयं गुण से रहित गुण होता है। पुद्गल के रूपत्व आदि सामान्य स्वभाव हैं। धर्म, अमर्ध, आकाश और काल के यथा सम्भव गति, स्थिति, अवगाह, किसी विशेष अवस्था में रहने का कारण (वर्तनाहेतुत्व) आदि सामान्य गुण है।

द्रव्य का उपर्युक्त रूप से रहना ही पर्याय है। उत्पाद, तद्भाव, परिणाम और पर्याय–ये द्रव्य के पर्याय हैं। जैसे-जीव का पर्याय घट आदि का ज्ञान, सुख, क्लेश आदि है। पुद्गल का पर्याय मृत्पिण्ड, घर आदि हैं। धर्मादि के पर्याय गति आदि विशेष हैं। अतः द्रव्य ६ हैं यह प्रसिद्धि है।

विशेष—जैनमतानुसार द्रव्य के दो भेद हैं–अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय। जिसमें अस्तिकाय के ५ प्रकार हैं–जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल। अनस्तिकाय का एक ही रूप है, वह है काल। जीव का गुण ज्ञान है, पुद्गल का गुण रूपत्व है। आकाश का गुण अवगाह है। इसका स्वरूप पिछले परिच्छेद में बतलाया गया है (काल का गुण है- वर्तनाहेतुत्व) अर्थात् किसी वस्तु का किसी विशेष अवस्था में रहने का जो कारण है, वह काल है।

गुण तथा पर्याय जिसमें हो, वह द्रव्य है। पर्याय के भी चार रूप है–उत्पत्ति, तद्भाव (उस वस्तु की सत्ता) परिणाम और पर्याय।

न्याय दर्शन में पर्याय को ही कर्म कहा गया है। गुण भी दो तरह के हैं सामान्य गुण तथा विशेष गुण। विशेष गुण को ही धर्म भी कहते हैं। जिसके कारण एक द्रव्य दूसरे

द्रव्य से भिन्न है, वह धर्म है। इस तरह कुल द्रव्य ६ माने गये हैं-जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

२१. तीसरा मत-सात तत्त्व

केचन सप्त तत्त्वानीति वर्णयन्ति। तदाह-जीवाजीवास्रवबन्ध-सम्वरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वानि (त०सू०१।४) इति। तत्र जीवाजीवौ निरूपितौ। आस्रवो निरूप्यते-औदारिकादिकायादिचलनद्वारेण आत्मनश्चलनं योगपदवेद-नीयमास्रवः। यथा सलिलावगाहि द्वारं जलाद्यास्रवणकारणत्वादास्रव इति निगद्यते, तथा योगप्रणाडिकया कर्मास्रवतीति स योग आस्रवः।

अनुवाद—कुछ लोग ऐसा वर्णन करते हैं कि सात तत्त्व हैं। जैसा कि कहा गया है-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, मोक्ष-सात तत्त्व हैं। उसमें जीव और अजीव का निरूपण किया गया है। आस्रव का निरूपण किया जा रहा है। औदारिक आदि काय आदि कर्मो के चलने से आत्मा चलता होता है, यही आस्रव है, इसे ही योग पद से कहा जाता है। जिस प्रकार जल में डूबा हुआ छिद्र जल आदि के बहने का कारण बनने से आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार योग के माध्यम से कर्म भी बह जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है वही योग आस्रव है।

विशेष—आत्मा के चलने का तात्पर्य है-कर्मों का आत्मा से संपर्क। काय के चलने का अर्थ है कायिक कर्म का चलना। काय का अर्थ है-शरीर। काय आदि का तात्पर्य है-काय, मन तथा वचन। कायिक, मानसिक और वाचिक कर्मों का आत्मा से संपर्क ही आस्रव है। काय के पाँच प्रकार हैं-औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कर्मण।

१. **औदारिक**-'उदार' का अर्थ है-स्थूल शरीर तथा औदारिक का अर्थ है स्थूल शरीर से होने वाले कर्म।

२. **वैक्रियिक**-विक्रिया का अर्थ है लघु अर्थात् वैक्रियिक का तात्पर्य है अदृश्यमान शरीर से साध्य कर्म।

३. **आहारक**-वैक्रियिक से भी सूक्ष्म आहारक है।

४. **तैजस**-यह आहारक से भी सूक्ष्म है।

५. **कार्मण**-सबसे सूक्ष्म कार्मण है।

आस्रव के भी दो भेद हैं-शुभ, अशुभ। शुभ कर्मो का योग शुभ आस्रव है तथा अशुभ कर्मों का योग अशुभ आस्रव हैं।

यथार्द्रं वस्त्रं समन्ताद्वातानीतं रेणुजातमुपादत्ते, तथा कषायजलार्द्र आत्मा योगानीतं कर्म सर्वप्रदेशैर्गृह्णाति। यथा वा निष्टप्तायः पिण्डो जले क्षिप्तोऽम्भः समन्ताद् गृह्णाति, तथा कषायोष्णो जीवो योगानीतं कर्म समन्तादादत्ते। कषति=हिनस्ति आत्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः, क्रोधो मानो माया लोभश्च।

अनुवाद—जिस प्रकार गीला कपड़ा चारों तरफ से हवा के द्वारा लाये गये धूल के समूह को ग्रहण करता है, उसी तरह कणाय रूपी जल से भींगा हुआ आत्मा योग के द्वारा लाये गये कर्म को सब स्थानों से ग्रहण करता है अथवा जिस प्रकार अत्यधिक तपा हुआ लोहे का गोला जल में फेंका जाने पर चारों ओर से जल को ग्रहण करता है, उसी तरह कषाय से तप्त आत्मा भी योग के द्वारा लाये गये कर्म को चारों ओर से ग्रहण करता है। जो कषण करे=मारे अर्थात् आत्मा को दुर्गति प्राप्त कराकर उसका हनन करे, वह कषाय है। क्रोध, अहंकार, माया और लोभ कषाय हैं।

विशेष—योग के तीन भेद हैं–काययोग (शरीर के विचलित होने से आत्मा का चंचल होना), मनोयोग (मन के विचलित होने से आत्मा का चंचल होना), वचनयोग (वचन के विचलित होने से आत्मा का चंचल होना)। इन तीनों के शुभ, अशुभ दो प्रकार हैं।

सः द्विविधः शुभाशुभभेदात्। अत्राहिंसादिः शुभः काययोगः। सत्यं मितहितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुनामधेयपञ्च-परमेष्ठिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः। एतद्विपरीतस्त्वशुभः त्रिविधो योगः।

तदेतदास्रवभेदप्रभेदजातं, 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य' (त०सू० ६।१-४) इत्यादिना सूत्रसन्दर्भेण ससंरम्भमभाणि।

अपरे त्वेवं मेनिरे-आस्रवयति पुरुषं विषयेष्विन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिः विषयान्स्पृशद् रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति।

अनुवाद—वह योग दो प्रकार है–शुभ और अशुभ। उसमें अहिंसा आदि शुभ काय योग है। सत्य, सीमित और हित भाषण आदि शुभ वाग्योग है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु नामक पाँच परमेष्ठियों में भक्ति, तपस्या में रुचि, ज्ञान, विनम्रता आदि शुभ मनोयोग है। इसके विपरीत अशुभयोग भी तीन प्रकार का है।

इस आस्रव को भेद और प्रभेद के साथ वर्णन इस सूत्र में प्रयत्नपूर्वक किया गया है–"काय, वाणी और मन के कर्म का योग है। वही आस्रव है। पुण्य का शुभ (आस्रव) है। पाप का अशुभ (आस्रव) है।" (त० सू० ६, १-४)

दूसरे लोग ऐसा मानते हैं–जो इन्द्रिय प्रवृत्ति पुरुष को विषयों की ओर बहा ले जाती हैं, वह आस्रव है। इन्द्रिय के द्वारा ही पुरुषों की ज्योति विषयों का स्पर्श करते हुए रूपादि ज्ञान के रूप से परिणत हो जाती है।

२२. *बन्ध का निरूपण*

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायवशाद्योगवशाच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगा-हिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मबन्धयोग्यानामादानमुपश्लेषणं यत्करोति स

बन्धः। तदुक्तं-सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः (त०सू०८।२) इति।

अनुवाद—मिथ्या दर्शन, आसक्ति, प्रमाद तथा कषाय के कारण और योग के कारण आत्मा सूक्ष्म स्थानों में प्रवेश करने वाले तथा अनन्त प्रदेशों वाले, कर्म बन्धन के योग्य पुद्गलों का जो आदान अर्थात् आलिंगन करता है वही बन्धन है। जैसा कि कहा गया है—कषाय के साथ रहने के कारण जीव कर्मबन्धन के योग्य पुद्गलों का आदान करता है, वही बन्ध है। (त०सू० ८.२)

विशेष—कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ संयोग ही बन्धन है तथा पुद्गलों का आत्मा से वियोग ही मोक्ष है। बन्धन का कारण कषाय है।

२३. *बन्धन के कारण*

तत्र कषायग्रहणं सर्वबन्धनहेतूपलक्षणार्थम्। बन्धहेतून्पपाठ वाचकाचार्यः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः (त०सू० ८।१) इति।

अनुवाद—यहाँ 'कषाय' का ग्रहण सभी बन्धन हेतुओं के उपलक्षण के लिए है। वाचकाचार्य ने बन्धन हेतुओं को पढ़ा है—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बन्धन के कारण हैं।

मिथ्यादर्शनं द्विविधं-मिथ्याकर्मोदयात्परोपदेशानपेक्षं तत्त्वाश्रद्धानं नैसर्गिकमेकम्। अपरं परोपदेशजम्। पृथिव्यादिषट्कोपादानं षडिन्द्रियासंयमनं चाविरतिः। पञ्चसमितित्रिगुप्तिष्वनुत्साहः प्रमादः। कषायः क्रोधादिः। तत्र कषायान्ताः स्थित्यनुभवबन्धहेतवः प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुर्योग इति विभागः।

अनुवाद—मिथ्या दर्शन दो प्रकार का है। मिथ्या कर्म का उदय होने से परोपदेश के बिना ही स्वाभाविक रूप में तत्त्व के प्रति श्रद्धा न रखना पहले प्रकार का मिथ्यादर्शन है। दूसरा परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन है। पृथ्वी आदि ६ पदार्थों का उपादान तथा ६ इन्द्रियों का संयमन न करना अविरति (आसक्ति) है। पांच समितियों और तीन गुप्तियों में उत्साह रखना ही प्रमाद है। क्रोध आदि कषाय हैं। (वाचकाचार्य द्वारा कहे गये ५ बन्धनकारणों में) कणाय तक चार कारण स्थिति और अनुभव के बन्धन के हेतु हैं तथा योग प्रकृति और प्रदेश के बन्धन का हेतु है—यही दोनों में भेद है।

विशेष—पृथ्वी आदि ६ पदार्थों के उपादान का तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, स्थावर तथा जंगम इन ६ पुद्गल अस्तिकायों के साथ जीव का सम्पर्क। ६ इन्द्रियों का तात्पर्य है—पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान और उत्सर्ग—ये पांच समितियाँ हैं तथा कामगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं।

स्थिति बन्ध, अनुभवबन्ध, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का वर्णन आगे किया जायेगा।

२४. बन्धन के भेद

बन्धश्चतुर्विध इत्युक्तं, प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशस्तद्विधयः (त० सू० ८।३) इति। यथा निम्बगुडादेस्तिक्तत्वमधुरत्वादिस्वभाव एवमावरणीयस्य ज्ञानदर्शनावरणत्वम् आदित्यप्रभाच्छादकाम्भोधरवत्प्रदीपप्रभातिरोधायक-कुम्भ-वच्च। सदसद्वेदनीयस्य सुखदुःखोत्पादकत्वमसिधारामधुलेहनवत्।

अनुवाद—बन्ध चार प्रकार का कहा गया है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभवबन्ध और प्रदेश बन्ध—ये उसके प्रकार है। (त०सू० ८.३) जिस प्रकार नीम, गुड़ आदि का तीतापन या मीठापन उनका स्वभाव है, उसी तरह ज्ञान और दर्शन को आवरण करना आवरणीय कर्म का स्वभाव है, जिस प्रकार कि मेघ सूर्य की प्रभा को ढकता है या कुम्भ दीपक की प्रभा को ढकता है। सत् और असत् के रूप में ज्ञेय पदार्थ क्रमशः तलवार की धारा और शहद के चाटने के समान सुख और दुःख को उत्पन्न करता है।

विशेष—बन्ध के इन चार भेदों में प्रथम प्रकृतिबन्ध के ८ भेद हैं—१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु ६. नाम ७. गोत्र ८. अन्तराय। प्रस्तुत अनुच्छेद में तीन भेदों का वर्णन किया गया है। अन्य भेदों का वर्णन आगे किया गया है।

ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण गुड़ के मीठे स्वभाव के समान हैं।

दर्शने मोहनीयस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानकारित्वं दुर्जनसङ्गवत्। चारित्रे मोहनीयस्यासंयमहेतुत्वं मद्यमदवत्। आयुषो देहबन्धनकर्तृकं जलवत्। नाम्नो विचित्रनामकारित्वं चित्रिकवत्। गोत्रस्योच्चनीचकारित्वं कुम्भकारवत्। दानादीनां विघ्ननिदानत्वमन्तरायस्य स्वभावः कोषाध्यक्षवत्।

सोऽयं प्रकृतिबन्धोऽष्टविधो द्रव्यकर्मावान्तरभेदमूलप्रकृतिवेदनीयः। तथावोचदुमास्वातिवाचकाचार्यः-आद्योज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायु-र्नामगोत्रान्तरायाः (त०सू० ८।४) इति।

तद्भेदं च समगृह्णात्पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्च-भेदा यथाक्रमम् (त०सू० ८/५) इति। एतच्च सर्वं विद्यानन्दादिभिर्विवृतमिति विस्तरभयान्न प्रस्तूयते।

अनुवाद—दर्शन में मोहनीय कर्म का स्वभाव है तात्पर्य के प्रति श्रद्धा न रखना जिस प्रकार दुर्जन सङ्ग होने पर तत्वार्थ के प्रति श्रद्धा नहीं होती। चरित्र में मोहनीय कर्म का स्वभाव है असंयम उत्पन्न करना, जैसे कि मदिरा के मद से असंयम उत्पन्न होता है। आयु का स्वभाव है शरीर को बन्धन करना जैसे जल शरीर को (तैरते समय) धारण करता है। नाम का स्वभाव है अनेक नामों को बनाना जैसे चित्रकार अनेक नामों को बनाता है। गोत्र (कुल) का स्वभाव है ऊँचा नीचा करना जैसे कुम्हार—छोटे-बड़े बर्तन बनाता है।

अन्तराय (विघ्न) का स्वभाव है दान आदि में विघ्न उत्पन्न करना जैसे—कोषाध्यक्ष दानादि में विघ्न करता है (क्योंकि कोषाध्यक्ष=राजा के कोष को संचित रखना चाहता है)

यह प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है, इसे ही मूलबन्ध के नाम से जाना जाता है, द्रव्य (धर्माधर्मादि) के कर्म के कारण इसके अवान्तर भेद होते हैं। जैसा कि उमास्वाति वाचकाचार्य ने कहा है—पहले प्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—ये ८ भेद हैं। (त०सू० ८.४)

यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणामेतावन्तमनेहसं माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिस्तथा ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनामादितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यः परा स्थितिः (त०सू० ८।१४) इत्याद्युक्तकाला दुर्दान्तवत्स्वीयस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।

यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे सामर्थ्य-विशेषोऽनुभावः तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभावः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानामनन्तानन्तप्रदेशानामात्म-प्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः।

अनुवाद—जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि का दूध एक निश्चित समय तक अपने मीठे स्वभाव के कारण खराब नहीं होता, उसी तरह मूल प्रकृति बन्धों में प्रथम तीन ज्ञानावरण आदि (अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय) का तथा अन्तराय का करोड़ों करोड़ तीस सागर के समान परम स्थिति है। (त०सू० ८.१४) इस प्रकार से उक्त कालवाला मतवाले हाथी के समान अपने स्वभाव को न छोड़ना ही स्थितिबन्ध है।

जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूधों का तीव्र, मन्द आदि स्वभाव से अपना कार्य करने में विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों का अपना कार्य करने में विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है। कर्म के रूप में परिणत पुद्गलस्कन्ध, जो अनन्तानन्त स्थानों में रहते हैं उनका अपने स्थान में प्रवेश करना प्रदेशबन्ध है।

विशेष—स्थिति दो प्रकार की होती है—परा तथा अपरा। परा स्थिति बन्ध प्रत्येक प्रकृति का भिन्न-भिन्न होता है। आठों प्रकृतिबन्धों की परास्थिति भिन्न होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय प्रकृतिबन्धों की अवधि तीस सागरोपम=करोड़ों समय तक होती है। सागरोपम काल का एक माप है। यह एक बहुत बड़ी अवधि है। मोहनीय प्रकृतिबन्ध की अवधि ७० सागरोपम है। नाम तथा गोत्र प्रकृतिबन्ध की अवधि बीस सागरोपम है। आयु प्रकृतिबन्ध की अवधि ३३ सागरोपम है। दूसरी स्थिति अपरा है। जैसे वेदनीय प्रकृति की अपरा स्थिति १२ मुहूर्त है।

कर्म पुद्गलों का किसी कार्य को करने में जो विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वही अनुभव बन्ध है। पुद्गलों के अनेक अवयवों वाले जो स्कन्ध हैं, उनका अपने-अपने अवयवों में प्रवेश करना ही प्रदेश बन्ध है।

अब पांचवें पदार्थ संवर का वर्णन किया जा रहा है।

२५. संवर और निर्जरा नामक तत्त्व–संवर

आस्रवनिरोधः संवरः। येनात्मनि प्रविशत्कर्म प्रतिषिध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः। संचारकारणयोगादात्मनो गोपनं गुप्तिः। सा त्रिविधा–कायवाङ्म्मनोनिग्रहभेदात्। प्राणिपीडापरिहारेण सम्यगयनं समितिः। सेर्याभाषादिभिः पञ्चधा। प्रपञ्चितं च हेमचन्द्राचार्यैः–

३२. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम् ।।

३३. अनवद्यमृतं सर्वजनीनं मितभाषणम् ।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते ।।

अनुवाद—आस्रव का निरोध ही संवर है। जिसके कारण आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्म को रोका जाता है, वह गुप्ति, समिति आदि संवर है। (कर्म पुद्गलों के) संचार के कारण आत्मा की रक्षा करना गुप्ति है। वह तीन प्रकार की है—शरीर, वाणी और मन के निग्रह के भेद से। प्राणियों की पीड़ा का परिहार करते हुए अच्छी प्रकार से व्यवहार करना समिति है। वह समिति ईर्या, भाषा आदि के भेद से ५ प्रकार की है। जेसा कि हेमचन्द्राचार्य ने व्याख्या की है—

जिस मार्ग पर लोग चलते रहते हैं तथा सूर्य की किरणें जिस मार्ग पर पड़ती रहती हैं, उस मार्ग पर प्राणियों की रक्षा करते हुए देखकर चलने को ही सज्जनों ने 'ईर्या' नामक समिति कहा है।

अनिन्दनीय, सत्य, सर्वजनप्रिय तथा सीमित भाषण एवं वाणी पर संयम रखने वालों का जो प्रिय वचन लगता है, वह भाषा समिति कहा जाता है।

विशेष--समिति और गुप्ति—दोनों ही संवर के अन्तर्गत आते हें। जैन धर्म में समिति-गुप्ति पर विशेष बल दिया गया है।

३४. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता ।

३५. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलङ्घ्य च यत्नतः ।
गृह्णीयान्निक्षिपेद् ध्यायेत्सादानसमितिः स्मृता ।।

३६. कफमूत्रमलप्रायैर्निर्जन्तुजगतीतले ।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत् ।।

अत एव–

आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।

इति निराहुः।

अनुवाद—भिक्षा के ४२ दोषों से नित्य अदूषित अन्न को जो मुनिग्रहण करता है, वह एषणा समिति कही गयी है।

आसन आदि को अच्छी प्रकार से देखकर, उस पर प्रयत्नपूर्वक बैठकर उसे ग्रहण करे, उस पर बैठे या उस पर ध्यान करे, वह आदान समिति कही गयी है।

जीव-जन्तु से रहित पृथ्वी पर जो साधु प्रयत्नपूर्वक कफ, मूत्र, तथा मल का त्याग करता है वह उत्सर्ग समिति कही गयी है।

इसीलिए कहा गया—

आस्रव स्रोतों का द्वार है, उसे जो ढँकता है वह संवर है।

तदुक्तमभियुक्तैः—

३७. आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ।।

अनुवाद—यही बात विद्वानों ने भी कही है—

आस्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है। यही जैनों की सृष्टि (कल्पना) है इसका विस्तार अन्यत्र किया गया है।

२६. *निर्जरा*

अर्जितस्य कर्मणस्तपः प्रभृतिभिर्निर्जरणं निर्जराख्यं तत्त्वम्। चिरकाल-प्रवृत्तकषायकलापं पुण्यं सुखदुःखे च देहेन जरयति नाशयति। केशोल्लुञ्चनादिकं तप उच्यते। सा निर्जरा द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्। तत्र प्रथमा यस्मिन्काले यत्कर्म फलप्रदत्वेनाभिमतं तस्मिन्नेव काले फलदानाद् भवन्ती निर्जरा कामादिपाकजेति च जेगीयते। यत्कर्म तपोबलात्स्वकामनयोदयावलिं प्रवेश्य प्रपद्यते सौपक्रमिकनिर्जरा। यदाह—

३८. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह ।
निर्जरा सम्मता द्वेधा सकामा कामनिर्जरा ।।
३९. स्मृता सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ।। इति।।

अनुवाद—अर्जित कर्म को तपस्या इत्यादि के द्वारा क्षीण करना ही निर्जरा है। यह निर्जरा बहुत समय से उत्पन्न कषाय समूह, पुण्य, सुख तथा दुःख को देह के द्वारा नष्ट करती है। केशों को उखाड़ना आदि तप कहा जाता है। वह निर्जरा दो प्रकार की है—यथाकाल और औपक्रमिक। उसमें पहली निर्जरा वह है कि जिस काल में जो कर्म फल प्रदान करने के रूप में स्वीकृत किया गया है, उसी काल में फल प्रदान करने से होने वाली निर्जरा पहली निर्जरा है यह कामना आदि फलों से उत्पन्न कही गयी है। जो कर्म तपोबल से अपनी कामना से उदयावस्था होने के बाद नष्ट कर दिया जाता है, वह औपक्रमिक निर्जरा है। जैसा कि कहा गया है—

संसार के बीजभूत कर्मों का विनाश होने से यह निर्जरा दो प्रकार की कही गयी है—सकामा और अकामा।

यम का पालन करने वाले व्यक्तियों की निर्जरा सकामा है और अन्य प्राणियों की निर्जरा अकामा है।

विशेष—निर्जरा के दो भेद है—**यथाकाल**—इसे ही अकामा भी कहते हैं। यह सामान्य प्राणियों की होती है। इस निर्जरा में कर्म यथा काल फल प्रदान कर नष्ट हो जाता है अत: यह निर्जरा फल से उत्पन्न मानी गयी है।

२. **औपक्रमिक**—इसे ही सकामा भी कहते हैं। यम का पालन करने वाले साधु अपनी तपस्या के बल से जब कर्म को फल प्रदान करते-करते ही नष्ट कर डालते हैं। वह निर्जरा औपक्रमिक है।

२७. मोक्ष का विचार

मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः। तदाहबन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः (त० सू० १०।२) इति। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् (त० सू० १०/५)

अनुवाद—मिथ्यादर्शन आदि बन्धन हेतुओं का निषेध करने पर तथा निर्जरा के कारण नये कर्मों के न होने से अर्जित कर्म का नाश हो जाने के कारण सदा के लिए कर्म की मुक्ति हो जाना ही मोक्ष है। जैसा कि कहा गया है—बन्धन हेतु का अभाव तथा निर्जरा के कारण समस्त कर्मों की मुक्ति हो जाना ही मोक्ष है। (त०सू० १०.२) उसके बाद लोकों का अन्त मिलने तक मुक्त व्यक्ति ऊपर जाता है। (त०सू० १०.५)

विशेष—निर्जरा ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। निर्जरा के द्वारा अर्जित कर्मों का नाश हो जाता है साथ ही संवर से नये कर्मों को रोका जाता है। मोक्ष मिलने पर मुक्त व्यक्ति तब तक ऊपर की ओर जाता है, जब तक उसे अन्तिम लोक नहीं मिल जाता।

यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रमुपरतेऽपि तस्मिंस्तद्वालादेवासंस्कारक्षये भ्रमति, तथा भवस्थेनात्मनापवर्गप्राप्तये बहुशो यत्कृतं प्रणिधानं मुक्तस्य तदभावेऽपि पूर्वसंस्कारादालोकान्तं गमनमुपपद्यते। यथा वा मृत्तिकालेपकृतगौरवमलाबुद्रव्यं जलेऽधः पतति, पुनरपेतमृत्तिकाबन्धमूर्ध्वं गच्छति, तथा कर्मरहित आत्मा असङ्गत्वादूर्ध्वं गच्छति। बन्धच्छेदादेरण्डबीजवच्चोर्ध्वं गतिस्वभावाच्चाग्निशिखावत्।

अनुवाद—संसार कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष के पाप के कारण क्रिया की निवृत्ति हो जाना सम्यक् चरित्र है। अर्हत् ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है—

निन्दित कर्मों का सर्वथा त्याग ही सम्यक् चरित्र है। वह अहिंसा आदि व्रत के भेद से पांच प्रकार का है। अहिंसा आदि के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।—जिस प्रकार हाथ या दण्ड आदि के घुमाने से प्रेरित कुम्हार का चक्र उस हाथ या दण्डादि की क्रिया के बन्द होने पर भी उसी के बल से संस्कार का क्षय न होने पर घूमता रहता है, उसी तरह संसार में स्थित आत्मा के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए बहुत बार जो योग किया गया है, मुक्त व्यक्ति उस योग के बिना ही पूर्व संस्कार के कारण लोकान्त तक चला जाता है यह बात उपपन्न होती है या जिस प्रकार मिट्टी का लेप करके भारी बनाया गया तुम्बी फल पानी में नीचे गिरता है और पुनः मिट्टी का बन्धन छूट जाने पर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्मरहित आत्मा सङ्ग न होने पर ऊपर की ओर जाता है। क्योंकि बन्धन का नाश होने पर रेड़ी के बीज की तरह ऊपर की ओर जाना ही स्वभाव है या जिस प्रकार अग्नि की शिखा (जवाला) का ऊपर की ओर जाना ही स्वभाव है।

अन्योन्यं प्रदेशानुप्रदेशे सत्यविभागेनावस्थानं बन्धः। परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। तदुक्तं, पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्च (त०सू० १०।६)। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखवच्च (त०सू० १०।७) इति। अत एव पठन्ति—

४०. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयो ग्रहाः ।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः ।। (प०न०) इति।।

अनुवाद—एक-दूसरे के प्रदेश में प्रवेश करने पर अविभक्त रूप में रहना ही बन्ध (बन्धन) है। एक-दूसरे की प्राप्ति मात्र होना ही सङ्ग है। जैसा कि कहा गया है—

पूर्व में प्रयोग होने से आसक्ति न होने से, बन्ध का नाश होने से तथा गति का परिणाम होने से। (त०सू० १०.६) घुमाये हुए कुम्हार के चक्के की तरह, मिट्टी का लेप छूटे हुए तुंबी फल की तरह, रेड़ी के बीज की तरह और आग की लपट की तरह। इसीलिये पढ़ते हैं—

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह जा जाकर लौट आते हैं, लेकिन लोकान्त के आकाश तक गये हुए लोग आज तक नहीं लौटे हैं। (प०न०)

विशेष—आत्मा और शरीर का अविभक्त रूप में रहना ही बन्धन है। तत्त्वार्था धिगम सत्र में मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय बताये गये हैं—

१. पूर्वप्रयोग २. आसक्ति का नाश
३. बन्ध का नाम ४. गति का परिणाम

२८. संवर और निर्जरा को मिलाकर नौ तत्त्व

अन्ये तु गतसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरिदेशावस्थाने मुक्तिरित्यास्थिषत। एवमुक्तानि सुखदुःखसाधनाभ्यां पुण्य-पापाभ्यां सहितानि नव पदार्थान्केचनाङ्गीचक्रुः। तदुक्तं सिद्धान्ते जीवाजीवौ

पुण्यापापयुतावास्रवः संवरो निर्जरणं बन्धो मोक्षश्च नव तत्त्वानीति। संग्रहे प्रवृत्ता वयमुपरताः स्मः।

अनुवाद—अन्य लोगों ने कहा है कि समस्त क्लेश तथा उनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने पर, आवरण ज्ञान के हट जाने पर, एकमात्र सुख से सम्पन्न आत्मा का ऊपर के देश में रहना ही मुक्ति है। इस प्रकार ऊपर कहे गये (७ पदार्थ) तथा सुख एवं दुःख के साधन पुण्य-पाप को मिलाकर कुछ लोगों ने नौ पदार्थ स्वीकार किये हैं। जैसा कि सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

जीव, अजीव, पुण्य तथा पाप से युक्त आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं।

जैन धर्म के पदार्थों का संग्रह करके अब हम विराम करते हैं।

विशेष—जैन मत में कोई ५ पदार्थ मानता है, कोई ७ तो कोई ९ तत्त्व मानता है।

१९. जैन न्यायशास्त्र-सप्तभङ्गीनय

अत्र सर्वत्र सप्तभङ्गिनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः इति।

अनुवाद—इस जैन मत में सर्वत्र सप्तभङ्गीनय नामक न्याय को जैन लोग उपस्थापित करते हैं। (१) किसी तरह से है (२) किसी तरह से नहीं है (३) किसी तरह से है और नहीं है (४) किसी तरह से अवक्तव्य है (५) किसी तरह से है और अवक्तव्य है (६) किसी तरह से नहीं है और अवक्तव्य है (७) किसी तरह से है, नहीं है और अवक्तव्य है।

विशेष—जैन मत अनेकान्तवादी दर्शन है। अनेकान्तवाद का तात्पर्य है कि किसी पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप बतला पाना सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः किसी भी पदार्थ के विषय में पूर्णतः वर्णन करना सम्भव नहीं है। प्रत्येक सिक्के के दो पहलू होते हैं प्रत्येक व्यक्ति वस्तु के एक ही पहलू को देख सकता है, अतः उसका ज्ञान एकांगी हो सकता है। इस अनेकान्तवाद का वर्णन सप्तभङ्गी नय के द्वारा किया जाता है। पूर्व में जैनमत के चौथे परिच्छेद की टीका में अनेकान्तवाद का वर्णन किया जा चुका है।

सप्तभङ्गी नय का अर्थ है—सात प्रकार के वचनविन्यासों (भङ्गी) का न्याय (नय)। किसी एक विशिष्ट पक्ष का ज्ञान ही नय का विषय है—

एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। —न्यायावतार २६

सप्तभङ्गीनय में प्रत्येक वाक्य के पहले 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् का अर्थ है—शायद, सम्भवतः किसी प्रकार से। यह 'स्यात्' शब्द सापेक्षता

या अनेकान्तता का द्योतक है। 'स्यात्' शब्द लगाने पर जो वाक्य बनते हैं, उन्हें भङ्गी= वचनविन्यास कहा जाता है। ये सात प्रकार हैं। किसी भी वस्तु का वर्णन इन सात वाक्यों के द्वारा ही किया जा सकता है।

तत्सर्वमनन्तवीर्यः प्रत्यपीपदत्—

४१. तद्विधानविवक्षायां स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।
स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते ।।

४२. क्रमेणोभयवाञ्छायां प्रयोगः समुदायभाक् ।
युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः ।।

४३. आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते ।
अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः ।।

४४. समुच्चयेन युक्तश्च सप्तमो भङ्ग उच्यते । इति।

अनुवाद—इन सम्पूर्ण नयों का वर्णन अनन्तवीर्य ने किया है—

किसी वस्तु का विधान करने पर 'स्यात् अस्ति' यह गति (वचन) होती है। उसका निषेध करने की इच्छा होने पर 'स्यात् नास्ति' यह प्रयोग होगा। क्रमशः उन दोनों की इच्छा होने पर दोनों के समुदाय (स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति) का प्रयोग होता है। एक साथ उन दोनों की इच्छा होने पर कुछ भी कहना संभव न होने से "स्यात् अवक्तव्यम्' प्रयोग होगा। प्रथम भंग के अवक्तव्य की इच्छा होने पर पांचवां भंग होगा। अन्तिम (दूसरे) भंग के अवक्तव्य की इच्छा होने पर छठां भंग होगा। इन दोनों भंगों के साथ अवक्तव्य की इच्छा हाने पर सातवां भंग होता है।

विशेष—सप्तभंगीनय के सात प्रकार हैं—

१. स्यादस्ति—जैसे घट का विधान (सकारात्मक टिप्पणी) होने पर प्रयोग होगा—स्यात् घटः अस्ति।

२. स्यान्नास्ति—घट का निषेध करने पर (नकारात्मक टिप्पणी) प्रयोग होगा—स्यात् घटो नास्ति।

३. स्यादस्ति स्यान्नास्ति च—एक समय में घड़ा है, लेकिन अन्य समय में घड़ा नहीं है—इस प्रकार क्रमशः घड़े के विधान और निषेध की विवक्षा होने पर तीसरा नय बनता है।

४. स्यादवक्तव्यः—एक ही समय में घड़े के विधान तथा निषेध की विवक्षा होने पर "स्यादवक्तव्यो घटः" ही कहना पड़ता है।

५. स्यादस्ति चावक्तव्यः—प्रथम नय+चतुर्थ नय

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यः—द्वितीय नय+चतुर्थ नय

७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः=प्रथमनय+द्वितीय नय+चतुर्थनय।

स्याच्छन्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योतकः। यथोक्तम्—

४५. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः ।। इति।।

यदि पुनरेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दोऽयं स्यात्तदा स्यादस्तीति वाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्। अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथंचिदस्तीति स्यात्पदात्कथंचिदित्ययमर्थो लभ्यत इति नानर्थक्यम्। तदाह—

४६. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गिनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ।। इति।।

अनुवाद—यह 'स्यात्' शब्द निपात है तथा अनेकान्त (अनिश्चितता) को बतलाने वाला तिङन्त का प्रतिरूप है। कहा गया है—

वाक्यों में अनेकान्त को बतलाने वाला, गम्य अर्थात् विधेय का विशेषण, तिङन्त का प्रतिरूप तथा सार्थक निपात 'स्यात्' शब्द है। यदि स्यात् शब्द को एकान्तता का द्योतक माना जाए तो 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' पद बेकार हो जाएगा। अनेकान्त को बतलाने पर स्यादस्ति का अर्थ होगा—''कथंचिदस्ति'' अतः स्यात् शब्द से 'कथञ्चित्' (किसी तरह) यह अर्थ प्राप्त होता है, अतः स्यात् पद अनर्थक नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

स्यात्वाद पूर्णतः एकान्त अर्थ का त्याग करने से 'किञ्चित्' शब्द का विधान करके, हेय तथा आदेय की विशेषता से युक्त होकर सप्तभङ्गीनय की अपेक्षा रखता है।

विशेष—'अस्' धातु के विधिलिङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'स्यात्' रूप बनता है, लेकिन प्रस्तुत सप्तभङ्गीनय में जो 'स्यात्' शब्द है, वह तिङन्त नहीं है, बल्कि निपात है। यह तिङन्त के समान ही दिखाई पड़ता है, किन्तु अव्यय है। इस स्यात् शब्द का अर्थ है—अनेकान्त। यदि स्यात् शब्द को तिङन्त विधिलिङ् प्र.पु.एक. माने तो 'स्यादस्ति' वाक्य निरर्थक हो जाएगा। अतः स्यात् शब्द को अनेकान्तार्थक अव्यय (निपात) ही माना जाता है।

यदि वस्त्वस्त्येकान्ततः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्माऽस्तीति नोपादित्साजिहासाभ्यां क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्ताप्रापणीयत्वादहेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चित्क्वचित्केनचित्सत्त्वेन हानोपादाने प्रेक्षावतामुपपद्येते।

अनुवाद—यदि कोई वस्तु हमेशा, हर जगह, हर प्रकार से निश्चित रूप से है तो फिर उस वस्तु को ग्रहण करने या त्याग करने की इच्छा से न तो कोई प्रवृत्त होगा और न ही कोई निवृत्त होगा। क्योंकि प्राप्त वस्तु की प्राप्यता नहीं हो सकती है और अहेय वस्तु के नाश की उपपत्ति भी नहीं लग सकती है। वस्तु को अनेकान्त (अनिश्चित) मानने

पर किसी प्रकार से, कहीं, किसी के होने से विद्वान् लोगों के द्वारा वस्तुओं का ग्रहण और त्याग करना भी उपपन्न हो जाता है।

विशेष—यदि वस्तु को अनेकान्त न माना जाए, तो न तो किसी वस्तु का त्याग किया जा सकेगा, न ही किसी वस्तु का ग्रहण किया जाएगा। ग्रहण तथा त्याग तभी सम्भव है जब वस्तु को अनेकान्त माना जाए।

किं च वस्तुनः सत्त्वं स्वभावः, असत्त्वं वा इत्यादि प्रष्टव्यम्। न तावदस्तित्वं वस्तुनः स्वभाव इति समस्ति। घटोऽस्तीत्यनयोः पर्यायतया युगपत्प्रयोगायोगात्। नास्तीति प्रयोगविरोधाच्च। एवमन्यत्रापि योज्यम्। यथोक्तम्—

४७. घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि यतो घटः ।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् सदसत्त्वयोः ।। इत्यादि।।

अनुवाद—इसी तरह यह भी पूछना चाहिये कि वस्तु का स्वभाव सत्त्व है या असत्त्व है? अस्तित्व ही वस्तु का स्वभाव है—यह कहना ठीक नहीं है। 'घटोऽस्ति' (घड़ा है) इस वाक्य में (चूंकि घट का अर्थ अस्तित्व है अतः) घटः और अस्ति एक-दूसरे का पर्याय होने से उन दोनों का एक साथ प्रयोग सम्भव नहीं है। यदि 'घटः नास्ति' कहें तो भी घटः तथा नास्ति दोनों के प्रयोग का विरोध होगा। (क्योंकि घटः का अर्थ है—अस्तित्व और नास्ति का अर्थ है अनस्तित्व) इसी प्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये। जैसा कि कहा गया है—

'घटोऽस्ति' यही नहीं कहना चाहिये क्योंकि घड़ा ही सत् है। 'घटो नास्ति' यह भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सत् तथा असत् का परस्पर विरोध है।

तस्मादित्थं वक्तव्यम्—सदसत्सदसदनिर्वचनीयवादभेदेन प्रतिवादिनश्चतुर्विधाः। पुनरप्यनिर्वचनीयमतेन मिश्रितानि सदसदादिमतानीति त्रिविधाः। तान्प्रति किं वस्त्वस्तीत्यादि पर्यनुयोगे 'कथञ्चित्तदस्ति' इत्यादि प्रतिवचनसम्भवेन ते वादिनः सर्वे निर्विण्णाः सन्तस्तूष्णीमासत इति सम्पूर्णार्थविनिश्चायिनः स्याद्वादमङ्गीकुर्वतस्तत्र तत्र विजय इति सर्वमुपपन्नम्। यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमञ्जर्याम्—

४८. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ।।
४९. न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि ।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ।। इति।।

अनुवाद—इसलिये यह कहना चाहिये—सत्, असत्, सदसत् तथा अनिर्वचनीय सिद्धान्त के भेद से प्रतिवादी चार प्रकार के हैं। फिर अनिर्वचनीय सिद्धान्त से युक्त सत्, असत् आदि (आदि पद से सदसत् मत लिया जायेगा) तीन प्रकार के मत

हैं। वे लोग जब प्रश्न करते हैं कि ''वस्तु कैसी है?'' तो यह उत्तर सम्भावित होता है कि ''वह वस्तु किसी तरह की है'' इससे वे विरोधी लोग शान्त होकर चुप हो जाते हैं। इस प्रकार किसी वस्तु के सम्पूर्ण पक्ष पर विचार करने वाले स्याद्वाद को मानने वालों की विजय होती है यह सब उपपन्न हो जाता है। जेसा कि स्याद्वादमञ्जरी में आचार्य ने कहा है—

अनेकान्तात्मक वस्तु ही सभी ज्ञानों का विषय है, किन्तु एकदेश विशिष्ट पदार्थ नय का विषय है।

एक ही वस्तु पर निष्ठ अनेक न्याय जब प्रमाण कोटि में प्रवृत्त होते हैं, तब सम्पूर्ण अर्थों को निश्चय करने वाला 'स्यात्' शब्द ही प्रामाणिक माना जाता है।

विशेष—चार प्रकार के जो सिद्धान्त हैं—सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय। इन चारों में अनिर्वचनीय के अतिरिक्त शेष तीनों में अनिर्वचनीय का अन्तर्भाव करने पर तीन ही मत बचते हैं। स्याद्वाद का सिद्धान्त मानने पर इन सभी मतों का खण्डन हो जाता है।

एक ही पदार्थ को विषय बनाने वाला ज्ञान 'नय' है लेकिन इसी नियम को सात भेद करने पर यह नय अनेकान्तात्मक वस्तु को विषय बनाता है।

५०. अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषा नविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथार्हतः ।।

(हेमचन्द्रकृत द्वितीयद्वात्रिंशिका वी०स्तु० श्लो० ३०)

अनुवाद—जिस प्रकार अन्य सिद्धान्त एक-दूसरे के साथ पक्ष और प्रतिपक्ष भावना करने के कारण ईर्ष्या से भरे हैं, उस तरह सभी नयों को समान रूप से चाहने वाला अर्हत् (जैन) का सिद्धान्त किसी एक पक्ष को मानने वाला नहीं है।

(हेमचन्द्रकृत द्वितीय द्वात्रिंशिका, बी०स्तु०श्लो० ३०)

विशेष—अन्य दार्शनिकों के मत पक्ष-प्रतिपक्ष की भावना से भरे हुए हैं। उनका कोई पक्षपाती है तो कोई प्रतिपक्षी। इसी कारण वे ईर्ष्याभाव से युक्त हैं। लेकिन जैन प्रत्येक वस्तु के सर्वाङ्ग का विचार करता है। अन्य दर्शन तो वस्तुओं के एक ही पहलू के बारे में सोचते हैं। इसी कारण जैन लोग उदारवादी हैं, वे पक्षपाती नहीं हैं, बल्कि सभी को समान दृष्टि से देखते हैं।

३०. जैनमत-संग्रह

जिनदत्तसूरिणा जैनं मतमित्थमुक्तम्—

५१. बलभोगोपभोगानानुभयोर्दानलाभयोः ।
अन्तरायस्तथा निद्रा भीरज्ञानं जुगुप्सितम् ।।
५२. हिंसा रत्यरती रागद्वेषावविरतिः स्मरः ।
शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा नयस्य सः ।।

५३. जिनो देवो गुरुः सम्यक्तत्वज्ञानोपदेशकः ।
ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्तनी ।।

अनुवाद—जिनदत्तसूरि ने जैनमत को इस प्रकार कहा है—१. बल, २. भोग, ३. उपभोग, ४. दान के अन्तराय (विघ्न) ५. लाभ के अन्तराय (विघ्न) ६. निद्रा, ७. भय, ८. अज्ञान, ९. घृणा, १०. हिंसा, ११. रति, १२. अरति, १३. राग, १४. द्वेष, १५. अविरति, १६. काम, १७. शोक, १८. मिथ्यात्व ये ये अठारह दोष जिसके पास नहीं हैं, वह गुरू जिन्देव सम्यक् रूप से (अच्छी प्रकार से) तत्त्व ज्ञान का उपदेशक है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र-ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं।

५४. स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च ।
नित्यानित्यात्मकं सर्वं नव तत्त्वानि सप्त वा ।।

५५. जीवाजीवौ पुण्यपापे चास्त्रवः संवरोऽपि च ।
बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याऽधुनोच्यते ।।

५६. चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः ।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययः ।।

अनुवाद—स्याद्वाद मत में दो प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष और अनुमान। सारा जगत् नित्य तथा अनित्य रूप है तथा ९ या ७ तत्त्व हैं।

ये ९ तत्त्व हैं-जीव, अजीव, पुण्य्, पाप, आस्त्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा तथा मोक्ष। इनकी व्याख्या बतलाते हैं।

जीव का लक्षण चेतना है तथा उससे भिन्न अजीव है। अच्छे कर्म के पुद्गल ही पुण्य हैं तथा उसका उलटा पाप है।

५७. आस्त्रवः स्त्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।
प्रवेशः कर्मणां बन्धो निर्जरस्तद्वियोजनम् ।।

५८. अष्टकर्मभयान्मोक्षोऽथान्तर्भावश्च कैश्चन ।
पुण्यस्य संवरे पापस्यास्त्रवे क्रियते पुनः ।।

५९. लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः ।
क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ।।

अनुवाद—आस्त्रव स्त्रोतों का द्वार है। उस द्वार को बन्द करना ही संवर है। (शरीर में) कर्मों का प्रवेश हो जाना ही बन्धन है तथा शरीर से कर्मों का वियोग ही निर्जरा है। आठ प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष मिलता है। कुछ लोग पुण्य का संवर में अन्तर्भाव करते हैं तथा पाप का आस्त्रव में अन्तर्भाव करते हैं। (इस प्रकार उनके मतानुसार ७ ही तत्त्व हैं) चार प्रकार के अनन्त तत्त्व (ज्ञान, दर्शन, वीर्य तथा सुख) प्राप्त करने वाले तथा जगत् में न बंधे हुए आत्मा के आठ कर्मों के क्षीण होने पर जैनों ने निर्व्यावृत्ति रूप मुक्ति कही है।

विशेष—पूर्व में कहे गये जैनमत का सारांश इन श्लोको में प्रस्तुत किया जा रहा है। आठ कर्मों का क्षय देने पर मुक्ति मिलती है। ये ८ कर्म हैं—

१. ज्ञानावरण	२. दर्शनावरण	३. वेदनीय	४. मोहनीय
५. आयु	६. नाम	७. गोत्र	८. अन्तराय।

निर्व्यावृत्ति का अर्थ है–अपुनरावृत्ति। उस परम पद को प्राप्त करने के बाद फिर से वहाँ से लौटना नहीं पड़ता है।

६०. सरजोहरणा भैक्षभुजो लुञ्चितमूर्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला निःसङ्गा जैनसाधवः ।।

६१. लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः ।।

६२. भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महाञ्श्वेताम्बरैः सह ।। इति।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे आर्हतदर्शनम्।।

अनुवाद—रास्ते की धूल को हटाने वालों को साथ में रखने वाले, भिक्षा माँगने वाले, केशों से रहित, क्षमाशील तथा निःसङ्ग जैनसाधु श्वेताम्बर हैं।

केशों को उखाड़ने वाले, हाथों में मोरपंख लेने वाले, हाथ में पात्र धारण करने वाले तथा दाता के घर के ऊपर खाने वाले ये दूसरे प्रकार के जैनसाधु दिगम्बर हैं।

दिगम्बर साधु कहता है कि अकेले पुरुष को भोजन नहीं करना चाहिये तथा स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिलता है। यही इनका श्वेताम्बरों के साथ महान् भेद है।

विशेष—अकेले भोजन न करने का तात्पर्य है कि दूसरों को बाँटकर ही-भोजन करना चाहिये। कहा भी गया है—केवलाघो भवति केवलादी। इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुष का जन्म मिलने के बाद ही मोक्ष प्राप्त होता है–ऐसा दिगम्बर जैनों का मानना है।

।। इति जैनदर्शनम् ।।

अध्याय-४

रामानुजदर्शनम्

तत्त्वत्रयं चिदचिदीश्वररूपमस्या-
विद्याकृतं न तु जगत्सविशेष ईशः ।
भक्तिश्च तत्र फलितेत्युपदेशकाय
रामानुजाय सततं प्रणतोऽस्मि तस्मै ।। -ऋषिः

१. *अनेकान्तवाद का खण्डन*

तदेतदार्हतमतं प्रामाणिकगर्हणमर्हति। न ह्येकस्मिन्वस्तुनि परमार्थे सति परमार्थसतां युगपत्सदसत्त्वादिधर्माणां समावेशः सम्भवति। न च सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धयोः समुच्चयासम्भवे विकल्पः किं न स्यादिति वदितव्यम्। क्रिया हि विकल्प्यते न वस्त्विति न्यायात्।

अनुवाद—तो यह जैनमत प्रामाणिकों के द्वारा निन्दित होता है। किसी एक वस्तु की पारमार्थिक सत्ता मानने पर पारमार्थिक रूप से सत्य, सत्त्व और असत्त्व धर्मों का एक साथ समावेश सम्भव नहीं है। सत् और असत्त्व का परस्पर विरोध होने के कारण उनका समुच्चय सम्भव नहीं है, फिर उनका विकल्प क्यों न हो, यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि क्रिया का ही विकल्प होता है, वस्तु का नहीं—यह न्याय है।

विशेष—यदि किसी वस्तु की पारमार्थिक सत्ता है, तो उसमें या तो सत्त्व होगा या फिर असत्त्व। एक ही वस्तु में एक साथ सत्त्व या असत्त्व दोनों का समावेश सम्भव नहीं है। यदि कोई कहे कि इन दोनों का विकल्प हो जाय तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि क्रिया का ही विकल्प होता है, वस्तु का नहीं। यह उत्तर रामानुजों ने दिया है तथा यह न्याय भी उपस्थित किया है। लेकिन वास्तव में यह न्याय ठीक नहीं है। क्योंकि यज्ञीय प्रक्रिया में "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्या" यह विकल्प दिखाया गया है। वहाँ व्रीहि तथा यव वस्तु है न कि क्रिया। फिर भी उनका विकल्प होता है। अतः रामानुज दर्शन द्वारा उपस्थापित यह न्याय ठीक नहीं है।

न च 'अनेकान्तं जगत्सर्वं हेरम्बनरसिंहवत्' इति दृष्टान्तावष्टम्भवशादेष्टव्यम्। एकस्मिन्देशे गजत्वं सिंहत्वं वाऽपरस्मिन्नरत्वमिति देशभेदेन विरोधाभावेन तस्यैकस्मिन्देश एव सत्त्वासत्त्वादिनाऽनेकान्तत्वाभिधाने दृष्टान्तानुपपत्तेः। ननु द्रव्यात्मना सत्त्वं पर्यायात्मना तदभाव इत्युभयमप्युपपन्नमिति चेत्, मैवम्–कालभेदेन हि कस्यचित्सत्त्वमसत्त्वं च स्वभाव इति न कश्चिद्दोषः।

अनुवाद—"सम्पूर्ण जगत् गणेश तथा नरसिंह के समान अनेकान्त है" इस दृष्टान्त को भी आधार के रूप में नहीं मानना चाहिये। एक स्थान में गजत्व या सिंहत्व

है तथा दूसरे स्थान पर नरत्व है—इस प्रकार देशभेद होने से विरोध नहीं है। किन्तु अनेकान्तवाद मानने पर एक ही स्थान पर सत्त्व तथा असत्त्व माना जाता है, अतः उपर्युक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि द्रव्य के रूप में सत्त्व और उसके पर्याय के रूप में सत्त्व का अभाव (असत्त्व) माना जाए, इस तरह दोनों ही उपपन्न हो जाता है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है। कालभेद के कारण किसी का सत्त्व स्वभाव होता है, तो किसी का असत्त्व। अतः कोई दोष नहीं है।

विशेष—भगवान् गणेश का मुख गज का है तथा शरीर मनुष्य का। इसी प्रकार नरसिंह का मुख सिंह का है और शरीर मनुष्य का। लेकिन गजत्व तथा नरत्व जलग-अलग स्थान पर हैं। जबकि अनेकान्तवाद में सत्त्व तथा असत्त्व एक ही स्थान पर माना जाता है।

यदि यह कहें कि मिट्टी आदि द्रव्य सत्त्व हैं परन्तु उसके पर्याय (अवस्थाएँ) पिण्ड, कपाल, घट आदि असत्त्व (मिट्टी का अभाव) है। यह भी उचित नहीं क्योंकि यह पर्याय तो कालभेद से होता है। सत् और असत् भी कालभेद से होता है।

न चैकस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्ववदनेकान्तत्वं जगतः स्यादिति वाच्यम्। प्रतियोगिभेदेन विरोधाभावात्। तस्मात्प्रमाणाभावाद्युगपत्सत्त्वासत्त्वे परस्परविरुद्धे नैकस्मिन्वस्तुनि वक्तुं युक्ते। एवमन्यासामपि भङ्गीनां भङ्गोऽवगन्तव्यः।

अनुवाद—जिस प्रकार एक ही वस्तु ह्रस्व या दीर्घ दोनों रहती है, उसी प्रकार जगत् भी अनेकान्त होगा, यह भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ह्रस्वत्व तथा दीर्घत्व में प्रतियोगी अलग-अलग होने से कोई विरोध नहीं है। अतः प्रमाण न होने से परस्पर विरुद्ध सत्व तथा असत्त्व का एक साथ एक वस्तु में रहना नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अन्य भंगियों का खण्डन भी समझ लेना चाहिये।

विशेष—एक ही वस्तु किसी से ह्रस्व हो सकती है और वही वस्तु किसी से दीर्घ भी हो सकती है। वह जिस वस्तु से ह्रस्व रोगी उसे ह्रस्वत्व का प्रतियोगी कहा जाता है और जिस वस्तु से दीर्घ होगी उसे दीर्घत्व का प्रतियोगी कहा जाता है। जैसे—बकरी ह्रस्व भी है, दीर्घ भी। वह हाथी से ह्रस्व है और चींटी से दीर्घ। ह्रस्वत्व का प्रतियोगी हाथी है और दीर्घत्व का प्रतियोगी चींटी। लेकिन सत्त्व तथा असत्त्व में ऐसी बात नहीं है। सत्त्व तथा असत्त्व का प्रतियोगी अलग-अलग नहीं है। अतः सत्त्व तथा असत्त्व का एक स्थान पर रहना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार से सप्तभङ्गी नय की सातों भंगियों का खण्डन हो जाता है।

२. सप्तभंगीनय की निस्सारता

किं च सर्वस्यास्य मूलभूतः सप्तभङ्गिनयः स्वयमेकान्तोऽनेकान्तो वा। आद्ये सर्वमनेकान्तमिति प्रतिज्ञाव्याघातः। द्वितीये विविक्षितार्थासिद्धिः। अनेकान्तत्वेनासाधकत्वात्। तथा चेयमुभयतः पाशा रज्जुः स्याद्वादिनः स्यात्।

अपि च, नवत्वसप्तत्वादिनिर्धारणस्य फलस्य तन्निर्धारयितुः प्रमातुश्च तत्करणस्य प्रमाणस्य प्रमेयस्य च नवत्वादेरनियमे साधु समर्थितमात्मनस्तीर्थंकरत्वं देवानांप्रियेणार्हतमतप्रवर्तकेन।

अनुवाद—फिर इन सभी का मूलभूत यह सप्तभंगीनय स्वयं एकान्त (निश्चित) है या अनेकान्त (अनिश्चित)। पहला पक्ष मानने पर "सब कुछ अनेकान्त है" इस प्रतिज्ञा का भंग होता है। दूसरा पक्ष मानने पर अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि स्वयं अनेकान्त होने से (वह नय) अभीष्ट का साधक नहीं हो सकता। इस प्रकार स्याद्वादी को दोनों ओर से फंदे की रस्सी पड़ जाती है।

इसी प्रकार पदार्थों की संख्या नौ या सात मानने के निर्धारणरूप फल का, उसका निर्धारण करने वाले प्रमाता का, निर्धारण के साधन प्रमाण का और नौ आदि प्रमेय का—इन सभी का नियम न होने से देवानां प्रिय अर्हत्मत के प्रवर्तक ने अच्छी तरह से अपना तीर्थकरत्व सिद्ध किया है।

विशेष—रामानुजों ने सप्तभंगीनय को मानने में दो विकल्प उत्पन्न करके सप्तभंगीनय का भंग किया है। जब सब कुछ अनिश्चित (अनेकान्त) है, तो सप्तभंगी नय भी अनिश्चित है। फिर उस अनिश्चित सप्तभंगीनय से क्या सिद्ध हो सकता है? निर्धारण, उसके साधन और निर्धारयिता तीनों अनैकान्तिक है। इन तीनों में कोई नियम नहीं है। 'देवानां प्रियः' इस विशेषण का प्रयोग निन्दा अर्थ में किया जाता है।

३. *जीव के परिमाण का खण्डन*

तथा जीवस्य देहानुरूपपरिमाणत्वाङ्गीकारे योगबलादनेकदेहपरिग्राहकयोगिशरीरेषु प्रतिशरीरं जीवविच्छेदः प्रसज्येत। मनुजशरीरपरिमाणो जीवो मतङ्गजदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्। किं च गजादिशरीरं परित्यज्य पिपीलिकाशरीरं विशतः प्राचीनशरीरसन्निवेशविनाशोऽपि प्राप्नुयात्। न च यथा प्रदीपप्रभाविशेषः प्रपाप्रासादाद्युदरवर्तिसंकोचविकाशवांस्तथा ज़ीवोऽपि मनुजमतङ्गजादिशरीरेषु स्यादित्येषितव्यम्। प्रदीपवदेव सविकारत्वेनानित्यत्वप्राप्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्।

अनुवाद—उसी प्रकार जीव को देह के अनुरूप परिमाण मानने पर योगबल से अनेक देहों को धारण करने वाले योगियों के शरीरों में प्रत्येक शरीर में जीव का विच्छेद आ जायेगा। मनुष्य के शरीर के परिमाण वाला जीव हाथी के सम्पूर्ण शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता (अर्थात् वह हाथी के पूर्ण शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा) और हाथी आदि के शरीर को छोड़कर चींटी के शरीर में प्रवेश करते समय अपने पूर्व बड़े शरीर में प्रवेश करने का सामर्थ्य भी छोड़ देगा। जिस प्रकार दीपक की प्रभा, पनसाला, महल इत्यादि (छोटे-बड़े) स्थानों के भीतर सिकुड़ती है या फैलती है उसी प्रकार जीव भी मनुष्य तथा हाथी आदि के शरीर में सिकुड़ता है या फैलता है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि दीपक के समान आत्मा को सविकारी मानने पर आत्मा के भी अनित्यत्व की प्राप्ति होती है और कृतप्रणाश तथा अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होते हैं।

विशेष—योगीगण योगबल से एक साथ अनेक शरीरों को धारण करते हैं या एक शरीर छोड़कर अन्य शरीर में प्रवेश करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि आत्मा (जीव) को शरीर परिमाण मान लेते हैं तो या तो आत्मा का विच्छेद मानना पड़ेगा या फिर चींटी का आत्मा हाथी के शरीर में प्रवेश ही नहीं पा सकेगा।

यदि यह कहें कि आत्मा दीपक की प्रभा के समान कम जगह में सिकुड़ जाता है और अधिक जगह में फैल जाता है। तब तो आत्मा को सविकारी मानना पड़ेगा। सिकुड़ना या फैलना तो विकारी के धर्म हैं और सविकारी अनित्य होता है। फिर आत्मा को अनित्य कहना पड़ेगा। आत्मा को अनित्य कहने पर फिर दो दोष आयेंगे—

१. कृतप्रणाश—एक शरीर में किये गये कर्मों का फल अन्य शरीर में आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता।

२. अकृताभ्यागम—न किये गये कर्मों के फल भी आत्मा को मिलने लगेंगे।

एवं प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन जीवपदार्थदूषणाभिधानदिशाऽन्यत्रापि दूषणमुत्प्रेक्षणीयम्। तस्मान्नित्यनिर्दोषश्रुतिविरुद्धत्वादिदमुपादेयं न भवति। तदुक्तं भगवता व्यासेन-नैकस्मिन्नसम्भवात् (ब्र०सू० २/२/३१) इति। रामानुजेन च जैनमतनिराकरणपरत्वेन तदिदं सूत्रं व्याकारि।

अनुवाद—इस प्रकार प्रधान मल्ल को शान्त करने के न्याय से 'जीव' पदार्थ में दोष बतलाने की दिशा से अन्यत्र भी दोष देख लेना चाहिये। अत: नित्य तथा दोषरहित वेदों से विरुद्ध होने के कारण यह (जैनमत) उपादेय नहीं है। जैसा कि भगवान् व्यास ने कहा है—"एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्मों के सम्भव न होने से।" (ब्र०सू० २/२/३१) रामानुज ने जैनमत का खण्डन करते हुए इस सूत्र की व्याख्या की है।

विशेष—जिस प्रकार कुश्ती में प्रधान बलशाली पहलवान को पराजित करने पर यह मान लिया जाता है कि सभी मल्ल पराजित हो गये, उसी तरह जैनमत के ९ या ७ पदार्थों में सर्वप्रमुख जीव (आत्मा) है। रामानुज ने जैनसम्मत आत्मा का खण्डन कर दिया है इससे यह समझ लेना चाहिये कि सभी पदार्थों का खण्डन हो गया।

वेद नित्य तथा दोष रहित है। दोषों का सम्बन्ध पौरुषेय वस्तु से होता है। वेद स्वयं अपौरुषेय है। अत: उसमें दोष भी नहीं है। स्याद्वादी एक ही वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्म मानते हैं। इसका खण्डन व्यास जी ने बादरायण सूत्र "नैकस्मिन्नसम्भवात्" (२/२/३१) में किया है। रामानुजाचार्य ने भी जैनमत का खण्डन करते हुए यह सूत्र उपस्थापित किया है।

४. *रामानुज-दर्शन के तीन पदार्थ*

एष हि तस्य सिद्धान्तः-चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामक-भेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम्-

१. ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः॥ इति॥

अनुवाद—उस रामानुजाचार्य का यह सिद्धान्त है—चित्, अचित् और ईश्वर के भेद से अर्थात् क्रमशः भोक्ता भोग्य तथा नियामक के भेद से तीन पदार्थ हैं। जैसा कि कहा गया है—

ईश्वर, चित् तथा अचित्—ये तीन पदार्थ हैं। जिनमें भगवान् हरि ईश्वर हैं, जीव चित् है तथा दृश्य जगत् अचित् है। (चित् या जीव ही भोक्ता है, दृश्य जगत् ही अचित् या भोग्य है तथा नियामक परमात्मा हरि हैं।)

५. *अद्वैत-वेदान्त का इस विषय में पूर्वपक्ष*

अपरे पुनरशेषविशेषप्रत्यनीकं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः। तच्च नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपि 'तत्त्वमसि' (छा०उ० ६।८।७) इत्यादिसामानाधिक-रण्याधिगतजीवैक्यं बध्यते मुच्यते च।

तदतिरिक्तनानाविधभोक्तृभोक्तव्यादिभेदप्रपञ्चः सर्वोऽपि तस्मिन्नविद्यया परिकल्पितः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा०उ०६/२/१) इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात्–इति ब्रुवाणाः, तरति शोकमात्मवित्' (छा०उ० ७/१/३) इत्यादिश्रुतिशिरःशतवशेन निर्विशेषब्रह्मात्मैकत्वविद्ययाऽनाद्यविद्या-निवृत्तिमङ्गीकुर्वाणाः, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (काठ०उ० २/१) इति भेदनिन्दाश्रवणेन पारमार्थिकं भेदं निराचक्षणाः, विचक्षणम्मन्याः तमिमं विभागं न सहन्ते।

अनुवाद—अन्य लोग (अद्वैतवेदान्ती) यह मानते हैं कि समस्त विशेषणों से रहित चिन्मात्र ब्रह्म ही परमतत्त्व है। वह ब्रह्म नित्य शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाला होने पर भी "तत्त्वमसि" (छा०उ० ६/८/७) इत्यादि सामानाधिकरण्य के कारण जीव के साथ अभिन्न होने से कभी बन्धन में पड़ता है, कभी मुक्त होता है।

उस ब्रह्म के अतिरिक्त अनेक प्रकार के भोक्ता तथा भोक्तव्य आदि भेदों के सभी प्रपञ्च उस ब्रह्म में अविद्या के द्वारा कल्पित हैं। "हे सौम्य! इस संसार की सृष्टि के पूर्व सत् ही था, वह एक अद्वितीय है" (छा०उ० ६/२/१) इत्यादि वचन समूहों का प्रामाण्य है—ऐसा कहने वाले लोग तथा "आत्मज्ञानी शोक से पार हो जाता है" (छा०उ० ७/१/३) इत्यादि सैकड़ों प्रमुख वेदवाक्यों के कारण निर्विशेष ब्रह्म तथा आत्मा की एकता रूप ज्ञान के कारण अनादि अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति हो जाती है—यह मानने वाले लोग तथा जो इस संसार में नाना प्रकार से देखता है, वह मृत्यु के बाद पुनः मृत्यु को प्राप्त करता है" (काठ०उ० २/१) इस प्रकार से भेद की निन्दा सुनने से पारमार्थिक भेद को न मानने वाले अपने को पण्डित समझने वाले लोग इस विभाग को नहीं मानते।

विशेष—इस परिच्छेद में अद्वैतवेदान्तियों पर आक्षेप किया गया है। अद्वैत में आत्मा तथा ब्रह्म को एक माना गया है। इसीलिए उस मत को अद्वैत मत कहते हैं। लेकिन रामानुज सम्प्रदाय द्वैतवादी है।

'तत्त्वमसि' वेदान्तदर्शन का महावाक्य है। इसका अर्थ है—तत्=वह ब्रह्म, त्वम्=तुम (जीव) ही, असि=हो।

५. क. रामानुज का उत्तर-पक्ष

तत्रायं समाधिरभिधीयते। भवेदेतदेवं यद्यविद्यायां प्रमाणं विद्येत। नन्विदमनादि भावरूपं ज्ञाननिर्वर्त्यमज्ञानम् 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम्। तदुक्तम्-

२. अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते॥

(चित्सुखी १/९) इति।

अनुवाद—उसका (रामानुज मतानुसार) यह समाधान बतलाया गया है। यह मत (शांकर अद्वैतमत) तभी ठीक माना जायेगा जब अविद्या में कोई प्रमाण रहेगा। वे लोग (शांकर वेदान्ती) यदि यह कहें कि अनादि, भावरूप तथा ज्ञान के द्वारा हटाया जाने वाला अज्ञान "मैं अज्ञानी हूँ तथा मैं स्वयं को या किसी अन्य को भी नहीं जानता" इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—

जो अनादि तथा भावरूप है एवं विज्ञान होने पर विलीन होता है, विद्वानों ने उसी को अज्ञान का लक्षण बतलाया है। (चित्सुखी—१/९)

विशेष—शांकर अद्वैत वेदान्ती अज्ञान को भावरूप मानते हैं। ज्ञान होने पर यह अज्ञान समाप्त हो जाता है।

न चैतज्ज्ञानाभावविषयमित्याशङ्कनीयम्। को ह्येवं ब्रूयात्प्रभाकरकरावलम्बी भट्टदत्तहस्तो वा? नाद्यः-

३. स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्कैश्चिद्रूपं कदाचन॥
भावान्तरादभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्॥
४. भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।
इति वदताभावव्यतिरिक्तस्याभावस्यानभ्युपगमात्।

अनुवाद—यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि यह अज्ञान ज्ञान के अभाव का विषय है। ऐसा कौन कहता है प्रभाकरगुरु का वरदहस्त रखनेवाले या भट्ट का वरदहस्त रखनेवाले? पहला मत (अर्थात् प्रभाकर कहते हैं कि अज्ञान ज्ञान के अभाव का विषय है) ठीक नहीं है।

अपने रूप तथा पररूप की सहायता से नित्य सत् और असत् रूप वस्तु में कोई व्यक्ति कभी किसी एक रूप को ही जान सकता है।

अभाव एक दूसरे प्रकार का भाव है, जो किसी इच्छा से प्रकट किया जाता है। अन्य प्रकार के भाव के अतिरिक्त अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि उसका निरूपण न किया जा सके।

इस प्रकार कहकर भाव से भिन्न अभाव को स्वीकार नहीं किया गया है।

विशेष—शांकर वेदान्ती पुन: कहते हैं कि अज्ञान ज्ञानाभाव का विषय है—यह मत कौन मानता है। अर्थात् कोई नहीं मानता न तो प्राभाकर इस मत को मानते हैं न ही भाट्ट। भाट्ट और प्राभाकर मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं।

प्राभाकरों का कहना है कि वस्तु के सदा दो रूप रहते हैं या तो वह सत् होती है या फिर असत्। इन दोनों मे किसी एक वस्तु का ज्ञान ही एक समय में हो सकता है।

अभाव भी एक दूसरे प्रकार का भाव ही है। प्राभाकरमतानुसार अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं है। बल्कि अधिकरणरूप ही है। वह किसी न किसी व्यपेक्षा (इच्छा) से प्रकट किया जाता है जैसे असत् के निरूपण की इच्छा से अभाव प्रकट किया जाता है। यहाँ शांकर वेदान्तियों ने मीमांसकों को भी अपने ही पक्ष का बतलाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अभाव भावरूप ही है।

न द्वितीय:। अभावस्य षष्ठप्रमाणगोचरत्वेन ज्ञानस्य नित्यानुमेयत्वेन च तदभावस्य प्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ते:। यदि पुन: प्रत्यक्षाभाववादी कश्चिदेवमाचक्षक्षीत, तं प्रत्याचक्षीत–अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवेऽहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य प्रतियोगितया चावगतिरस्ति न वा? अस्ति चेत्, विरोधादेव न ज्ञानाभावानुभव:। न चेत्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षो ज्ञानाभावानुभव: सुतरां न सम्भवति। तस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे प्रागुक्तदूषणाभावात् अयमनुभवो भावरूपाज्ञानगोचर एवाभ्युपगन्तव्य इति।

अनुवाद—दूसरा मत भी ठीक नहीं है (अर्थात् अज्ञान ज्ञान के अभाव का विषय है—यह बात भाट्ट मीमांसक कहते हैं—यह कहना भी ठीक नहीं है) (भाट्ट मीमांसक) अभाव को षष्ठप्रमाण के रूप में मानते हैं अत: (उनके मत में) ज्ञान नित्य अनुमेय है। अत:, उस ज्ञान का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बन सकता है। अब पुन: अभाव को प्रत्यक्ष मानने वाला व्यक्ति कुछ कहे तो उससे यह प्रश्न करना चाहिये। 'मैं मूर्ख हूँ' इस अनुभव में 'अहम्' यह अभाव के धर्मी (विषयी) के रूप में आत्मा की और प्रतियोगी रूप में ज्ञान की अवगति होती है या नहीं? यदि कोई कहे कि अवगति होती है तो विरोध के कारण ज्ञान के अभाव का अनुभव नहीं होगा। यदि कहें कि ज्ञान की अवगति नहीं होती तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अभाव का अनुभव भी धर्मीप्रतियोगिक ज्ञान के अधीन होता है अत: यह (ज्ञानाभाव का अनुभव) भी सम्भव नहीं है। उस अज्ञान को भावरूप मानने पर पूर्व में कहे गये दोष नहीं होते। इसलिये यह अनुभव भावरूप अज्ञान का विषय होता है—यह समझना चाहिये।

विशेष—अद्वैत वेदान्ती इस बात का भी खण्डन कर रहे हैं कि भाट्टमीमांसक अज्ञान को ज्ञानाभाव का विषय मानते हैं। 'अहम् अज्ञ:' अर्थात् "अहम् ज्ञानाभाववान्" यहाँ अहम् अर्थात् आत्मा ज्ञानाभाव का विषय (विशेष्य) है तथा ज्ञान ज्ञानाभाव का प्रतियोगी है। किन्तु यदि कहें कि ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का अनुभव होता है तो फिर ज्ञानाभाव

का अनुभव नहीं हो सकता है। यदि कहें कि ज्ञान का अनुभव नहीं होता तो भी ज्ञानाभाव का अनुभव सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानाभाव का अनुभव भी तभी हो सकता है जब ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का अनुभव हो। इस प्रकार अज्ञान को ज्ञानाभावरूप मानने पर भी ये सभी दोष आते हैं। अत: अद्वैतवेदान्त मतानुसार अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं बल्कि भाव रूप है।

६. रामानुज द्वारा इसका खण्डन

तदेतद्गगनरोमन्थायितम्। भावरूपस्याज्ञानस्य ज्ञानाभावेन समानयोगक्षेमत्वात्। तथाहि–विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो न वा? प्रतिपन्नश्चेत्, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानमिति तस्मिन्प्रतिपन्ने कथङ्कारमवतिष्ठते? अप्रतिपन्नश्चेत्, व्यावर्तकाश्रयविषय-शून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत?

अनुवाद—यह सब तो (किसी पशु के द्वारा) आकाश की जुगाली करने की तरह (झूठा) है। भावरूप अज्ञान को तो ज्ञानाभाव के समान ही योगक्षेम है। (अर्थात-समान ही स्थिति है) जैसे कि—विषय के रूप में तथा आश्रय के रूप में अज्ञान के व्यावर्तक के रूप में ज्ञानरूप आत्मा की प्रतीति होती है या नहीं? यदि कहे कि प्रतीति होती है तो स्वरूप के ज्ञान से हटने वाला वह अज्ञान है अत: उसकी प्रतीति होने पर अज्ञान कैसे रहेगा? (अर्थात् नहीं रहेगा) यदि कहें कि प्रतीति नहीं होती, तो व्यावर्तक, आश्रय तथा विषय से रहित अज्ञान का अनुभव कैसे होगा?

विशेष—पुन: वेदान्तियों का खण्डन करते हुए रामानुजी कहते हैं कि अज्ञान तथा ज्ञानाभाव दोनों एक जैसे ही हैं। अभाव को ज्ञान से दूर किया जाता है अत: ज्ञान की प्रतीति होने पर अज्ञान कैसे रह सकता है? यदि कहें कि ज्ञान की प्रतीति नहीं होती तो फिर अज्ञान की प्रतीति भी कैसे हो सकती है? क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का व्यावर्तक, आश्रय तथा विषय है।

अथ विशदः स्वरूपावभास एवाज्ञानविरोधी, नाज्ञानेन सह भासत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोध इति–हन्त, तर्हि ज्ञानाभावेऽपि समानमेतदन्यत्राभिनिवेशात्। तस्मादुभयाभ्युपगतज्ञानाभाव एव 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभवगोचर इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

अनुवाद—यदि (अद्वैत वेदान्ती) कहें कि विशद स्वरूप का अवभास ही अज्ञान का विरोधी है वह (विशद आत्म स्वरूपावभास) अज्ञान के साथ नहीं भासता। इस प्रकार आश्रय तथा विषय का ज्ञान होने पर अज्ञान के अनुभव के साथ उसका विरोध नहीं है। (रामानुज भी कहते हैं) अरे! दु:ख है कि फिर अन्यत्र पक्षपात करने पर ज्ञानाभाव मानने पर यह बात समान ही होगी। अत: दोनों ही पक्षों में स्वीकृत ज्ञानाभाव ''मैं अज्ञानी हूँ तथा मैं स्वयं को या किसी अन्य को नहीं जानता'' इस प्रकार के अनुभव में गोचर होता है—यह मानना चाहिये।

विशेष—रामानुजी कहते हैं कि यदि ज्ञानाभाव के आश्रय या विषय 'ज्ञान' का अवभास होता है तो भी ज्ञानाभाव के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। तो फिर ज्ञानाभाव को ही क्यों न माना जाए। अज्ञान को भावरूप मानना व्यर्थ है। अत: ज्ञानाभाव का ही अनुभव होता है—यही रामानुजों का मत है।

७. *अज्ञान को भावरूप मानने में अनुमान और उसका खण्डन*

अस्तु तर्ह्यनुमानं मानं विवादास्पदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्य-स्वदेशगत-वस्त्वन्तर-पूर्वकम् अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वादन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति।

अनुवाद—(अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि) ठीक है तो फिर अनुमान प्रमाण से अज्ञान को भावरूप सिद्ध करते हैं—

विवादित प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न तथा अपने विषय के आवरण तथा अपने द्वारा हटने वाले अपने देश में स्थित किसी अन्य वस्तु के बाद में होता है, अप्रकाशित विषय को प्रकाशित करने के कारण, जिस प्रकार अन्धकार में पहले उत्पन्न दीपक की प्रभा प्रकाश करती है।

विशेष—अद्वैत वेदान्ती अज्ञान को सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग कर रहे हैं—उनका कहना है कि ज्ञान अज्ञान के बाद होता है तथा यह अज्ञान ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न पदार्थ है, वह ज्ञान के विषय का आवरण है तथा ज्ञान के द्वारा ही हटाया जाता है। यह ज्ञान अप्रकाशित विषय को प्रकाशित करने के कारण, अज्ञान के बाद होता है—यह बात सिद्ध होती है। जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभा से अन्धकार से अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान को हटाकर विषयों को प्रकाशित करता है। उक्त अनुमान में पक्ष, साध्य तथा हेतु इस प्रकार हैं—

पक्ष—विवादास्पद प्रमाणज्ञान।

साध्य—स्वप्रागभावव्यतिरिक्त–स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्य-स्वदेशवस्त्वन्तर-पूर्वकत्व।

हेतु—अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व।

तदपि न क्षोदक्षमम्। अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेऽपसिद्धान्तापातात्। तदसाधनेऽनैकान्तिकत्वात्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वाच्च। न हि प्रदीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वं सम्भवति। ज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वात्। सत्यपि प्रदीपे ज्ञानेन विषयप्रकाशसम्भवात्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानं समुत्पादयतो विरोधिसन्तमसनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेवेत्यलमतिविस्तरेण।

अनुवाद—(रामानुजी कहते हैं)—यह बात भी पचने योग्य नहीं है। अज्ञान में भी एक और अनभीष्ट अज्ञान सिद्ध करने पर अपसिद्धान्त आ जायेगा। अज्ञान में दूसरा अज्ञान न मानने पर हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। दृष्टान्त में भी हेतु (साधन) नहीं रह पायेगा। क्योंकि फिर दीपक की प्रभा में अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित करने का सामर्थ्य

सम्भव नहीं रह पायेगा। क्योंकि ज्ञान ही प्रकाशक है। दीपक के रहने पर भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन सम्भव है। चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न करती है तथा दीपक की प्रभा प्रकाश के विरोधी अन्धकार को दूर करते हुए केवल उपकार मात्र करती है। इस प्रकार अत्यधिक विस्तार पर्याप्त है।

विशेष—वेदान्ती ज्ञान को अज्ञान के बाद मानते हैं तथा ऐसा मानने में जो हेतु देते हैं, उसी हेतु से अज्ञान में एक और अज्ञान मानना पड़ेगा, लेकिन यह तो अद्वैत वेदान्तियों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि हेतु को न मानें फिर तो हेतु ही व्यभिचारी सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार पूर्वोक्त अनुमान में एक दोष यह भी है कि यहाँ दृष्टान्त में हेतु ही नहीं लग पाता है क्योंकि दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती बल्कि यह कार्य तो चक्षुरिन्द्रिय का है। चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में दीपप्रभा केवल अन्धकार को हटाकर सहकारी कारण बनती है। यदि दीपप्रभा ही वस्तु प्रकाशन करने में समर्थ होती तब तो अन्धे व्यक्ति को भी दीपप्रभा में प्रत्यक्ष होना चाहिये। अत: पूर्वोक्त अद्वैत वेदान्त मत सम्मत अनुमान प्रयोग ठीक नहीं है—ऐसा रामानुजों का मत है।

७. क. उपर्युक्त अनुमान का प्रत्यनुमान

प्रतिप्रयोगश्च विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रितम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवदिति। ननु शुक्तिकाद्यज्ञानस्याश्रयस्य प्रत्यगर्थस्य ज्ञानमात्र-स्वभावत्वमेव इति चेत्, मैवं शङ्किष्ठाः। अनुभूतिर्हि स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुणत्वापादनस्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभ-वितुरात्मनो धर्मविशेषः। अनुभवितुरात्मत्वमात्मवृत्तिगुणविशेषस्य ज्ञानत्वमित्या-श्रयणात्।

अनुवाद—(रामानुजमतानुसार) पूर्वोक्त अनुमान प्रयोग का विरोधी अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—

विवाद विषय अज्ञान केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म पर आश्रित नहीं है, अज्ञान होने के कारण, जिस प्रकार शुक्ति के विषय में अज्ञान होता है। यदि कोई कहे कि शुक्ति आदि के अज्ञान का आश्रय चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञानमात्र स्वभाव है तो ऐसी शङ्का भी न करे। क्योंकि अनुभूति (अनुभव) अपने स्वभाव के द्वारा किसी वस्तु के व्यवहार के अनुरूप आनेवाला स्वभाव है, इसके ज्ञानावगति संवित् आदि दूसरे नाम हैं तथा यह अनुभव करने वाले आत्मा का कर्म से युक्त धर्म विशेष है। अनुभव करने वाले को आत्मा तथा आत्मस्थित गुण विशेष को ज्ञानत्व कहा जाता है।

विशेष—रामानुजों का कहना है कि अज्ञान का ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से ही सम्बन्ध है—ऐसी बात नहीं है। शुक्ति को देखकर 'यह रजत है' ऐसा अज्ञान भी होता है। यदि कोई कहे कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो उसमें अज्ञान कैसे रहता है। इसका उत्तर रामानुजी देते हैं यह शुक्ति विषयक अज्ञान एक प्रकार का अनुभव है और अनुभव आत्मा का धर्म है।

ननु ज्ञानरूपस्यात्मनः कथं ज्ञानगुणकत्वमिति चेत्, तदसारम्। यथा हि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्यं प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपाऽपि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः।

अनुवाद—यदि कोई कहे कि ज्ञानस्वरूप आत्मा का गुण भी ज्ञान कैसे हो सकता है तो यह कहना व्यर्थ है। जिस प्रकार मणि, सूर्य आदि तेजस् द्रव्य प्रभावान् रूप से स्थिति रहते हुए स्वयं भी प्रभारूप गुण के आश्रय हैं। अपने आश्रय से अन्यत्र वर्तमान रहने के कारण तथा रूपवान् होने के कारण प्रभा स्वयं द्रव्यरूपा होने पर भी उन सूर्य आदि का अङ्ग होने के कारण गुण नाम से व्यवहृत होती है। उसी प्रकार यह आत्मा स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप होने पर भी चैतन्य गुण वाला है।

विशेष—रामानुज मत में आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है तथा उसका गुण भी ज्ञान भी है। यह कैसे सम्भव है? न्यायमत में तो आत्मा को द्रव्य माना जाता है तथा उसे ज्ञान का आश्रय मानते हैं। इसका उत्तर रामानुजों ने प्रभा का दृष्टान्त देकर दिया है। गुण का तात्पर्य अङ्ग भी होता है। इसीलिए प्रभा को अङ्ग होने के कारण गुण कहते हैं। प्रभा द्रव्य रूपा होने पर भी सूर्य का अङ्ग है।

तथा च श्रुतिः-स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव (बृ०उ० ४/५/१३)। अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति (बृ०उ० ४/३/९)। न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ०उ० ४/३/३०)। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा (छा० ८/१२/४)। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ०उ० ४/३/७)। एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्नो० ४/९) इत्यादिका।

अनुवाद—उसी तरह श्रुति भी है—जैसे वह नमक का संघात न केवल अन्दर ही और न केवल बाहर ही (बल्कि अन्दर-बाहर सर्वत्र) सम्पूर्ण रस का संघात ही है, उसी प्रकार अरे! यह आत्मा भी न केवल अन्दर और न केवल बाहर (अर्थात् अन्दर बाहर सर्वत्र) सम्पूर्ण ज्ञान का संघात ही है।" (बृह० उप० ४/५/१३) "यहाँ यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है" (बृ.उ. ४/३/९) "विज्ञाता के विज्ञान का विनाश नहीं होता है।" (बृ.उ. ४/३/३०) " जो यह जानता है कि मैं सूंघ रहा हूँ वही आत्मा है" (छा.उप. ८/१२/४) "जो यह विज्ञानमय पुरुष है वह प्राणों में, हृदय में स्वयं प्रकाश है।" (बृ.उ. ४/३७) "यह दृष्टा, स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता, घ्राता (सूंघने वाला), रसयिता (रस का अनुभव करने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), बोद्धा (समझने वाला), कर्ता तथा विज्ञान रूप पुरुष (आत्मा) है।" (प्रश्नो ४/९) इत्यादि।

विशेष—श्रुतियों से भी यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानरूप आत्मा में ज्ञानधर्म भी रहता है। श्रुति में पुरुष शब्द का अर्थ है—आत्मा पुरे (शरीरे) शेते इति पुरुषः आत्मा।

८. भावरूप अज्ञान मानने में श्रुति-प्रमाण नहीं है

न च 'अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः' (छा० ८/३/२) इति श्रुतिरविद्यायां प्रमाणमित्याश्रयितुं शक्यम्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः। ऋतशब्दश्च कर्मवचनः। 'ऋतं पिबन्तौ' (का० ३/१) इति वचनात् ऋतं कर्म फलाभिसन्धिरहितं, परमपुरुषाराधनमेव तत्प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकाल्पफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि। 'य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८/३/२) इति वचनात्।

अनुवाद—'असत्य से ढँका हुआ है' (छा० ८/३/२) यह श्रुति अविद्या में प्रमाण है—यह कहना भी ठीक नहीं है। अनृत शब्द का अर्थ है—जो ऋत का विषय न हो और ऋत शब्द का अर्थ है—कर्म। 'ऋत को पीते हुए' (का० ३/१) इस वचन के अनुसार ऋत शब्द का अर्थ है—फल की इच्छा से रहित कर्म। परम पुरुष की आराधना ही उस ऋत की प्राप्ति का फल है। उस ऋत से भिन्न जो सांसारिक अल्पफल वाला कर्म है, वह अनृत है, वह कर्म ब्रह्म प्राप्ति का विरोधी है। 'जो इस ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करता वह अनृत से ढंका हुआ है' (छा० ८/३/२) इस वचन के कारण।

विशेष—रामानुजों का मत है कि 'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' इस वचन के अनुसार यह कल्पना नहीं की जा सकती कि अविद्या या अज्ञान की सत्ता है। क्योंकि इस वचन में अनृत का अर्थ है—ऋत न कि अज्ञान। ऋत का तात्पर्य मूलग्रन्थ में बतलाया गया है। अद्वैत वेदान्त में अज्ञान की सत्ता मानी गया है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (श्वे० उ० ४/१०) इत्यादौ मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकरत्रिगुणात्मकप्रकृत्यभिधायको नानिर्वचनीयाज्ञानवचनः।

५. तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमेकैकांशेन सूदितम्॥

(वि०पु० १/१९/२०)

इत्यादौ विचित्रार्थसर्गसमर्थस्य पारमार्थिकस्यैवासुराद्यस्त्रविशेषस्यैव मायाशब्दाभिधेयत्वोपालम्भात्। अतो न कदाचिदपि श्रुत्याऽनिर्वचनीयाज्ञा-प्रतिपादनम्।

अनुवाद—"माया को प्रकृति समझो" (श्वे०उप० ४/१०) इत्यादि वचनों में माया शब्द का अर्थ है—विचित्र विषयों की सृष्टि करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति, न कि अनिर्वचनीय अज्ञान।

"उस शीघ्रगामी तथा बालक प्रह्लाद के शरीर की रक्षा करने वाले सुदर्शन चक्र ने शम्बरासुर की हजारों मायाओं को एक-एक करके नष्ट कर डाला।

(वि०पु० १/१९/२०)"

इत्यादि में विचित्र सृष्टि करने में समर्थ तथा पारमार्थिक असुर आदि के अस्त्र विशेष का माया शब्द से बोध होता है।

अत: कभी भी वेदों के द्वारा अनिर्वचनीय अज्ञान प्रतिपादन नहीं हुआ है।

विशेष—अद्वैत वेदान्त में माया को अविर्वचनीय अज्ञानरूप माना गया है। यह माया भावरूपा है। लेकिन रामानुजों का कहना है कि माया में कोई प्रमाण नहीं है। वेदों में माया सम्बन्धी कोई वचन नहीं मिलते। जहाँ वेद में माया शब्द का उल्लेख है, वह भी असुरों के पारमार्थिक अस्त्र का नाम है। इस अस्त्र से अनेक प्रकार की मायावी सृष्टि होती है।

विष्णुपुराण के अनुसार हिरण्यकशिपु का साथी दैत्य शम्बरासुर था, जो कि प्रह्लाद को मारना चाहता था। भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र ने शम्बरासुर को मार डाला।

९. अज्ञान की सिद्धि अर्थापत्ति से भी नहीं–'तत्त्वमसि' का अर्थ

नाप्यैक्योपदेशान्यथानुपपत्त्या तत्त्वंपदयोः सविशेषब्रह्माभिधायित्वेन विरुद्धयोर्जीवपरयोः स्वरूपैक्यस्य प्रतिपत्तुमशक्यतयाऽर्थापत्तेरनुदयदोषदूषितत्वात्।

अनुवाद—(तत् तथा त्वम् पदार्थ की) एकता के उपदेश की अन्यथानुपपत्ति से भी (अज्ञान) सिद्ध नहीं होता। तत् तथा त्वम् पद सविशेष ब्रह्म का अभिधान करते हैं। अत:, परस्पर विरुद्ध जीव तथा ब्रह्म के स्वरूप की एकता का प्रतिपादन न हो पाने से अर्थापत्ति का ही उदय नहीं होता—यह दोष आ जाता है।

विशेष—अद्वैत वेदान्त में तत्त्वमसि (वही ब्रह्म तुम हो) इसे महावाक्य माना गया है। इस वाक्य में जीव तथा ब्रह्म को जो सामानाधिकरण्य है वह लक्षणा के द्वारा सिद्ध होता है। तत् पद का अर्थ है—परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य तथा त्वम् पद का अर्थ है—अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य। इन दोनों अर्थों में परस्पर विरुद्ध, परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व का त्याग करके एक चैतन्यरूप अर्थ में दोनों पदों की लक्षणा होती है, इसे ही भागलक्षणा या भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं।

रामानुजों का कहना है कि यदि अद्वैत वेदान्ती यह कहें कि पूर्वोक्त 'तत्त्वमसि' वाक्य में तत् पदार्थ तथा त्वम् पदार्थ की एकता तभी सम्भव है, जब अज्ञान की सत्ता को माना जायेगा। तो अद्वैत वेदान्तियों का यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तत् पद का अर्थ है—परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ है—अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य। 'तत्' पद और 'त्वम्' पद विशिष्ट अर्थ को बतलाते हैं तथा लक्षणा के द्वारा अर्थ का समन्वय भी हो जाता है फिर अर्थापत्ति (अन्यथानुपपत्ति) की आवश्यकता ही नहीं रहती।

तथा हि–तत्पदं निरस्तसमस्तदोषम् अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणास्पदं जगदुदयविभवलयलीलं ब्रह्म प्रतिपादयति। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६/२/३) इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वंपदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्माचष्टे। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य।

अनुवाद—'तत्' पद समस्त दोषों से रहित, असीम अतिशय तथा असंख्य कल्याण गुण वाले तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार की लीला करने वाले ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। ''उसने देखा, मैं बहुत हो जाऊँ, मैं उत्पन्न हो जाऊँ।'' (छा०उप० ६/२/३) इत्यादि वाक्यों में उसी ब्रह्म का वर्णन है। उसी का समानाधिकरण 'त्वम्' पद अचित् से विशिष्ट जीव शरीर वाले ब्रह्म को बतलाता है। दो प्रकारों से विशिष्ट किन्तु एक ही वस्तु का हमेशा सामानाधिकरण्य होता है।

विशेष—तत् तथा त्वम्—दोनों पदों का अर्थ एक ही है—चैतन्य। किन्तु दोनों का प्रकार (विशेषण) अलग-अलग है। तत् पद का अर्थ है चित् विशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का अर्थ है—अचित् विशिष्ट चैतन्य।

१०. तत्त्वमसि में लक्षणा–अद्वैत-पक्ष

ननु 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत् तत्त्वमिति पदयोर्विरुद्धभागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्वरूपमात्मैक्यं सामानाधिकरण्यार्थः किं न स्यात्। यथा सोऽयमित्यत्र तच्छब्देन देशान्तरकालान्तरसम्बन्धी पुरुषः प्रतीयते। इदंशब्देन च संनिहित-देशवर्तमानकालान्तरसम्बन्धी। तयोः सामानाधिकरण्येनैक्यमवगम्यते। अत्रैक-स्य युगपद्विरुद्धदेशकालप्रतीतिर्न सम्भवतीति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपपरत्वे स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। एवमत्रापि किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि-विरुद्धांश-प्रहाणेनाखण्डस्वरूपं लक्षयत इति चेत्–

अनुवाद—यदि यह कहें कि ''वही यह देवदत्त है'' इस वाक्य की तरह ही
तत् और त्वम् पदों के विरुद्ध भाग का त्याग कर लक्षणा द्वारा निर्विशेष रूप आत्मैक्य
ही सामानाधिकरण्य का अर्थ क्यों नहीं है? जिस प्रकार ''वही यह देवदत्त है'' वाक्य में
तत् शब्द से देशान्तर तथा कालान्तर से सम्बन्धित पुरुष की प्रतीति होती है और इदम्
शब्द से समीपवर्ती देश और वर्तमान काल से सम्बन्धित पुरुष की प्रतीति होती है।
सामानाधिकरण्य के द्वारा दोनों की एकता पता चलती है। (इस 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य
में) एक ही पुरुष की एक साथ विरुद्ध देश-काल की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः दोनों
ही पदों (सः तथा अयम्) को स्वरूप बोधक मानने पर स्वरूप की एकता मानना सम्भव
है। उसी तरह यहाँ भी किञ्चिज्ज्ञत्व और सर्वज्ञत्व आदि विरुद्ध अंश का त्याग करके
अखण्डस्वरूप की लक्षणा होती है।

विशेष—अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार ''सोऽयं देवदत्तः''
वाक्य में भागत्यागलक्षणा होती है वैसे ही 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी भागत्यागलक्षणा होती
है। एक ही देवदत्त में दो विरुद्ध देशकाल एक ही समय में सम्भव नहीं है, अतः दोनों
'सः' तथा 'अयम्' पदों से विरुद्ध अंश का त्याग करके एक देवदत्त स्वरूप में लक्षणा
होती है।

११. रामानुज का उत्तर-पक्ष

विषमोऽयमुपन्यासः। दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणागन्धासम्भ-वात्। एकस्य तावद् भूतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धो न विरुद्धः। देशान्तरस्थितिर्भूता

संनिहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसम्बन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहरणीयः। लक्षणापक्षेऽप्येकस्यैव पदस्य लक्षकत्वाश्रयणेन विरोधपरिहारे पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वस्वीकारो न संगच्छते।

अनुवाद—यह कल्पना अत्यन्त विषम है। दृष्टान्त में विरोध न होने से वहाँ लक्षणा की गन्ध भी सम्भव नहीं है। एक ही वस्तु में भूतकाल तथा वर्तमान काल दोनों का सम्बन्ध विरुद्ध नहीं है। देशान्तर में भूतकाल में स्थिति थी, समीपवर्ती देश में वर्तमान में स्थिति है इस प्रकार देशभेद के सम्बन्ध का विरोध कालभेद से दूर कर देना चाहिये। लक्षणा मानने पर एक ही पद को लक्षक मानने पर विरोध दूर हो जाता है, अतः दोनों पदों को लाक्षणिक मानना ठीक नहीं है।

विशेष—रामानुज कहते हैं कि एक ही वस्तु में देशभेद तथा कालभेद रह सकता है। अतः सोऽयं वाक्य में तो लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं है।

इतरथैकस्य वस्तुनः तत्तेदन्ताविशिष्टत्वावगाहनेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यानङ्गीकारे स्थायित्वासिद्धौ क्षणभङ्गवादी बौद्धो विजयेत। एवमत्रापि जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्मात्मा शरीरम्' (बृ० ३/७/२२) इति श्रुत्यन्तरात्।

अनुवाद—अन्यथा (दोनों पदों को लाक्षणिक मानने पर) एक ही वस्तु को तत् और इदम् से विशिष्ट मानने पर प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य स्वीकार नहीं होता और फिर (वस्तु के) स्थायित्व की ही सिद्धि न होने से क्षणभङ्गवादी बौद्ध की विजय होगी। इसी तरह यहाँ भी जीव और परमात्मा के मध्य शरीर और आत्मा का भाव होने से उनका तादात्म्य विरुद्ध नहीं है—यह प्रतिपादित किया जा चुका है। जीवात्मा ब्रह्म का शरीर होने के कारण वह प्रकारतया ब्रह्म ही है। "जो आत्मा में रहते हुए आत्मा से भिन्न है जिसे आत्मा नहीं जानता और जिसका शरीर आत्मा है।" (बृह० ३/७/२२) यह अन्य श्रुति में कहा गया है।

विशेष—रामानुजों का कहना है कि यदि यह मानें एक ही वस्तु में दो विरुद्ध धर्म हैं तो प्रत्यभिज्ञा (सोऽयं) की प्रतीति कैसे होगी? जीवात्मा शरीर है और ब्रह्म उसके भीतर रहने वाला आत्मा है।

१२. सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं

अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। न च पर्यायत्वम्। द्वारभेदसम्भवात्। तथा हि जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानीव सर्वाणि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि।

अनुवाद—अब थोड़े में यह कहते हैं। सभी शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। लेकिन वे पर्याय नहीं हैं। उनमें द्वारभेद सम्भव है। जैसे कि जीव के शरीर होने के कारण उसके प्रकार देव मनुष्य आदि योनियों के समान वे सभी वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं।

विशेष—रामानुजों का मानना है कि सभी वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं तथा प्रत्येक शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। लेकिन ऐसा मानने पर प्रत्येक शब्द को पर्याय मानना पड़ेगा। इस

पर रामानुजो का कहना हैं कि यद्यपि प्रत्येक शब्द ब्रह्मवाचक है, लेकिन शाब्दबोध में पदार्थस्मरण जो कि द्वार है उसमें भिन्नता हो जाने से प्रत्येक शब्द को परस्पर पर्याय नहीं कह सकते—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधी:।
शाब्दबोध: फलं तत्र वृत्रिधी: सहकारिणी।।

न्यायमुक्तावलि

इस प्रकार जीव शरीर है और उसके ऊपर प्रकारतया देव मनुष्यादि हैं। वे सभी देव मनुष्यादि ब्रह्मरूप हैं।

अत:-

६. देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसा: ।
पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घट: पट: ।।

इत्यादय: सर्वे शब्दा: प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धा लोके, तद्वाच्यतया प्रतीयमानतत्तत्संस्थानवद्वस्तुमुखेन तदभिमानिजीवतदन्तर्यामि-परमात्मपर्यन्तसङ्घातस्य वाचका:। देवादिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वमुक्तं तत्त्व-मुक्तावल्यां चतुर्थसर्गे-

७. जीवं देवादिशब्दो वदति तदपृथक्सिद्धभावाभिधाना-
न्निष्कर्षाभावयुक्ताद्बहुरिह च दृढो लोकवेदप्रयोग:।
आत्मासम्बन्धकाले स्थितिरनवगता देवमर्त्यादिमूर्ते-
र्जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे।।

(तत्त्वमुक्ताकलाप: ४/८२) इति।

अनुवाद--इसीलिए—देव, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, सर्प, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, लकड़ी, शिला, तिनका, घट तथा पट—

ये सभी शब्द प्रकृति प्रत्यय के योग से संसार में पदार्थों के वाचक के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा अपने वाच्य के रूप में प्रतीत होने वाली उस-उस अवयववाली वस्तु के माध्यम से तदभिमानी जीव और उसमें अन्तर्यामी परमात्मा तक के सङ्घात के वाचक हैं। देवादि शब्दों का परमात्मा तक बोधकत्व तत्त्वमुक्तावली के चतुर्थ सर्ग में कहा गया है—

देवादि शब्द जीव का ही अभिधान करते हैं। क्योंकि उस जीव से पृथक् न रहने वाले सिद्ध भाव को ही वे बतलाते हैं तथा उन दोनों में निष्कर्ष (भेद) भी नहीं है—ऐसा लोक और वेद में बहुत प्रयोग होता है। आत्मा से जीव का सम्बन्ध होने पर देव, मनुष्य आदि के शरीर की स्थिति अवगत नहीं होती। शरीर में जीवात्मा का प्रवेश होने के कारण विभु परमात्मा ने भी जगत् में नाम और रूप की व्याख्या की है। (तत्त्वमुक्ताकलाप ४.८२)

विशेष—वेङ्कटनाथ या वेदान्तदेशिक ने तत्त्वमुक्ताकलाप नामक ग्रन्थ लिखा है। इसी का अपर नाम तत्त्वमुक्तावलि है। उसी ग्रन्थ में उन्होने बतलाया है कि सभी शब्द

परमात्मा के वाचक हैं। किसी भी शब्द का प्रयोग जब किसी वस्तु के लिये करते हैं तो वह शब्द उस वस्तु के साथ-साथ उसके भीतर के परमात्मतत्त्व का भी बोध कराता है।

अनेन देवादिशब्दानां शरीरविशिष्टजीवपर्यन्तत्वं प्रतिपाद्य, 'संस्थानैक्याद्यभावे' (त०मु०क० ४/८३) इत्यादिना शरीरलक्षणं दर्शयित्वा, 'शब्दैस्तन्वंशरूपप्रभृतिः' (४/९४) इत्यादिना विश्वेश्वरापृथक्सिद्धत्वमुपपाद्य, 'निष्कर्षाकूत' (४/८५) इत्यादिना पद्येन सर्वेषां शब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वं प्रतिपादितं, तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अयमेवार्थः समर्थितो वेदार्थसंग्रहे नामरूपश्रुतिव्याकरणसमये रामानुजेन।

अनुवाद—इससे "देवादि शब्दों का अर्थ शरीर से विशिष्ट जीव पर्यन्त है"—यह प्रतिपादन करके फिर संस्थानैक्याद्यभावे" (त०नु०क० ४/८३) इत्यादि श्लोक के द्वारा शरीर का लक्षण दिखलाकर शब्दैस्तन्वंश रूपप्रभृतिः (४/८४) इत्यादि श्लोक के द्वारा विश्व की ईश्वर से एकत्वसिद्धि का उपपादन करके, निष्कर्षाकूत (४/८५) श्लोक से सभी शब्दों का परमात्मा पर्यन्त प्रतिपादन है—यह सब कुछ वहीं से जान लेना चाहिये। इसी बात को रामानुजाचार्य ने भी वेदार्थसंग्रह नामक ग्रन में नामरूपश्रुति की व्याख्या के प्रसङ्ग में पुष्ट किया है।

विशेष—तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ में रामानुजाचार्य के मत का ही समर्थन किया गया है। वहाँ से उद्धृत उपर्युक्त तीनों श्लोकों का विवरण इस प्रकार है—

संस्थानैक्याद्यभावे बहुषु निरुपधिर्देहशब्दस्य रूढि-
र्लोकाम्नायप्रयोगानुगतमिह ततो लक्ष्म निष्कर्षणीयम्।
अव्याप्तत्वादिदुःखं परमतपठितं लक्षणं तत्र तस्मात्
यद्धीतुल्याश्रयं तद्वपुरिदमपृथक् सिद्धिमत् द्रव्यमस्य।।

शारीरिक रचना की एकता न होने से बहुत से पदार्थों में देह शब्द का उपाधिरहित प्रयोग होता है। अतः लोक तथा वेद के प्रयोग के अनुसार उसका एक लक्षण निकालना चाहिये। अन्य मत में बतलाये गये लक्षण अव्याप्ति आदि दोषों से ग्रस्त हैं। अतः जो बुद्धि के समान आश्रय वाला है, वही शरीर है। यह शरीर बुद्धि से पृथक् द्रव्य नहीं है।

इस श्लोक में वेंकटनाथ ने शरीर का लक्षण बतलाया है—बुद्धि के समान आश्रयवाला। फिर अगले श्लोक विश्व को ईश्वर रूप बताया है—

शब्दैःस्तन्वंशरूपप्रभृतिभिरखिलः स्थाप्यते विश्वमूर्ते-
रित्थंभावः प्रपञ्चस्तदनवगमतस्तत्पृथक् सिद्धमोहः।
श्रोत्राद्यैराश्रयेभ्यः स्फुरति खलु पृथक् शब्दगन्धादिधर्मो
जीवात्मन्यप्यदृश्ये वपुरपि हि दृशा गृह्यतेऽनन्यनिष्ठम्।।

तनु, अंश, रूप इत्यादि शब्दों के कारण इस प्रकार का यह सम्पूर्ण संसार विश्वमूर्ति परमात्मा का ही सिद्ध होता है, लेकिन यह न जानने के कारण मूर्ख लोग संसार

को परमात्मा से अलग सिद्ध करने का मोह करते हैं। श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियों के द्वारा शब्द, गन्ध आदि गुणों का ग्रहण अपने आश्रय से अलग होकर ही होता है। उसी प्रकार आँखों से अदृश्य जीवात्मा में यह शरीर अनन्य निष्ठ होकर आँखों से गृहीत होता है।

फिर तीसरे श्लोक में वेंकटनाथ कहते हैं—

निष्कर्षाकूतहानौ विमतिपदपदान्यन्तरात्मानमेकं
तन्मूर्तेर्वाचकत्वादभिदधति यथा रामकृष्णादिशब्दाः।
सर्वेषामाप्तमुख्यैरगणि च वचसां शाश्वतेऽस्मिन्प्रतिष्ठा
पाकैस्तस्याप्रतीतेर्जगति तदितरैः स्याच्च भङ्क्त्वा प्रयोगः।।

जब जीव और परमात्मा में भिन्नता नहीं मानी जाती, तब विवादास्पद सभी पद परमात्मा का ही बोध कराते हैं। जैसे कि राम, कृष्ण आदि शब्द परमात्मा की मूर्ति की ही वाचकता बतलाते हैं। आप्तलोगों में प्रमुखों ने सभी शब्दों की प्रतिष्ठा इस शाश्वत ब्रह्म में मानी है। अज्ञानी लोग इस बात की प्रतीति न होने से जगत् अर्थ में सभी शब्दों की प्रतिष्ठा मानते हैं तथा अन्य लोग शब्दों का प्रयोग तोड़कर (लक्षणा के द्वारा) करते हैं।

१३. *निर्विशेष ब्रह्म की अप्रामाणिकता*

किं च सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। अन्यथा सविकल्पके सोऽयमिति पूर्वप्रतिपन्नप्रकारविशिष्टप्रतीत्यनुपपत्तेः।

अनुवाद—और सभी प्रमाणों का विषय सविशेष वस्तु होती है, इसलिये निर्विशेष वस्तु को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु ही प्रतीत होती है। अन्यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष होने पर "यह वही है" इस प्रकार से पूर्व से ज्ञात प्रकार विशिष्ट की प्रतीति नहीं लग पाती है।

विशेष—रामानुज का कहना है कि सभी प्रमाण सविशेष वस्तु को ही ग्रहण करते हैं। अतः निर्विशेष वस्तु को मानना व्यर्थ है। जबकि अद्वैत मत में ब्रह्म को निर्विशेष माना गया है।

इसी प्रकार रामानुजों के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान भी निर्विशेष नहीं है। वह सविशेष ही है, जबकि न्यायमत में निर्विकल्पक ज्ञान को निर्विशेष माना जाता है। जैसे— 'इदं किञ्चित्' इस ज्ञान को नैयायिक निर्विशेष कहते हैं जबकि रामानुजों के अनुसार यह सविशेष ज्ञान ही है। क्योंकि दूर से कोई वस्तु दिखलाई पड़ने पर यह प्रतीति होती है— इदं किञ्चित्। पास जाने पर 'सोऽयं घटः' इत्याकारक सविशेष प्रतीति होती है। इस प्रतीति में पहले से ज्ञात घट के आकार विशेष की प्रतीति भी अनुवृत्त होती है जो कि 'सोऽयं' शब्द में अभिव्यक्त है। इसीलिये रामानुजों के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण है— "एकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्" एक प्रकार की वस्तुओं में सर्वप्रथम किसी वस्तु का जो ज्ञान है, वह निर्विकल्पक है। रामानुज तथा नैयायिकों मे निर्विकल्पक ज्ञान का

लक्षण पृथक्-पृथक् है। जिसे नैयायिक प्रत्यभिज्ञा कहते हैं वही रामानुजमत में सविकल्पक ज्ञान है।

१४. प्रपञ्च की सत्यता

किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य बाधकम्। भ्रान्तिमूलकत्वात्, भ्रान्तिप्रयुक्तरज्जुसर्पवाक्यवत्। नापि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं निवर्तकम्। तत्र प्रमाणाभावस्य प्रागेवोपपादनात्। न च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिष्ठापनपक्ष एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाव्याकोपः।

अनुवाद—और 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य प्रपञ्च (संसार) का बाधक नहीं है। क्योंकि इसका मूल भ्रान्ति है, जिस प्रकार भ्रम से होने वाला रज्जु सर्प वाक्य (रस्सी को सांप समझकर जो वाक्य कहा जाता है—अयं सर्पः) होता है। न ही ब्रह्म तथा जीव की एकता का ज्ञान संसार का निवर्तक है, क्योंकि इसमें प्रमाणाभाव को पहले ही सिद्ध किया गया है। यह भी नहीं कह सकते कि प्रपञ्च (संसार) को सत्य मान लेने पर "एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है" इस प्रतिज्ञा का बाध हो जाएगा।

विशेष—रामानुजमतानुसार तत्त्वमसि वाक्य संसार (प्रपञ्च) का बाधक नहीं है, जबकि अद्वैत शंकराचार्य इस वाक्य को संसार का बाधक मानते हैं। रामानुज का कहना है कि यह वाक्य उसी प्रकार भ्रमात्मक है, जिस प्रकार रस्सी को देखकर किसी को भ्रम होता है कि यह सांप है।

"ब्रह्म तथा जीव की एकता का ज्ञान" भी संसार का निवर्तक नहीं हो सकता। अज्ञान की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है—इस बात का प्रतिपादन पहले ही हो चुका है। अतः जब अज्ञान की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो फिर अज्ञानजनितप्रपञ्च की निवृत्ति में भी कोई प्रमाण नहीं है।

शंकराचार्य जगत् को असत्य मानते हैं तथा ये मानते हैं कि "एक ब्रह्म के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।" रामानुजों का कहना है कि जगत् भी सत्य है और ब्रह्म भी सत्य है। जगत् को सत्य मान लेने पर भी एक ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। इस प्रतिज्ञा में कोई बाधा नहीं आती है। इसका कारण आगे बतला रहे हैं—

प्रकृति-पुरुष-महदहङ्कार-तन्मात्र-भूतेन्द्रिय-चतुर्दशभुवनात्मक-ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्ति-देव-तिर्यङ्-मनुष्य-स्थावरादि-सर्वप्रकार-संस्थान-संस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारणभूतब्रह्मात्मज्ञानादेव सर्वविज्ञानं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपन्नतरत्वात्। अपि च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्यासत्त्वादेव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येत।

अनुवाद—प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, तन्मात्र, पञ्चमहाभूत, इन्द्रियां तथा चौदह भुवनरूप ब्रह्माण्ड तथा उसके भीतर रहनेवाले देव, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावर आदि सब प्रकार के संस्थानों से युक्त समस्त कार्य भी ब्रह्म ही है—इस प्रकार से कारण रूप ब्रह्म के ज्ञान से ही सब ज्ञान हो जाता है—इस तरह एक के ज्ञान से सबका ज्ञान उपपन्न

हो जाता है। और ब्रह्म के अतिरिक्त सभी वस्तु को मिथ्या मानने पर सभी वस्तुओं के न रहने पर एक के ज्ञान से सभी के ज्ञान की प्रतिज्ञा बाधित होगी।

विशेष—कार्य तथा कारण में अभेद मानने पर कारणरूप ब्रह्म तथा कार्यरूप यह प्रपञ्च—दोनों एक ही है। इसलिये यदि कारणरूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो ब्रह्म के कार्य सम्पूर्ण संसार का भी ज्ञान हो जाता है, क्योंकि रामानुज के मतानुसार ब्रह्म भी सत्य है और जगत् भी सत्य है।

यदि शंकर वेदान्ती कहें कि ब्रह्म ही सत्य हैं और सब कुछ मिथ्या है, तो पूर्वोक्त प्रतिज्ञा "एक के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो जाता है" का बाध होगा। इस प्रकार इस पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का बाध रामानुज मत में नहीं आता है बल्कि शांकर मत में ही आता है।

नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशावत्प्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्। जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मकार्यावस्थम् ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभावश्च सृष्टिरित्यभिधीयते। एवं च कार्य-कारणयोरनन्यत्वमपि आरम्भणाधिकरणे प्रतिपादितमुपपन्नतरं भवति।

अनुवाद—नाम तथा रूप के विभाग से रहित सूक्ष्मावस्था को प्राप्त प्रकृति पुरुष रूप शरीर ही ब्रह्म की कारणावस्था है। जगत् का यह रूप ही प्रलय है। नाम तथा रूप के विभाग से विभक्त स्थूल, चिदचित् रूप वस्तु शरीर ही ब्रह्म की कार्यावस्था है। ब्रह्म का यही स्थूलभाव जगत् की सृष्टि कहलाता है। इस प्रकार कार्य-कारण का एकत्व जो आरम्भाधिकरण में प्रतिपादित है, वह ठीक ही है।

विशेष—रामानुज कहते हैं कि कार्य तथा कारण दोनों एक ही है। ब्रह्म कारण है तथा वही कार्य भी है। ब्रह्म की निर्गुण अवस्था कारणरूपा है और यही जगत् की प्रलयावस्था है। ब्रह्म की सगुण अवस्था ही कार्य (जगत्) है। इसे ही सृष्टि कहते हैं।

१५. *निर्गुणवाद और नानात्वनिषेध की सिद्धि*

निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधविषयतया व्यवस्थिताः। नानात्वनिषेधवादाश्चैकस्यैव ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं चेतनाचेतनात्मकं वस्त्विति सर्वस्यात्मतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमिति सर्वात्मकब्रह्मपृथग्भूतवस्तुसद्भाव-निषेधपरत्वाभ्युपगमेन प्रतिपादिताः।

अनुवाद—निर्गुणब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले वचनों को प्राकृत हेय गुणों का निषेध करने के रूप में व्यवस्थापित किया जा सकता है। ब्रह्म के नानात्व का निषेध करने वाले वचन इसका प्रतिपादन करते हैं कि एक ही ब्रह्म के शरीर के अन्तर्गत उसी ब्रह्म के प्रकार के रूप में समस्त चेतन तथा अचेतन रूप वस्तु है। सबके आत्मा के रूप में सब प्रकार ब्रह्म ही स्थित है। अतः इन वाक्यों का तात्पर्य है कि सर्वरूप ब्रह्म से पृथक् वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है।

विशेष—रामानुजाचार्य का कहना है कि वेदों में निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मातिरिक्त प्राकृत वस्तुएँ निर्गुण हैं तथा हेय हैं।

इसी प्रकार "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि वाक्यों में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इस वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि सब कुछ ब्रह्मरूप है। अत: ब्रह्मातिरिक्त जो कुछ भी दीख रहा है, वह सब मिथ्या है।

१६. *रामानुज-मत की तत्त्वमीमांसा*

किमत्र तत्त्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा? सर्वं तत्त्वम्। तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते। एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्यादसङ्कराच्च भेदः।

अनुवाद—(तो अब यह प्रश्न उठता है कि) तत्त्व क्या है? भेदरूप, अभेदरूप या उभयरूप? (इसका उत्तर रामानुज देते हैं कि) यह सब तत्त्व है। सबके शरीर के रूप में सब प्रकार से ब्रह्म ही स्थित है, इसलिये अभेद स्वीकार किया जाता है। एक ही ब्रह्म नाना प्रकार के चित् तथा अचित् प्रकार से नाना रूप में स्थित है यह भेदाभेद है। चित्, अचित् तथा ईश्वर का भेद उनके स्वरूप तथा स्वभाव की विलक्षणता के कारण तथा असांकर्य के कारण होता है।

विशेष—रामानुज कहते हैं कि भेद, अभेद तथा भेदाभेद तीनों प्रकार के तत्त्व हैं। ब्रह्म सर्वरूप है—यह अभेद। एक ही ब्रह्म अनेक रूप में स्थित है। यह भेदाभेद है। चित्, अचित् तथा ईश्वर में परस्पर भेद है।

१६. *क. चित्, अचित् और ईश्वर के स्वभाव*

तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनामसंकुचितापरिच्छिन्न-निर्मलज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञानसङ्कोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुख-दुःखोपभोगद्वयरूपा भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावाः।

अचिद्वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वमपुरुषार्थत्वं विकारास्पदत्वमित्यादयः।

परस्येश्वरस्य भोक्तृ-भोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छेद्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्ति-तेजःप्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याणगुणगणता स्वसंकल्पप्रवृत्तस्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातता स्वाभिमतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूपनिरतिशयविविधानन्तभूषणतेत्यादयः।

अनुवाद—उसमें चित् के रूप में रहने वाले, असंकुचित, अपरिच्छिन्न, निर्मलज्ञान रूप, अनादि कर्म रूप अविद्या से युक्त जीवात्माओं का उस-उस कर्म के अनुरूप ज्ञान का संकोच तथा विकास, भोगने योग्य अचित् वस्तुओं का संपर्क, उसके अनुसार सुख-दुःख दोनों का उपभोग करने रूप भोक्तृता तथा भगवान् की प्राप्ति अर्थात् भगवत्पद की प्राप्ति आदि ही स्वभाव है।

भोग्यरूप अचित् वस्तुओं का अचेतनत्व, अपुरुषार्थत्व तथा विकाराश्रयत्व आदि स्वभाव है।

परमेश्वर का स्वभाव है—भोक्ता तथा भोग्य के अन्तर्यामी रूप से रहना, असीमित ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज इत्यादि अनन्त, अतिशय तथा अनगिनत कल्याण कारक गुणों से युक्त होना, अपनी इच्छा से प्रवृत्त होकर अपने से अतिरिक्त समस्त चिदचित् वस्तुओं को उत्पन्न करना, अपने अभीष्ट तथा अपने अनुरूप एक रूप वाले या दिव्यरूप वाले असीम विविध तथा अनन्त उपाधियों को धारण करना।

विशेष—यहाँ चित्, अचित् तथा ईश्वर के स्वभावों का वर्णन किया गया है।

चित् जीवात्मा हैं। वे कर्मफल के भोक्ता हैं। वे असीम तथा अनन्त हैं। उनके ज्ञान का संकोच तथा विकास होता है। वह सुख-दुःख का उपभोग करता है। उसका अन्तिम प्रयोजन भगवत्प्राप्ति है।

भोग्य पदार्थ अचित् हैं। वे अचेतन तथा विकार से युक्त हैं। वे किसी का भी पुरुषार्थ (प्रयोजन) नहीं होते है।

परमेश्वर असीम ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न होते हैं। उनका वर्णन ऊपर विस्तार से किया गया है। वे अनेक उपाधियों (भूषणों) को भी धारण करते हैं।

वेङ्कटनाथेन त्वित्थं निरटङ्कि पदार्थविभागः-

८. द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदा -
न्नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह जडामादिमां केचिदाहुः ।।

(त० मु० १/६)

९. तत्र द्रव्यं दशावत्प्रकृतिरिह गुणैः सत्त्वपूर्वैरुपेता
कालोऽब्दाद्याकृतिः स्यादणुरवगतिमाञ्जीव ईशोऽन्य आत्मा ।
सम्प्रोक्ता नित्यभूतिस्त्रिगुणसमधिका सत्त्वयुक्ता तथैव
ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिरिति कथितं सङ्ग्रहाद् द्रव्यलक्ष्म ।।

(त० मु० १/७) इत्यादिना।

अनुवाद—वेंकटनाथ ने पदार्थों का विभाग इस प्रकार बतलाया है—

तत्त्व के ज्ञाताओं ने यह तत्त्व कहा है कि द्रव्य तथा अद्रव्य के भेद से प्रमेय तत्त्व दो प्रकार का है। द्रव्य भी दो प्रकारों में बंटा है—जड़ तथा अजड़। पहले जड़ के दो भेद हैं—अव्यक्त तथा व्यक्त। दूसरा अजड़ भी दो प्रकार का है—प्रत्यक् तथा पराक्। इसमें पहला प्रत्यक् दो प्रकार है—जीव तथा ईश्वर। दूसरे पराक् के भी दो भेद हैं—नित्या विभूति तथा मति। इसमें पहली नित्या विभूति को कुछ लोग जड़ा भी कहते हैं। (त.मु. १/६)

उसमें द्रव्य अवस्था से युक्त रहता है। सत्त्व, रज, तम गुणों से युक्त इसकी (द्रव्य की) प्रकृति है। काल वर्ष आदि रूप हैं। जीव अणु है तथा ज्ञान से सम्पन्न है। जीव से भिन्न आत्मा ही ईश्वर है। तीनों गुणों से परे तथा सत्व से युक्त नित्य विभूति है। ज्ञाता के द्वारा ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान ही मति है। यही संक्षेप में द्रव्य का लक्षण है। (त.सू. १/७)

विशेष—रामानुज के अनुसार तत्त्व का विभाजन इस प्रकार है—

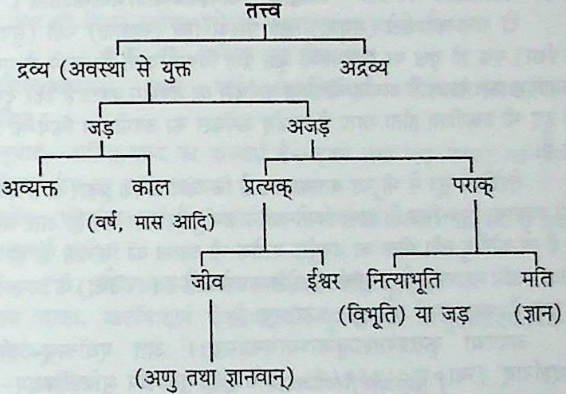

१६. ख. जीव का वर्णन

तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मानः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च। तथा च श्रुतिः–'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३/१/१, श्वे० ४/६) इत्यादिका। अत एवोक्तं नानात्मानो व्यवस्थातः (वैशे० सू० ३/२/२०) इति तन्नित्यत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्–

१०. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(गीता २/२०) इति।

अनुवाद—उसमें चित् शब्द से बोधित होनेवाले जीवात्मा परमात्मा से भिन्न तथा नित्य हैं। जैसा कि वेदों में कहा गया है—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया आदि। (मु० ३/१/१, श्वे० ४/६) अत: कहा गया है—जीवात्माओं की अनेक व्यवस्थाएँ हैं। (वैशे.सू. ३/२/२०) जीवात्मा की नित्यता भी श्रुति में प्रसिद्ध है—

यह विद्वान् आत्मा न उत्पन्न होता है, न ही मरता है, न ही यह होकर पुनः उत्पन्न होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत तथा प्राचीन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।

—गीता (२/२०)

विशेष—चित् का अर्थ जीव है। जीव तथा ईश्वररूपी दोनों पक्षी एक ही हृदयरूपी वृक्ष में बैठे रहते हैं। कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

दो समानरूपवाले (सयुजा) तथा परस्पर मित्र (सखाया) पक्षी (सुपर्णा=जीव तथा ईश्वर) एक ही वृक्ष पर (हृदयरूपी वृक्ष पर) विश्राम करते हैं। इनमें से एक पीपल का स्वादिष्ट फल खाता है अर्थात् जीवात्मा कर्मफल का उपभोग करता है और दूसरा बिना खाते हुए भी प्रकाशित होता रहता है अर्थात् कर्मफल का उपभोग न किये भी प्रकाशित रहता है।

वैशेषिक सूत्र में भी यह बताया गया है कि जीव अनेक प्रकार के हैं क्योंकि उन सबकी व्यवस्था भिन्न-भिन्न हैं। सभी अपने-अपने कर्मानुसार फल पाते हैं। अत: कोई सुखी रहता है तो कोई दु:खी। गीता का उपर्युक्त श्लोक भी आत्मा की नित्यता को ही बतलाता है। गीता यद्यपि महाभारत के अन्तर्गत है लेकिन उसे वेदान्त (उपनिषद्) के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अत: यहाँ उसे श्रुति कहा गया है।

अपरथा कृतप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अत एवोक्तम्–'वीतराग-जन्मादर्शनात्' (न्या०सू० ३/१/२५) इति। तदणुत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्–

११. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वे० ५/९) इति।

'आराग्रमात्रः पुरुषः' (श्वे० ५/८), 'अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३/१/९) इति च।

अनुवाद—अन्यथा कृत प्रणाश तथा अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग होगा। इसीलिये कहा गया है—"आसक्ति से रहित होने पर पुन: जन्म नहीं होता है" न्या०सू० (२/१/२५) आत्मा का अणुत्व भी श्रुति में प्रसिद्ध है—

केश के अग्रभाग के सौ भाग करने पर पुन: प्रत्येक भाग सौ भाग करने पर जो भाग बनेगा, वह जीव (आत्मा) समझना चाहिये। (अर्थात् उतने भाग के बराबर आत्मा अणु है।) यह जीव ही आनन्त्य (मोक्ष) का अधिकारी है। (श्वे. ५/९)

और भी कहा गया है—"पुरुष (आत्मा) का आकार आरे के अग्र भाग मात्र है।" (श्वे. ५/८) अणुपरिमाण आत्मा को मन से जानना चाहिये। मुण्ड (३/१/९)

विशेष—जो व्यक्ति आसक्ति रहित होता है, वह मुक्त हो जाता है उसका पुन: जन्म नहीं होता—ऐसा न्यायसूत्र में कहा गया है।

आत्मा का आकार बालाग्र के १००००वें भाग के बराबर बतलाया गया है।

यदि आत्मा को अनित्य मानने लगें तो दो दोष आयेंगे—

१. कृतप्रणाश

२. अकृताभ्यागम

आत्मा अनित्य होने से कर्मों के फल की व्यवस्था में व्यवधान आ जाता है। किये हुए कर्मों से फल नहीं मिलेगा क्योंकि कर्म करने के बाद यदि आत्मा का नाश हो

गया, तो फल कैसे मिलेगा। यही है कृतप्रणाश। दूसरा दोष यह है कि आत्मा को न किये हुए कर्मों का फल भी मिलने लगेगा। इसे ही अकृताभ्यागम कहते हैं।

१६. ग. अचित् का निरूपण

अचिच्छब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्यभोगोपकरण-भोगायतनभेदात्।

अनुवाद—अचित् शब्द का वाच्यार्थ है—दृश्य तथा जड़ जगत्। यह तीन प्रकार है—भोग्य, भोग का उपकरण तथा भोगायतन।

विशेष—भोग्य का अर्थ है शब्दादि विषय। भोग का उपकरण इन्द्रियां हैं तथा भोग का आयतन है शरीर।

१७. ईश्वर का निरूपण–उनकी पाँच मूर्तियाँ

तस्य जगतः कर्तोपादानं चेश्वरपदार्थः पुरुषोत्तमो वासुदेवादिपदवेद-नीयः। तदप्युक्तम्–

१२. वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः॥ इति।

स एव वासुदेवः परमकारुणिको भक्तवत्सलः परमपुरुषस्तदुपास-कानुगुणतत्तत्फलप्रदानाय स्वलीलावशादर्चा-विभव-व्यूह-सूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते।

अनुवाद—उस जगत् का कर्ता तथा उपादान कारण ईश्वर पद का अर्थ पुरुषोत्तम है, यह वासुदेव आदि पद से जाना जाता है। यह भी ठीक नहीं है—

कल्याणकारक गुणों से युक्त वासुदेव परम ब्रह्म है। वह वासुदेव ही जगत् का उपादान कारण, कर्ता तथा जीवों का नियामक है।

वह वासुदेव ही परमकारुणिक, भक्तवत्सल तथा परमपुरुष है, वह अपने उपासकों को तदनुसार फल प्रदान करने वाले तथा अपनी लीला के कारण अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी के भेद से पांच प्रकार का है।

विशेष—ईश्वर के ५ स्वरूप हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी। इन पांचों स्वरूपों का वर्णन आगे किया गया है।

तत्रार्चा नाम प्रतिमादयः। रामाद्यवतारो विभवः। व्यूहश्चतुर्विधो वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञकः। सूक्ष्मं सम्पूर्णषड्गुणं वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म। गुणा अपहतपाप्मत्वादयः। 'सोऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः (छा० ८/७/३) इति श्रुतेः। अन्तर्यामी सकलजीवनियामकः 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (बृ० ३/७/२२) इति श्रुतेः।

अनुवाद—उसमें प्रतिमा आदि को अर्चा कहते हैं। रामादि अवतार को विभव कहत हैं। व्यूह चार प्रकार का है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। षड्गुणों से

युक्त वासुदेव रूप पर ब्रह्म ही सूक्ष्म है। पापराहित्य आदि गुण हैं। वह पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है'' (छा०उप० ८/७/३) यह श्रुति है। सह जीवों का नियामक अन्तर्यामी है। ''वह आत्मा में अन्दर बैठकर आत्मा को नियंत्रित करता है'' यह श्रुति है। (बृ०मा० ३/७/२२)

विशेष—ईश्वर को जो ५ स्वरूप हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. अर्चा–भगवान् की प्रतिमा को अर्चा कहा जाता है। प्रतिमा भी आठ प्रकार की बतलायी गयी है—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

श्रीमद्भागवत (११/२७/१२)

१. पत्थर की मूर्ति, २. लकड़ी निर्मित मूर्ति ३. धातु (लौहादि) निर्मित, ४. लेप से बनी मूर्त, ५. चित्रनिर्मित, ६. बालू या मिट्टी की मूर्ति ७. मानसरूप मूर्ति ८. रत्न या मणिनिर्मित मूर्ति।

इन प्रतिमाओं का विधिवत् पूजन किया जाता है।

२. विभव–रामादि अवतार ही विभव है। भगवान् के प्रमुख २४ अवतार हैं। अवतार लेने पर ईश्वर के दो कार्य होते हैं—निग्रह तथा अनुग्रह। वे दुष्टों का निग्रह करते हैं तथा भक्तों पर अनुग्रह करते हैं। विभव दो प्रकार के हैं—मुख्य तथा गौण। मुख्य विभव में परमात्मा स्वेच्छया अवतार लेते हैं, जबकि गौण विभव में किसी विशेष कार्य को सिद्ध करनेके लिये ईश्वर का अवतार होता है।

३. व्यूह–व्यूह के चार प्रकार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज—इन ६ गुणों से युक्त वासुदेव हैं। यही परब्रह्म हैं तथा ईश्वर का तीसरा रूप सूक्ष्म यही हैं। संकर्षण ज्ञान तथा बल से युक्त है। प्रद्युम्न ऐश्वर्य तथा वीर्य से युक्त हैं। अनिरुद्ध शक्ति तथा तेज सम्पन्न हैं। संकर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना है। प्रद्युम्न का कार्य क्रिया मार्ग की शिक्षा देना है तथा अनिरुद्ध का कार्य मोक्ष की शिक्षा देना है। इन तीनों व्यूहों के सहित वासुदेव को ही चतुर्व्यूहात्मक ईश्वर कहा जाता है।

४. सूक्ष्म–षड्गुणों से परिपूर्ण वासुदेव ही सूक्ष्म हैं। इन्हीं षड्गुणों को वेद में दूसरे शब्दों में वर्णित किया गया है—पापराहित्य, जराराहित्य, मृत्युराहित्य, शोकराहित्य, बुभुक्षाराहित्य, पिपासाराहित्य, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पित्व आदि।

५. अन्तर्यामी–ईश्वर अन्तर्यामी रूप से सब प्राणियों की आत्मा में बैठे रहते हैं। वहाँ बैठकर वे मनुष्य की आत्मा को नियंत्रित करते हैं। इसके पूर्व ''द्वा सुपर्णा.....'' मन्त्र का उद्धरण देकर यही बताया गया था कि जीवात्मा के बिल्कुल समीप परमात्मा (ईश्वर) बैठे हुए हैं।

तत्र पूर्वपूर्वमूर्त्युपासनया पुरुषार्थपरिपन्थिदुरितनिचयक्षये सत्युत्तरोत्तर-मूर्त्युपास्त्यधिकारः। तदुक्तम्–

१३. वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम्।
अधिकार्यानुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु॥

१४. तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्चमूर्तीः करोति वै।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः॥

अनुवाद—उसमें (उपर्युक्त ५ मूर्तियों में) पूर्व-पूर्व मूर्ति की उपासना करने से पुरुषार्थ में विघ्न करने वाले पापों के समूह का नाश होने पर धीरे-धीरे बाद वाली मूर्ति की उपासना का अधिकार मिलता है। जैसा कि कहा गया है—

अपने भक्तों पर प्रेम रखने के कारण भगवान् वासुदेव उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं तथा अधिकारी के अनुसार उन्हें बहुत सा फल प्रदान करते हैं।

इसलिये वे परमात्मा लीलापूर्वक अपनी पांच मूर्तियां करते हैं। प्रतिमा आदि को अर्चा कहते हैं तथा अवतार को विभव कहते हैं।

विशेष—इन ५ मूर्तियों में बाद-बाद वाली मूर्तियाँ उपासकों के लिये अधिक श्रेयस्कर हैं। अतः साधक पहले पूर्व-पूर्व मूर्तियों की उपासना करता है, फिर धीरे-धीरे बाद वाली मूर्तियों की उपासना का अधिकारी बनता है।

१५. सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं सम्पूर्णसद्गुणम्॥

१६. तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निगद्यते।
अन्तर्यामी जीवसंज्ञो जीवप्रेरक ईरितः॥

१७. य आत्मनीति वेदान्तवाक्यजालैर्निरूपितः।
अर्चोपासनया क्षिप्ते कल्मषेऽधिकृतो भवेत्॥

१८. विभवोपासने पश्चाद् व्यूहोपास्तौ ततः परम्।
सूक्ष्मे तदनु शक्तः स्यादन्तर्यामिणमीक्षितुम्॥ इति।

अनुवाद—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध-चार प्रकार का व्यूह ज्ञेय है। सम्पूर्ण ६ गुणों से युक्त वासुदेव रूप परब्रह्म को ही सूक्ष्म कहा जाता है। जीव के भीतर रहकर जीव को प्रेरणा देने वाला ईश्वर ही अन्तर्यामी कहा गया है।

वह "य आत्मनि" (जो ब्रह्म आत्मा में स्थित है) इत्यादि वेदान्तवाक्यों के द्वारा निरूपित होता है। (यह 'य आत्मनि' वाक्य अन्तर्यामी रूप मूर्ति को पुष्ट करता है।) अर्चा की उपासना करने से पाप नष्ट हो जाने पर साधक विभव की उपासना का अधिकारी बनता है। इसके बाद व्यूह की उपासना, उसके बाद सूक्ष्म की उपासना करता है और उसके बाद वह अन्तर्यामी को देखने में सक्षम होता है।

विशेष—उपर्युक्त ५ मूर्तियों की उपासना का एक क्रम है। सबसे पहले साधक अर्चा की उपासना करता है। जब वह अर्चा की उपासना करके परिपक्व हो जाता है, तब

वह विभव की उपासना करता है, विभव के बाद व्यूह की उपासना करता है, चारों व्यूहों की उपासना करने के बाद वासुदेव रूप सूक्ष्म ब्रह्म की उपासना करता है। उसके बाद सबसे अन्त में अन्तर्यामी ब्रह्म की उपासना करता है।

१८. उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति

तदुपासनं च पञ्चविधमभिगमनमुपादानमिज्या स्वाध्यायो योग इति श्रीपञ्चरात्रेऽभिहितम्। तत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्गस्य सम्मार्जनोपलेपनादि। उपादानं गन्धपुष्पादिपूजासाधनसम्पादनम्। इज्या नाम देवतापूजनम्। स्वाध्यायो नाम अर्थानुसन्धानपूर्वको मन्त्रजपो वैष्णवसूक्तस्तोत्रपाठो नामसंकीर्त्तनं तत्त्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च। योगो नाम देवतानुसंधानम्।

अनुवाद—इन (५ मूर्तियों) की उपासना ५ प्रकार की है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, योग-यह पञ्चरात्र में कहा गया है। अभिगमन का तात्पर्य है—देवस्थान के मार्ग की स्वच्छता, लेपन आदि। गन्ध, पुष्प आदि पूजा के साधनों का सम्पादन उपादान है। इज्या का अर्थ है देवता का पूजन। अर्थ का विचार करते हुए मन्त्र का जप, वैष्णव सूक्त या स्तोत्रों का पाठ, नामसंकीर्तन तथा तत्त्व के प्रतिपादक शास्त्रों का अभ्यास स्वाध्याय है। देवता का ध्यान करना ही योग है।

विशेष—उपर्युक्त पांचों मूर्तियों में प्रत्येक की उपासना के ये ५ प्रकार हैं।

एवमुपासनाकर्मसमुच्चितेन विज्ञानेन द्रष्टृदर्शनि नष्टे भगवद्भक्तस्य तन्निष्ठस्य भक्तवत्सलः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमः स्वयाथात्म्यानुभवानुगुणनिरवधिकानन्दरूपं पुनरावृत्तिरहितम् स्वपदं प्रयच्छति। तथा च स्मृतिः—

१८. मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गी० ८/१५) इति।

२०. स्वभक्तं वासुदेवोऽपि संप्राप्यानन्दमक्षयम्।
पुनरावृत्तिरहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति॥ इति च।

अनुवाद—इस प्रकार उपासना रूपी कर्म से युक्त ज्ञान के द्वारा द्रष्टा (जीव) का दर्शन समाप्त हो जाने पर भगवान् के भक्त के भीतर रहने वाले (अन्तर्यामी) भक्त वत्सल परमदयालु पुरुषोत्तम अपने यथार्थ ज्ञान के अनुरूप तथा निरवधिक आनन्दरूप अपना पद भक्त को प्रदान करते हैं, जिस परमपद पर जाने के बाद फिर से लौटना नहीं होता है। जैसा कि स्मृति में कहा गया है—

परमसिद्धि को प्राप्त महात्मा लोग मुझे प्राप्त करके दुःख का आश्रय तथा अस्थिर पुनर्जन्म नहीं पाते।

(गीता ८, १५)

भगवान् वासुदेव भी अपने भक्तों को पाकर उन्हें आनन्दरूप, अक्षयरूप तथा पुनरावृत्ति से रहित अपने धाम को प्रदान करते हैं।

विशेष—ईश्वर की ५ मूर्तियों में अन्तिम मूर्ति अन्तर्यामी रूप परमात्मा ही जीव को अपुनरावृत्ति रूप मोक्ष प्रदान करते हैं। यह मोक्ष पद तभी मिलता है जब द्रष्टा जीव अपना दर्शन बन्द कर परमात्मा का दर्शन करता है। यह परमात्मा जीव के समीप ही भीतर बैठे रहते हैं।

(ब्रह्मसूत्र की व्याख्या-प्रथम सूत्र)

तदेतत्सर्वं हृदि निधाय महोपनिषन्मतावलम्बनेन भगवद्बोधायनाचार्य-कृतां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं विस्तीर्णामालक्ष्य रामानुजः शारीरकमीमांसाभाष्यमकार्षीत्। तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र०सू० १/१/१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः- अत्राथशब्दः पूर्ववृत्तकर्माधिगमनानन्तर्यार्थः। तदुक्तं वृत्तिकारेण-वृत्तात्कर्माधिग-मादनन्तरं ब्रह्म विविदिषतीति।

अनुवाद—इन सारी बातों को हृदय में रखकर महान् उपनिषदों के मत का अवलम्बन करके भगवान् बोधायनाचार्य के द्वारा लिखी गयी ब्रह्मसूत्र की विशालकाय वृत्ति को देखकर रामानुजाचार्य ने शारीरक मीमांसा पर भाष्य किया। उसमें "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (अब ब्रह्म की जिज्ञासा करे) ब्र.सू. १/१/१—इस प्रथम सूत्र का यह अर्थ है—यहाँ अथ शब्द का अर्थ—पूर्व में हुए कर्मज्ञान के बाद। जैसा कि वृत्तिकार ने कहा है—पूर्व में वर्णित कर्मज्ञान के बाद ब्रह्म को जानना चाहता है।

विशेष—महर्षि बादरायण (वेदव्यास, कृष्ण द्वैपायन भी इन्हीं के दूसरे नाम थे) द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र को आधार बनाकर रामानुज, शंकर, मध्व, बल्लभाचार्य आदि आचार्यों ने भाष्यों की रचना की और इसी कारण वेदान्त सूत्र पर आधारित वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय हो गये।

ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) पर ही बोधायनाचार्य ने वृत्ति भी लिखी है। आचार्य रामानुज ने इसी वृत्ति को आधार बनाकर अपना भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्र को ही शारीरक सूत्र या शारीरक मीमांसा भी कहते हैं। शारीरक का अर्थ है शरीर में रहने वाला आत्मा। इस ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है—"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।" यहाँ रामानुज के अनुसार अथ शब्द का अर्थ है—कर्ममीमांसा को जानने के बाद। मीमांसा दो प्रकार की है—कर्ममीमांसा तथा ब्रह्म मीमांसा। कर्म मीमांसा को ही पूर्व मीमांसा दर्शन कहा जाता है। मीमांसासूत्र जैमिनि द्वारा रचित है। तथा ब्रह्ममीमांसा को उत्तरमीमांसा या वेदान्तदर्शन कहते हैं।

अतःशब्दो हेत्वर्थः। अधीतसाङ्गवेदस्याधिगततदर्थस्य विनश्वरफलात्क-र्मणो विरक्तत्वाद् हेतोः स्थिरमोक्षाभिलाषुकस्य तदुपायभूतब्रह्मजिज्ञासा भवति। ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्तसमस्तदोषानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते।

एवं च कर्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य च वैराग्योत्पादनद्वारा चित्तकल्म-षापनयद्वारा च ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वेन तयोः कार्यकारणत्वेन पूर्वोत्तर-

मीमांसयोरेकशास्त्रत्वम्। अत एव वृत्तिकाराः–'एकमेवेदं शास्त्रं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इत्याहुः।

अनुवाद—अतः शब्द हेत्वर्थक है। अङ्गसहित वेद का अध्ययन करने वाले, वेद के अर्थ को जानने वाले तथा स्थिररूप मोक्ष की इच्छा रखने वाले मनुष्य को नश्वर फल वाले कर्मों से विरक्ति होने के कारण मोक्ष के उपायभूत ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है। ब्रह्मशब्द से स्वभावतः समस्त दोषों से रहित, असीम, अत्यधिक तथा असंख्येय कल्याण गुणों वाले भगवान् पुरुषोत्तम कहे जाते हैं।

इस प्रकार कर्मज्ञान तथा कर्मानुष्ठान वैराग्य उत्पन्न करने के माध्यम से तथा चित्त के विकार दूर करने के माध्यम से ब्रह्मज्ञान के प्रति साधन है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान तथा कर्मज्ञान का एक दूसरे से कार्य कारण सम्बन्ध होने के कारण पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा का एकशास्त्रत्व है। इसीलिये वृत्तिकार ने कहा है—१६ अध्यायों वाले जैमिनिशास्त्र को मिलाकर यह ब्रह्मशास्त्र भी एक ही है। (लक्षण शब्द का अर्थ अध्याय है)।

विशेष—'अतः' शब्द से यह भाव निकलता है कि चूंकि कर्म का फल विनश्वर है। अतः, स्थिररूप मोक्षफल की इच्छा करने वाले व्यक्ति को ब्रह्मजिज्ञासा होती है। यज्ञादि कर्मों का फल विनाशी है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।—गीता। अर्थात् कर्मफल क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक आना पड़ता है।

कर्म मीमांसा के द्वारा वैराग्य तथा चित्तशुद्धि होती है तथा उसके बाद ब्रह्ममीमांसा की योग्यता आती है। चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर—ये ६ विकार हैं। यही मल या कल्मष कहे जाते हैं। इस कल्मषों का नाश अर्थात् चित्तशुद्धि कर्मानुष्ठान के द्वारा होती है। अतः कर्ममीमांसा साधन है तथा ब्रह्ममीमांसा साध्य। कर्ममीमांसा में १२ अध्याय तथा संकर्षकाण्ड में ४ अध्याय मिलाकर कुल १६ अध्याय हैं। ब्रह्मसूत्र में ४ अध्याय हैं। इस प्रकार कर्म मीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा मिलाकर २० अध्याय हैं।

१९. क. कर्म के साथ ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का साधन है

कर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य चाक्षयित्वं 'परीक्ष्य लोकात्कर्मचितान्ताब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १/२/१२) इत्यादिश्रुतिभिरनुमानार्थापत्त्युपबृंहिताभिः प्रत्यपादि। एकैकनिन्दया कर्मविशिष्ट-स्य ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वं दर्शयति श्रुतिः–

२१. अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

(बृ० ४/४/१० तथा ई० ९)

२२. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(ई० ११) इत्यादि।

अनुवाद—कर्मफल की नश्वरता तथा ब्रह्मज्ञान के फल की अनश्वरता को अनुमान तथा अर्थापति प्रमाण से परिपुष्ट इन श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है—

"कर्म से प्राप्त लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे, क्योंकि अकृत (अर्थात् नित्य परमात्मा) की प्राप्ति कृत (अनित्य कर्म) से नहीं होती।" श्रुति ने एक-एक की निन्दा करके कर्म विशिष्ट ज्ञान का मोक्षसाधनत्व दिखलाया है—

जो केवल अविद्या का सेवन करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, लेकिन जो केवल विद्या में रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकार में जाते हैं।

(बृ. ४,४,१०, ई० ९)

जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनों को जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है। (ई० ११)

विशेष—कर्मफल अनित्य है, लेकिन ब्रह्मफल नित्य है। श्रुति के विषय को अनुमान प्रमाण तथा अर्थापत्ति प्रमाण से दृढ़ किया जाता है।

विद्या तथा अविद्या दोनों के अलग-अलग फल हैं। लेकिन जो व्यक्ति अविद्या को छोड़कर केवल विद्या का सेवन करता है या विद्या को छोड़कर केवल अविद्या का सेवन करता है, वे दोनों ही घोर अन्धकार में जाते हैं। अविद्या का अर्थ है कर्मानुष्ठान और विद्या का अर्थ है—ब्रह्मज्ञान। जो इन दोनों का आचरण करते हैं अर्थात् कर्म विशिष्ट ज्ञानवान् है वे मोक्ष पाते हैं।

तदुक्तं पाञ्चरात्ररहस्ये-

२३. स एव करुणासिन्धुर्भगवान्भक्तवत्सलः ।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तपञ्चकम् ॥

२४. तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम् ।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते ॥

२५. पूर्वपूर्वोदितोपास्तिविशेषक्षीणकल्मषः ।
उत्तरोत्तरमूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत् ॥

२६. एवं ह्यहरहः श्रौतस्मार्तधर्मानुसारतः ।
उक्तोपासनया पुंसां वासुदेवः प्रसीदति ॥

अनुवाद—पाञ्चरात्ररहस्य में कहा गया है—

वही करुणासागर भगवान् भक्तवत्सल हैं, जो भक्तों के अनुसार पांचमूर्तियों को धारण करते हैं।

ये पांच मूर्तियाँ हैं—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी। जिसका आश्रय लेकर ही जीव समूह उस उस ज्ञेय विषय को प्राप्त करता है।

पूर्व-पूर्व में कथित मूर्ति की उपासना से मनुष्य के पाप क्षीण होते जाते हैं और वह उत्तरोत्तर मूर्ति की उपासना का अधिकारी बनता है।

इसी प्रकार प्रतिदिन श्रौत-स्मार्त धर्मानुष्ठान करते हुए तथा पूर्वोक्त उपासना से मनुष्य पर भगवान् वासुदेव प्रसन्न होते हैं।

विशेष—ऊपर जिन विषयों का वर्णन हो चुका है, उन्हीं विषयों को परिपुष्ट करने के लिए यहाँ "पाञ्चरात्ररहस्य" का संदर्भ दिया गया है।

२७. **प्रसन्नात्मा हरिर्भक्त्या निदिध्यासनरूपया।**
अविद्यां कर्मसङ्घातरूपां सद्यो निवर्तयेत्॥

२८. **ततः स्वाभाविकाः पुंसां ते संसारतिरोहिताः।**
आविर्भवन्ति कल्याणाः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः॥

२९. **एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च।**
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते॥

३०. **मुक्तास्तु शेषिणि ब्रह्मण्यशेषे शेषरूपिणः।**
सर्वानश्नुवते कामान्सह तेन विपश्चिता॥ इति।

अनुवाद—निदिध्यासन रूप भक्ति के कारण भगवान् हरि प्रसन्न होकर कर्मसमूह रूपी अविद्या को तुरन्त नष्ट कर देते हैं।

उसके बाद मनुष्य के सर्वज्ञत्व आदि स्वाभाविक कल्याणकारी गुण प्रकट होते हैं, जिससे संसार नष्ट हो जाता है। (अर्थात् उस ज्ञानी व्यक्ति के लिए संसार समाप्त हो जाता है।)

इस प्रकार ईश्वर तथा मुक्त व्यक्ति दोनों के समान गुण होते हैं। केवल अन्तर यह है कि ईश्वर में सर्वकर्तृत्व विशेषगुण है।

परिपूर्ण (अशेष) तथा अङ्गी (शेषी) ब्रह्म में अङ्गरूप से रहनेवाले मुक्त लोग उस विद्वान् ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त करते हैं।

विशेष—मुक्त पुरुष तथा ईश्वर समान कोटि के हैं। केवल उन दोनों में अन्तर यही रहता है कि ईश्वर जगत् का जन्म, पालन तथा प्रलय करता है। (जगन्माद्यस्य यतः—ब्र.सू. १/१/२) लेकिन मुक्त पुरुष जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार नहीं करता।

ईश्वर परिपूर्ण अङ्गीरूप है तथा मुक्त पुरुष उस अङ्गी के अंग हैं।

२०. *ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ*

तस्मात्तापत्रयातुरैरमृतत्वाय पुरुषोत्तमादिपदवेदनीयं ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तं भवति। 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थप्राधान्येन सह ब्रूत इतः सनोऽन्यत्र' इति वचनबलादिच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधेयम्। तच्च ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं वेदनं न तु वाक्यजन्यमापातज्ञानम्। पदसन्दर्भश्राविणो व्युत्पन्नस्य विधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्।

अनुवाद—इसलिये त्रिविधतापों से व्याकुल व्यक्ति को अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषोत्तम आदि पदों से ज्ञात होने वाले ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये—यह कहा गया है। "प्रकृति तथा प्रत्यय प्रत्ययार्थ की प्रधानता के साथ अर्थ को

बतलाते हैं लेकिन सन् प्रत्यय से अतिरिक्त स्थलों पर''—इस वचन बल से इच्छा का जो इष्यमाण है, उसके प्रधान होने से इष्यमाण ज्ञान ही यहाँ निधेय है। वह विधेय ध्यान, उपासना आदि शब्दों से वाच्य ज्ञान ही होता है, केवल वाक्य से उत्पन्न आपाततः प्रतीत ज्ञान नहीं। क्योंकि पद के सन्दर्भ को सुनने वाले व्युत्पन्न व्यक्ति को बिना विधान के ही (पद से आपाततः ज्ञान) प्राप्त हो जाता है।

विशेष—व्याकरण शास्त्र का यह नियम है कि ''प्रकृतिप्रत्ययौ सह अर्थ ब्रूतः तत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्'' किन्तु यह नियम 'सन्' प्रत्यय पर लागू नहीं होता। जिज्ञासा पद में ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय हुआ।

(प्रकृति) ज्ञा+(प्रत्यय) सन् = जिज्ञासा।

ज्ञा धातु का अर्थ है ज्ञान तथा सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा। यहाँ सन् प्रत्यय का अर्थ है इच्छा। यहाँ सन् प्रत्यय के कारण प्रकृत्यर्थ ज्ञान प्रधान है। वह ज्ञान ही विधेय है। यह ज्ञान केवल पद से होने वाले पद ज्ञान की तरह ऊपरी ज्ञान नहीं है बल्कि ध्यान या उपासना रूप है। पद से होने वाला पदार्थज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं है, क्योंकि वह आगे बतलायी जाने वाली ''आत्मा वा अरे..........'' इत्यादि विधियों का विधेय नहीं है। ''आत्मा वा..........'' आदि विधियों का विधेय ब्रह्म ज्ञान है। यही ध्यान या उपासना रूप ज्ञान है।

ताप अर्थात् दुःख तीन प्रकार का है—

१. आधिदैविक—देव, यक्ष, ग्रह आदि से होने वाला दुःख।

२. आधिभौतिक—भूत अर्थात् प्राणियों से होने वाला दुःख। मनुष्य, हिंसक जीव, रोगों आदि से होने वाला दुःख आधिभौतिक है।

३. आध्यात्मिक—मन में होने वाला दुःख।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २/४/५), 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १/४/७) 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४/४/२१), 'अनुविद्य विजानाति' (छा० ८/७/१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र 'श्रोतव्यः' इत्यनुवादः। अध्ययनविधिना साङ्गस्य स्वाध्यायस्य ग्रहणेऽधीतवेदस्य पुरुषस्य प्रयोजनवदर्थदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वरसत एव श्रवणे प्रवर्तमानतया तस्य प्राप्तत्वात्।

अनुवाद—आत्मा का ही दर्शन करे, श्रवण करे, मनन करे, निदिध्यासन करे'' (बृ.उप. २/४/५), ''आत्मा की ही उपासना करे'' (बृ.उप. १/४/७), ''आत्मा को जानकर प्रज्ञा करे'' (बृ.उप. ४/४/२१), ''आत्मा को जानकर विशेष ज्ञान प्राप्त करे'' (छा.उप. ८.०/१) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मज्ञान का विधान होता है।

'आत्मा वा अरे' इत्यादि वाक्य में श्रोतव्यः यह पूर्वतः प्राप्त श्रवण का अनुवाद किया गया है। अध्ययनविधि से अङ्गों के साथ स्वाध्याय का ग्रहण होने पर वेदाध्ययन करने वाले पुरुष को प्रयोजनवान् पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर उसके निर्णय के लिए स्वयं ही श्रवण में प्रवृत्ति होने के कारण श्रवण प्राप्त ही है।

विशेष—"विज्ञाय प्रज्ञाम् कुर्वीत" का तात्पर्य यह है कि श्रवण तथा मनन के द्वारा आत्मा को जानकर प्रज्ञा अर्थात् निदिध्यासन करे। "अनुविद्य विजानाति" का भी यही तात्पर्य है कि श्रवण तथा मनन के द्वारा आत्मा को जानकर निदिध्यासन से विशेष ज्ञान प्राप्त करे।

"स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" यह अध्ययनविधि है। इस अध्ययन विधि से साङ्गवेद का अध्ययन पहले से ही प्राप्त था। साङ्गवेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को प्रयोजनवत् पदार्थ की प्राप्ति करनी होती है। इसके लिए आवश्यक है कि वेद का अर्थ ज्ञात हो। यह अर्थज्ञान मीमांसा (पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा) से ही सम्भव है। अत: स्वरसत: ही मीमांसा (पूर्व तथा उत्तर) में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है। पुन: 'श्रोतव्य:' आदि वाक्य से उत्तरमीमांसा अर्थात् ब्रह्म ज्ञान के श्रवण में जो प्रवृत्ति करायी जाती है। वह केवल अनुवाद मात्र है क्योंकि वेद का अर्थ ज्ञान करने हेतु पूर्व मीमांसा का अध्ययन करने के बाद उत्तरमीमांसा में स्वत: प्रवृत्ति हो चुकी है। अनुवाद का तात्पर्य है कि पूर्व में कही हुई बात का पुन: कथन। यह नियम है कि एक बार जिसका विधान हो जाता है, उसका पुन: विधान नहीं होता। यदि पुन: उसका उल्लेख आता है तो उसे अनुवाद माना जाता है। अनुमान मानने पर कोई दोष नहीं आता।

मन्तव्य इति चानुवादः। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन मननस्यापि प्राप्तत्वात्। अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्। ध्यानं च तेलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तान-रूपम्। 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरेव मोक्षापायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा।

अनुवाद—'मन्तव्य:' (मनन करना चाहिये) यह भी अनुवाद ही है। श्रवण की दृढ़ता के लिये मनन भी प्राप्त ही है। क्योंकि अप्राप्त वस्तु का विधान करने पर ही शास्त्र को सार्थक माना जाता है। तेल की धारा के समान अविच्छिन्न स्मृति परम्परा को ध्यान कहा जाता है। "स्मृति ध्रुव (स्थिर) है तथा स्मृति की निरन्तरता होने पर सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं"—इस प्रकार ध्रुवस्मृति को ही मोक्ष का उपाय कहा गया है। यह स्मृति दर्शन के समान आकार वाली है।

विशेष—श्रवण की दृढ़ता मनन से होती है। अत: जैसे श्रवण पहले से प्राप्त था, वैसे ही मनन भी पहले से ही प्राप्त है। यह नियम है शास्त्र के द्वारा पूर्व से अप्राप्त वस्तु का ही विधान होता है यदि शास्त्र प्राप्त वस्तु का विधान करने लगे तो वह निरर्थक हो जायेगा। इसीलिए पूर्व से प्राप्त मनन का विधान "आत्मा वा अरे.....मन्तव्य:" आदि वाक्य से नहीं माना जाता है बल्कि 'मन्तव्य:' से पूर्व प्राप्त मनन का केवल अनुवाद मात्र माना जाता है।

निदिध्यासन का अर्थ ध्यान है।

३१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(मु० २/२/८)

इत्यनेनैकवाक्यत्वात्। तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २/४/५) इत्यनेनास्या दर्शनरूपता विधीयते। भवति च भावनाप्रकर्षात्स्मृतेर्दर्शन-रूपत्वम्। वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितं 'वेदनमुपासनं स्यात्' इत्यादिना।

अनुवाद—आत्मा का दर्शन हो जाने पर हृदय की गांठ खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं तथा जीव के सब कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। (मु. २/२/८)

इस वाक्य से आत्मा के दर्शन तथा ध्रुवा स्मृति की एकरूपता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ.उप. २/४/५) इस वाक्य से इस ध्रुवा स्मृति की दर्शनरूपता का विधान होता है। भावना के प्रकर्ष के कारण स्मृति दर्शन रूप है। वाक्यकार ने "वेदन को ही उपासना कहते हैं" इत्यादि के द्वारा यह सब वर्णित किया है।

विशेष—आत्मा का दर्शन तथा ध्रुवा स्मृति—ये दोनों एक ही है। जब स्मृति में भावना अधिक हो जाती है तो वही स्मृति आत्मदर्शन बन जाती है।

तदेव ध्यानं विशिनष्टि श्रुतिः-

३२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० २/२३)

प्रियतम एव हि वरणीयो भवति। यथाऽयं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान प्रयतत इति भगवतैवाभिहितम्-

३३. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गी० १०/१०) इति।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गी० ८/२२) इति च।

अनुवाद—श्रुति ने इसी ध्यान की विशेषता बतलायी है—

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न ही मेधा (बुद्धि) से न ही बहुत ज्ञान से। जिसे यह आत्मा स्वीकार करता है उसे ही यह आत्मतत्त्व प्राप्त होता है, उस पुरुष के लिये यह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप को खोल देता है। (कठ० २/२३)

प्रियतम भक्त को ही आत्मा वरण करता है। जिस प्रकार से यह प्रियतम भक्त आत्मा को प्राप्त करता है, वैसा स्वयं भगवान् प्रयास करते हैं—ऐसा स्वयं भगवान् ने कहा है।

सदा निरत रहने वाले तथा मेरा प्रेमपूर्वक भजन करने वाले उन भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त करते हैं। (गी. १०/१०)

हे अर्जुन! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है। (गी. ८/२२)

विशेष—ध्यान, ध्रुवास्मृति, दर्शन, भक्ति तथा निदिध्यासन—यह सब वस्तुतः एक ही हैं। इनमें केवल स्तर का अन्तर है। स्मृति ही भावना प्रकर्ष से ध्यान, दर्शन, भक्ति तथा निदिध्यासन का ... धारण करती है।

२१. भक्ति का निरूपण

भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव। तत्सिद्धिश्च विवेकादिभ्यो भवतीति वाक्यकारेणोक्तं-तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्चेति।

तत्र विवेको नामादुष्टादन्नात्सत्त्वशुद्धिः। अत्र निर्वचनम्–'आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्ध्या ध्रुवास्मृतिः' इति। विमोकः कामानभिष्वङ्गः। शान्त उपासीतेति निर्वचनम्।

अनुवाद—अत्यधिक आनन्द जिन्हें प्रिय है, ऐसे परमात्मा के अतिरिक्त जिसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा ज्ञान विशेष ही भक्ति है यह ज्ञान विशेष अन्य समस्त विषयों के वैराग्य से युक्त है। उस ज्ञान की सिद्धि विवेक आदि से होती है—यह वाक्यकार ने कहा है—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष के द्वारा सम्भव तथा निर्वचन के अनुसार भक्ति की प्राप्ति होती है।

उसमें विवेक का अर्थ है—अदूषित अन्न से सत्व की शुद्धि। इसमें निर्वचन है—आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि होती है और सत्व की शुद्धि से ध्रुव स्मृति प्राप्त होती है। विमोक का अर्थ है—इच्छाओं में आसक्ति न रखना। इसका निर्वचन है—शान्त होकर उपासना करे।

विशेष—भक्ति के प्राप्ति के ७ उपाय हैं—१. विवेक २. विमोक ३. अभ्यास, ४. क्रिया, ५. कल्याण, ६. अनवसाद, ७. अनुद्धर्ष।

इन सातों का अपना अलग-अलग लक्षण है। इसे ही सम्भव या युक्ति कहा जाता है। निर्वचन का तात्पर्य है कि इन सातों के सम्बन्ध में ग्रन्थों के वचन। अतः भक्ति प्राप्ति के इन सातों उपायों में से प्रत्येक का सम्भव (लक्षण) तथा निर्वचन यहाँ बतलाया गया है।

सत्त्व शुद्धि का तात्पर्य है—मन की शुद्धि।

पुनः पुनः संशीलनमभ्यासः। निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण–'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८/६) इति। श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति निर्वचनम्। सत्यार्जवदयादानादीनि कल्याणानि। 'सत्येन लभ्यत' इत्यादि निर्वचनम्। दैन्यविपर्ययोऽनवसादः। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० ३/२/४) इति निर्वचनम्। तद्विपर्ययजा तुष्टिरनुद्धर्षः। 'शान्तो दान्त' इति निर्वचनम्।

अनुवाद—बार-बार विचार करना ही अभ्यास है। भाष्यकार ने इसका स्मृतिप्रोक्त निर्वचन दिया है—"जो व्यक्ति सदा उस परमात्मा के भाव से भावित है" (गीता-८/६)। अपनी शक्ति के अनुसार श्रौत स्मार्त कर्म का अनुष्ठान करना क्रिया है। इसमें निर्वचन है—यह क्रियावान् व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है। सत्य, आर्जव (सरलता), दया, दान आदि कल्याण है। इसका निर्वचन है—सत्य से परमात्मा को पाया जाता है। दीनता को न रखना

ही अनवसाद है। इसका निर्वचन है—यह आत्मा बलहीन व्यक्ति के द्वारा नहीं पाया जाता है। (मु. ३/२/४) उसके (दीनता) के विपर्यय से उत्पन्न संतोष ही अनुद्धर्ष है। इसका निर्वचन है—जो शान्त है वही संयमी है।

विशेष—परमात्मा के भाव का बारंबार चिन्तन करना ही अभ्यास कहलाता है। दीनता का विपर्यय ही अवसाद है। अनवसाद का अर्थ है—अवसाद (दु:ख) का न होना अर्थात् सुख। यह सुख आत्मिक है भौतिक नहीं। जो व्यक्ति दीन बना रहता है उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, अपितु जो दीनता छोड़कर सबल रहता है, वह आत्मा को पाता है। मूलस्थ "तद्विपर्ययजा तुष्टिरनुद्धर्ष:" में तद् का तात्पर्य है—दीनता। दीनता का विपर्यय अर्थात् अनवसाद के द्वारा उत्पन्न जो संतुष्टि है, वही अनुद्धर्ष है अर्थात् जो दीनता (शिथिलता) को छोड़कर सन्तुष्ट रहता है वही शान्त है तथा उसकी इन्द्रियाँ संयमित हैं।

तदेवमेवंविधनियमविशेषसमासादित-पुरुषोत्तम-प्रसाद-विध्वस्त-तमः स्वान्तस्य अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशय-प्रिय-विशदात्मप्रत्ययावभासतापन्न-ध्यानरूपया भक्त्या पुरुषोत्तमपदं लभ्यत इति सिद्धम्। तदुक्तं यामुनेन-उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगो लभ्य इति। ज्ञानकर्मयोग-संस्कृतान्तःकरणस्येत्यर्थः।

अनुवाद—तो इस प्रकार के नियमविशेषों का अनुष्ठान करने से प्रसन्न भगवान् पुरुषोत्तम की कृपा से अन्त:करण के अन्धकार को नष्ट किये हुए व्यक्ति को उस भक्ति से पुरुषोत्तम पद प्राप्त होता है, जो भक्ति अन्य कोई प्रयोजन न रखकर निरन्तर अत्यधिक प्रिय तथा विशद आत्मज्ञान के प्रकाश को प्राप्त ध्यान रूपा भक्ति है—यह बात सिद्ध होती है।

जैसा कि यामुनाचार्य ने कहा है—दोनों से शुद्ध अन्त:करण वाले व्यक्ति को ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक भक्तियोग प्राप्त होता है। अर्थात् ज्ञानयोग तथा कर्मयोग से शुद्ध अन्त:करण वाले व्यक्ति को—यह तात्पर्य है।

विशेष—ज्ञान योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग—इन तीनों योगों में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग साधन हैं तथा भक्तियोग साध्य है। ज्ञानयोग व कर्मयोग से जब मन शुद्ध हो जाता है तथा भगवान् की कृपा होती है, तब भक्तियोग की प्राप्ति होती है, एवं उस भक्तियोग से भगवान् की प्राप्ति होती है। भक्ति ध्यानरूपा है—यह बात मूल में कही गयी है। पीछे भी यह बताया गया था कि ध्यान, भक्ति, निदिध्यासन, दर्शन, ध्रुवा स्मृति—ये सब एक ही हैं। केवल इनमें स्तर का अन्तर है।

२२. द्वितीय सूत्र–ब्रह्म का लक्षण

किं पुनर्ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्यपेक्षायां लक्षणमुक्तम्–'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्रम् १/१/२) इति। जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्। तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। अस्याचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालभोगब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतो, यतो=यस्मात् सर्वेश्वरात् निखिलहेयप्रत्यनीकस्व-

रूपात् सत्यसंकल्पाद्यनवधिकातिशयासंख्येनकल्याणगुणात् सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्त इति सूत्रार्थः।

अनुवाद—ब्रह्म किस प्रकार का है? जिसकी जिज्ञासा करनी है यह अपेक्षा होने पर उसका (ब्रह्म का) लक्षण कहा गया है—जिससे जगत् का जन्म आदि होता है। (ब्रह्म सूत्र १/१/२)। जन्मादि का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और प्रत्यय। यहाँ तदगुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। इस अचिन्तनीय तथा अनेक प्रकार की विचित्र रचनाओं वाले, निश्चित देश-काल तथा भोगवाले ब्रह्मा से लेकर तिनके तक समस्त जीवों से मिश्रित जगत् का जिस सर्वेश्वर, समस्त हेय दोषों से रहित स्वरूप वाले तथा सत्यसंकल्प आदि अनन्त तथा असंख्य कल्याण गुणों वाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमपुरुष से सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय होता है—यह सूत्र का अर्थ है।

विशेष—बहुव्रीहि समास अन्य पदार्थ प्रधान होता है। अर्थात् बहुवीहि समास के दोनों पद मिलकर किसी अन्य विशेष्य पदार्थ के विशेषण होते हैं। वह अन्य पदार्थ प्रधान होता है तथा समासस्थ पदार्थ गुण (अप्रधान) होते हैं। बहुव्रीहि समास का प्रयोग करने पर जब उसमें प्रयुक्त पदों के अर्थ (गुण) का ग्रहण भी विशेष्य के साथ होता है, तो उसे तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि कहते हैं। इसके विपरीत जब समासस्थ विशेषण पदों के अर्थ का विशेष्य से ग्रहण नहीं होता, तो उसे अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि कहा जाता है। जैसे—'लम्बोदरमानय' यहाँ 'लम्बः उदरः यस्य सः तम् लम्बोदरम्'' ये समास विग्रह हैं। 'आनयन' क्रिया के साथ लम्बोदर व्यक्ति का ही केवल सम्बन्ध नहीं है, बल्कि जब व्यक्ति को लाया जाता है तो उसके लम्बे उदर को भी लाया जाता है। अतः यहाँ 'तद्गुण संविज्ञान' बहुव्रीहि है। यहाँ विशेष्य के साथ उसका गुण लम्ब उदर भी सम्बन्धित है। इसी प्रकार 'दृष्टकाशीकमानय' यहाँ 'दृष्टा काशी येन सः तम् दृष्टकाशीकम्' यह विग्रह है। यहाँ जब व्यक्ति को लाया जाता तो काशी नगरी को भी साथ में नहीं लाया जाता। काशी का (गुण) आनयन क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।

इसी प्रकार जन्मादि पद का विग्रह है—जन्म आदिः यस्य तत् जन्मादि (सृष्टि-स्थिति-प्रलयम्) यहाँ यदि अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि माना जाए, तो स्थिति, प्रलय का ही मात्र ग्रहण होगा, जन्म का नहीं। अतः, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मानकर स्थिति-प्रलय के साथ जन्म का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार समासार्थ है—सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय। ''सृष्टि-स्थिति-प्रलयम्'' यह समाहार द्वन्द्व है।

२३. तृतीय सूत्र-ब्रह्म के विषय में प्रमाण

इत्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणमिति जिज्ञासायां शास्त्रमेव प्रमाण-मित्युक्तम्–'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र०सू० १/१/३) इति। शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं यस्य तस्य तच्छास्त्रयोनि। तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्। ब्रह्मज्ञानकारण-त्वाच्छास्त्रस्य तद्योनित्वं ब्रह्मणः इत्यर्थः।

अनुवाद—इस प्रकार ब्रह्म में क्या प्रमाण है—जिज्ञासा होने पर "शास्त्र ही प्रमाण है" ऐसा कहा गया है—शास्त्र ही ब्रह्म ज्ञान का कारण या प्रमाण (योनि) है। (ब्र०सू० १/१/३) शास्त्र है योनि अर्थात् कारण तथा प्रमाण जिस ब्रह्म का वह ब्रह्म शास्त्रयोनि कहलाता है। शास्त्रयोनि का भाव है 'शास्त्रयोनित्व' इस कारण से। ब्रह्मज्ञान का कारण होने से शास्त्र ब्रह्म का योनि है।

विशेष—शंसनात् शास्त्रम्। जो शासन करे या उपदेश दे, वह शास्त्र है। वेदों को ही शास्त्र कहा जाता है।

न च ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं शङ्कितुं शक्यम्। अतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षस्य तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि महार्णवादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानम्। तस्य पूतिकूष्माण्डायमानत्वात्। तल्लक्षणं 'यतो वा इमानि भूतानि' (तै० २/१/१) इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयतीति स्थितम्।

अनुवाद—ब्रह्म के अन्य किसी प्रमाण से जाना जा सकता है ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। ब्रह्म के अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष प्रमाण की उस ब्रह्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। न ही ब्रह्म के संबंध अनुमान की प्रवृत्ति हो सकता है। अनुमान-समुद्रादि सकर्तृक हैं, कार्य होने से घट की तरह। क्योंकि यह अनुमान गले हुए कोहड़े की तरह बेकार है। उस ब्रह्म का लक्षण है "जिससे ये सम्पूर्ण प्राणिगण उत्पन्न होते हैं" (तै० २/१/१) इत्यादि वाक्य प्रतिपादन करते हैं—यह सिद्ध है।

विशेष—नैयायिकों ने "समुद्र आदि कर्ता से युक्त हैं, कार्य होने के कारण घट की तरह" इस अनुमान से ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध किया है, लेकिन रामानुज आदि वेदान्तियों ने ईश्वर को शब्द प्रमाण से गम्य माना है। नैयायिकों के अनुसार समुद्रादि का जो कर्ता है, वही ईश्वर है। किन्तु रामानुजाचार्य का कहना है कि यह अनुमान ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता है। समुद्र पर्वतादि को बनाने वाले तो बड़े-बड़े महर्षि भी हो सकते हैं। साथ ही पर्वतादि के अनेक कर्ता भी माने जा सकते हैं। अतः एक कर्ता मानना ही ठीक नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि केवल आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण=वेद) से ही होती है।

२४. चतुर्थ सूत्र-शास्त्रों का समन्वय

यद्यपि ब्रह्म प्रमाणान्तरगोचरतां नावतरिति तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावे सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयितुं प्रभवतीत्येतत्पर्यनुयोगपरिहारायोक्तम्-'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १/१/४) इति। तुशब्दः प्रसक्ताशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। तच्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सम्भवत्येव। कुतः? समन्वयात्। परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयादित्यर्थः।

अनुवाद—यद्यपि ब्रह्म को अन्य प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता है, फिर भी ब्रह्म में प्रवृत्तिपरकता तथा निवृत्तिपरकता न होने से सिद्धरूप ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र नहीं कर सकता—इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहा गया है—"ब्रह्म का वह (शास्त्रयोनित्व) समन्वय के कारण सिद्ध है।" (ब्र०सू० १/१/४) 'तु शब्द प्राप्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये है। इसलिये ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणत्व सम्भव ही है। क्यों? समन्वय के कारण। समन्वय का अर्थ है कि परमपुरुषार्थभूत ब्रह्म का शास्त्र के साथ अभिधेयत्व के रूप में अन्वय होता है।

विशेष—ब्रह्म प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह सिद्ध रूप है। प्रवृत्ति या निवृत्ति का विषय क्रियारूप पदार्थ होते हैं और शास्त्र तो प्रवृत्ति या निवृत्ति ही कराता है। अत: ब्रह्म के सिद्ध होने के कारण उसका प्रतिपादन शास्त्र नहीं करा सकता है। इस शङ्कर के समाधान के लिये ही यह चतुर्थ सूत्र है—तत्तु समन्वयात्।

यहाँ पूर्वपक्षियों के मत का खण्डन करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। शास्त्रों का अभिधेयार्थ अर्थात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकविषय ब्रह्म ही है। वही ब्रह्म परमपुरुषार्थ अर्थात् मोक्षरूप है।

न च प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्यतरविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम्। स्वरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातो' 'नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षप्राप्तिभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टमेवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्। दिङ्मात्रमिह प्रदर्शितम्। विस्तरस्त्वाकरादेवावगन्तव्य इति विस्तारभीरुणोदास्यत इति सर्वमनाकुलम्।

।। इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रामानुजदर्शनम् ।।

अनुवाद—प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—इन दोनों में से किसी एक के भी न रहने पर शास्त्र की प्रयोजनता नहीं है—ऐसी बात भी नहीं है। केवल स्वरूपमात्र का प्रतिपादन होने पर भी 'तुम्हें पुत्र हुआ है', 'यह सर्प नहीं है' इन वाक्यों में हर्षप्राप्ति तथा भयनिवृत्ति रूप प्रयोजन दिखाई ही पड़ता है इसलिये कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है। यहाँ केवल दिशा निर्देश दिखाया गया है। इसका विस्तार आकर ग्रन्थों से समझ लेना चाहिये। अब विस्तार के भय से यहीं विराम हो रहा है। अन्य सब स्पष्ट ही है।

विशेष—शास्त्र का प्रयोजन केवल प्रवृत्ति कराना या निवृत्ति कराना ही नहीं है, बल्कि उनमें केवल स्वरूपमात्र विषय का प्रतिपादन वाले वचन भी उपलब्ध होते हैं। अत: वेद-शास्त्रों का अभिधेयार्थ सिद्ध ब्रह्म के होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

।। इति रामानुजदर्शनम् ।।

अध्याय-५
पूर्णप्रज्ञदर्शनम्

तत्त्वद्वयं स्वपरतन्त्रमिहेति भेदो
जीवोऽणुरीश्वर इतो जगतो निमित्तम्।
वेदान्तभाष्यमिति तत्र मतं विधात्रे
मध्वाय पूर्णधिषणाय नमश्चिराय॥ ऋषिः।

(१. द्वैतवाद की रामानुजमत से समता और विषमता)

तदेतद्रामानुजमतं जीवाणुत्व-दासत्व-वेदापौरुषेयत्व-सिद्धार्थबोधकत्व-स्वतः प्रमाणत्व-प्रमाणत्रित्व-पञ्चरात्रोपजीव्यत्व-प्रपञ्चभेदसत्यत्वादिसाम्येऽपि परस्परविरुद्धभेदादिपक्षत्रयकक्षीकारेण क्षपणकपक्षनिक्षिप्तमित्युपेक्षमाणः 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिवेदान्तवाक्यजातस्य भङ्ग्यन्तरेणार्थान्तरपरत्वमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसाविवरणव्याजेन आनन्दतीर्थः प्रस्थानान्तरमास्थिषत।

अनुवाद—जीव को अणुमानना, जीव को ईश्वर का दास मानना, वेदापौरुषेयत्व, वेदों को सिद्ध अर्थ (ब्रह्म) का बोधक मानना, वेद का स्वतःप्रमाणत्व, तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द) मानना, पाञ्चरात्र मत का उपजीव्य होना, प्रपञ्च तथा भेद के सत्य होने की समानता रहने पर भी परस्पर विरुद्ध भेद, अभेद तथा भेदाभेद—ये तीन पक्ष मानने के कारण यह रामानुजमत भी बौद्ध या जैन पक्ष का ही अंश है—इस कारण इस रामानुज मत की उपेक्षा करते हुए आनन्दतीर्थ ने "सः आत्मा" "तत्त्वमसि" (छा.उप. ६/८/७) इत्यादि वेदान्तवाक्यों का दूसरे प्रकार से अर्थ बतलाकर ब्रह्ममीमांसा का व्याख्यान करने के बहाने से दूसरे प्रस्थान का प्रतिपादन किया है।

विशेष—मध्वसिद्धान्त ही पूर्णप्रज्ञदर्शन कहलाता है। आचार्य आनन्दतीर्थ को ही मध्वाचार्य या पूर्णप्रज्ञ भी कहा जाता है। इन्होंने अनेक हेतुओं को उपस्थित करके रामानुजमत को जैनबौद्धों के समान बतलाया है। जैसे—

१. जीव को अणु मानना
२. जीव को ईश्वर का दास मानना
३. वेदापौरुषेयत्व
४. वेद को ब्रह्म का बोधक मानना
५. वेद का स्वतः प्रामाण्य
६. प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द-तीन ही प्रमाण मानना

७. पञ्चरात्र मत का उपजीव्य होना।

८. प्रपञ्च तथा भेद के सत्यता की समानता होने पर भी भेद, अभेद तथा भेदाभेद—इन तीन पक्षों को मानना।

इन आठ कारणों से मध्व ने यह माना कि रामानुज मत जैन बौद्ध की तरह उपेक्षणीय है।

यद्यपि यहाँ प्रारम्भिक ५ हेतु तथा सप्तम हेतु कथमपि जैन-बौद्धों के समान नहीं है। तथापि षष्ठ हेतु "प्रमाणत्रयवाद" जैन तथा रामानुज में समान है। आठवाँ हेतु पक्षत्रयवाद भी जैनों के समान है। जैनों ने जिस प्रकार सप्तभंगीनय माना है, वैसे ही रामानुज ने भेद, अभेद तथा भेदाभेद माना है। (रामानुज दर्शन, अनुच्छेद १६ देखें)

फिर भी मध्व रामानुज मत की उपेक्षा करके साक्षात् द्वैतवाद मानते हैं। रामानुज ने जहाँ चित्, अचित् तथा ईश्वर—तीन तत्त्व माने थे, वहीं मध्व स्वतन्त्र परमेश्वर तथा परतन्त्र जीव—ये दो तत्त्व ही स्वीकार करते हैं।

२. द्वैतवाद के तत्त्व-भेद की सिद्धि

तन्मते हि द्विविधं तत्त्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। तदुक्तं तत्त्वविवेके–

१. स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः ॥ इति॥

अनुवाद—उस आनन्दतीर्थ के मत में स्वतन्त्र तथा परतन्त्र के भेद से दो प्रकार के तत्त्व हैं। जैसा कि तत्त्वविवेक में कहा गया है—

स्वतन्त्र तथा परतन्त्र—दो प्रकार के तत्त्व हैं। समस्त सद्गुणों से सम्पन्न तथा निर्दोष भगवान् स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

ननु सजातीय-विजातीय-स्वगत-नानात्वशून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति प्रतिपादकेषु वेदान्तेषु जागरूकेषु कथमशेषसद्गुणत्वं कथ्यत इति चेत्, मैवम्। भेदप्रमापकबहुप्रमाणविरोधेन तेषां तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। तथा हि, प्रत्यक्षं तावदिदमस्माद्भिन्नम् इति नीलपीतादेर्भेदमध्यक्षयति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित तथा नानात्व से रहित ब्रह्म ही तत्त्व है—ऐसा प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों के रहते हुए ब्रह्म को समस्त सद्गुणों से युक्त कैसे कहा जा रहा है? तो यह कहना भी ठीक नहीं है। परमात्मा में भेद को प्रमाणित करने वाले बहुत से प्रमाणों के साथ (परमात्मा में अभेद प्रतिपादक वाक्यों का) विरोध होने से उन अभेद प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है। जैसे कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही "यह इससे भिन्न है"—इस प्रकार नील तथा पीत के भेद को बतलाता है।

विशेष—परमात्मा में सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद नहीं है—ऐसा कुछ उपनिषद् वाक्यों में प्रतिपादित है। सजातीय भेद का अर्थ है—अपनी जाति वालों से भेद। जैसे एकगौ से दूसरी गौ का भेद। विजातीय भेद का अर्थ है—अन्य जाति वाली वस्तु से भेद। जैसे गौ का गवातिरिक्त पशुओं से भेद तथा स्वगत भेद का अर्थ है—अपने ही अवयवों से भेद। जैसे गौ का अपने पाद, शृंग आदि अवयवों से भेद है।

परन्तु अनेक ऐसे प्रमाण भी हैं, जिनसे परमात्मा में भेद का प्रतिपादन किया जाता है। मध्वाचार्य द्वैतवादी होने से उन्हीं प्रमाणों को मानते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का साक्षात् ज्ञान होता है।

३. *प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि-शङ्का*

अथ मन्येथाः-किं प्रत्यक्षं भेदमेवावगाहते किं वा धर्मिप्रतियोगि-घटितम्? न प्रथमः, धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण तत्सापेक्षस्य भेदस्याशक्या-ध्यवसायात्। द्वितीयेऽपि धर्मिप्रतियोगिग्रहणपुरःसरं भेदग्रहणमथवा युगपत्तत्सर्व-ग्रहणम्?

न पूर्वः, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गाच्च। नापि चरमः, कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्याभावात्। धर्मिप्रतीतिर्हि भेदप्रत्ययस्य कारणम्। एवं प्रतियोगिप्रतीतिरपि। सन्निहितेऽपि धर्मिणि व्यवहितप्रतियोगिज्ञानमन्तरेण भेदस्याज्ञातत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावावगमात्। तस्मान्न भेदप्रत्यक्षं सुप्रसरमिति चेत्।

अनुवाद—(शांकर वेदान्ती प्रश्न करते हैं कि) यदि यह माना जाये कि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण भेद का ज्ञान कराता है या प्रत्यक्ष प्रमाण धर्मी तथा प्रतियोगी से युक्त भेद का ज्ञान कराता है? पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मी तथा प्रतियोगी के ज्ञान के बिना उनसे सापेक्ष भेद का ज्ञान कर पाना असम्भव है। दूसरा विकल्प मानने पर पुनः यह प्रश्न होता है कि धर्मी तथा प्रतियोगी का ग्रहण कराने के बाद भेद का ग्रहण होता है या एक साथ धर्मी, प्रतियोगी और भेद तीनों का ग्रहण हो जाता है?

इनमें भी पहला विकल्प (धर्मी तथा प्रतियोगी का ग्रहण कराने के बाद भेद का ग्रहण होता है) ठीक नहीं है, क्योंकि एक बार विराम होने पर बुद्धि का व्यापार नहीं होता। दूसरा विकल्प (धर्मी, प्रतियोगी और भेद तीनों का एक साथ ग्रहण होता है) भी ठीक नहीं होती। धर्मी का ज्ञान ही भेद ज्ञान का कारण है। इसी प्रकार प्रतियोगी का ज्ञान भी भेद ज्ञान का कारण है। धर्मी के रहने पर भी दूरस्थ प्रतियोगी के ज्ञान के बिना भेदज्ञान नहीं होता। अतः इस अन्वय व्यतिरेक से कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है। अतः भेद का प्रत्यक्ष होना आसान नहीं है।

विशेष—माध्व मानते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान होता है। इस प्रकार शांकर वेदान्तियों ने दो विकल्प करके इसका खण्डन किया है।

भेद ज्ञान में धर्मी तथा प्रतियोगी का ज्ञान कारण है। जैसे "नीलः पीतात् भिन्नः" यहाँ नील धर्मी है तथा पीत प्रतियोगी है। अतः धर्मी का ज्ञान तथा प्रतियोगी का ज्ञान होने

के बाद ही भेदज्ञान हो सकता है। लेकिन यह मानने पर "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:" इस नियम का अपलाप होगा। इस नियम के अनुसार बुद्धि का एक बार व्यापार होने के बाद जब वह व्यापार से हट जाती है, तो पुन: उसका व्यापार नहीं होता।

साथ ही धर्मी ज्ञान, प्रतियोगी ज्ञान तथा भेद ज्ञान तीनों को एक साथ भी नहीं मान सकते, क्योंकि अन्वय व्यभिचार तथा व्यतिरेक व्यभिचार के न होने से यह सिद्ध है कि भेदज्ञान के प्रति धर्मी ज्ञान और प्रतियोगी ज्ञान दोनों कारण हैं। "तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्" यह अन्वय है तथा "तदभावे तदभाव:" यह व्यतिरेक है। इन दोनों नियमों में बाध ही व्यभिचार है।

अन्वयव्याप्ति—यत्र-यत्र भेदज्ञानं तत्र-तत्र धर्मिज्ञानम्।

तथा—यत्र-यत्र भेदज्ञानं, तत्र-तत्र प्रतियोगिज्ञानम्।

व्यतिरेकव्याप्ति—यत्र-यत्र धर्मिज्ञानं नास्ति, तत्र-तत्र भेद ज्ञानं नास्ति।

तथा यत्र-यत्र प्रतियोगिज्ञानं नास्ति, तत्र-तत्र भेद ज्ञानं नास्ति।

इन व्याप्तियों में व्यभिचार तब आता है, जब भेद ज्ञान हो परन्तु धर्मिज्ञान या प्रतियोगिज्ञान न हो (अन्वय व्यभिचार) या धर्मिज्ञान तथा प्रतियोगिज्ञान के न होने पर भी भेदज्ञान हो जाए (व्यतिरेक व्यभिचार)। किन्तु इन दोनों प्रकार के व्यभिचारों के न होने से भेदज्ञान तथा धर्मिप्रतियोगिज्ञान में अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति बन जाती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान सम्भव है।

३. क. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—समाधान

किं वस्तुस्वरूपभेदवादिनं प्रति इमादि दूषणानि उद्घुष्यन्ते, किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति? प्रथमे चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायापातः। भवदभिधीयमानदूषणानां तदविषयत्वात्।

ननु वस्तुस्वरूपस्यैव भेदत्वे प्रतियोगिसापेक्षत्वं न घटते घटवत्। प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वत्र भेदः प्रथत इति चेन्न। प्रथमं सर्वतो विलक्षणतया वस्तुस्वरूपे ज्ञायमाने प्रतियोग्यपेक्षया विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः।

अनुवाद—(माध्व इस उपर्युक्त शंका का समाधान देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष से भेद की सिद्धि हो जाती है। वे शांकर वेदान्तियों से पूछते हैं कि) क्या ये सभी दोष वस्तुस्वरूप को ही भेद मानने वाले लोगों के प्रति उठाये जाते हैं या वस्तु के धर्म को भेद मानने वालों के प्रति उठाये जा रहे हैं? पहलाविकल्प मानने पर चोर के अपराध पर माण्डव्य ऋषि को पकड़ने का न्याय हो जायेगा। क्योंकि आपके द्वारा बतलाये गये दोष स्वरूपभेदवादियों के एर नहीं लग सकते हैं। (वस्तुस्वरूपभेदवादियों से यह प्रश्न किया जाता है कि) वस्तु स्वरूप को ही भेदमानने पर प्रतियोगी की सापेक्षता की जरूरत

ही नहीं होगी, घट के समान। यदि यह कहा जाए कि सर्वत्र भेद प्रतियोगी से सापेक्ष ही रहता है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सबसे विलक्षण वस्तु स्वरूप का ज्ञान होने पर फिर प्रतियोगी की अपेक्षा करके विशिष्ट व्यवहार की उपपत्ति होती है।

विशेष—भेद के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग घट, पट आदि वस्तु के स्वरूप को ही भेद मानते हैं। जैसे—घट पटभेदरूप है या पट घटभेद रूप है। भेद को ही अन्योन्याभाव भी कहा जाता है। यह मत मध्वाचार्य, प्राभाकर मीमांसक आदि लोगों का है। दूसरा मत यह है कि भेद वस्तु का धर्मरूप है। जैसे घट भेद पट का धर्म पटत्व है या पटभेद घट का धर्म घटत्व है। माध्व शांकर वेदान्तियों से पूछते हैं कि आपने जो कहा कि प्रत्यक्ष से भेद की सिद्धि नहीं होती, तो यह आप किससे कह रहे हैं। स्वरूप भेदवादियों से या धर्मभेदवादियों से। यदि स्वरूप-भेदवादियों से यह सब कहा जा रहा है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शांकर वेदान्तियों के द्वारा लगाये गये दोष स्वरूप भेदवादियों पर लगते ही नहीं। शांकर वेदान्तियों ने पूर्व परिच्छेद में यह प्रश्न किया था कि धर्मी, प्रतियोगी तथा भेद का ज्ञान न तो अलग-अलग हो सकता है न ही एक साथ हो सकता है, लेकिन स्वरूप भेदवादियों ने भेद को वस्तुरूप ही मान लिया तो उनके मत में ये तीनों ज्ञान एक साथ हो ही सकता है। अतः शांकर वेदान्तियों के द्वारा लगाये गये दोष स्वरूप भेदवादियों को नहीं लगते, बल्कि धर्मभेदवादियों को लगते हैं।

'चोरापराधात्माण्डव्यनिग्रह' यह एक न्याय है। एक बार माण्डव्य नाम के एक ऋषि को एक राजा ने चोर समझकर पकड़ लिया और उन्हें शूली पर चढ़वा दिया। थोड़ी ही देर बाद असली चोर पकड़ा गया, तब राजा ने माण्डव्य ऋषि को शूली से उतार दिया माण्डव्य ऋषि तुरन्त यमलोक गये और यमराज से पूछा कि किस पाप कर्म के कारण मुझे शूली पर लटकाने का दण्ड मिला था। यमराज ने बताया कि आपने बचपन में एक चूंटे को मारा था उसी का ये दण्ड था। माण्डव्य ने कहा कि बचपन में किये पापों का दण्ड नहीं होता है अतः मुझे भी बिना कारण दण्ड दिया गया है। उन्होंने यमराज को शाप दिया कि तुम्हें १०० वर्ष पृथ्वी पर जाना होगा, तदनुसार यमराज पृथ्वी पर विदुर के रूप में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार चोर के अपराध से जैसे माण्डव्य ऋषि को दण्ड मिला था, वैसे ही धर्मभेदवादियों के मत में पूर्वोक्त दोष लगते हैं, स्वरूप भेद वादियों पर नहीं। उन दोषों को स्वरूपभेद वादियों पर मढ़ना ही "चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रह" न्याय है।

पूर्व में यह दोष आरोपित किया गया था कि प्रतियोगि ज्ञान के बिना भेद का ज्ञान नहीं हो सकता है किन्तु जब स्वरूपभेदवादियों के मत में वस्तुस्वरूप ही भेद है, तो फिर प्रतियोगी के सापेक्षता की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यदि यह कहें कि जब भेद प्रतियोगी सापेक्ष हुआ ही नहीं तो फिर वह भेद कैसा? यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि

सर्वप्रथम सभी वस्तुओं से विलक्षण किसी एक वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है फिर जब प्रतियोगी की अपेक्षा होती है, तब प्रतियोगी के कारण ह्रस्व, दीर्घ से सभी विशिष्ट व्यवहार होते हैं। आगे भी यही बात सिद्ध की जा रही है।

तथा हि–परिमाणघटितं वस्तुस्वरूपं प्रथमवगम्यते। पश्चात्प्रतियोगिविशेषापेक्षया ह्रस्वं दीर्घमिति तदेव विशिष्य व्यवहारभाजनं भवति। तदुक्तं विष्णुतत्त्वनिर्णये–

'न च विशेषणविशेष्यतया भेदसिद्धिः। विशेषणविशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेदसिद्धिः। भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। पदार्थस्वरूपत्वाद् भेदस्य–इत्यादिना।

अनुवाद—जैसे कि परिमाण से युक्त वस्तु का स्वरूप पहले ज्ञात हो जाता है। उसके बाद प्रतियोगिविशेष की अपेक्षा होने पर छोटा बड़ा इत्यादि विशेष व्यवहार होता है। जैसा कि विष्णुतत्त्वनिर्णय में कहा गया है—

"विशेषणविशेष्यभाव' से भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। विशेषणविशेष्यभाव भेद की अपेक्षा करता है। क्योंकि धर्मी तथा प्रतियोगी की अपेक्षा से भेद की सिद्धि होती है तथा भेद की अपेक्षा से धर्मित्व तथा प्रतियोगित्व की सिद्धि होती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण भेद ही असिद्ध है। भेद भी पदार्थ रूप ही है"—इत्यादि।

विशेष—जब वस्तुस्वरूप ही भेद है, तो प्रतियोगी की सापेक्षता कैसे होती है? इस विषय पर माध्व कहते हैं कि सर्वप्रथम परिणाम तथा एक विशिष्ट आकार-प्रकार से युक्त विलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है उसके बाद वह वस्तु किससे भिन्न है या किससे छोटी है या किससे बड़ी है—यह अपेक्षा होने पर "यह वस्तु ह्रस्व है" या "यह वस्तु दीर्घ है" ऐसा व्यवहार होता है।

'विष्णुतत्त्वनिर्णय' ग्रन्थ की पंक्तियों से भी यह सिद्ध होता है कि विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अत एव गवार्थिनो गवयदर्शनान्न प्रवर्तन्ते, गो शब्दं च न स्मरन्ति। न च नीरक्षीरादौ स्वरूपे गृह्यमाणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति भणनीयम्। समानाभिहारादिप्रतिबन्धकबलाद् भेदभानव्यवहाराभावोपपत्तिः।

अनुवाद—इसीलिये गौ की इच्छा करने वाले लोग गवय का दर्शन होने से प्रवृत्त नहीं होते और न ही (गवय का दर्शन करने से) गौ शब्द का स्मरण करते हैं। जल तथा दूध के मिश्रण का स्वरूपतः ज्ञान होने पर उसमें भेद का भी ज्ञान होगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये। समानाभि... आदि प्रतिबन्ध के कारण भेद ज्ञान के व्यवहार के अभाव की उपपत्ति हो जाती है।

विशेष—पीछे यह बतलाया गया है कि सर्वप्रथम किसी वस्तु के विलक्षण स्वरूप का ग्रहण होता है, बाद में प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। अत: वस्तु स्वरूप ही भेद है—यह बात पीछे सिद्ध की गयी है। यदि ऐसा ही है तो पूर्वपक्षी (शांकर वेदान्ती) फिर से यह प्रश्न करते हैं कि फिर नीर तथा क्षीर के मिश्रण के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनके भेद का भी ज्ञान होना चाहिये। लेकिन उनके भेद का ज्ञान तो होता नहीं। माध्व इसका उत्तर देते हैं कि मिश्रण रूप समानाभिहार होने के कारण भेद होने पर भी भेद का ज्ञान होता नहीं है। प्रत्यक्ष के आठ प्रतिबन्धक हेतु हैं, जिनमें से एक समानाभिहार भी है।

तदुक्तम्—

२. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥

(सांख्यकारिका, ७) इति।

अतिदूरात्=गिरिशिखरवर्तिपर्वतादौ, अतिसामीप्यात्=लोचनाञ्जनादौ, इन्द्रियघातात्=विद्युदादौ, मनोऽनवस्थानात्=कामाद्युपप्लुतमनस्कस्य स्फीतालोकवर्तिनि घटादौ, सौक्ष्म्यात्=परमाण्वादौ, व्यवधानात्=कुड्यान्तर्हिते, अभिभवात्=दिवा प्रदीपप्रभादौ, समानाभिहारात्=नीरक्षीरादौ यथावत् ग्रहणं नास्तीत्यर्थः।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—बहुत दूर होने के कारण, बहुत समीप होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के एकाग्र न होने के कारण, सूक्ष्मता के कारण, व्यवधान के कारण, अभिभव के कारण तथा समानाभिहार के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। (सांख्यकारिका, ७)

बहुत दूर होने के कारण पहाड़ों के शिखर पर स्थित वृक्ष आदि में, बहुत समीप होने के कारण आँख में स्थित काजल आदि में, इन्द्रिय (चक्षु आदि) में दोष होने के कारण विद्युत् आदि में, मन के एकाग्र न होने के कारण कामादि से ग्रस्त मन वाले व्यक्ति को स्पष्ट प्रकाश में स्थित घट आदि में, सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि में, व्यवधान के कारण दीवार से छिपी वस्तु आदि में, अभिभव के कारण दिन में दीपक की प्रभा आदि में तथा समानाभिहार के कारण जल-दूध के मिश्रण में यथावत् प्रत्यक्ष नहीं होता है।

विशेष—प्रत्यक्ष प्रमाण के बाधक उपर्युक्त ८ कारण साङ्ख्यकारिका में बतलाये गये हैं। इन आठों के कारण किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इन्हीं आठ कारणों में एक है—समानाभिहार। समानाभिहार होने पर नीर तथा क्षीर का भेद मालमू नहीं पड़ता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष में बाधक होने के कारण ही भेद का ज्ञान नहीं होता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भेद का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता ही नहीं है।

इस प्रकार स्वरूपभेदवादी के मत में भेद का प्रत्यक्ष होने में कोई दोष नहीं आता। दूसरा मत धर्मभेदवादियो का है। उनके मत में भेद के प्रत्यक्ष में कोई बाधा नहीं आती—इसका वर्णन आगे किया गया है।

४. धर्मभेदवादी का समर्थन—भेद की सिद्धि

भवतु वा धर्मभेदवादस्तथापि न कश्चिद्दोषः। धर्मिप्रतियोगिग्रहणे सति पश्चात्तद्घटितभेदग्रहणोपपत्तेः। न च परस्पराश्रयप्रसङ्गः। परानपेक्ष्य प्रभेदशालिनो वस्तुनो ग्रहणे सति धर्मभेदभानसम्भवात्। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वेनानवस्था दुरवस्था स्यादित्यास्थेयम्। भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात्।

अनुवाद—यदि धर्मभेदवाद मत माना जाये तो भी (भेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता) इसमें कोई दोष नहीं है। धर्मी तथा प्रतियोगी का ग्रहण होने पर बाद में धर्मी तथा प्रतियोगी से घटित भेद का ग्रहण उपपन्न है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष का भी प्रसङ्ग नहीं है। दूसरे (भेद) की अपेक्षा बिना किये भेद से युक्त वस्तु का ग्रहण होने पर धर्म भेद का ज्ञान सम्भव है। धर्मभेद वाद मानने पर वह-वह प्रत्येक भेद किसी अन्य भेद से भिन्न मानने से पुनः अनवस्था होगी—यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अन्य भेद को मानने में कोई भूल नहीं है। भेद तथा भेदी भिन्न-भिन्न है—इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है।

विशेष—पीछे यह दोष दिखाया गया था कि यदि यह माना जाय कि धर्मी तथा प्रतियोगी का ग्रहण पहले होता है तथा बाद में भेद का ग्रहण होता है तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। (परिच्छेद ३) क्योंकि धर्मीज्ञान तथा प्रतियोगी ज्ञान भेद सापेक्ष है तथा भेद धर्मीज्ञान तथा प्रतियोगीज्ञान के सापेक्ष है। इस प्रकार जो अन्योन्याश्रय दोष दिखाया गया था, उसका यहाँ समाधान किया गया है कि पहले भेद की अपेक्षा बिना रखे केवल धर्मी का ज्ञान तथा प्रतियोगी का ज्ञान होता है तथा बाद में धर्मी-प्रतियोगी से घटित भेद का ज्ञान होता है। अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं है।

इसी प्रकार धर्मभेदवाद मानने पर हरेक भेद को किसी दूसरे भेद से भिन्न माना जाएगा। जैसे पटत्व घट भेदरूप है, वह घटभेद दूसरे भेद से भिन्न है। दूसरा भेद तीसरे भेद से भिन्न है। तीसरा चौथे से। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। इसका समाधान सिद्धान्ती देते हैं कि इस अनवस्था को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रथम भेद दूसरे भेद से भिन्न है ऐसा कोई व्यवहार नहीं करता है। दूसरे भेद को ही भेदी कहा जाता है।

न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्। दृष्टानाभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात्। सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य खारिका-तैलदातृत्वाभ्युपगम इव।

दृष्टान्तरभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः। तस्मान्मूल-क्षयाभावादनवस्था न दोषाय।

अनुवाद—एक भेद के कारण अन्य भेद का अनुमान भी नहीं हो सकता है। दृष्टान्त के रूप में उपस्थित भेद का बिना खण्डन किये ही यदि अनवस्था दोष आता है, तो कोई दोष नहीं है। यह तो वही मानने की तरह हुआ कि तिल का चूर्ण मांगने गये व्यक्ति को तिल का तेल देना पड़े। यदि कहें कि दृष्टान्त के रुप में उपस्थित भेद का खण्डन करके अनवस्था हो रही है तब अनवस्था हो ही नहीं सकती। वर का नाश करने के लिए कोई कन्या का विवाह नहीं करता है। अत: मूल का क्षय न होने के कारण अनवस्था से कोई दोष नहीं होता।

विशेष—पूर्व में यह कहा गया है कि—एक भेद को दूसरे भेद से भिन्न करना पड़ेगा, दूसरे को तीसरे से। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। वहाँ प्रथम भेद से दूसरे भेद का अनुमान, दूसरे भेद से तीसरे भेद का अनुमान—इस प्रकार से करना पड़ेगा। यह तभी सम्भव है जब प्रथम भेद को स्वीकार किया जाए। यदि अनवस्था दोष दिखाने वाले पूर्व पक्षी ने प्रथम भेद को स्वीकार कर लिया, तो फिर हमारे पक्ष को स्वीकार कर ही लिया गया। पूर्वपक्षी ने फिर तो भेद का मान ही लिया। ये तो वही बात हुई कि कोई व्यक्ति केवल किसी से तिल का चूर्ण (पिण्याक) मांग रहा है लेकिन दूसरे व्यक्ति को तेल ही देना पड़ जाये।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि मैं प्रथम भेद को नहीं मानता तो वह प्रथम भेद बिना माने अनवस्था दोष को दिखा ही कैसे रहा है? अनवस्था तो स्वत: ही हट गयी। आप कन्या का ब्याह करने चले लेकिन आपने वर को ही मार डाला। पूर्वपक्षी हमारे ऊपर अनवस्था दोष लगाने चले परन्तु उन्होंने प्रथम भेद को न मानकर खुद ही अनवस्था का खण्डन कर दिया। इस प्रकार प्रथम भेद को मानने या न मानने—दोनों ही स्थिति में अनवस्था दोष नहीं आता है।

५. अनुमान-प्रमाण से भेद की सिद्धि

अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नः। यथा भृत्याद्राजा।

न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि–इति पुरुषार्थमर्थयमानाः पुरुषाः स्थपतिपदं कामयमानाः सत्कारभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थभाजनं भवन्ति। यः स्वस्यात्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्यः प्रीतः स्तावकस्य तस्याभीष्टं प्रयच्छति। तदाह–

१. घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनः।
ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम्॥ इति।

अनुवाद—अनुमान प्रमाण से भी भेद का निश्चय होता है। परमेश्वर जीव से भिन्न है, क्योंकि वह परमेश्वर जीव के लिये सेव्य है। जो जिसके प्रति सेव्य है, वह उससे भिन्न है जैसे राजा नौकर से भिन्न है।

"मुझे सुख ही प्राप्त हो, मुझे जरा सा भी दुःख प्राप्त न हो" इस प्रकार के पुरुषार्थ की इच्छा करते हुए पुरुष यदि स्थपति पद (परमेश्वरपद) की कामना रखते हैं तो वे सम्मान के भागी नहीं होते। बल्कि सभी अनर्थ के ही भागी होते हैं। जो व्यक्ति अपनी हीनता तथा दूसरों के गुणों का उत्कर्ष बतलाता है, स्तुत्य तथा प्रसन्न हुए वे परमात्मा उस स्तावक को अभीष्ट प्रदान करते हैं। जैसा कि कहा गया है—

"मैं राजा हूँ" ऐसा कहने वाले लोगों को राजा लोग मार डालते हैं लेकिन अपने गुणों का उत्कर्ष बतलाने वाले व्यक्ति को सम्पूर्ण अभीष्ट प्रदान करते हैं।

विशेष—पीछे यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान सम्भव है। अब प्रस्तुत परिच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि अनुमान प्रमाण से भी भेद का ज्ञान हो सकता है। यहाँ यह भी बतलाया गया है कि परमात्मा की स्तुति करने से सभी अभीष्ट प्राप्त होते हैं। जो व्यक्ति केवल अहङ्कार में रहता है, केवल अपने ही गुणों को देखता रहता है वह दुःखी होता है।

एवं च परमेश्वराभेदतृष्णया विष्णोर्गुणोत्कर्षस्य मृगतृष्णिकासमत्वाभिधानं विपुलकदलीफललिप्सया जिह्वाच्छेदनमनुरति। एतादृशविष्णुविद्वेषणादन्धतमसप्रवेशप्रसङ्गात्। तदेतत्प्रतिपादितं मध्यमन्दिरेण महाभारततात्पर्यनिर्णये–

४. अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः ।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात् ॥

(म० भा० ता० १/१११) इति।

अनुवाद—इस प्रकार परमात्मा से अभेद होने की इच्छा से भगवान् विष्णु का वर्णन करना, मृगतृष्णा के समान ही कहा गया है, जिस तरह कि अत्यधिक केले के लोभ की इच्छा से जीभ को काट लेना। इस प्रकार से भगवान् विष्णु से द्वेष करने के कारण अन्धतमस में प्रवेश होता है। मध्यमन्दिर ने महाभारत-तात्पर्य निर्णय में यही प्रतिपादित किया है—

दैत्य लोग भगवान् विष्णु से अनादि काल से द्वेष रखते हैं। भगवान् विष्णु में उनका द्वेष बढ़ जाता है। यही द्वेष निश्चित रूप से उन दैत्यों को अन्त में घोर अन्धकार में गिराता है। म.भा.ता. (१/१११)

विशेष—मध्व मतानुसारी लोग भगवान् से भक्त के अभेद को नहीं स्वीकारते हैं। क्योंकि अभेद हो जाने पर भक्ति सम्भव नहीं। भगवान् के गुणों का वर्णन भी तभी सम्भव है जब अभेद न हो। जैसे कोई व्यक्ति केला खाना चाहता हो तो वह अपनी जीभ

ही काट लेता है। लेकिन जीभ काट लेने का केले से क्या सम्बन्ध है। इनमें कोई कार्यकारण भाव नहीं है। जीभ काटने पर केला नहीं मिलता है। उसी तरह यदि कोई व्यक्ति परमात्मा से अभेद बनाने के लिए भगवान् के गुणों का वर्णन करता है तो उस गुणवर्णन से क्या लाभ है? गुणवर्णन और अभेद में कोई कार्यकारणभाव है ही नहीं। अभेद तो मृगतृष्णा की तरह मिथ्या है। जो ऐसा अभेद चाहता है वो वास्तव में भगवान् से द्वेष ही करता है।

मध्वाचार्य का ही नाम मध्यमन्दिर था। इन्हीं का दूसरा नाम आनन्दतीर्थ या पूर्णप्रज्ञ भी था। ये मध्यगेह के पुत्र थे। इनका समय ११९९ ई. से १३०३ ई. था। इनके लगभग ३७ ग्रन्थे थे। जिवमें प्रमुख रूप में ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, महाभाष्य तात्पर्य निर्णय, भागवततात्पर्यनिर्णय, विष्णु तात्पर्य निर्णय, गीता तात्पर्य निर्णय, प्रपञ्चमिथ्यात्वनिर्णय, तन्त्रसार सङ्ग्रह आदि प्रमुख है।

६. *ईश्वर की सेवा के नियम*

सा च सेवा अङ्कन-नामकरण-भजनभेदात् त्रिविधा। तत्राङ्कनं नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपेक्षितार्थसिद्ध्यर्थं च। तथा च शाकल्यसंहितापरिशिष्टम्–

५. चक्रं बिभर्त्ति पुरुषोऽभितप्तं बलं देवानाममृतस्य विष्णोः।
स याति नाकं दुरितावधूय विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः॥
६. देवासो येन विधृतेन बाहुना सुदर्शनेन प्रयातास्तमायन्।
येनाङ्किता मनवो लोकसृष्टिं वितन्वन्ति ब्राह्मणास्तद्वहन्ति॥

अनुवाद—ईश्वर की सेवा भी तीन प्रकार की है—अंकन, नामकरण तथा भजन। उसमें भगवान् नारायण के आयुध आदि का अङ्कन भगवान् के रूप के स्मरण के लिये तथा अपेक्षित विषय की सिद्धि के लिये होता है। जैसा कि शाकल्यसंहिता परिशिष्ट में कहा गया है—

जो व्यक्ति अमृतस्वरूप भगवान् विष्णु के प्रचण्डचक्र को, जो कि देवों का बल है, उसे धारण करता है, वह पापों को पारकर स्वर्ग जाता है, जहाँ रागमुक्त संन्यासी जाते हैं।

अपनी भुजा में जिस सुदर्शन चक्र को धारण करके देवता लोग उस स्वर्गलोक में गये, जिस चक्र से अंकित होकर मनु लोग संसार की सृष्टि करते हैं। ब्राह्मण लोग उस चक्र को धारण करते हैं।

विशेष—भगवान् के चिह्नों को शरीर में धारण करना ही अङ्कन कहलाता है। इन चिह्नों को चंदन आदि से भी धारण किया जाता है तथा धातु की मुद्रा से शरीर में चिह्नों को गोदा भी जाता है।

आनन्द रामायण में बतलाया गया है कि राममुद्रा गोपीचन्दन से धारण करे—

राममुद्रा शुभा धार्या गोपीचन्दनसंयुता—आनन्दरामायण

(मनोहरकाण्ड १२.९९)

आनन्दरामायण में राममुद्राङ्कित वस्त्र (रामनामी) धारण करने का भी माहात्म्य बतलाया गया है।

७. **तद्विष्णोः परमं पदं येन गच्छन्ति लाञ्छिताः ।**
उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः ।। इति।

'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रितास इद्वहन्तस्तत्समासत' (तै०आ० १।११) इति तैत्तिरीयकोपनिषच्च। स्थानविशेषश्चाग्नेयपुराणे प्रदर्शितः-

८. **दक्षिणे तु करे विप्रो बिभृयाच्च सुदर्शनम् ।**
सव्येन शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ।।

अनुवाद—भगवान् के चिह्नों से अङ्कित लोग भगवान् विष्णु के परमपद को पाते हैं। भगवान् उरुक्रम के चिह्नों से अङ्कित होने पर संसार में भी सौभाग्यशाली होते हैं।

जिनका शरीर तप्त नहीं है, वह कच्चा (आम=अपरिपक्व) है। वह स्वर्ग को नहीं पांता। उन चिह्नों को धारण करने वाले परमात्मा पर आश्रित (श्रितासः) भक्त उन्हें प्राप्त करते हैं। (तै०आ० १/११) यह तैत्तिरीयकोपनिषद् में कहा गया है।

इन चिह्नों के विशेष स्थान आग्नेय पुराण में दिखाये गये हैं।

ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन चक्र का चिह्न धारण करे। बायें हाथ में शङ्ख का चिह्न धारण करे—ऐसा ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है।

अन्यत्र चक्रधारणे मन्त्रविशेषश्च दर्शितः-

९. **सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्यसमप्रभ! ।**
अज्ञानान्धस्य मे नित्यं विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ।।

१०. **त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे ।**
नमितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ।। इति।

अनुवाद—अन्यत्र चक्रधारण के विषय मे विशेष मन्त्र बतलाया गया है—

हे करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी, महान् ज्वालावाले सुदर्शन! अज्ञान से अन्धे मुझे सदा भगवान् विष्णु के मार्ग को दिखलाइये।

हे सुदर्शन! तुम प्राचीन काल में समुद्र से उत्पन्न हुए और भगवान् विष्णु के हाथ में धारण किये गये। सभी देवों के द्वारा नमस्कृत पाञ्चजन्य तुम्हें नमस्कार है।

विशेष—इन श्लोकों में से अन्तिम श्लोक का प्रयोग शङ्ख की पूजा के समय होता है। यहाँ "नमितः" के स्थान पर "निर्मितः" भी पाठभेद है। 'निर्मितः' करने पर अर्थ होगा—"देवों द्वारा निर्मित"

६. क. नामकरण और भजन

नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम्। भजनं दशविधं–वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायः, कायेन दानं परित्राणं, परिरक्षणं, मनसा दया स्पृहा श्रद्धा चेति। अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणे समर्पणं भजनम्। तदुक्तम्–

अङ्कनं नामकरणं भजनं दशधा च तत्। इति।
एवं ज्ञेयत्वादिनापि भेदोऽनुमातव्यः।

अनुवाद—नामकरण का तात्पर्य है—पुत्रादि का भगवान् केशव के नाम से व्यवहार, जिससे सदा भगवान् के नाम का स्मरण होता रहे। भजन दस प्रकार का है—वाणी से सत्य बोलना हितकारक वचन बोलना, प्रिय बोलना तथा स्वाध्याय करना। शरीर से दान देना, अपनी सुरक्षा करना तथा दूसरों की रक्षा करना। मन से दया, इच्छा और श्रद्धा। यहाँ एक-एक कर्म को पूर्ण करके भगवान् नारायण में समर्पण करना ही भजन है। जैसा कि कहा गया है—

अङ्कन, नामकरण तथा दस प्रकार का भजन ही भगवान् की वह सेवा होती है।

इसी प्रकार ज्ञेयत्व आदि हेतु से भी भेद का अनुमान कर लेना चाहिये।

विशेष—पूर्व में भगवान् की सेवा के तीन प्रकार बतलाये गये थे—अङ्कन, नामकरण तथा भजन।

यहाँ प्रसङ्ग यह चल रहा है कि भेद का ज्ञान अनुमान प्रमाण से भी हो सकता है। इसी सम्बन्ध में पूर्व में यह अनुमान दिखाया गया था—

परमेश्वरो जीवात् भिन्नः तं प्रति सेव्यत्वात्।

परमेश्वर अनुमान में पक्ष है, भेद साध्य है। अभी तक पक्ष परमेश्वर तथा उनकी सेवा की प्रासङ्गिक चर्चा हुई।

इस अनुमान में सेव्यत्व के स्थान पर ज्ञेयत्व हेतु भी दिया जा सकता है। जैसे सेवक तथा सेव्य मे भेद होता है वैसे ही ज्ञाता तथा ज्ञेय में भी होता है। 'ज्ञेयत्व' हेतु देने पर अनुमान होगा—

परमेश्वरो जीवात् भिन्नः तं प्रति ज्ञेयत्वात्।

(परमेश्वर जीव से भिन्न है, क्योंकि वह जीव के द्वारा ज्ञेय है)

७. श्रुति-प्रमाण से भेद की सिद्धि

तथा श्रुत्यापि भेदोऽवगन्तव्यः। 'सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति, रातिं देवस्य गुणतो मघोनः।' 'सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो, यज्ञेषु विप्रराज्ये।' 'सत्य आत्मा, सत्यो जीवः, सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा, मैवारुवण्यो मैवारुवण्यो मैवारुवण्य' इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्यः।

अनुवाद—इसी प्रकार श्रुतिप्रमाण (शब्द प्रमाण) से भी भेद का ज्ञान कर लेना चाहिये। "यह सत्य है कि स्तुति करने वाले इन्द्र देव के मित्र से सभी लोग प्रसन्न होते हैं।" "उन भगवान् विष्णु की महिमा सत्य है, मैं ब्राह्मणों के राज्य में यज्ञों में सुख की प्रार्थना करता हूँ।" "आत्मा सत्य है, जीव सत्य है, भेद के कारण आत्मा सत्य है, भेद के कारण आत्मा सत्य है, भेद के कारण आत्मा सत्य है। (परमात्मा) दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है, दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है, दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है"—इस प्रकार से मोक्ष तथा आनन्द में भेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से भेद सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ श्रुति प्रमाण या शब्द प्रमाण से भेद को सिद्ध किया गया है। उपर्युक्त श्रुति में कुछ विशेष शब्द आये हैं—जैसे—राति=मित्र, शवः=सुख, मैवारुण्यः=मा+एव+आरु+वन्यः। आरुवण्यः में तृतीयातत्पुरुष समास है। आरुणा वन्यः। आरु=दुष्ट, वन्य=सेवनीय। वन्यः के नकार को पूर्व रकार के कारण णकार हो गया है। मैवारुवन्यः के स्थान पर 'मयि वारुण्यः' भी पाठ मिलता है। "मयिवारुण्यः" का तात्पर्य है—मुझमें आरन्दरूपी समुद्र है।

इन सभी श्रुतियों से भेद की सिद्धि हो रही है। "स्तुति करने वाले इन्द्रदेव" यह कहने से ये सिद्ध होता है कि स्तोता तथा स्तोतव्य में भेद है। "विष्णु की महिमा" यह वाक्य विष्णु तथा महिमा में भेद बतलाया है। "सुख की प्रार्थना" करने से सुख तथा आत्मा में भेद मालूम होता है। माध्वानुसार मोक्ष भी आनन्दरूप नहीं है। मोक्ष मिलने पर भक्त आनन्द की अनुभूति करता है। इसी कारण "मयि वारुण्यः" का तात्पर्य है—मुझमें (परमात्मा) में आनन्द है। लेकिन मैं आनन्दरूप नहीं हूँ। अतः श्रुतियों से मोक्ष तथा आनन्द में भेद सिद्ध होता है।

११. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ (गी० १४।२)

'जगद्व्यापारवर्जम्'; 'प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (ब्र०सू० ४।४।१७-१८) इत्यादिभ्यश्च। न च 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतिबलाज्जीवस्य परमैश्वर्यं शक्यशङ्कम्। 'सम्पूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्'–इतिवद् बृंहितो भवतीत्यर्थपरवात्।

अनुवाद—इस ज्ञान का आश्रय लेकर भक्त लोग मेरे समान हो जाते हैं। वे लोग पुन: सृष्टि में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में दु:खी नहीं होते। (गीता-१४/२) जगत् के व्यापार के अतिरिक्त, प्रकरण के कारण तथा जीव के असंनिहित होने से (ब्र०सू० ४/४/१७-१८) इस श्रुति के कारण जीव परमेश्वर रूप हो जाता है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। "ब्राह्मण की भक्ति के साथ पूजा करने पर शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है। "इसमें जैसे (ब्राह्मण होता है का) "महान् हो जाता है" यह अर्थ है वैसे ही (जीव भी परमेश्वर के समान महान् हो जाता है) यह अर्थ है।

विशेष—मोक्षावस्था में जीव तथा ईश्वर का भेद बना रहता है। यही बात श्रुति भी प्रतिपादित करती है। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" में "ब्रह्मैव भवति" में ब्रह्मैव भवति का तात्पर्य लक्षणावृत्ति से "ब्रह्मवत् बृंहितो भवति" किया जाता है।

८. माया का अर्थ–द्वैत का प्रतिपादन

ननु–

१२. प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

(माण्डूक्यकारिका १।१७)

इति वचनाद् द्वैतस्य कल्पितत्वमवगम्यत इति चेत्सत्यम्। भावमनभिसंधायाभिधानात्। तथा हि–यद्ययमुत्पद्येत तर्हि निवर्तेत न संशयः। तस्मादनादिरेवायं प्रकृष्टः पञ्चविधो भेदप्रपञ्चः। न चायमविद्यमानः। मायामात्रत्वात्। मायेति भगवदिच्छोच्यते।

अनुवाद—यदि यह कहा गया कि—

"यदि प्रपञ्च विद्यमान रहेगा तो नि:सन्देह ही दूर भी हो जायेगा। इसलिये द्वैत केवल माया है। वास्तव में अद्वैत ही सत्य है।" —(माण्डूक्यारिका १/१७)

इस वचन से द्वैत काल्पनिक ही है यह मालूम पड़ता है तो इस आक्षेप पर माधव कहते हैं कि ठीक है। आप भाव को बिना समझे ऐसा कर रहे हैं। क्योंकि यदि यह प्रपञ्च उत्पन्न होगा तो अवश्य ही दूर भी हो जायेगा, इसलिये यह प्रकृत पञ्चप्रकार का भेद प्रपञ्च अनादि ही हैं। यह प्रपञ्च अविद्यमान है—ऐसा नहीं है अर्थात् प्रपञ्च विद्यमान है। यह मायामात्र है। भगवान् की इच्छा को ही माया कहते हैं।

विशेष—माध्व का मत है कि यह पाञ्चभौतिक प्रपञ्च अनादि है। यह ईश्वर की इच्छा रूप है। अत: जब प्रपञ्च की उत्पत्ति ही नहीं है तो उसका नाश भी नहीं होता है। भेद पाँच प्रकार का होता है—इसका वर्णन आगे आयेगा।

१३. महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्त कथ्यते॥

१४. प्रकृतिः प्रकृष्टकरणाद्वासना वासयेद्यतः।
अ इत्युक्तो हरिस्तस्य मायाविद्येति संज्ञिता॥
१५. मायेत्युक्ता प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टे हि मयाभिधा।
विष्णोः प्रज्ञप्तिरेवैका शब्दैरेतैरुदीर्यते॥
१६. प्रज्ञप्तिरूपो हि हरिः सा च स्वानन्दलक्षणा।

इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यबलात्।

अनुवाद—हे अनन्त परमात्मा! आपकी इच्छा ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रकृति तथा वासना कही जाती है। श्रेष्ठ करण होने के कारण यह प्रकृति कहलाती है, यह जीव को संस्क़ारों से वासित कराती है अत: वासना कहलाती है, 'अ' का अर्थ है—हरि। है उनकी माया को अविद्या कहते हैं, प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) होने के कारण यह माया कहलाती है तथा प्रकृष्ट को ही मय भी कहते हैं। भगवान् विष्णु की एकमात्र प्रज्ञप्ति ही इन सभी माया आदि शब्दों से कही जाती है। भगवान् हरि प्रज्ञप्तिरूप हैं तथा वह माया आनन्दरूपा है।

इन सभी वचन समूहों के प्रामाण्य के कारण (माया की सिद्धि होती है।)

सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञानत्वाद्रक्षितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम्। न हीश्वरे सर्वस्य भ्रान्तिः संभवति। विशेषादर्शननिबन्धनत्वाद् भ्रान्तेः।

तर्हि तद्व्यपदेशः कथमित्यत्रोत्तरमद्वैतं परमार्थत इति। परमार्थत इति परमार्थापेक्षया। तेन सर्वस्मादुत्तमस्य विष्णुत्त्वस्य समभ्यधिकशून्यत्वमुक्तं भवति।

अनुवाद—वही प्रज्ञा जिसका ज्ञान करती है तथा जिसकी रक्षा करती है, उसे मायामात्र कहते हैं। इसलिये परमेश्वर के द्वारा ज्ञात होने से तथा रक्षित होने से यह द्वैत प्रपञ्च भ्रान्ति कल्पित नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में किसी की भ्रान्ति सम्भव नहीं है। विशेष का दर्शन न होने पर ही भ्रान्ति होती है।

तो फिर भ्रान्ति का वर्णन (पूर्वोक्त माडूक्यकारिका में) कैसे हुआ? तो इसका उत्तर है कि परमार्थतः अद्वैत है अर्थात् परमार्थ की अपेक्षा से अद्वैत है। अत: सबसे उत्तम विष्णुतत्त्व के बराबर या अधिक कोई वस्तु नहीं है।

विशेष—माया भगवान् विष्णु की इच्छा या विज्ञप्ति (ज्ञान) है। वह आनन्दरूपा है। उसी के द्वारा इस जगत् का ज्ञान तथा रक्षण होता है।

मा । मीयते ... ... च इति मायामात्र जगत्।

माया+मा+त्रा=मायामात्रम्।

माध्वों के अनुसार यह सम्पूर्ण प्रपञ्च सत्य है फिर भी सबसे श्रेष्ठ परमात्मा हरि ही है। अत: अन्य सभी (परम) पदार्थों (अर्थ) की दृष्टि से (परमार्थापेक्षया) हरि ही अद्वैत हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

तथा च परमा श्रुतिः–

१७. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

१८. मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥

१९. न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः।
कल्पितश्चेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते॥

२०. द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्।
मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना॥
तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु। इत्यादि।

तस्माद्विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव तात्पर्यं सर्वागमानाम्।

अनुवाद—जैसी कि परम श्रुति है—जीव तथा ईश्वर में भेद, जड़ तथा ईश्वर में भेद, जीवों में परस्पर भेद, जड़ तथा जीव में भेद तथा जड़ में परस्पर भेद—इस प्रकार भेद पांच प्रकार का है। यह भेद सत्य और अनादि है। यदि भेद सादि होता, तो उसका नाश होता (लेकिन ऐसा नहीं है) लेकिन भेद का नाश नहीं होता और न ही भेद भ्रम से कल्पित है। यदि भेद कल्पित होता तो यह समाप्त हो जाता, लेकिन सह समाप्त नहीं होता। अत: द्वैत नहीं होता। यह अज्ञानियों (अद्वैत वेदान्तियों) का मत है। यह जगत् भगवान् विष्णु के द्वारा ज्ञात तथा रक्षित है, ऐसा ज्ञानियों का मत है। अत: जगत् को मात्र कहा जाता है तथा भगवान् हरि ही परमश्रेष्ठ हैं—इत्यादि।

अत: भगवान् विष्णु ही सर्वोत्कृष्ट हैं—यही सभी आगमों का तात्पर्य है।

९. ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के अन्य प्रमाण

एतदेवाभिसंधायाभिहितं भगवता–

२१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

२२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

२३. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

२४. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
२५. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

(गी० १५/१६-२०) इति।

अनुवाद—यही ध्यान में रखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—संसार में दो तरह के पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। सभी प्राणी क्षर हैं तथा कूटस्थ ब्रह्म ही अक्षर है। एक अन्य उत्तम पुरुष है जो परमात्मा कहा जाता है। जो अन्य ईश्वर तीनों लोकों को घेरकर उन्हें धारण करता है। चूंकि मैं क्षर से परे तथा अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। हे भरतवंशी अर्जुन! जो व्यक्ति मोह से रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सर्वज्ञ व्यक्ति सब भाव से मेरा ही भजन करता है। हे निष्पाप भरतवंशी अर्जुन! यह गोपनीय शास्त्र मैंने तुम्हें बतलाया है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् तथा कृतकृत्य होता है। —(गीता १५/१६-२०)

१०. मोक्ष ईश्वर के प्रसाद से ही मिलता है

महावराहेऽपि–

२६. मुख्यं च सर्ववेदानां तात्पर्यं श्रीपतौ परे।
उत्कर्षे तु तदन्यत्र तात्पर्यं यादवान्तरम्॥ इति।

युक्तं च विष्णोः सर्वोत्कर्षे महातात्पर्यम्। मोक्षो हि सर्वपुरुषार्थोत्तमः।

२७. धर्मार्थकामाः सर्वेऽपि न नित्या मोक्ष एव हि।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्नरः॥

इति भाल्लवेयश्रुतेः।

अनुवाद—महावराह पुराण में भी कहा गया है—सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य परमश्रेष्ठ श्रीपति (हरि) के उत्कर्ष में है। उनसे भिन्न अन्य देवताओं में तात्पर्य होना गौण है।

भगवान् विष्णु के सर्वोत्कर्ष में ही वेदों का महातात्पर्य होना ठीक है। सभी पुरुषार्थों में ही वेदों का महातात्पर्य होना ठीक है। सभी पुरुषार्थों में उत्तम मोक्ष ही है।

धर्म, अर्थ तथा काम—ये सभी पुरुषार्थ नित्य नहीं हैं। केवलमोक्ष ही नित्य है। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयास करे—ऐसी भाल्लवेय श्रुति है।

मोक्षश्च विष्णुप्रसादमन्तरेण न लभ्यते।

२८. यस्य प्रसादात्परमार्त्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण।
नारायणोऽसौ परमौ विचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात्॥
इति नारायणश्रुतेः।

२९. तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोनन्तात् निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति।।
(वि०पु० १/१७/९१)

इति विष्णुपुराणोक्तेश्च। प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव नाभेदज्ञानादित्युक्तम्।

अनुवाद—मोक्ष भगवान् विष्णु की कृपा के बिना नहीं प्राप्त होता। जिनकी कृपा से परमदु:खरूप इस संसार से मनुष्य मुक्त होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं। इस कर्मपाश से मुक्ति पाने की इच्छा वाले व्यक्ति ने उस परम नारायण का ही चिन्तन करना चाहिये। —यह नारायण श्रुति है।

उन भगवान् के प्रसन्न होने पर इस संसार में क्या अलभ्य है? धर्म, अर्थ तथा काम से कोई प्रयोजन नहीं है। वे सब अल्प हैं। अनन्त ब्रह्मरूपी वृक्ष का आश्रय करने पर नि:सन्देह मुक्तिरूपी फल प्राप्त करते हैं। —(वि.पु. १/१७/९१)

ऐसा विष्णु पुराण में कहा गया है। यह भगवान् की प्रसन्नता गुणों के उत्कर्ष ज्ञान से ही मिलती है, अभेद ज्ञान से नहीं।

विशेष—परमात्मा की उत्कर्षता या सर्वश्रेष्ठता का ज्ञान होने पर मुक्ति प्राप्त होती है—मान माध्वमत है।

११. 'तत्वमसि' का अर्थ

न च तत्त्वमस्यादितादात्म्यव्याकोपः। श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भनात्।

३०. आह नित्यपरोक्षं तु त्वच्छब्दो ह्यविशेषतः।
त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत्॥

३१. आदित्यो यूप इतिवत्सादृश्यार्था तु सा श्रुतिः॥ इति।

तथा च परमा श्रुतिः–

३२. जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।
एकस्थाननिवेशो वा व्यक्तिस्थानमपेक्ष्य सः॥

३३. न स्वरूपैकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः।
स्वातन्त्र्यपूर्णतिऽल्पत्वपारन्त्र्ये विरूपते॥ इति।

अनुवाद—'तत्वमसि' इत्यादि तादात्म्य में भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि वेद के तात्पर्य को बिना जाने यह कहा गया है।

तत् शब्द सामान्य रूप से नित्य परोक्ष पदार्थ का ज्ञान कराता है तथा 'त्वम्' शब्द अपरोक्ष पदार्थ का ज्ञान कराता है। उन दोनों की एकता कैसे होगी?

यह (तत्त्वमसि) श्रुति 'आदित्यो यूपः' (आदित्य ही यूपः है) के समान सादृश्यार्थक है। इस प्रकार परमश्रुति है—

जीव की ईश्वर से परम एकता का तात्पर्य है बुद्धि का समानरूप हो जाना या उन दोनों (जीव तथा ईश्वर) का एक स्थान पर (वैकुण्ठ में) रहना। वह एक स्थान पर रहना व्यक्ति स्थान (वैकुण्ठ) की अपेक्षा से है।

भिन्न स्वरूप वाले मुक्त आत्मा की परमात्मा के स्वरूप में एकता नहीं होती। ईश्वर की स्वतन्त्रता तथा पूर्णता एवं जीव की अल्पता तथा पारतन्त्र्यता ही विरूपता है।

विशेष—'आदित्यो यूप:' का तात्पर्य लक्षणा के द्वारा होता है—यूप आदित्य=सूर्य के समान तेजोमय है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ होगा—तुम (जीव) उस ब्रह्म के समान हो।

अत: मोक्षावस्था में भी जीव ईश्वररूप नहीं होता है। उन दोनों का ज्ञान एक जैसा हो जाता है तथा उन दोनों का निवास भी एक ही लोक (वैकुण्ठ) में होता है। वैकुण्ठ को ही व्यक्तिस्थान कहते हैं क्योंकि यह स्थान जीव के गुणोंत्कर्षों की अभिव्यक्ति करता है।

११. क. तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ

अथवा तत्त्वमसीत्यत्र स एवात्मा स्वातन्त्र्यादिगुणोपेतत्वात्। अतत्त्वमसि त्वं तत्र भवसि तद्रहितत्वादित्येकत्वतिशयेन निराकृतम्। तदाह-

अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम्। इति।

तस्माद् दृष्टान्तनवकेऽपि 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः' (छा० ६/८/३) इत्यादिना भेद एव दृष्टान्ताभिधानान्नायमभेदोपदेश इति तत्त्ववादरहस्यम्।

अनुवाद—अथवा 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य है "तुम वही आत्मा हो" स्वातन्त्र्यादि गुणों से युक्त होने के कारण। (या दूसरा अर्थ है)—तुम वह आत्मा नहीं हो स्वातन्त्र्यादि से रहित होने के कारण। इस प्रकार जीव तथा परमात्मा की एकता का अतिशयेन निराकरण किया गया है। जैसा कि कहा गया है—

'अतत्त्वम्' इस पदच्छेद को करके जीव तथा ईश्वर की एकता का पूर्णत: निराकरण किया गया है।

इसलिये नौ दृष्टान्त देने पर भी "जिस प्रकार वह पक्षी सूत्र से बंधा रहता है। (छा.उप. ६.८.३) इत्यादि वचनों से भेद को ही दृष्टान्त के रूप में बतलाया गया है, इसलिये यह अभेद का उपदेश नहीं है यही तत्त्ववाद का रहस्य है।

विशेष—'तत्त्वमसि' का अर्थ करने के लिए मध्वाचार्य ने अनेक पक्ष माने हैं। पूर्व में उन्होंने यह अर्थ किया था कि तुम (जीव) उस (परमात्मा) के समान हो।

यहाँ मध्वाचार्य दूसरा अर्थ करते हुए कहते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् में परमात्मा का वर्णन करते हुए अन्त में उसी परमात्मा से सम्बोधन करके कहा जाता है कि तत्त्वमसि=अर्थात् हे परमात्मन्! स्वातन्त्र्यादि गुणों से युक्त वह परमात्मा तुम ही हो।

अथवा मध्वाचार्य तीसरा अर्थ करते हैं—आत्मा तत्त्वमसि=आत्मा+अतत्+त्वम्+असि। इस प्रकार से पदच्छेद करने पर जीवात्मा को सम्बोधित कर कहा जा रहा है कि तुम वह परमात्मा नहीं हो।

छान्दोग्य उपनिषद् में नौ दृष्टान्त देकर जीव तथा ईश्वर के भेद को समझाया गया है—ऐसा मध्वाचार्य कहते हैं। शांकर मतानुसार इन्हीं नौ दृष्टान्तों से जीव तथा ईश्वर में अभेद बतलाया गया है।

११. ख. उक्त नव दृष्टान्तों से भेद-सिद्धि

तथा च महोपनिषद्–

३४. यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा।
यथा नद्यः समुद्राश्च यथा जीवमहीरुहौ ॥

३५. यथाणिमा च धाना च शुद्धोदलवणे यथा।
चोरापहार्यौं च यथा यथा पुंविषयापि ॥

३६. यथाज्ञो जीवसङ्घश्च प्राणादेश्च नियामकः।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ ॥

३७. तथापि सूक्ष्मरूपत्वान्न जीवात्परमो हरिः।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते प्रेरकोऽपि सन् ॥

३८. वैलक्षण्यं तयोर्ज्ञात्वा मुच्यते बध्यतेऽयथा ॥ इति॥

अनुवाद—जिस प्रकार पक्षी तथा सूत्र, अनेक वृक्ष तथा उनका रस, नदियां तथा समुद्र, जीव तथा पेड़, अणुता तथा धाना, शुद्ध जल तथा नमक, चोर तथा अपहृत व्यक्ति, पुरुष तथा विषय, अज्ञानी जीवों का समूह तथा प्राणादि का नियामक परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार जीव तथा ईश्वर सर्वदा विलक्षण तथा भिन्न हैं। फिर भी सूक्ष्म रूप होने के कारण सभी के प्रेरक परमश्रेष्ठ भगवान् हरि मन्दबुद्धियों को जीव से भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। जो व्यक्ति उन दोनों (जीव तथा ईश्वर) में भेद जानता है, वह मुक्त होता है अन्यथा (भेद देखने वाला) बन्धन में पड़ता है।

विशेष—जीव तथा ईश्वर मे भेद दिखाने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् के नौ दृष्टान्तों को ही महोपनिषद् में भी प्रस्तुत किया गया है। ये नौ दृष्टान्त क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. जिस प्रकार शकुनि (पक्षी) बहेलिये के हाथ में स्थित सूत्र में बंधकर जिस किसी भी दिशा में भागता है, वह फिर लौटकर बन्धन में ही आता है, उसी तरह मन भी प्राण का ही आश्रय लेता है।

२. जिस प्रकार भौंरा अनेक पेड़ों का रस ईकट्ठा करके मधु बनाता है। उस मधु में सभी पेड़ों के रस मिले रहते हैं। किस पेड़ का रस कौन सा है? यह मालूम नहीं होता, उसी तरह जीव तथा ईश्वर भिन्न होने पर भी एक ही मालूम पड़ते हैं।

३. जिस प्रकार नदियां समुद्र में जब विलीन हो जाती हैं तो, उनका आपसी भेद समाप्त हो जाता है। गंगा का जल कौन सा है या यमुना का जल कौन सा है? यह ज्ञान नहीं रहता? उसी तरह जीव तथा ईश्वर में भी भेद मालूम नहीं पड़ता, फिर भी उनमें भेद है।

४. जिस प्रकार वृक्ष के एक भाग से जब जीव (चैतन्य) निकल जाता है तो वह भाग सूख जाता है, अन्य भाग से जब जीव निकलता है, तो वह भाग भी सूख जाता है। जब सम्पूर्ण पेड़ से जीव निकलता है तो सारा पेड़ सूख जाता है लेकिन पेड़ के सूखने पर भी जीव नहीं मरता, जीव तथा पेड़ भिन्न-भिन्न हैं, उसी तरह जीवात्मा तथा ईश्वर भी भिन्न-भिन्न हैं।

५. बरगद के फल में छोटे-छोटे बीज रहते हैं। उसे ही धाना कहते हैं। लेकिन उन बीजों को तोड़ने पर उनके भीतर कुछ भी नहीं रहता। परन्तु उन बीजों के भीतर भी छोटे-छोटे.अदृश्यमान बीज रहते हैं। उन अणु बीजावयवों को आंख से देखना सम्भव नहीं है लेकिन उन्हीं छोटे-छोटे बीजावयवों से बीज बनता है तथा बीज से फल एवं फलों से शाखादि से युक्त बरगद का पेड़ बनता है। उसी तरह परमात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् बना है।

६. नमक को पानी में मिला देने पर नमक का अलग से दर्शन नहीं होता लेकिन पानी चखने पर वह पानी नमकीन लगता है उसी तरह ईश्वर इस जगत् में नमक की तरह विलीन है।

७. गंधार देश के रहने वाले किसी व्यक्ति को चोरों ने जंगल में लूट लिया और उसके आंखों में पट्टी बांधकर उसे किसी निर्जन, अनजान स्थान पर छोड़ दिया। चोरों के जाने पर वह व्यक्ति जब पट्टी खोलता है तो उसे किसी दिशा का ज्ञान नहीं रहता उसे यह भी पता नहीं रहता कि गांधार देश किधर है। उसी समय किसी जानकार व्यक्ति के बतलाने पर कि "उधर गांधार देश है" वह अनजान व्यक्ति भी गांधार पहुँच जाता है। उसी प्रकार योग्य गुरु के द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त होता है।

८. मृत्यु काल में पुरुष किसी भी सांसारिक विषय को नहीं पहचान पाता। मृत्यु के बाद उसका मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परमदेवता में विलीन हो जाता है। वह परमदेवता ही ईश्वर है।

९. चोर की परीक्षा लेने के लिए राजा उनके हाथ में गरम लोहा थमाता है। जो वस्तुतः चोर होता है, उसका हाथ जल जाता है लेकिन जो चोर नहीं होता, वह गर्म लोहा पकड़ने पर भी नहीं जलता। अज्ञानी जीवों के प्राण का नियामक वह गरम लोहा है। सत्य व्यक्ति मारा नहीं जाता। उसी प्रकार ईश्वर भी सत्य है।

३९. ब्रह्मा शिवः सुराद्याश्च शरीरक्षरणात्क्षराः।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः॥

४०. स्वातन्त्र्यशक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः।
निःसीमत्वेन ते सर्वे तद्वशाः सर्वदैव च॥ इति।

४१. विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितः।
निर्दुःखानन्दभुङ्नित्यं तत्समीपे स मोदते॥

४२. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदैव स ईश्वरः॥ इति च।

अनुवाद—ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि देवता शरीर का नाश होने के कारण क्षर कहलाते हैं। अक्षर शरीर होने के कारण लक्ष्मी अक्षर कहलाती हैं तथा भगवान् विष्णु इन दोनों (क्षर, अक्षर) से पर (श्रेष्ठ) हैं।

स्वतन्त्रता, शक्ति, विज्ञान तथा सुख आदि समस्त गुण उस परमात्मा में असीम रूप से होने के कारण वे गुण उस परमात्मा के सदा अधीन रहते हैं।

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु को संसार से रहित तथा सभी गुणों से परिपूर्ण जानता है, वह दुःखों से मुक्त होकर आनन्द पाता है तथा सदा उन विष्णु भगवान् के समीप सुख भोग करता है।

भुक्त पुरुषों के आश्रय भगवान् विष्णु सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं। उनके वश में सब लोग हैं। वह विष्णु सदा ही सबके स्वामी हैं।

विशेष—पीछे गीता के श्लोक (१५/१८) का उद्धरण देकर यह बतलाया गया था कि जो ईश्वर क्षर से परे तथा अक्षर से भी उत्तम है वही पुरुषोत्तम कहलाते हैं। यहाँ भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

१२. एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान—इसका अर्थ

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च प्रधानत्वकारणत्वादिनां युज्यते न तु सर्वमिथ्यात्वेन। न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं सम्भवति यथा प्रधानपुरुषाणां ज्ञानाज्ञानाभ्यां ग्रामो ज्ञातोऽज्ञात इतयेवमादिव्यपदेशो दृष्ट एव। यथा च कारणे पितरि ज्ञाते जानात्यस्य पुत्रमिति। यथा वा सादृश्यादेकस्त्रीज्ञानाद् अन्यस्त्रीज्ञानमिति।

अनुवाद—"एक का ज्ञान होने पर सभी का ज्ञान हो जाता है" यह वचन ईश्वर को प्रधान या कारण मानकर लगाया जाता है, सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानकर नहीं। सत्व के ज्ञान से मिथ्या वस्तु का ज्ञान सम्भव नहीं है। जिस प्रकार प्रधान व्यक्ति के द्वारा जानने या न जानने से "ग्राम को जाना गया" या "ग्राम को नहीं जाना गया" ऐसा व्यवहार दिखाई देता ही है। और जिस प्रकार कारण पिता के जानने पर "पुत्र भी जानता है" यह व्यवहार होता है। या जिस प्रकार सादृश्य के कारण एक स्त्री का ज्ञान होने से अन्य स्त्री का भी ज्ञान होता है।

विशेष—"एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति" (एक मृत्पिण्ड को जानने पर सम्पूर्ण मृत्पिण्ड को जान लिया जाता है) —इस छान्दोग्योपनिषद् (६.१.४) में यह बतलाया गया है कि जैसे एक मृत्पिण्ड को जानने पर समस्त मृत्पिण्डों का ज्ञान होता है वैसे ही ईश्वर को जानने पर समस्त संसार का ज्ञान हो जाता है। शांकर वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ही सत्य है, लेकिन संसार मिथ्या है। (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) इस पर माध्वाचार्य कहते हैं यह कैसे सम्भव है कि सत्य 'ईश्वर' को मानने से मिथ्या संसार का ज्ञान हो अत: संसार भी सत्य ही है। ईश्वर जगत् का कारण या प्रधान है। प्रधान या कारण को जानने पर अप्रधान या कार्य का भी ज्ञान हो ही जाता है। यदि ग्रामप्रधान ने किसी वस्तु को जान लिया तो यह मान लिया जाता है कि सारे ग्राम से यह बात जान ली। पिता 'कारण' तथा पुत्र कार्य है। पिता द्वारा किसी वस्तु को जान लेने पर यह मान लिया जाता है कि पुत्र ने भी उस वस्तु को जान लिया होगा।

तदेव सादृश्यमत्रापि विवक्षितं 'यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६/१/४) इत्यादिना। इन्यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातम्' इत्यत्र एक-पिण्डशब्दौ वृथा प्रसज्येयाताम्। 'मृदा विज्ञातया' इत्येतावतैव वाक्यस्य पूर्णत्वात्।

अनुवाद—वही सादृश्य यहाँ भी बतलाया गया है "हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड से सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है" (छा.उप. ६.१.४) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अन्यथा "सौम्य! एक मृत्पिण्ड से सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान होता है" यहाँ एक तथा पिण्ड शब्द व्यर्थ हो जायेंगे। "मिट्टी को जानने पर" इतने से ही वाक्य पूर्ण हो जायेगा।

विशेष—जैसे सादृश्य के कारण एक स्त्री का ज्ञान होने पर समस्त स्त्रियों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार एक मृत्पिण्ड का ज्ञान होने पर मिट्टी के समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। मृत्पिण्ड का तात्पर्य यह नहीं है कि मृत्पिण्ड उपादान है और उपादान को जानने पर समस्त उपादेय भूत मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान होता है। बल्कि मृत्पिण्ड भी

मिट्टी का एक विकार ही है। मिट्टी के एक विकार को जान लेने पर मिट्टी के समस्त विकारों का ज्ञान सहज हो जाता है। समस्त मृत्ति के विकारों का उपादान मिट्टी ही है मिट्टी का पिण्ड नहीं। अन्यथा उपर्युक्त उपनिषद् के वाक्य में 'एक' और 'पिण्ड' शब्द अनर्थक हो जायेंगे।

न च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६.१.५) इत्येतत्कार्यस्य मिथ्यात्वमाचष्ट इत्येष्टव्यम्। वाचारम्भणं विकारो यस्य तदविकृतं नित्यं नामधेयं मृत्तिकेत्यादिकमित्येतद्वचनं सत्यमित्यर्थस्य स्वीकारात्। अपरथा नामधेयमितिशब्दयोर्वैयर्थ्यं प्रसज्येत। अतो न कुत्रापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः।

अनुवाद—"विकार केवल वाणी से उत्पन्न नाममात्र, मृत्तिका ही सत्य है" (छा.उप. ६.१.५), यह वचन कार्य को मिथ्या बतलाया है यह भी नहीं कहना चाहिये। जिसके मात्र वाणी से कहना ही विकार है, वह अविकृत, नित्य नामधेय मृत्तिका ही सत्य है—यह अर्थ उक्तवाक्य का माना गया है। अन्यथा 'नामधेय' तथा 'इति' शब्द बेकार होने लगेंगे। इसलिये कहीं भी संसार के मिथ्यारूप की सिद्धि नहीं होती।

विशेष—शब्द वस्तुतः नित्य है वाणी से उसकी केवल अभिव्यक्ति मात्र होती है। इसलिए उपर्युक्त वचन "वाचारम्भणम्.....इत्यादि" का यही तात्पर्य है कि मृत्तिका यह शब्द (नामधेय) तो अविकृत, नित्य है वाणी से उसकी अभिव्यक्ति ही उसका विकार है। इसके शांकर वेदान्ती इस वाक्य का यह तात्पर्य लगातें हैं कि मिट्टी के सभी विकार केवल बानी का विलास मात्र है मिट्टी ही सत्य है। लेकिन यह अर्थ मानने पर 'नामधेयम्' तथा 'इति' में दोनों पद व्यर्थ बेकार हो जायेंगे। "वाचारम्भणं विकारो मृत्तिका सत्यम्" इतने से ही काम हो जाता।

१३. मिथ्या का खण्डन

किं च प्रपञ्चो मिथ्येत्यत्र. मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा। प्रथमे सत्याद्वैतभङ्ग-प्रसङ्गः। चरमे प्रपञ्चसत्यत्वापातः। नन्वनित्यत्वं नित्यमनित्यं वा। उभयथाप्यनुपपत्ति-रित्याक्षेपवदयमपि नित्यसमजातिभेदः स्यात्।

तदुक्तं न्यायनिर्माणवेधसा–'नित्यमनित्यभवादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः' (न्या०सू० ५.१.३५) इति। तार्किकरक्षायां च–

४३. धर्मस्य तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तितः।
धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो निम्यसमो भवेत्॥ इति।

अस्याः संज्ञाया उपलक्षणत्वमभिप्रेत्याभिहितं प्रबोधसिद्धावन्वर्थित्वा-त्तूपरञ्जकधर्मसमेति। तस्मादसदुत्तरमिति चेत्।

अनुवाद—और प्रपञ्च मिथ्या है—यहाँ "मिथ्या होना" यह बात सत्य है या असत्य। प्रथम पक्ष (प्रपञ्चमिथ्या है-यह सत्य है) मानने पर सत्यरूप अद्वैत के खण्डन का प्रसङ्ग आयेगा। दूसरा पक्ष (प्रपञ्च मिथ्या है—यह असत्य है) मानने पर प्रपञ्च को सत्य

मानना पड़ेगा। इसी तरह 'अनित्यत्व' नित्य है या अनित्य। दोनों ही स्थिति में अनुपपत्ति है—इस आक्षेप की तरह ही यहाँ 'नित्यसम' नामक जाति का भेद हो जायेगा।

जैसा कि न्यायशास्त्र का निर्माण करने वाले विधाता ने कहा है—"अनित्य का भान होने के कारण अनित्यत्व नित्य है। इस प्रकार अनित्य में नित्यत्व की सिद्धि होने से नित्यसम होता है।" (न्या.सू.पू. ५.१.३५) तार्किकरक्षा में (कहा गया है)—

धर्म के तद्रूप या अतद्रूप—इन दोनों विकल्पों की अनुपपत्ति होने से धर्मी को धर्म विशिष्ट मानना भङ्ग हो जाता है यही नित्यसम है।

इसी 'नित्यसम' नाम को उपलक्षण मानकर प्रबोध सिद्धि में कहा गया है— सार्थक होने के कारण इसे ही "उपरञ्जकधर्मसम" कहते हैं। इसलिये यह असत् उत्तर है ऐसा यदि कहते हैं।

विशेष—माध्वों का कहना है कि "सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है" इस बात को यदि सत्य माना जाए फिर तो "ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है" यह जो प्रतिज्ञा थी उसका खण्डन स्वतः ही हो गया, क्योंकि प्रपञ्च मिथ्या है" यह वचन भी तो सत्य माना गया है। यदि कहें कि "प्रपञ्च मिथ्या है" यह बात मिथ्या है, फिर तो प्रपञ्च को सत्य मानकर हमारा ही पक्ष सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अनित्यत्व को नित्य या अनित्य दोनों में कुछ भी मानने पर नित्यत्व की ही सिद्धि होती है।

इसे ही न्यायदर्शन में 'नित्यसम' कहते हैं। न्यायदर्शन में १६ पदार्थ माने गये हैं। इनमें एक 'जाति' है। जाति के २४ भेद होते हैं, जिनमें से एक भेद का नाम नित्यसम है। सम्पूर्ण प्रपञ्च को सत्य सिद्ध करने के लिये माध्वों ने दो विकल्प उपस्थित करके जगत्मिथ्यात्व का खण्डन किया है। पूर्वपक्षी का कहना है यही तो नित्यसम जाति है।

तार्किक रक्षाकार भी यही कहते हैं कि धर्म (अनित्यत्व) का तद्रूप (अनित्यत्व) तथा अतद्रूप (नित्यत्व) दोनों ही विकल्प नहीं बन पाते। यदि अनित्यत्व को अनित्य कहें तब तो नित्यत्व सिद्ध ही है और यदि अनित्यत्व को नित्य कहा जाये तो भी नित्यत्व सिद्ध है। इस कारण अनित्यत्व धर्म से विशिष्ट धर्मी (अनित्य पदार्थ) को मानना ही असिद्ध हो जाता है। नित्य सम को "उपरञ्जकधर्मसम" भी कहा जाता है।

इस प्रकार माध्वों ने जो दो विकल्प उपस्थित कर उत्तर दिया वह वस्तुतः नित्य सम जाति हो गयी इसलिये माध्वों का उत्तर ठीक नहीं है—ऐसा पूर्वपक्षी का कहना है।

अशिक्षितत्रासनमेतत्। दुष्टत्वमूलानिरूपणात्। तद् द्विविधं साधारणमसाधारणं च। तत्राद्यं स्वव्याघातकम्। द्वितीयं त्रिविधं युक्ताङ्गहीनत्वमयुक्ताङ्गाधिकत्वमविषयवृत्तित्वं चेति।

तत्र साधारणमसम्भावितमेव। उक्तस्याक्षेपस्य स्वात्मव्यापनानुलम्भात्। एवमसाधारणमपि। घटस्य नास्तितायां नास्तितोक्तौ अस्तित्ववत्प्रकृतेऽप्युपपत्तेः।

अनुवाद—(यह जो पूर्वपक्षी ने कहा) वह मूर्खों को डराने के समान है। क्योंकि (पूर्वपक्षी ने उत्तर के) दोष के मूल का वर्णन नहीं किया। दोष मूल दो प्रकार का होता

है—साधारण तथा असाधारण। उन दोनों में पहला (साधारण) स्वयं का ही विनाशक है। दूसरा (असाधारण) तीन प्रकार का है—आवश्यक अंग से रहित, अनावश्यक अंगों की अधिकता, अविषय में वृत्तिता।

उसमें साधारण दोषमूल तो सम्भव ही नहीं है। उक्त दोष स्वयं को व्याप्त नहीं कर पाता है। इसी तरह असाधारण भी असम्भव है। "घट नहीं है" ऐसा न मानने पर घट के अस्तित्व का जैसे बोध होता है, वैसे ही प्रकृत में भी है।

विशेष—माध्वों ने जो उत्तर दिया था इस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि यह असत् उत्तर है। इस पर पुनः माध्व कहते हैं कि आप जो असत् उत्तर कह रहे हें तो दोष का मूल क्या है यदि कहें कि हमारे उत्तर में साधारण दोषमूल है तो वह सम्भव नहीं है। क्योंकि हमारा उत्तर अपने ही पक्ष का व्याघातक नहीं है। यदि असाधारण दोषमूल कहें तो यह भी सम्भव नहीं है। असाधारण के तीनों भेद हमारे उत्तर मे घटित नहीं होते। असाधारण दोष स्वपक्ष का तो व्याघात नहीं करता, लेकिन उसमें भी तीन दोष होते ही हैं। ये दोष हैं—

१. आवश्यक अंग का त्याग—जैसे—"पर्वतो वह्निमात् यथा महानसः" यहाँ आवश्यक अंग हेतु धूमवत्त्वात् नहीं है।

२. अनावश्यक अंग का ग्रहण—"पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् प्रकाशवत्त्वाच्च।" यहाँ 'प्रकाशवत्त्व' हेतु अनावश्यक तथा अधिक है।

३. अविषयवृत्तित्व—"पर्वतो वह्निमान् गन्धवत्त्वात्" यहाँ "गन्धवत्त्व" हेतु प्रकृत विषय से असम्बद्ध है।

ननु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमभ्युपेयते नासत्त्वमिति चेत्, तदेतत्सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छतीति शाकटिकवृत्तान्तमनुहरेत्। मिथ्या-त्वासत्त्वयोः पर्यायत्वादित्यलमतिप्रपञ्चेन।

अनुवाद—यदि (पूर्वपक्षी द्वारा यह) कहा जाए कि हम प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं, असत् नहीं तो वही बात हुई कि कोई गाड़ीवाला सिर कट जाने पर भी सौ रूपया देने को तैयार नहीं होता, परन्तु पांच २० देने को तैयार हो जाता है—इस प्रकार से गाड़ीवाले की कथा यहाँ भी हो जायेगी। मिथ्यात्व तथा असत्त्व पर्याय है—इस प्रकार बहुत प्रपञ्च हो गया। (अर्थात् अब यह विषय यहीं समाप्त करते हैं।)

विशेष—कोई गाड़ीवान् मरने की नौबत आने पर भी सौ रूपया देने को तैयार नहीं होता है, पर उसे जब कहा गया कि-ठीक है तुम ५ बार २० रुपये दे दो, तो वह तैयार हो गया। उसे यह लगा कि ५ बार बीस रूपये देना १०० रुपये से कम हे। जैसे

वह अज्ञानी है जिसे १०० तथा २०×५ में भेद नहीं पता, वैसे ही जो लोग कहते हैं कि जगत् मिथ्या है पर असत् नहीं है। उन्हें भी यह नहीं पता कि मिथ्या और असत् तो पर्यायवाची शब्द हैं।

१४. ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ

तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र०सू० १.१.१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः- तत्राथशब्दो मङ्गलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च स्वीक्रियते। अतःशब्दो हेत्वर्थः। तदुक्तं गारुडे–

४४. अथातःशब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि।
प्रारभ्यन्ते नियत्यैव तत्किमत्र नियामकम्॥
४५. कश्चार्थस्तु तयोर्विद्वन्कथमुत्तमता तयोः।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्यथा ज्ञास्यामि तत्त्वतः॥

अनुवाद—"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (ब्र०सू० १.१.१) इस प्रथम सूत्र का यह अर्थ है—उसमें 'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गल तथा अधिकार के बाद (आनन्तर्य) स्वीकार किया जाता है। 'अत:' शब्द का अर्थ "हेतु" है। जैसा कि गरुड पुराण में कहा गया है—

सभी सूत्र निश्चितरूप से 'अथ' तथा 'अत:" शब्द से प्रारम्भ होते हैं, इसमें क्या कारण है?

हे विद्वन् ! (ब्रह्मदेव) इन दोनों का क्या अर्थ है? इन दोनों की श्रेष्ठता का क्या कारण है? हे ब्रह्मन् मुझे यह बतलाइये, जिससे मैं इसे तत्त्वत: जानूं।

विशेष—अथ शब्द का अर्थ मङ्गल तथा अधिकारानन्तर्य दोनों है। अमरकोश में कहा गया है—

मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येंष्वथो अथ।

'अधिकारानन्तर्य' अथ का अभिधेयार्थ तथा 'मङ्गल' व्यङ्ग्यार्थ है। अधिकारानन्तर्य का तात्पर्य है—अधिकार के बाद। ब्रह्मजिज्ञासा करने का जो अधिकार है उसे करने के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।

इसी प्रसङ्ग में गरुडपुराणोक्त नारद-ब्रह्म-संवाद का उद्धरण दिया गया है।

४६. एवमुक्तो नारदेन ब्रह्मा प्रोवाच सत्तमः।
आनन्तर्याधिकारे च मङ्गलार्थे तथैव च॥
अथशब्दस्त्वतःशब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः॥ इति।

यतो नारायणप्रसादमन्तरेण न मोक्षो लभ्यते प्रसादश्च ज्ञानमन्तरेण, अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धम्।

अनुवाद—नारद के द्वारा ऐसा पूछने पर सज्जनों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी बोले—'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्य, अधिकार तथा मङ्गल अर्थ में होता है। 'अत:' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

चूंकि भगवान् नारायण की कृपा के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता और ज्ञान के बिना कृपा नहीं मिलती अत:, ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये यह सिद्ध है।

विशेष—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र के अन्तर्गत ही वेदान्तशास्त्र के अनुबन्ध चतुष्टय अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन चारों का वर्णन किया गया है। माध्वमतानुसार ब्रह्मज्ञान का अधिकारी वह है, जिसमें भक्ति, अध्ययन, शमदमादि, वैराग्य, शरणागति का भाव—ये सभी गुण हों। वेदान्त का विषय ब्रह्म है तथा प्रयोजन ब्रह्मज्ञान है। विषय तथा ग्रन्थ का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

१५. ब्रह्म का लक्षण

जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणमुक्तं 'जन्माद्यस्य यत:' (ब्र०सू० १.१.२) इति। सृष्टिस्थित्यादि यतो भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यार्थः। तथा च स्कान्दं वच:-

४७. उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यमात्स हरिरेकराट्॥

यतो वा इमानीत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

अनुवाद—जिज्ञास्य ब्रह्म का लक्षण बतलाया गया—जन्माद्यस्य यत: (ब्र०सू० १.१.२) जिससे इस जगत् का जन्म आदि होता है। सृष्टि, स्थिति आदि जिससे होती है, वह ब्रह्म है—यह वाक्य का अर्थ है। जैसा कि स्कन्दपुराण का वचन है—जिस पुरुष से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियन्त्रण, ज्ञान, आवृत्ति (अज्ञान), बन्धन तथा मोक्ष होता है, वह एक मात्र सम्राट हरि ही है। यतो वा इमानि (जिनसे इस जगत् की सृष्टि आदि होती है) इत्यादि श्रुतियों से भी (ब्रह्म का ही लक्षण किया गया है)

विशेष—द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यत:" में ब्रह्म का लक्षण बतलाया गया है। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने जन्मादि से जन्म, स्थिति तथा संहार—इन तीनों का ही ग्रहण किया है, परन्तु माध्व जन्मादि से आठ पदार्थों का ग्रहण करते हैं।

१६. ब्रह्म के विषय में प्रमाण

तत्र प्रमाणमप्युक्तं 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र०सू० १.१.३) इति। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै०ब्रा० ३.१२.९.७) 'तं त्वौपनिषदम्' (बृ० ३.९.२६) इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यानुमानिकत्वं निराक्रियते। न चानुमानस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमस्ति। तदुक्तं कौर्मे-

४९. श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च॥
४९. श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम्।
प्रमाणपदवीं गच्छेन्नात्र कार्या विचारणा॥ इति।

अनुवाद—उसमें प्रमाण भी बतलाया गया है—''शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् शास्त्रप्रमाणक होने से (ब्र०सू० १.१.३), ''नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'' (तै०ब्रा० ३.१२.९.१६) अर्थात् उस औपनिषद पुरुष को—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर का अनुमानगम्य होना खण्डित होता है।

अनुमान का स्वतन्त्र रूप से प्रामाण्य नहीं है। जैसा कि कूर्म पुराण में कहा गया है—

श्रुति (वेद या शब्द प्रमाण) की सहायता से रहित अनुमान या अन्य कोई प्रमाण निश्चित रूप से कहीं भी वस्तु की सिद्धि नहीं करा सकता।

श्रुति स्मृति की सहायता पाकर ही अन्य प्रमाण भी उत्तम होकर प्रमाण कोटि को प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विशेष—श्रुति प्रमाण (शब्द प्रमाण) से ईश्वर की सिद्धि होती है। अनुमानादि अन्य प्रमाण श्रुति के ही अधीन हैं।

शास्त्रस्वरूपमुक्तं स्कान्दे–

५०. ऋग्यजुःसामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते।
५१. यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्।
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥ इति॥

अनुवाद—स्कन्द पुराण में शास्त्र का स्वरूप बतलाया गया है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, महाभारत, पाञ्चरात्र तथा मूलरामायण—ये सभी शास्त्र कहलाते हैं।

जो ग्रन्थ इनके अनुकूल है, वह शास्त्र कहा गया है। इनके अतिरिक्त जो भी ग्रन्थ विस्तार है, वह शास्त्र नहीं बल्कि कुत्सित मार्ग है।

तदनेन, 'अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन भेदस्य प्राप्तत्वेन तत्र न तात्पर्यं किन्तु अद्वैत एव वेदवाक्यानां तात्पर्यम्–इत्यद्वैतवादिनां प्रत्याशा प्रतिक्षिप्ता। अनुमानादीश्वरस्य सिद्ध्यभावेन तद्भेदस्यापि ततः सिद्ध्यभावात्। तस्मान्न भेदानुवादकत्वमिति तत्परत्वमवगम्यते। अत एवोक्तम्–

५२. सदागमैकविज्ञेयं समतीतक्षराक्षरम्।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम्॥

(वि०त० १) इति।

अनुवाद—''जो अन्य प्रमाण से न प्राप्त हो, वही शास्त्र का अर्थ है'' इस न्याय से 'भेद' तो अन्य प्रमाणों से प्राप्त है। अतः उस भेद में शास्त्रों का तात्पर्य नहीं है, बल्कि अद्वैत में ही वेदवाक्यों का तात्पर्य है—यह अद्वैतवेदान्तियों की आशा भी उपर्युक्त कथन से खण्डित हो गयी। अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। अतः ईश्वर के भेद की भी अनुमान से सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये शास्त्रों में भेद का अनुवाद नहीं किया गया है, बल्कि ये शास्त्र भेदपरक ही हैं। अतः कहा गया है—

जो सदा आगमों से ही जाने जाते हैं, जो क्षर तथा अक्षर से परे हैं, जो निर्दोष हैं तथा समस्त सद्गुणों से युक्त हैं, उन भगवान् नारायण को मैं सदा प्रणाम करता हूँ। (वि०त० १)

विशेष—यह नियम है कि शास्त्र उसी वस्तु को बतलाता है, जिसका ज्ञान अन्य प्रमाणों से न हुआ हो। इस न्याय से अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि भेद तो अन्य प्रमाणों से ज्ञात है अत: अभेद रूप ब्रह्म को बतलाने वाला शास्त्र ही प्रमाण है। परन्तु द्वैतवादी माध्व कहते हैं कि भेद का ज्ञान अनुमानादि अन्य प्रमाणों ने नहीं होता, बल्कि शास्त्र से ही होता है। अत: भेद ही शास्त्रगम्य है।

१७. शास्त्रों का समन्वय

शास्त्रस्य तत्र प्रामाण्यमुपपादितं 'तत्तुसमन्वयात्' (ब्र०सू० १.१.४) इति। समन्वय उपक्रमादिलिङ्गम्। उक्तं च बृहत्संहितायाम्–

५३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥ इति।

अनुवाद—ब्रह्म के लिए शास्त्रों का प्रामाण्य बतलाया गया है—तत्तु समन्वयात् (ब्र.सू. १.१.४) अर्थात् ब्रह्म में ही सभी शास्त्रों का समन्वय होने के कारण। बृहत्संहिता में कहा गया है—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये सभी तात्पर्य का निर्णय करने के लिए लिङ्ग (चिह्न) हैं।

विशेष—उपक्रमादि ७ तात्पर्य निर्णय में सहायक चिह्न हैं। उपक्रम का तात्पर्य है प्रारम्भ तथा उपसंहार का अर्थ है—अन्त। किसी प्रकरण में प्रारम्भ और अन्त को देखकर तात्पर्य का निर्णय किया जाता है। अभ्यास का अर्थ है—शब्दान्तराविशेषेण पुन: श्रवणम्। अर्थात् उसी शब्द से पुन:-पुन: कथन। यह भी तात्पर्य निर्णायक है। मीमांसादर्शन में अभ्यास को कर्मभेदक ६ प्रमाणों में से अन्यतम माना गया है। अपूर्वता—अर्थात् नई बात को कहना। फल का अर्थ प्रसिद्ध है। विधेय की प्रशंसा या निषेध्य की निन्दा करने वाले वचन अर्थवाद हैं। उपपत्ति का अर्थ है—युक्ति।

१८. पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का उपसंहार

एवं वेदान्ततात्पर्यवशात् तदेव ब्रह्म शास्त्रगम्यमित्युक्तं भवति। दिङ्मात्रमत्र प्रादर्शि। शिष्टमानन्दतीर्थभाष्यव्याख्यानादौ द्रष्टव्यम्। ग्रन्थबहुत्वभियोपरम्यत इति।

अनुवाद—इस प्रकार वेदान्त के तात्पर्य के कारण वही ब्रह्म शास्त्रगम्य है—यह कहा जाता है। यहाँ केवल दिशानिर्देश दिखाया गया है। शेष आनन्दतीर्थ के भाष्य तथा व्याख्यान आदि में देख लेना चाहिये। ग्रन्थ के बड़े हो जाने के भय से अब नहीं विराम करते हैं।

एतच्च रहस्यं पूर्णप्रज्ञेन मध्यमन्दिरेण वायोस्तृतीयावतारम्मन्येन निरूपितम्।

५४. प्रथमस्तु हनूमान्स्याद् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः ॥

एतदेवाभिप्रेत्य तत्र तत्र ग्रन्थसमाप्ताविदं पद्यं लिख्यते-

५५. **यस्य त्रीण्युदिता निवेदवचने दिव्यानि रूपाण्यलं**
बट् तद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत्।
वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु-
र्मध्वो यत्तु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे॥

(म० भा० ता० ३२/१८१)

अनुवाद—इसी रहस्य को पूर्णप्रज्ञ मध्यममन्दिर, जो स्वयं को वायु का तीसरा अवतार मानते हैं, ने निरूपित किया है—

वायु के प्रथम अवतार हनुमान् हैं, दूसरे भीमसेन हैं तथा भगवान् के कार्य को सिद्ध करनेवाले तीसरे अवतार पूर्णप्रज्ञ हैं।

यही ध्यान में रखकर उन-उन स्थानों पर ग्रन्थ की समाप्ति में यह पद्य लिखा गया है—

वेदवचनों मे जिस वायुदेव के तीन दिव्यरूप कहे गये हैं। बट् (बड़िया=बलशाली), तद्दर्शतम् (ज्ञानी), देवस्य भर्गः (वायुदेव का भर्ग=भरण तथा गमन) तथा महत् (महान्) आदि वचन वेद में निहित हैं। वायु का प्रथम अवतार है राम के वचन को मानने वाले हनुमान दूसरा अवतार पृक्ष है तथा तीसरा अवतार यह मध्यावतार है, जिसके द्वारा यह ग्रन्थ भगवान् केशव के लिये लिखा. गया है।

विशेष—मध्वाचार्य के अनेक नाम हैं—मध्यमन्दिर, पूर्णप्रज्ञ, आनन्दतीर्थ। ये वायुदेव के तीसरे अवतार हैं। बडित्था, तद्दर्शतम् आदि पदों का प्रयोग वेद में हुआ है (ऋ. १.१४१.१)। पृक्ष का अर्थ है—पृतना=सेना को, क्ष=नष्ट करने वाला। भर्ग का अर्थ है-भरण तथा पोषण। मध्व का अर्थ करते हैं—मधु=आनन्द, व=तीर्थ।

एतत्पद्यार्थस्तु 'बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतोऽजनि' (ऋ० १.१४.१.१) इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनयाऽगम्यत इति। तस्मात्सर्वस्य शास्त्रस्य विष्णुतत्त्वं सर्वोत्तममित्यत्र तात्पर्यमिति सर्वं निरवद्यम्।

अनुवाद—"वायु देव का सुन्दर (दर्शत) तथा बलवान् (बडित्था) तेज (भर्ग) शरीर में धारण किया जाता है, जिस तेज से वायु देव उत्पन्न हुए हैं" (ऋ. १.१४१.१) इत्यादि श्रुतियों का पर्यालोचन से इस पद्य का अर्थ मालूम होता है। इसलिये "विष्णुतत्त्व ही सर्वोत्तम है" यह सब शास्त्रों का तात्पर्य है। इस प्रकार सब कुछ निर्दुष्ट हो जाता है।

॥ इति पूर्णप्रज्ञदर्शनम् ॥

अध्याय-६

नकुलीश-पाशुपत-दर्शनम्

कार्यं कलादि किल कारणमीश्वरोऽसौ
योगस्तयोर्विधिरथापि जपादिरूपः ।
दुःखान्त इत्यविहतं विहितं प्रपञ्चं
वन्दे तमादिशति पाशुपतं मतं यः ॥ ऋषिः।

१. वैष्णव-दर्शनों में दोष

तदेतद्वैष्णवमतं दासत्वादिपदवेदनीयं परतन्त्रत्वं दुःखावहत्वान्न दुःखान्ता-दीप्सितास्पदम् इत्यरोचयमानाः, पारमैश्वर्यं कामयमानाः, 'पराभिमता मुक्ता न भवन्ति, परतन्त्रत्वात्, पारमैश्वर्यरहितत्वात्, अस्मदादिवत्', 'मुक्तात्मानश्च परमेश्वर-गुणसम्बन्धिनः, पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात्परमेश्वरवत्'–इत्याद्यनुमानं प्रमाणं प्रतिपद्यमानाः, केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थसाधनं पञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपत-शास्त्रमाश्रयन्ते।

अनुवाद—यह वैष्णवमत 'दासत्व' आदि पदों से बोधित होता है, परतन्त्र है, स्वयं दुःखकारक होने से दुःखान्त आदि अभीष्ट देने वाला नहीं है—इस प्रकार से अरुचि करते हुए, पारमैश्वर्य की इच्छा करते हुए, "प्रतिपक्षी द्वारा वर्णित मुक्त पुरुष वास्तव में मुक्त नहीं है, परतन्त्र होने से तथा परमैश्वर्य से रहित होने से, हमारी तरह" तथा "मुक्तात्मा परमेश्वर के गुणों से युक्त हैं, पुरुष होने पर भी समस्त दुःखों के बीज से रहित होने के कारण, परमेश्वर की तरह" इत्यादि अनुमान प्रमाण का प्रतिपादन करने वाले कुछ माहेश्वर लोग परम पुरुष को सिद्ध करने वाले तथा पांच पदार्थों को बतलाने वाले पाशुपत शास्त्र का आश्रय लेते हैं।

विशेष—यहाँ पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का वर्णन प्रारम्भ हो रहा है। इसमें भूमिका के रूप में पूर्णप्रज्ञ मत की निन्दा की गयी है। पाशुपतों का कहना है कि पूर्णप्रज्ञमत स्वयं में दुःखकारक है। अतः दुःखनाश आदि प्रयोजन पूर्णप्रज्ञ दर्शन से सिद्ध नहीं हो सकता है। पाशुपत सम्प्रदाय में दो प्रकार का अनुमान किया गया है—

१. प्रतिपक्षी पूर्णप्रज्ञादि जिन्हें मुक्त पुरुष कहते हैं, वह वस्तुतः मुक्त नहीं है, क्योंकि वह परतन्त्र है तथा पारमैश्वर्य से युक्त है।

२. मुक्तपुरुष परमात्मा के गुणों से युक्त है, पुरुष होने पर भी दुःखबीज से रहित होने के कारण।

पाशुपत सम्प्रदाय में ५ पदार्थ माने गये हैं—(पशु) कार्य, कारण (पति या ईश्वर), योग, विधि और दुःखान्त।

'पशु' का अर्थ है जीव तथा 'पति' का अर्थ—स्वामी। जो मायापाश में बंधे रहते हैं वे ही पशु कहलाते हैं। अतः 'पशुपति' का अर्थ भगवान् शिव है।

२. पाशुपत-सूत्र की व्याख्या–गुरु का स्वरूप

तत्रेदमादिसूत्रम्–'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधिं व्याख्यास्याम' इति। अस्यार्थः–अत्राथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षः। पूर्वकृतश्च गुरुं प्रति शिष्यस्य प्रश्नः। गुरुस्वरूपं गणकारिकायां निरूपितम्–

१. पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः ।
वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्त्ता गुरुरुच्यते ॥
२. लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः ।
दीक्षाकारिबलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥

'तिस्रो वृत्तयः' इति प्रयोक्तव्ये 'त्रीणि वृत्तयः' इति च्छान्दसः प्रयोगः।

अनुवाद—उसमें यह पहला सूत्र है—अब हम पशुपति के पाशुपत दर्शन के योग तथा विधि की व्याख्या करेंगे। इसका अर्थ है—यहाँ 'अथ' शब्द पूर्व प्रसङ्ग की अपेक्षा रखता है और पूर्वप्रसङ्ग है—गुरु के प्रति शिष्य का प्रश्न। गुरु का स्वरूप 'गणकारिका' में निरुपित किया गया तथा एक त्रिक गण है। ऐसे नौ गणों का संस्कर्ता गुरु कहलाता है। लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारि तथा बल—ये आठ पञ्चक हैं तथा तीन वृत्तियाँ हैं।

'तिस्रो वृत्तयः' इस कहने की जगह 'त्रीणि वृत्तयः' यह वैदिक प्रयोग हुआ।

विशेष—लाभ आदि आठ पदार्थों में से प्रत्येक के ५-५ भेद हैं। अतः इन प्रत्येक को 'पञ्चक' कहा जाता है। नौवीं वृत्ति के भी तीन भेद हैं।

इन सभी का स्वरूप आगे बतलाया गया है।

तत्र विधीयमानमुपायफलं लाभः। ज्ञानतपोनित्यत्वस्थितिशुद्धिभेदात्पञ्चविधः। तदाह हरदत्ताचार्यः–

'ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः शुद्धिश्च पञ्चमम्।'

आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। स मिथ्याज्ञानादिभेदात्पञ्चविधः, तदप्याह–

३. मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा ।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः ॥

(गणकारिका ८) इति।

अनुवाद—उसमें से विधान किये गये उपाय के फल को लाभ कहते हैं। यह पांच प्रकार का है—ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति तथा शुद्धि। जैसा कि हरदत्ताचार्य ने कहा है—

ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति तथा शुद्धि—ये पांच लाभ हैं।

आत्मा में आश्रित दुष्ट भाव मल है। वह मिथ्याज्ञान आदि के भेद से पांच प्रकार का हैं यह भी कहा गया है—

मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति तथा पशुत्वमूल—तन्त्र में इन पांचों को विवेक के द्वारा हेय कहा गया है। *(गणकारिका, ८)*

साधकस्य शुद्धिहेतुरुपायो वासचर्यादिभेदात्पञ्चविधः। तदप्याह–

४. वासचर्या जपो ध्यानं सदा रुद्रस्मृतिस्तथा।
प्रपत्तिश्चेति लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः ॥ इति।

येनार्थानुसन्धानपूर्वकं ज्ञानतपोवृद्धी प्राप्नोति स देशो गुरुजनादिः। यदाह–

५. गुरुर्जनो गुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च ॥ इति।

अनुवाद—साधक की शुद्धि का कारण ही उपाय है। यह वासचर्या आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। यह भी कहा गया है—

वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति तथा प्रपत्ति—ये पांच लाभों के उपाय निश्चित किये गये हैं।

जिनके द्वारा अर्थानुसन्धान के साथ साधक ज्ञान तथा तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है, वह गुरुजनादि देश है। जैसा कि कहा गया है—

गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान तथा रुद्र।

विशेष—अर्थ पांच है—कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त। प्रपत्ति का अर्थ है ज्ञान तथा रुद्रस्मृति का अर्थ है—परमात्मा (रुद्र) का स्मरण।

भगवान् रुद्र के द्वारा भी साधक ज्ञान तथा तप पाते हैं अतः उन्हें भी देश के अन्तर्गत कहा गया है।

आलाभप्राप्तेरेकमर्यादावस्थितस्य यदवस्थानं साऽवस्था व्यक्तादिविशेषण-विशिष्टा। तदुक्तम्–

व्यक्ताऽव्यक्ता जया दानं निष्ठा चैव हि पञ्चमम्। इति।

मिथ्याज्ञानादीनामत्यन्तव्यपोहो विशुद्धिः। सा प्रतियोगिभेदात्पञ्चविधा। तदुक्तम्–

६. अज्ञानस्याप्यधर्मस्य हानिः सङ्करस्य च।
च्युतेर्हानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता ॥ इति।

अनुवाद—लाभ की प्राप्ति होने तक एक ही मर्यादा में रहनेवाले साधक की जो स्थिति है, वही अवस्था है, जो कि व्यक्त आदि विशेषणों से विशिष्ट होती है। जैसा कि कहा गया है—

व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान और निष्ठा—ये पाँच प्रकार की अवस्था है।

मिथ्याज्ञान आदि का अत्यन्त नाश विशुद्धि है। वह प्रतियोगी के भेद से पाँच प्रकार की है। जैसा कि कहा गया है—

अज्ञान का नाश, अधर्म का नाश, आसक्ति का नाश, च्युति का नाश तथा पशुत्व का नाश—ये पाँच प्रकार की विशुद्धि है।

विशेष—'अज्ञान का नाश' कहने पर नाश का प्रतियोगी अज्ञान है। अतः पांच प्रतियोगियों के कारण विशुद्धि के भी ५ भेद हैं।

दीक्षाकारिपञ्चकं चोक्तम्–

७. द्रव्यं कालः क्रिया मूर्तिर्गुरुश्चैव हि पञ्चमः । इति।

बलपञ्चकं च–

८. गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा ।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ इति।

पञ्चमल-लघुकरणार्थमागमाविरोधिनोऽन्नार्जनोपाया वृत्तयो भैक्ष्योत्सृष्टय-थालब्धाभिधा इति। शेषमशेषमाकर एवावगन्तव्यम्।

अनुवाद—पाच दीक्षाकारी कहे गये हैं—

द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति तथा गुरु—ये पांच दीक्षाकारी हैं। पांच बल हैं—

गुरु भक्ति, बुद्धि की निर्मलता, द्वन्द्वों को जीतना, धर्म तथा अप्रमाद—ये पांच प्रकार के बल कहे गये हैं।

पांच प्रकार के मलों को कम करने के लिये, शास्त्रों से अविरुद्ध अन्नार्जन का उपाय वृत्ति है। यह तीन प्रकार की है—भैक्ष्य, उत्सृष्ट तथा यथालब्ध। अन्य सम्पूर्ण शेष तो आकर में देख लेना चाहिये।

विशेष—दीक्षाकारी का तात्पर्य है—दीक्षा के लिये उपयोगी तत्त्व। वृत्ति के तीन प्रकार हैं—

१. भैक्ष्य—भिक्षा मांगकर जीवन चलाना।

२. उत्सृष्ट—जिसे दूसरे छोड़ देते हैं, उस अन्न आदि को ग्रहण करना। शिल तथा उच्छ वृत्ति भी इसी के अन्तर्गत आती है।

३. यथालब्ध—इसका अर्थ है अयाचित वृत्ति। किसी से भी बिना मांगे जो मिल गया, उसी से सन्तुष्ट रहना।

आचार्य मनु कहा है—

ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ (४.५)

२. क. सूत्र के अन्य शब्द–अतः, पति आदि

अतःशब्देन दुःखान्तस्य प्रतिपादनम्। आध्यात्मिकादिदुःखत्रयव्यपोह-प्रश्नार्थत्वात्तस्य। पशुशब्देन कार्यस्य। परतन्त्रवचनत्वात्तस्य। पतिशब्देन कारणस्य। 'ईश्वरः पतिरीशिता' इति जगत्कारणीभूतेश्वरवचनत्वात्तस्य। योगविधौ तु प्रसिद्धौ।

अनुवाद—अतः शब्द से दुःखान्त का प्रतिपादन होता है। क्योंकि आध्यात्मिक आदि तीनों दुःखों के नाश सम्बन्धी प्रश्न के लिए उसका (अतः शब्द का) प्रयोग हुआ है। पशु शब्द का अर्थ कार्य है। क्योंकि वह परतन्त्र है। पति शब्द का अर्थ कारण है। "शासन करने वाला ईश्वर ही पति है।" इस वचन से पति शब्द का अर्थ जगत् का ईश्वर है। योग और विधि तो प्रसिद्ध हैं।

विशेष—पाशुपत सम्प्रदाय में ५ पदार्थ माने गये हैं—दुःखान्त, कार्य, कारण, योग तथा विधि। इन पांचों पदार्थों में परम पुरुषार्थ दुःखान्त है। पाशुपत दर्शन के प्रथम सूत्र की रचना भी इसीलिये हुई हैं। जब शिष्य गुरु से "दुःखनाश कैसे हो" यह प्रश्न करता है, तब गुरु उसे बतलाना प्रारम्भ करते हैं। इसलिये सूत्रस्थ 'अतः' शब्द भी दुःखान्त हेतु का प्रतिपादन करता है।

३. दुःखान्त का निरूपण

तत्र दुःखान्तो द्विविधः-अनात्मकः सात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुः-खानामत्यन्तोच्छेदरूपः। सात्मकस्तु दृकक्रियाशक्तिलक्षणमैश्वर्यम्। तत्र दृकशक्ति-रेकाऽपि विषयभेदात्पञ्चविधोपचर्यते—दर्शनं श्रवणं मननं विज्ञानं सर्वज्ञत्वं चेति।

अनुवाद—उसमें दुःखान्त दो प्रकार का है—अनात्मक और सात्मक। उसमें सब दुःखों का पूर्णतः नाश हो जाना ही अनात्मक दुःखान्त है। दृक्शक्ति और क्रिया शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति सात्मक दुःखान्त है। उसमें से दृक्शक्ति एक होने पर भी विषय भेद से पांच प्रकार की कही जाती है—दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञत्व।

विशेष—दुःखान्त ही मोक्ष है। मोक्ष के दो रूप अन्य वेदान्तादि दर्शनों में माने गये हैं—जीवन्मुक्ति, तथा विदेहमुक्ति। यहाँ अनात्मक दुःखान्त ही विदेह मुक्ति के स्थानापन्न माना गया है तथा सात्मक दुःखान्त जीवन्मुक्ति के समान है।

तत्र सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टाशेष-चाक्षुष-स्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानम्। स्वशास्त्रं येनोच्यते। उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वमिति। एषा धीशक्तिः।

अनुवाद—उसमें सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूर स्थित समस्त चाक्षुष तथा स्पार्श विषय का ज्ञान दर्शन है। समस्त शब्द विषयक जो सिद्धि रूप ज्ञान है वह श्रवण है। समस्त चिन्तनों को विषय बनाने वाला सिद्धिरूप ज्ञान मनन है। समस्त शास्त्रों को विषय बनाने वाला सिद्धिरूप ज्ञान मनन है। समस्त शास्त्रों को विषय बनाने वाला सिद्धिरूप ज्ञान, जो ग्रन्थों से तथा पदार्थों से उत्पन्न होता है, वह विज्ञान है। इसी विज्ञान से अपना पाशुपतशास्त्र बतलाया जाता है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट तथा अनुपदिष्ट समस्त विषयों में समास, विस्तार, विभाग तथा विशेष के द्वारा तत्त्व के रूप में व्याप्त तथा सदा होने वाला सिद्धिरूपी ज्ञान ही सर्वज्ञत्व कहलाता है। वही धी-शक्ति (दृक्शक्ति या ज्ञानशक्ति) है।

विशेष—दृक् शक्ति को ही ज्ञानशक्ति या बुद्धिशक्ति भी कहा जाता है। यह ज्ञान की चरमसीमा है। इसके अन्तर्गत आनेवाले दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान—ये चारों अपनी अवस्था की चरम सीमा हैं। पांचवीं दृक् शक्ति सर्वज्ञत्व है। यह ज्ञान की परा काष्ठा है। यह चार प्रकार से होती है—

१. संक्षिप्त रूप से
२. विस्तृत रूप से
३. विश्लेषणात्मक रूप से
४. विशिष्ट रूप से

क्रियाशक्तिरेकापि त्रिविधोपचर्यते–मनोजवित्वं कामरूपित्वं विकरणधर्मित्वं चेति तत्र निरतिशयशीघ्रकारित्वं मनोजवित्वम्। कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वेच्छया एवानन्त-सलक्षण-विलक्षण-स्वरूप-करणाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वम्। उपसंहृतकरणस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणधर्मित्वमिति। एषा क्रियाशक्तिः।

अनुवाद—क्रिया शक्ति एक होने पर भी तीन प्रकार से कही जाती है—मन के समान वेगशाली होना, इच्छानुसार रूप धारण करना तथा करण (इन्द्रिय) हीन होने पर भी ऐश्वर्यवान् रहना। उसमें अत्यधिक शीघ्रता से कार्य करना मनोजवित्व है। कर्मादि से निरपेक्ष होकर स्वेच्छा से ही अनन्त समानरूपवाले या भिन्न रूप वाले करणों का अधिष्ठाता होना कामरूपित्व है। करण रहित होने पर भी अत्यधिक ऐश्वर्य से सम्बन्ध ही विकरण धर्मित्व है। यह क्रियाशक्ति है।

४. *कार्य का निरूपण*

अस्वतन्त्रं सर्वं कार्यम्। तत्त्रिविधं–विद्या कला पशुश्चेति। एतेषां ज्ञानात्स-शयादिनिवृत्तिः। तत्र पशुगुणो विद्या। सापि द्विविधा-बोधाबोधस्वभावभेदात्।

बोधस्वभावा विवेकाविवेकप्रवृत्तिभेदाद् द्विविधा। सा चित्तमित्युच्यते। चित्तेन हि सर्वः प्राणी बोधात्मकप्रकाशानुगृहीतं सामान्येन विवेचितमविवेचितं चार्थं चेतयत इति।

अनुवाद—समस्त अस्वतन्त्र पदार्थ ही कार्य है। यह तीन प्रकार का है—विद्या, कला तथा पशु। इनके ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। उसमें पशु के गुणों को विद्या कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का है—बोध स्वभाव ओर अबोध स्वभाव।

बोध स्वभाव वाली विद्या दो प्रकार की है—विवेक प्रवृत्ति वाली तथा अविवेक प्रवृत्ति वाली। बोधात्मिका विद्या को ही चित्त भी कहते हैं। सभी प्राणी चित्त के द्वारा ही बोधात्मक प्रकाश से युक्त सामान्य रूप से विवेचित तथा अविवेचित सभी पदार्थों को जानता है।

विशेष—पाशुपत सम्प्रदाय के दूसरे पदार्थ कार्य का विवेचन यहाँ से प्रारम्भ हो रहा है। विवेक प्रवृत्ति से — पदार्थों को विवेचित किया जाता है तथा अविवेक प्रवृत्ति

से ज्ञात पदार्थों को अविवेचित कहा जाता है। बोध स्वभावा या बोधात्मिका विद्या के द्वारा इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है।

तत्र विवेकप्रवृत्तिः प्रमाणमात्रव्यङ्ग्या। पश्वर्थधर्माधर्मिका पुनरबोधात्मिका विद्या। चेतनपरतन्त्रत्वे सत्यचेतना कला। सापि द्विविधा कार्याख्या कारणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा–पृथिव्यादीनि पञ्चतत्त्वानि, रूपादयः पञ्चगुणाश्चेति कारणाख्या त्रयोदशविधा–ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, अध्यवसायाभिमान-संकल्पाभिधवृत्तिभेदाद् बुद्ध्यहंकारमनोलक्षणमन्तःकरणत्रयं चेति।

अनुवाद—उसमें विवेक प्रवृत्ति केवल प्रमाणों से ही व्यक्त होती है। पशुत्व के लिए होने वाली, धर्म तथा अधर्म दोनों से युक्त विद्या अबोधात्मिका है। चेतन के अधीन रहने वाली तथा स्वयं अचेतन कला है। यह दो प्रकार की है—कार्यरूपा तथा कारणरूपा। इसमें कार्यरूपा दस प्रकार की है—पृथ्वी आदि पांच तत्त्व तथा रूप आदि पांच गुण। कारणरूपा कला १३ प्रकार की है—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प नाम वृत्ति के भेद से बुद्धि, अहंकार तथा मन रूप तीन अन्तःकरण।

विशेष—अबोधात्मिका विद्या धर्म तथा अधर्म दोनों का कारण है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश पांच तत्त्व हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द पांच गुण हैं। आंख, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा—ये ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं। मुख, हाथ, पैर, मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय—ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। बुद्धि, अहंकार तथा मन की वृत्तियां क्रमशः अध्यवसाय (निश्चय), अभिमान तथा संकल्प है।

पशुत्वसम्बन्धी पशुः। सोऽपि द्विविधः–साञ्जनो निरञ्जनश्चेति। तत्र साञ्जनः शरीरेन्द्रियसम्बन्धी। निरञ्जनस्तु तद्रहितः। तत्प्रपञ्चस्तु पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः।

अनुवाद—पशुत्व से सम्बन्धरखने वाला पशु है। वह भी दो प्रकार है—साञ्जन तथा निरञ्जन। उसमें शरीर तथा इन्द्रिय से सम्बद्ध पशु साञ्जन है। उन दोनों (शरीर तथा इन्द्रिय) से रहित पशु निरञ्जन है। इसका विस्तार पञ्चार्थ भाष्य दीपिका आदि में देख लेना चाहिये।

विशेष—यहाँ 'अञ्जन' का तात्पर्य है—शरीर तथा इन्द्रिय।

५. कारण और योग का निरूपण

समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणम्। तस्यैकस्यापि गुणकर्मभेदापेक्षया विभागः उक्तः 'पतिः साद्यः' इत्यादिना। तत्र पतित्वं निरतिशयदृक् क्रियाशक्तिमत्त्वं तेनैश्वर्येण नित्यसम्बन्धित्वम्। आद्यत्वमनागन्तुकैश्वर्यसम्बन्धित्वम्–इत्यादर्शकारादि-भिस्तीर्थकरैर्निरुपितम्।

अनुवाद—समस्त वस्तुओं की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने वाला कारण है। इस कारण के एक होने पर भी गुण तथा कर्म के भेद से उसके भी विभाग कहे गये हैं—पतिः साद्यः इत्यादि श्लोक के द्वारा। उसमें पतित्व का अर्थ है—निरतिशय दृक् शक्ति

तथा क्रियाशक्ति से युक्त होना। अर्थात् उस ऐश्वर्य से नित्य सम्बन्ध रखना। आद्यत्व का अर्थ है—अनागन्तुक ऐश्वर्य से सम्बन्ध रखना। इस प्रकार आदर्शकार आदि तीर्थकरों के द्वारा निरुपित किया गया है।

विशेष—यहाँ पाशुपत सम्प्रदाय के तृतीय पदार्थ कारण (पति) का निरूपण किया गया है। पीछे दुःखान्त के दो भेद (अनात्मक तथा सात्मक) किये गये थे। जिसमें सात्मक दुःखान्त ही दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्तिरूप ऐश्वर्य हैं। इसी ऐश्वर्य से नित्य सम्बन्ध रखने वाले पति (ईश्वर) हैं। अनागन्तुक का अर्थ है, जो अभी आया नहीं अर्थात् अपूर्व। ऐसे ऐश्वर्य का सम्बन्ध ही 'आद्यत्व' कहलाता है।

चित्तद्वारेणेश्वरसम्बन्धहेतुर्योगः (पाशु०सू० ५/२)। स च द्विविधःक्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणश्चेति। तत्र जपध्यानादिरूपः क्रियालक्षणः, क्रियोपरमलक्षणस्तु निष्ठासंविद्गत्यादिसंज्ञितः।

अनुवाद—चित्त के द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध का कारण ही योग है। (पाशु०सू० ५/२) वह भी दो प्रकार का है—क्रिया रूप तथा क्रिया की निवृत्ति रूप। उसमें जप, ध्यान आदि क्रियारूप योग है। क्रिया निवृत्तिरूप जो योग है, वह निष्ठा, संवित्, गति आदि नाम वाला है।

विशेष—पाशुपत सम्प्रदाय के चतुर्थ पदार्थ योग का वर्णन इस परिच्छेद में किया गया है।

६. *विधि का निरूपण*

धर्मार्थसाधकव्यापारो विधिः। च द्विविधः-प्रधानभूतो गुणभूतश्च। तत्र प्रधानभूतः साक्षाद्धर्महेतुश्चर्या। सा द्विविधा-व्रतं द्वाराणि चेति। तत्र भस्मस्नानशयनोपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्। तदुक्तं भगवता नकुलीशेन भस्मना त्रिषवणं स्नायीत, भस्मनि शयीत (पा०सू० १/८ अग्रतः) इति।

उपहारो नियमः। स च षडङ्गः। तदुक्तं सूत्रकारेण-हसित-गीतनृत्य-हुडुक्कार-नमस्कार-जप्यषडङ्गोपहारेणोपतिष्ठेतेति।

अनुवाद—धर्मरूपी अर्थ को सिद्धि करनेवाला व्यापार विधि है। वह दो प्रकार का है—प्रधानरूप और गुणरूप। उसमें प्रधानरूप विधि साक्षात् धर्म का कारण है, इसे ही चर्या भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—व्रत तथा द्वार। उसमें भस्मस्नान, भस्म में शयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा व्रत हैं। जैसा कि भगवान् नकुलीश ने कहा है—भस्म से त्रिकाल स्नान करे, भस्म में शयन करे। (पा०सू० १/८)

यहाँ उपहार का तात्पर्य है—नियम। इसके छह अंग हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—हंसना, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार, जप्य—इस षडंग उपहार के द्वारा पूजा करें।

विशेष—यहाँ से पाशुपत सम्प्रदाय के पंचम पदार्थ विधि का निरूपण प्रारम्भ हुआ है।

तत्र हसितं नाम कण्ठेष्ठपुटविस्फूर्जनपुरःसरम् अहहेत्यट्टहासः। गीतं गान्धर्वशास्त्रसमयानुसारेण महेश्वरसंवन्धिगुणधर्मादिनिमित्तानां चिन्तनम्। नृत्यमपि नाट्यशास्त्रानुसारेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपणादिकमङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गसहितं भावाभावसमेतं च प्रयोक्तव्यम्। हुडुक्कारो नाम जिह्वातालुसंयोगान्निष्पाद्यमानः पुण्यो वृषनादसदृशो नादः। हुडुगिति शब्दानुकारो वषडितिवत्। यत्र लौकिका भवन्ति तत्रैतत्सर्वं गूढं प्रयोक्तव्यम्। शिष्टं प्रसिद्धम्।

अनुवाद—उसमें हसित का तात्पर्य है—कण्ठ और ओष्ठपुट को हिलाते हुए अहह ऐसा अट्टहास करना। गीत का अर्थ है—गान्धर्वशास्त्र की परम्परा के अनुसार भगवान् महेश्वर से सम्बन्धित गुण, धर्म आदि निमित्तों का चिन्तन करना। नाट्यशास्त्र के अनुसार हाथ-पैर आदि को उठाते हुए, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, तथा उपाङ्ग से युक्त तथा भावाभाव से युक्त नृत्य का भी प्रयोग करना चाहिये। हुडुक्कार का अर्थ है—जिह्वा तथा तालु के संयोग से उत्पन्न, वृषभ की ध्वनि के समान पुण्यकार शब्द। हुडुक यह ध्वनि का अनुसरण करनेवाला शब्द वषट् है। जहाँ लौकिक लोग होते हैं, वहाँ इन सबका गुप्त रूप से प्रयोग करना चाहिये। बाकी सब प्रसिद्ध है।

विशेष—भगवान् शिव का वाहन नन्दी वृषभ है अतः उसके समान 'हुडुक' यह ध्वनि करना ही हुडुक्कार कहलाता है। नमस्कार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत तो प्रसिद्ध हैं। अतः उनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया। अपनी व्रतचर्या को गुप्त रखना चाहिये। अन्यथा उसका प्रभाव कम हो जाता है।

द्वाराणि तु क्राथन-स्पन्दन-मन्दन-शृङ्गारणावितत्करणावितद्भाषणानि। तत्रासुप्तस्यैव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनम्। वाय्वभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनम् स्पन्दनम्। उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनम् मन्दनम्। रूपयौवनसम्पन्नां कामिनीमवलोक्यात्मानम् कामुकमिव यैर्विलासैः प्रदर्शयति तत् शृङ्गारणम्।

अनुवाद—क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अवितत्करण तथा अवितत्भाषण—ये सभी द्वार हैं। उसमें न सोने पर भी सोने का चिह्न दिखलाना ही क्राथन है। वायु से अभिभूत व्यक्ति के समान शरीर के अवयवों को कंपाना स्पन्दन है। लंगड़े व्यक्ति के समान चलना मन्दन कहलाता है। रूप तथा यौवन से सम्पन्न युवती को देखकर अपने को कामुक के समान जो विलास प्रदर्शित करता है, वह शृंगारण है।

विशेष—प्रधानभूत विधि के अन्तर्गत दो भाग हैं—व्रत तथा द्वार। व्रत का निरूपण पूर्व में हो चुका है। अब द्वारों का निरूपण किया जा रहा है।

कार्याकार्यविवेकविकलस्येव लोकनिन्दितकर्मकरणमवितत्करणम्। व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणमवितद्भाषणमिति।

गुणभूतस्तु विधिश्चर्यानुग्राहकोऽनुस्नानादिः भैक्ष्योच्छिष्टादिनिर्मितायोग्यताप्रत्ययनिवृत्त्यर्थः। तदप्युक्तं सूत्रकारेण–अनुस्नाननिर्माल्यलिङ्गधारीति।

अनुवाद—कर्तव्य तथा अकर्तव्य का विवेक करने में असमर्थ व्यक्ति के समान लोक निन्दित कर्म करना अवितत्करण है। विरुद्ध तथा निरर्थक आदि शब्दों को कहना अवितत्भाषण है।

गुणभूत विधि है—चर्या का अनुग्राहक अनुस्नान आदि। यह भिक्षान्न, उच्छिष्ट अन्न आदि से निर्मित अयोग्यता की निवृत्ति के लिये है। सूत्रकार ने यह भी कहा है—अनुस्नान, निर्माल्य तथा लिङ्ग के धारण करने वाला (पवित्र होता है) इत्यादि।

विशेष—द्वारों के अन्तर्गत आने वाले क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अवितत्करण तथा अवितत्भाषण—ये ६ पदार्थ जीवन्मुक्त कोटि के साधकों के लिये निर्दिष्ट हैं। विधि की सहायिका गुणभूत विधि हैं। भिक्षान्न आदि में जो क्षण रह जाते हैं, उनका परिमार्जन गुणविधि से होता है।

७. समासादि पदार्थ और अन्य शास्त्रों से तुलना

तत्र समासो नाम धर्मिमात्राभिधानम्। तच्च प्रथमसूत्र एव कृतम्। पञ्चानां पदार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधानं विस्तरः। स खलु राशीकरभाष्ये द्रष्टव्यः। एतेषां यथासम्भवं लक्षणतोऽसङ्करेणाभिधानं विभागः। स तु विहित एव।

अनुवाद—धर्मिमात्र का अभिधान करना समास कहलाता है। यह प्रथम सूत्र में ही किया गया है। पांचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप से वर्णन करना ही विस्तर है। वह "राशींकर भाष्य" में द्रष्टव्य है। इन सभी का यथासम्भव लक्षण बतलाते हुए, अन्य पदार्थों के साथ सांकर्य बिना किये वर्णन करना विभाग है। वह तो विहित ही है।

विशेष—यहाँ से कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रारम्भ हो रही है। जैसे—समास, विस्तर, विभाग, विशेष।

पाशुपत सम्प्रदाय के प्रथम सूत्र में केवल योग, विधि, पशु तथा पति शब्दों का उल्लेख करके धर्मी मात्र का कथन किया गया था, वही समास है। आगे के सूत्रों में उन पदार्थों का विस्तार तथा विभाग भी दिखलाया गया है।

शास्त्रान्तरेभ्योऽमीषां गुणातिशयेन कथनं विशेषः। तथा हि–अन्यत्र दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः। इह तु पारमैश्वर्यप्राप्तिश्च। अन्यत्राभूत्वा भावि कार्यम्। इह तु नित्यं पश्वादि। अन्यत्र सापेक्षं कारणम्। इह तु निरपेक्षो भगवानेव। अन्यत्र कैवल्यादिफलको योगः। इह तु पारमेश्वर्यदुःखान्तफलकः। अन्यत्र पुनरावृत्तिरूपस्वर्गादिफलको विधिः। इह पुनरपुनरावृत्तिरूपसामीप्यादिफलकः।

अनुवाद—अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इस पाशुपत शास्त्र के पदार्थों का अधिक गुणों के साथ वर्णन करना विशेष है। जैसे कि अन्य शास्त्रों में (जैसे सांख्य में) केवल दुःख की निवृत्ति ही दुःखान्त है। इस पाशुपत शास्त्र में परमैश्वर्य की प्राप्ति भी दुःखान्त है। अन्य शास्त्रानुसार (न्याय में) जो पहले उत्पन्न नहीं होता है, बाद में उत्पन्न होता है,

वह कार्य है। इस पाशुपत शास्त्र में नित्य पशु आदि कार्य हैं। अन्यत्र कारण सापेक्ष होता है। यहाँ भगवान् शिव निरपेक्ष कारण हैं। अन्यत्र (योगदर्शन में) योग वह है जो कैवल्यादि फल देता है। यहाँ योग वह है, जो परमैश्वर्य दुःखान्तरूप फल देता है। अन्यत्र (मीमांसा में) विधि वह है, जो पुनरावृत्ति रूप स्वर्गादि फल को प्रदान करती है। यहाँ विधि वह है, जो अपुनरावृत्ति रूप सामीप्य आदि फल को प्रदान करती है।

विशेष—अन्य शास्त्रों की तुलना में पाशुपत शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का जो विशेष तात्पर्य है, उसका यहाँ वर्णन किया गया है।

पुनरावृत्ति का अर्थ है—पुनः मृत्युलोक में लौटना। गीता में कहा गया है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

मीमांसादि दर्शनानुसार स्वर्गादिलोकों में मनुष्य तभी तक रहता है, जब तक उसका स्वर्गादिफलजनक पुण्य समाप्त नहीं हो जाता है। पुण्य के समाप्त हो जाते ही पुनः व्यक्ति यहाँ लौट आता है। लेकिन पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार विधि के माध्यम से जो सामीप्यादि फल प्राप्त होते हैं, वहाँ से पुनः मृत्युलोक में लौटना नहीं पड़ता है।

न्यायशास्त्र में कार्य अनित्य है लेकिन पाशुपत मत में नित्य पशु ही कार्य है। इस प्रकार हतत् शास्त्रों से पाशुपत समप्रदाय की विशेषता दिखलाई गयी है।

८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता

ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः परमेश्वरः कारणमिति। तथात्वे कर्मवैफल्यं स्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्।

मैवं मन्येथाः। व्यधिकरणत्वात्। यदि निरपेक्षस्य भगवतः कारणत्वं स्यात्तर्हि कर्मणो वैफल्ये किमायातम्? प्रयोजनाभाव इति चेत्–कस्य प्रयोजनाभावः कर्मवैफल्ये कारणम्? किं कर्मिणः, किं वा भगवतः?

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि यह बहुत बड़ा भ्रम है कि निरपेक्ष परमेश्वर कारण है। ऐसा मानने पर सभी कार्य निष्फल होने लगेंगे और सभी कार्यों की एक साथ उत्पत्ति होने लगेगी—ये दो दोष आ जायेंगे।

(इस पर सिद्धान्ती पाशुपत कहते हैं कि) ऐसा मत मानिये। व्यधिकरण होने से। और यदि निरपेक्ष परमात्मा के कारण माना जाए तथा कर्म को विफल मानें तो भी कर्म की विफलता में क्या कारण है? यदि कहें प्रयोजनाभाव तो फिर किसका प्रयोजनाभाव कर्म की विफलता में कारण है? क्या कर्म करने वाले का या भगवान् का?

विशेष—पूर्वपक्षी ने निरपेक्ष परमेश्वर को कारण मानने पर दो दोष दिखलाये—

१. सभी कार्य निष्फल होंगे।

२. सभी कार्य एक साथ उत्पन्न होंगे।

सिद्धान्ती ने प्रथम दोष का खण्डन किया है कि ईश्वर को कारण मानना तथा कार्य को निष्फल मानना—दोनों में वैयधिकरण्य है। ईश्वर जगत् का कारण है और जीव

कर्म करता है। ये दोनों बिल्कुल पृथक-पृथक हैं। यह नियम है कि कार्य-कारण में सामानाधिकरण्य रहना चाहिये। जैसे घट तथा कपाल में सामानाधिकरण्य रहता है। लेकिन ईश्वर का कारणत्व तथा कार्य का वैकल्य इन दोनों में तो सामाधिकरण्य है ही नहीं, अपितु वैयधिकरण्य है। कारणत्व ईश्वर में हैं और कार्यत्व जीव में। पुन: सिद्धान्ती का कहना है कि ईश्वर को कारण और कार्य को विफल मान ही लिया जाये तो कर्म की विफलता का क्या कारण है? पूर्वपक्षी का कहना है कि ऐसा मानने का अर्थात्-कर्म की विफलता मानने का कारण प्रयोजनाभाव है। सिद्धान्ती ने पुन: दों विकल्प देकर पूर्वपक्षी का खण्डन किया है।

नाद्यः। ईश्वरेच्छानुगृहीतस्य कर्मणः सफलत्वोपपत्तेः। तदननुगृहीतस्य ययातिप्रभृतिकर्मवत् कदाचिन्निष्फलत्वसंवाच्च। न चैतावता कर्मसु अप्रवृत्तिः। कर्षकादिवदुपपत्तेः। ईश्वरेच्छायतत्त्वाच्च पशूनां प्रवृत्तेः।

अनुवाद—पहला विकल्प सम्भव नहीं है। (अर्थात कर्म करने वाले की प्रयोजन हीनता कर्मविफलता का कारण है—यह सम्भव नहीं है) क्योंकि ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत कर्म को सफल मानना ठीक ही है। ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह कभी-कभी कर्म का निष्फल होना भी संभव है। कर्म के निष्फल होने से कर्म में अप्रवृत्ति नहीं होती। कृषक आदि के समान कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन होने से ही पशुओं (जीवों) की भी प्रवृत्ति होती है।

विशेष—पूर्वपक्षी ने कर्म की विफलता का कारण प्रयोजनाभाव बतलाया था। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह प्रयोजनाभाव न तो कर्मकर्ता का हो सकता है और न ही ईश्वर का। क्योंकि ईश्वर की इच्छा से होने वाले कर्म सफल ही होते हैं। कभी-कभी ईश्वर की इच्छा के विपरीत कर्म असफल भी हो जाते हैं। किसान निष्फलता की सम्भावना के कारण बीज बोना बन्द नहीं कर देता। अत: कर्म सफल हो या असफल, कर्म में सभी की प्रवृत्ति होती ही है।

नापि द्वितीयः। परमेश्वरस्य पर्याप्तकामत्वेन कर्मसाध्यप्रयोजनापेक्षाया अभावात्। यदुक्तं समसमयसमुत्पाद इति, तदप्ययुक्तम्। अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रियाशक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—

१. कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्यम्।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम्॥ इति।

अनुवाद—दूसरा विकल्प (भगवान् का प्रयोजनाभाव कर्म की विफलता का कारण है) भी सम्भव नहीं है। परमेश्वर की सभी कामनायें परिपूर्ण होने से उस कर्मसाध्य प्रयोजन की उपेक्षा नहीं रहती। जो यह कहा गया था कि (निरपेक्ष परमेश्वर के कारण होने

से) सभी कार्य एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, वह भी ठीक नहीं है। अचिन्त्य शक्ति वाले परमेश्वर की इच्छा के अनुसार चलने वाली अव्याहत क्रिया शक्ति से (ईश्वर के द्वारा एक साथ) अनेक कार्यों की उत्पत्ति होती है। यही बात साम्प्रदायिकों ने कही है—

चूंकि यह परमेश्वर कर्मादि से निरपेक्ष स्वेच्छाचारी है। इसी कारण इसे शास्त्र में सभी कारणों का कारण कहा गया है।

विशेष—पूर्व में निरपेक्ष परमेश्वर को जगत् का कारण मानने पर पूर्वपक्षी ने दो दोष दिखाये थे। जिसमें से पहले दोष (कार्य का निष्फल होना) का समाधान किया गया। दूसरे दोष "समसमय समुत्पाद" का खण्डन भी सिद्धान्ती ने किया कि अचिन्त्य शक्ति वाले परमेश्वर के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वह निरपेक्ष होकर भी जगत् का कारण है और एक साथ अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकता है।

१०. ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति

ननु दर्शनान्तरेऽपीश्वरज्ञानान्मोक्षो लभ्यत एवेति कुतोऽस्य विशेष इति चेत्–मैवं वादीः। विकल्पानुपपत्तेः। किमीश्वरविषयज्ञानमात्रं निर्वाणकारणं किं वा साक्षात्कारः अथवा यथावत्तत्त्वनिश्चयः?

नाद्यः–शास्त्रमन्तरेणापि प्राकृतजनवद् देवानामधिपो महादेवः इति ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्षसिद्धौ शात्राभ्यासवैफल्यप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः–अनेकमलनप्रचयोपचितानां पिशितलोचनानां पशूनाम् परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्तेः।

अनुवाद—यदि कोई यह कहे कि अन्य दर्शनों में भी ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता ही है तो इस पाशुपत दर्शन में विशेष क्या है? तो ऐसा मत महिये। क्योंकि तीनों विकल्पों की सिद्धि नहीं हो पाती। क्या ईश्वर विषयक ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण है? या ईश्वर साक्षात्कार मोक्ष का कारण है या यथार्थ तत्त्व का निश्चय मोक्ष का कारण है?

पहला विकल्प सम्भव नहीं है। शास्त्र के बिना सामान्य व्यक्ति की तरह "देवों के स्वामी महादेव हैं" इस ज्ञान की उत्पत्तिमात्र से मोक्ष की सिद्धि हो जाने पर शास्त्राभ्यास के वैयर्थ्य की प्राप्ति है। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। अनेक मलों से ग्रस्त तथा मांसमय आँखों वाले पशुओं को (जीवों को) परमेश्वर का साक्षात्कार होना अनुपन्न है।

विशेष—केवल ईश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है—इसका खण्डन करने के लिये सिद्धान्ती ने तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं—

१. पहला विकल्प है कि ईश्वर विषयक ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। यह विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि जिन लोगों को शास्त्र का ज्ञान नहीं होता, उन्हें केवल ईश्वर का ज्ञान हो जाने से मोक्ष नहीं मिलता।

२. दूसरा विकल्प है कि ईश्वर का साक्षात्कार मोक्ष का कारण है। यह विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक विकारों से गस्त व्यक्ति को ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता है।

३. तीसरा विकल्प यह हे कि यथार्थ तत्त्व का निश्चय मोक्ष का कारण है। यही पाशुपत सिद्धान्त है। पाशुपत शास्त्र के बिना यथार्थ निश्चय सम्भव नहीं है।

तृतीयेऽस्मन्मतापातः। पाशुपतशास्त्रमन्तरेण यथावत्तत्वनिश्चयानुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः–

१०. ज्ञानमात्रे वृथा शास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्त्वनिश्चयः ॥ इति।

तस्मात्पुरुषार्थकामैः पुरुषधौरेयैः पञ्चार्थप्रतिपादनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयणीयमिति रमणीयम्।

अनुवाद—तीसरा विकल्प मानने पर हमारा ही मत आ जायेगा। पाशुपत शास्त्र के बिना यथार्थ तत्त्व का निश्चय अनुपपन्न है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

केवल ज्ञान मात्र को मोक्ष का कारण मानने पर शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा और ईश्वर का साक्षात्कार तो दुर्लभ ही है। इसलिये पांच पदार्थों (कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखान्त) से अतिरिक्त यथार्थ तत्त्व निश्चय नहीं है अर्थात् इन पांच पदार्थों का ज्ञान ही यथार्थ तत्त्व निश्चय है।

इसलिये पुरुषार्थ की इच्छा वाले उत्तम पुरुषों को इन पांच पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले पाशुपतशास्त्र का आश्रय लेना चाहिये यही अच्छा है।

॥ इति नकुलीशपाशुपतदर्शनम् ॥

अध्याय-७
शैव-दर्शनम्

पाशः पशुः पतिरिति त्रित्तयेन सर्वं
व्याप्तं स एव भगवाञ्छिव ईश्वरोऽत्र।
कर्माद्यपेक्षत इतीह विशेषणेन
युक्तं तमेव पतिमीश्वररूपमीडे ॥ ऋषिः।

१. *शैवागमसिद्धान्त के तीन पदार्थ*

तमिमं 'परमेश्वरः कर्मादिनिरपक्षः कारणमिति' पक्षं वैषम्य-नैर्घृण्यदोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः, 'कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति' पक्षं कक्षीकुर्वाणाः, पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति–पतिपशुपाशभेदात् त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम् तन्त्रतत्त्वज्ञैः–

१. त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह विस्तरतः पुनः ॥ इति।

अनुवाद—"परमेश्वर कर्मादि से निरपेक्ष कारण है" इस पक्ष को विषमता तथा निर्दयता आदि दोषों को दूषित होने के इस पक्ष पर आक्षेप करते हुए कुछ माहेश्वरों ने शैवागम सिद्धान्त तत्त्व का यथावत् रूप से विचार करके "कर्मादि से सापेक्ष परमेश्वर कारण है।" इस पक्ष को स्वीकार करके दूसरे सिद्धान्त (शैवदर्शन) का प्रतिपादन किया गया है—पति, पशु तथा पाश के भेद से तीन पदार्थ हैं। जैसा कि तन्त्र तत्त्व के ज्ञाताओं ने कहा है—

जगद्गुरु शिव ने तीन पदार्थ तथा चार पादों वाले महातन्त्र को एक ही सूत्र में संक्षिप्त करके पुनः विस्तार से कहा है।

विशेष—यहाँ से शैव दर्शन प्रारम्भ हो रहा है। ग्रन्थकार ने पाशुपत दर्शन में अस्वारस्य दिखलाते हुए शैवमत के प्रतिपादन की भूमिका बतायी है।

शैवदर्शन या शैवागम का उपदेश भगवान् शिव ने स्वयं किया है। शैव दर्शन का प्रचार दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश से प्रारम्भ हुआ। तमिल में शैवधर्म के ८४ सन्त हुए, जिनमें ४ प्रमुख हैं—सन्त अप्पार, सन्त ज्ञान सम्बन्ध, सन्त सुन्छर मूर्ति, सन्त मणिक्कवाचक। इन चारों सन्तों ने शैव धर्म के चार प्रमुख मार्ग बतलाये—चर्या (दासमार्ग), क्रिया (सत्पुत्रार्ग), योग (सड्मार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग)। भगवान् शिव ने अपने पांच मुखों से २८ तन्त्रों को प्रकट किया। शिव के ५ मुख हैं—सद्योजात, वामदेव,

अघोर, तत्पुरुष और ईशान। सद्योजात मुख से उत्पन्न आगम हैं—कामिक, २. योगज ३. चिन्त्य ४. कारण ५. अजित। वामदेव मुख से—६. दीप्त, ७. सूक्ष्म ८. सहस्र ९. अंशुमान् १०. सुप्रभेद। अघोर मुख से ११. विजय १२. विश्वास १३. स्वायम्भुव १४. अनल १५. वीर। तत्पुरुष मुख से १६. रसैरव १७. मुकुट १८. विमल १९. चन्द्रज्ञान २०. बिम्ब। ईशान से—२१. प्रोद्गीत २२. ललित २३. सिद्ध २४. सन्तान २५. सर्वोत्तर २६. परमेश्वर २७. किरण २८. वातुल।

शैवागम के प्रमुख शिवाचार्य सद्योज्योति, (८वीं वसदी), हरदत्त शिवाचार्य (११वीं सदी), रामकण्ठ (११वीं सदी), अघोर शिवाचार्य (१२वीं सदी), भोजराज (१२वीं सदी), श्रीकण्ठ (१२वीं सदी) आदि हैं।

अस्यार्थः-उक्तास्त्रयः पदार्था यस्मिन्सन्ति तत्त्रिपदार्थं, विद्याक्रियायोग-चर्याख्याश्चत्वारः पादा यस्मिँस्तच्चतुश्चरणं महातन्त्रमिति। तत्र पशूनामस्वतन्त्र-त्वात्पाशानामचैतन्यात् तद्विलक्षणस्य पत्युः प्रथममुद्देश्यः। चेतनत्वसाधर्म्यात् पशूनां तदानन्तर्यम्। अवशिष्टानां पाशानामन्ते विनिवेश इति क्रमनियमः।

अनुवाद—इसका यह अर्थ है कि उक्त तीनों पदार्थ (पति, पशु तथा पाश) जिसमें हैं, वह त्रिपदार्थ है। विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या—ये चार चरण जिसमें हैं, वह चतुश्चरण महातन्त्र है। उनमें पशु के स्वतन्त्र न होने के कारण तथा पाश के अचेतन होने के कारण इन दोनों (पशु तथा पाश) से विलक्षण पति का उपदेश सबसे पहले दिया गया है। (पति तथा पशु) दोनों में चेतनत्वरूप समानधर्म के कारण पति के बाद पशु का नाम लिया गया। बचे हुए पाश का अन्त में स्थान है—इस प्रकार से क्रम का नियम है।

विशेष—शैव दर्शन के तीन पदार्थ पति, पशु तथा पाश के क्रम का औचित्य इस परिच्छेद में बतलाया गया है। पति (शिव) स्वतन्त्र है तथा पशु (जीव) परतन्त्र है। अत: पति का स्थान पहले है फिर पशु का। पशु तथा पाश में पशु चेतन है पाश अचेतन। अत: पशु का स्थान पाश (माया) से पहले है।

दीक्षायाः परमपुरुषार्थहेतुत्वात् तस्याश्च पशुपाशेश्वरस्वरूप-निर्णयोपायभूतेन मन्त्रेश्वरादिमाहात्म्यनिश्चायकेन ज्ञानेन विना निष्पादयितुमशक्यत्वात् तदवबोधकस्य विद्यापादस्य प्राथम्यम्। अनेकविधसाङ्गदीक्षाविधिप्रदर्शकस्य क्रियापादस्य तदानन्तर्यम्। योगेन विना नाभिमतप्राप्तिरिति साङ्गयोगज्ञापकस्य योगपादस्य तदुत्तरत्वम्। विहिताचरणनिषिद्धवर्जनरूपां चर्यां विना योगोऽपि न निर्वहतीति तत्प्रतिपादकस्य चर्यापादस्य चरमत्वमिति विवेकः।

अनुवाद—दीक्षा ही परमपुरुषार्थ का कारण है, पशु, पाश तथा ईश्वर के स्वरूप का निर्णय जिसका उपाय है, उस मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि की महिमा का निश्चय कराने वाले ज्ञान के बिना दीक्षा का निष्पादन सम्भव नहीं है अत: दीक्षा के बोधक विद्यापाद को पहले रखा गया है। अनेक प्रकार की अङ्गसहित दीक्षाविधि को प्रदर्शित करनेवाला क्रियापाद

उसके बाद हैं। योग के बिना अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती है, अत: अङ्गसहित योग का ज्ञान कराने वाला योगपाद उसके बाद है। विहित का आचरण ओर निषिद्ध का त्याग ही चर्या है। इसके बिना भी योग सम्भव नहीं है। अत: चर्या का प्रतिपादक चर्यापाद सबसे अन्त में है—यह विवेक किया गया है।

विशेष—शेवतन्त्र में चार पाद हैं। विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद तथा चर्यापाद। इन चारों पादों के क्रम का क्या औचित्य है—यह बात प्रस्तुत परिच्छेद में बतलायी गयी है।

२. पति का निरूपण

तत्र पतिपदार्थः शिवोऽभिमतः। मुक्तात्मनां विद्येश्वरादीनां च यद्यपि शिवत्वमस्ति, तथापि परमेश्वरपारतन्त्र्यात् स्वातन्त्र्यं नास्ति। ततश्च तनुकरणभुवनादीनां भावानां संनिवेशविशिष्टत्वेन कार्यत्वमवगम्यते। तेन च कार्यत्वेनैषां बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमीयत इत्यनुमानवशात्परमेश्वरप्रसिद्धिरुपपद्यते।

अनुवाद—उसमें 'पति' पद का अर्थ शिव कहा गया है। मुक्त आत्मावाले विद्येश्वर आदि यद्यपि शिवरूप हैं, तथापि परमेश्वर के अधीन होने के कारण उनमें स्वतन्त्रता नहीं है। उसके बाद शरीर, इन्द्रिय, संसार आदि भावों को एक विशेष संनिवेश होने के कारण कार्य कहा जाता है। उनके कार्य होने के कारण ही "किसी बुद्धिशाली पुरुष ने उनका निर्माण किया है।" यह अनुमान किया जाता है। इस अनुमान के कारण ही परमेश्वर की सिद्धि उत्पन्न होती है।

विशेष—शैवदर्शन के तीनों पदार्थों का निरूपण यहाँ से प्रारम्भ हो रहा है। इनमें प्रथम पदार्थ पति अर्थात् शिव है। पति शिव कारण हैं तथा शरीर इन्द्रिय संसार आदि पदार्थ कार्य हैं। इस कार्य के रचनाकार परमेश्वर ही हैं।

२. क. ईश्वर को कर्ता मानने में आपत्ति और समाधान

ननु देहस्यैव तावत्कार्यत्वमसिद्धम्। नहि क्वचित्केनचित् कदाचित् देहः क्रियमाणो दृष्टचरः। सत्यम्, तथापि न केनचित् क्रियमाणत्वं देहस्य दृष्टमिति कर्तृदर्शनापह्नवो न युज्यते। तस्यानुमेयत्वेनाप्युपपत्तेः।

तथा हि–देहादिकं कार्यं भवितुमर्हति संनिवेशविशिष्टत्वात् विनश्वरत्वाद्वा घटादिवत्। तेन च कार्यत्वेन बुद्धिमत्पूर्वकत्वमनुमातुं सुकरमेव।

अनुवाद—अभी तो देह का ही कार्य होना असिद्ध है। कभी किसी ने कहीं भी देह को उत्पन्न होते हुए नहीं देखा है। (सिद्धान्ती कहते हैं) सच है, फिर भी किसी ने देह को उत्पन्न होना नहीं देखा है इसलिये कर्ता के दर्शन का लोप कर देना उचित नहीं है। क्योंकि कर्ता का अनुमान भी हो सकता है।

जैसे कि—देह आदि कार्य हो सकते हैं, विशेष संनिवेश होने के कारण या विनश्वर होने के कारण, घटादि के समान। उसी कार्यत्व के द्वारा "संसार को बुद्धिपूर्वक उत्पन्न किया गया है" यह अनुमान करना सरल है।

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यं यथार्थादि। न यदेवं न तदेवं यथात्मादि। परमेश्वरानुमानप्रामाण्यसाधनमन्यत्राकारीत्युपरम्यते।

२. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

इति न्यायेन प्राणिकृतकर्मापेक्षया परमेश्वरस्य कर्तृत्वोपपत्तेः।

अनुवाद—विवादास्पद देहादि कर्ता से युक्त है कार्यत्व होने से घट की तरह। जिसमें यथोक्त कार्यत्व 'साधन' रहता है, उसमें यथोक्त सकर्तृकत्व 'साध्य' भी रहता है। जैसे—आत्मा (घट, पट) आदि। जो उक्त 'सकर्तृकत्व' से युक्त नहीं है, वह 'कार्यत्व' से युक्त नहीं है। जैसे—आत्मा आदि। परमेश्वर के सम्बन्ध में होने वाले अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि अन्यत्र की गयी है, इसलिये अब यहीं विराम किया जा रहा है।

अज्ञानी यह जीव सुख तथा दु:ख पर नियंत्रण करने में असमर्थ है। ईश्वर से प्रेरित होकर यह जीव स्वर्ग जाये या नरक।

इस न्याय से प्राणियों के किये गये कर्म की अपेक्षा से ईश्वर का कर्ता होना उपपन्न होता है।

विशेष—देह आदि में सकर्तृकत्व की सिद्धि के लिये कार्यत्व हेतु दिया गया है। कार्यत्व हेतु की सकर्तृकत्व के साथ अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों सम्भव है—अन्वयव्याप्ति—यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वम्। व्यतिरेक व्याप्ति—यत्र यत्र सकर्तृकत्वं नास्ति, तत्र-तत्र कार्यत्वमपि नास्ति।

सभी प्राणी परमेश्वर के अधीन हैं। अत: प्राणी जो भी कर्म करते हैं वह सब परमात्मा ही कराता है। इस कारण परमात्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है।

न च स्वातन्त्र्यविहतिरिति वाच्यम्। करणापेक्षया कर्तुः स्वातन्त्र्य-विहतेरनुपलम्भात्। कोषाध्यक्षापेक्षस्य राज्ञः प्रसादादिना दानवत्। यथोक्तं सिद्धगुरुभिः—

३. स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता।
कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता॥ इति॥

तथा च तत्तत्कर्माशयवशाद् भोग-तत्साधन-तदुपानादिविशेषज्ञः कर्तानु-मानादिसिद्ध इति सिद्धम्। तदिदमुक्तं तत्रभवद्भिर्बृहस्पतिभिः—

४. इह भोग्यभोगसाधनतदुपादानादि यो विजानाति।
तमृते भवेन्न हीदं पुंस्कर्माशयविपाकज्ञम्॥ इति।

अनुवाद—इससे ईश्वर की स्वतन्त्रता में बाधा होगी—यह भी नहीं कहना चाहिये। करण की अपेक्षा रखने से कर्ता की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं है, जैसे राजा

कोषाध्यक्ष की अपेक्षा रखकर भी अति प्रसन्नता से दान आदि करते हैं। जैसा कि सिद्ध गुरु ने कहा है—

स्वतन्त्र व्यक्ति का अप्रयोज्यत्व (अर्थात् दूसरों के द्वारा काम में न लगाया जाना) तथा करणादि का प्रयोग करना यही कर्ता की स्वतन्त्रता है, न कि कर्म आदि की अपेक्षा न करना।

इसी तरह भिन्न-भिन्न कर्माशय के कारण भोग, उसके साधन तथा उसके उपादान आदि विशेष को जानने वाला कर्ता अनुमान आदि से सिद्ध है।

यही बात आदरणीय बृहस्पति ने कही है—जो व्यक्ति इस संसार में भोग्य, भोग के साधन तथा उसके उपादान आदि को जानता है, उसके अतिरिक्त पुरुष के कर्माशय के फल (विपाक) को जानने वाला दूसरा कोई नहीं है।

विशेष—पहले यह बताया गया था कि जीव जो कुछ भी करता है वह सब ईश्वर के अधीन है। इस प्रकार प्राणी के कर्म की अपेक्षा ईश्वर को भी रहती है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर परतन्त्र है। ईश्वर कर्मकरणादि की अपेक्षा रखने पर भी स्वतन्त्र कर्ता है।

पुण्य कर्म तथा पापकर्मों के समूह को आशय कहते हैं। कर्माशय के फल (विपाक) को जो जानता है वही ईश्वर है। वह ईश्वर कर्मभोग, भोग्यफल तथा भोग के साधन, उसके उपादान, सहायक आदि सभी पदार्थों को जानता है।

अन्यत्रापि-

५. विवादाध्यासितं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकम्।
कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा॥ इति।

सर्वकर्तृत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम्। अज्ञस्य कारणासम्भवात्। उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रैः-

६. सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वात्साधनाङ्गफलैः सह।
यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम्॥ इति।

अनुवाद—अन्यत्र भी कहा गया है—यह विवादित सम्पूर्ण संसार बुद्धिमान् कर्ता के द्वारा निर्मित है। जगत् के कार्यरूप होने के कारण हम दोनों (पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती) के मत से घटादि कार्य सिद्ध हैं।

सर्वकर्तृत्व होने से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध है। अज्ञ व्यक्ति का कारण बनना सम्भव नहीं है। श्री मृगेन्द्र ने भी कहा है—

सर्वकर्तृत्व होने के कारण वह ईश्वर साधन, अंग तथा फलों के साथ सर्वज्ञ है। जो जितना जानता है, वह उतना ही बनाता है यह बात निश्चित है।

विशेष—सर्वज्ञ ईश्वर ने बुद्धिपूर्वक इस जगत् का निर्माण किया है। पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती दोनों ही यह मानते हैं कि जगत् कार्य हैं।

चूंकि ईश्वर सर्वकर्ता है। अत:, वह सर्वज्ञ है। कर्म के साधन, अंग तथा कल सभी को जानता है। और जब ईश्वर इन सभी साधनादि को जानता है, तो वह इसका निर्माण भी करता है।

३. ईश्वर का शरीर धारण

अस्तु तर्हि-स्वतन्त्रः ईश्वरः कर्ता। स तु नाशरीरः। घटादिकार्यस्य शरीरवता कुलालादिना क्रियमाणत्वदर्शनात्। शरीरवत्त्वे चास्मदादिवदीश्वरः। क्लेशयुक्तोऽसर्वज्ञः परिमितशक्तिं प्राप्नुयादिति चेत्-मैवं मंस्थाः। अशरीरस्याप्यात्मनः स्वशरीरस्पन्दादौ कर्तृत्वदर्शनात्।

अनुवाद—ठीक है, ईश्वर स्वतन्त्र कर्ता है। किन्तु वह अशरीरी नहीं है। घटादि कार्य को शरीर धारण करने वाले कुम्हार आदि ही करते हैं—यह देखा जाता है। और ईश्वर को शरीरधारी मानने पर ईश्वर हम लोगों की तरह हो जायेगा। वह क्लेश युक्त तथा असर्वज्ञ होकर सीमित शक्ति ही प्राप्त कर पायेगा—ऐसा न समझें। अशरीरी आत्मा भी अपने शरीर का स्पन्दन आदि करता है—यह देखा जाता है।

विशेष—तात्पर्य है कि अशरीरी ईश्वर भी जगत् का कर्ता हो सकता है जैसे आत्मा शरीर के स्पन्दन का कर्ता है। यदि ईश्वर को शरीरी भी मान लिया जाये तो कोई हानि नहीं है—इस बात का उपपादन आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है।

अभ्युपगम्यापि ब्रूमहे। शरीरवत्त्वेऽपि भगवतो न प्रागुक्तदोषानुषङ्गः। परमेश्वरस्य हि मलकर्मादिपाशजालासम्भवेन प्राकृतं शरीरं न भवति, किं तु शाक्तम्। शक्तिरूपैरीशानादिभिः पंचभिः मंत्रैः मस्तकादिकल्पनायाम् ईशानमस्तकः, तत्पुरुषवक्त्रः, अघोरहृदयः, वामदेवगुह्यः, सद्योजातपादः ईश्वरः-इति प्रसिद्ध्या यथाक्रमानुग्रहतिरोभावादानलक्षणस्थितिलक्षणोद्भवलक्षणकृत्य-पञ्चककारणं, स्वेच्छानिर्मितं तच्छरीरं न चास्मच्छरीरसदृशम्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः-

मलाद्यसम्भवाच्छक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः।। इति।।

अनुवाद—(ईश्वर को शरीरधारी) मानकर भी हम कहते हैं कि शरीर होने पर भी भगवान् को पूर्वोक्त दोषों का सम्पर्क नहीं है। परमेश्वर को मूल, कर्म आदि के पाश का जाल सम्भव न होने से उनका प्राकृत (सामान्य) शरीर नहीं होता, अपितु शाक्त शरीर होता है। शक्ति के रूप ईशान आदि पांच मन्त्रों से मस्तक आदि की कल्पना करने पर ईश्वर का मस्तक ईशान, तत्पुरुष मुख है, अघोर हृदय है, वामदेव गुप्तांग है तथा सद्योजात पैर है—इस प्रकार की प्रसिद्धि से उस ईश्वर का शरीर क्रमशः अनुग्रह, तिरोभाव, आदान लक्षण, स्थिति लक्षण तथा उद्भवलक्षण—इन ५ कार्यों का कारण है। उनका शरीर स्वेच्छा से निर्मित है, हमारे शरीर के समान नहीं है।

यही बात श्री मृगेन्द्र ने कही है—

मल आदि के सम्भव न होने से ईश्वर का शरीर हमारी तरह नहीं है।

विशेष—परमात्मा का शरीर हमारी तरह पाञ्चभौतिक नहीं है, बल्कि उनका शरीर शक्ति से निर्मित है। भगवान् शिव के पांच स्वरूप हैं तथा इन पांचों स्वरूपों के ५ कार्य हैं—

१. सद्योजात—जगत् की सृष्टि

२. वामदेव—जगत् का पालन

३. अघोर—जगत् का संहार

४. तत्पुरुष—तिरोभाव या तिरोधान (अन्तर्धान होना)

५. ईशान—अनुग्रह (दया करना)

अन्यत्रापि-

७. तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः।
ईशतत्पुरुषाघोरवामाद्यैर्मस्तकादिमत् ॥ इति।

ननु पञ्चवक्त्रस्त्रिपञ्चदृगित्यादिनागमेषु परमेश्वरस्य मुख्यत एव शरीरेन्द्रियादियोगः श्रूयत इति चेत्–सत्यम्, निराकारे ध्यानपूजाद्यसम्भवेन भक्तानुग्रहकारणाय तत्तदाकारग्रहणाविरोधात्।

अनुवाद—अन्यत्र भी कहा गया है—

उन ईश्वर का शरीर पांच कार्यों के लिये उपयोगी पांच मन्त्रों ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात के द्वारा मस्तक आदि (मुख, हृदय, गुप्तांग तथा पैर) से युक्त है।

यदि यह कहें कि "पञ्चवक्त्रः, त्रिपञ्चदृक्" (पांच मुखों से युक्त, पन्द्रह आंखों से युक्त) इत्यादि आगमों में परमेश्वर का मुख्यरूप से शरीर, इन्द्रिय आदि से संयोग कहा गया है, तो (इसका उत्तर है कि) यह बात सत्य है, निराकार ईश्वर में ध्यान, पूजा आदि सम्भव न होने से भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर वह वह आकार ग्रहण करते हैं, अतः विरोध नहीं है।

तदुक्तं श्रीमत्पौष्करे-

८. साधकस्य तु रक्षार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्। इति।

अन्यत्रापि-

आकारवांस्त्वं नियमादुपास्यो न वस्त्वनाकारमुपैति बुद्धिः।। इति। कृत्यपञ्चकं च प्रपञ्चितं भोजराजेन-

९. पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ इति।

अनुवाद—जैसा 'श्री पुष्कर' ग्रन्थ में कहा गया है—

"साधक की रक्षा के लिये उस परमेश्वर का यह रूप कहा गया है।" अन्यत्र भी कहा गया है—

"(हे ईश्वर!) तुम आकारवान् हो तथा नियमत: उपास्य हो, बुद्धि निराकार वस्तु का ग्रहण नहीं करती।"

भोजराज ने पांच कार्य बतलाये हैं—

निरन्तर जागृत रहने वाले इस परमात्मा के पांच प्रकार के कार्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह।

विशेष—साकार ईश्वर की ही उपासना सम्भव है, निराकार ईश्वर की नहीं। साधक की रक्षा भी साकार परमेश्वर ही कर सकते हैं। ईश्वर की उपासना तीन प्रकार से हो सकती है—कायिक, वाचिक तथा मानसिक।

एतच्च कृत्यपञ्चकं शुद्धाध्वविषये साक्षाच्छिवकर्तृकं, कृच्छ्राध्वविषये त्वन्तादिद्वारेणेति विवेकः। तदुक्तं श्रीमत्करणे–

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽहिते प्रभोः।। इति।

एवं च शिवशब्देन शिवत्वयोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमहेश्वरमुक्तात्मशिवानां सवाचकानां शिवत्वप्राप्तिसाधनेन दीक्षादिनोपायकलापेन सह पतिपदार्थे संग्रहः कृत इति बोद्धव्यम्। तदित्थं पतिपदार्थो निरूपितः।

अनुवाद—ये पाँचों (ईश्वर के) कर्म शुद्ध मार्ग के विषय में साक्षात् शिवजी के द्वारा ही किये जाते हैं, लेकिन अशुद्ध मार्ग के विषय में अनन्त आदि के द्वारा कराये जाते हैं यही अन्तर है। जैसा कि श्रीमत्करण में कहा गया है—

शुद्ध मार्ग में शिव ही कर्ता है लेकिन अशुद्ध मार्ग में अनन्त कर्ता है।

इस प्रकार शिव शब्द से शिवत्व प्राप्ति के साधन तथा दीक्षा आदि उपायों के साथ शिवत्व से सम्बन्धित मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर, मुक्त आत्मा तथा शिव—इनका एवं इनके प्रवचनकर्ताओं का पति पदार्थ में संग्रह किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। तो इस प्रकार पति पदार्थ का निरूपण किया गया।

विशेष—शैव दर्शन के तीन पदार्थों पति, पशु तथा पाश में से पति पदार्थ का वर्णन यहीं समाप्त हो रहा है। पति शब्दार्थ अत्यन्त व्यापक है। इसमें मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि सभी समाहित हो जाते हैं। अब आगे पशु पदार्थ का वर्णन होगा।

४. 'पशु' पदार्थ का निरूपण–अन्य मतों का खण्डन

संप्रति पशुपदार्थो निरूप्यते–अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः। न तु चार्वाकादिवद् देहादिरूपः। 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति न्यायेन प्रतिसन्धानानुपपत्तेः। नापि नैयायिकादिवत्प्रकाश्यः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तदुक्तम्–

१०. आत्मा यदि भवेन्मेयस्तस्य माता भवेत्परः।
पर आत्मा तदानीं स्यात्स परो यदि दृश्यते॥ इति।

अनुवाद—अब पशु पदार्थ का निरूपण हो रहा है—जो अणु नहीं है, वह क्षेत्रज्ञ आदि पद से ज्ञात जीवात्मा पशु है, न कि चार्वाक आदि के समान देहादि रूप। "दूसरे के द्वारा देखे गये पदार्थ का स्मरण दूसरा नहीं करता" इस न्याय से दोनों के सम्बन्ध की अनुपपत्ति है। नैयायिकों के समान आत्मा का प्रकाश्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—

यदि आत्मा मेय है तो उसका ज्ञाता कोई दूसरा आत्मा है। यदि वह दूसी आत्मा भी दृश्य है, तो उससे भिन्न भी कोई आत्मा होगा।

विशेष—चार्वाक ऐसा मानते हैं कि आत्मा शरीररूप है। यदि ऐसा माना जाए तो बाल्यावस्था में किसी का शरीर भिन्न होता है तथा युवावस्था या वृद्धावस्था आने पर शरीर भिन्न हो जाता है। फिर भी बाल्यावस्था की देखी बातों का स्मरण युवावस्था या वृद्धावस्था में होता ही है। यदि आत्मा शरीर रूप है और शरीर बदल गया तो पूर्व दृष्ट का स्मरण भी सम्भव नहीं है। अत: बाल्यावस्था के शरीर और वृद्धावस्था के शरीर का सम्बन्ध नहीं बन जाता है यही अनुपपत्ति है।

यदि आत्मा को प्रकाश्य कहें तो अनवस्था है। एक आत्मा दूसरे के द्वारा प्रकाश्य है, वह आत्मा अन्य के द्वारा, वह अन्य किसी अन्य के द्वारा। इस प्रकार अनवस्था आती है।

न च जैनवदव्यापकः नापि बौद्धवत्क्षणिकः। देशकालाभ्यामनवच्छिन्नत्वात्। तदप्युक्तम्–

११. अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः।
तन्नित्यं विभु चेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता ॥ इति।

नापि अद्वैतवादिनामिवैकः। भोगप्रतिनियमस्य पुरुषबहुत्वज्ञापकस्य सम्भवात्।

अनुवाद—न ही आत्मा जैनों के समान अव्यापक है और न ही बौद्धों के समान क्षणिक, क्योंकि देश और काल के द्वारा आत्मा को रोका नहीं जा सकता है। यह भी कहा गया है—

जो वस्तु देश तथा काल से, अनवच्छिन्न तथा सत् रूप है वही नित्य तथा विभु है। अत: आत्मा भी विभु (व्यापक) एवं नित्य हैं।

न ही आत्मा अद्वैतियों के समान एक है। पुरुष बहुत्व को सिद्ध करनेवाला भोग का नियम सम्भव है।

विशेष—जैनों के अनुसार आत्मा अव्यापक है तथा बौद्धों के अनुसार क्षणिक। लेकिन आत्मा तो देश काल से अपरिच्छिन्न है तो फिर वह अव्यापक या क्षणिक कैसे हो सकता है। यह नियम है कि जो देश काल से अनवच्छिन्न है वह नित्य तथा व्यापक है। जैसे कि आत्मा।

अद्वैती आत्मा को एक मानते हैं। लेकिन प्रत्येक जीवात्मा का भोग भिन्न-भिन्न होने से आत्मा का बहुत्व सिद्ध है। कोई आत्मा एक ही समय में सुख का उपभोग करता है, तो दूसरा उसी समय दुःख का भोग करता है, अतः आत्मा अनेक है।

नापि सांख्यानामिवाकर्ता। पाशजालापोहने नित्यनिरतिशयदृक्क्रियारूप-चैतन्यात्मकशिवत्वश्रवणात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रैः-'पाशान्ते शिवताश्रुतेः' इति।

१२. चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्त्यात्मनि सर्वदा।
सर्वतश्च यतो मुक्तौ श्रूयते सर्वतोमुखम्॥ इति।

तत्त्वप्रकाशेऽपि-

१३. मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किं त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः॥ इति।

अनुवाद—न ही सांख्यों के समान आत्मा अकर्ता है। पाश जाल के समाप्त होने पर नित्य तथा निरतिशय दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति रूप चैतन्यात्मक शिवजी की प्राप्ति होती है। श्रुतियों (वेदों) में कहा गया है। श्री मृगेन्द्र ने भी यही बात कही है—

पाश का अन्त होने पर शिवत्व प्राप्ति सुनी गयी है।

दृक् शक्ति तथा क्रिया शक्तिरूप जो चैतन्य है, वह आत्मा में सर्वदा सब तरह से है, क्योंकि मुक्ति होने पर सर्वतोमुखी चैतन्य सुना जाता है।

तत्त्वप्रकाश में भी कहा गया है—

मुक्त आत्मायें भी शिव ही हैं, किन्तु ये जिसकी कृपा से मुक्त हुई हैं, वह अनादि मुक्त एक शिव ही है, जो पांचमन्त्रों के शरीरवाला है।

विशेष—सांख्यदार्शनिक आत्मा को अकर्ता मानते हैं। इनके अनुसार प्रकृति कर्त्री है तथा पुरुष अकर्ता। किन्तु शैवदर्शन का मानना है कि शिव क्रिया शक्ति रूप है। वेद भी कहते हैं कि मुक्त होने पर शिवत्व की प्राप्ति होती है।

५. *जीव के तीन भेद*

पशुस्त्रिविधः-विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलभेदात्। तत्र प्रथमो विज्ञान-योगसंन्यासैर्भोगेन वा कर्मक्षये सति कर्मक्षयार्थस्य कलादिभोगबन्धस्य अभावात् केवलमलमात्रयुक्तो 'विज्ञानाकल' इति व्यपदिश्यते। द्वितीयस्तु प्रलयेन कलादेरुप-संहारान्मलकर्मयुक्तः 'प्रलयाकल' इति व्यवह्रियते। तृतीयस्तु मलमायाकर्मात्मक-बन्धत्रयसहितः 'सकल' इति संलिप्यते।

अनुवाद—पशु तीन प्रकार का है—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। उनमें प्रथम-विज्ञान, योग तथा संन्यास के द्वारा या भोग के द्वारा कर्म का क्षय होने पर कर्मक्षय के लिये कलादि भोग बन्ध का अभाव होने से केवल मल से युक्त पशु को विज्ञानाकल कहा जाता है। द्वितीय—प्रलय से कला आदि की समाप्ति हो जाने से मल तथा कर्म से युक्त पशु को प्रलयाकल कहा जाता है। तीसरा—मल, माया तथा कर्म रूप तीनों बन्धों से युक्त पशु को सकल कहा जाता है।

विशेष—बन्ध तीन प्रकार का है—मल, माया तथा कर्म। इस दृष्टि से जीव भी तीन कोटि के हैं। उच्च कोटि का जीव वह है, जिसमें केवल मल है वही विज्ञानाकल कहलाता है। मध्यम कोटि का जीव प्रलयाकल है इसमें मल तथा कर्म दो बन्ध रहते हें तथा तीसरा कनिष्ठ कोटि का जीव सकल है। इसमें मल, माया तथा कर्म—तीनों बन्ध रहते हैं।

५. क. विज्ञानाकल जीव के दो भेद

तत्र प्रथमो द्विप्रकारो भवति–समाप्तकलुषासमाप्तकलुषभेदाद्। तत्राद्यान् कालुष्यपरिपाकवतः पुरुषधौरेयानधिकारयोग्यान् अनुगृह्य अनन्तादिविद्येश्वराष्टापदं प्रापयति। तद्विद्येश्वराष्टकं निर्दिष्टं बहुदैवत्ये–

१४. अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्त्तिकः॥
१५. श्रीखण्डश्च शिखण्डी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे। इति।

अनुवाद—इसमें प्रथम जीव (विज्ञानाकल) दो प्रकार का है—समाप्त कलुष वाला जीव और असमाप्त कलुषवाला जीव—इन दो भेदों से। इनमें जो पहले हैं, उनके कालुष्य का परिपाक (विनाश) हो जाने पर उन अधिकार योग्य श्रेष्ठ पुरुषों पर अनुग्रह करके उन्हें अनन्त आदि विद्येश्वरों के आठ पद प्राप्त कराये जाते हैं। अनन्तादि आठ विद्येश्वरों का निर्देश 'बहुदैवत्य' ग्रन्थ में हैं—

अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्तिक, श्रीखण्ड तथा शिखण्डी—ये आठ विद्येश्वर कहे गये हैं।

विशेष—प्रथम कोटि के अर्थात् समाप्तकलुष विज्ञानाकल जीव मोक्ष के अधिकारी होते हैं। उन्हें विद्येश्वर के अष्टपद प्राप्त होते हैं।

अन्यतरा-(न्त्या)-न्सप्तकोटिसंख्यातान्मन्त्राननुग्रहकरणान्विधत्ते तदुक्तं तत्त्वप्रकाशे–

१६. पशवस्त्रिविधाः प्रोक्ता विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात्॥
१७. मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः।
आद्यः समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषो द्वितीयःस्यात्॥
१८. आद्याननुगृह्य शिवो विद्येशत्वे नियोजयत्यष्टौ।
मन्त्रांश्च करोत्यपरांस्ते चोक्ताः कोटयः सप्त॥ इति।

अनुवाद—अन्य (असमाप्तकलुष) जीवों को ईश्वर अनुग्रह करनेवाले सात करोड़ मन्त्रों का उपदेश देते हैं—तत्त्व प्रकाश में यही गया है—

पशु तीन प्रकार के कहे गये हैं—

केवल विज्ञान, केवल प्रलय तथा सकल। उसमें पहला (विज्ञानाकल) मलयुक्त है, दूसरा (प्रलयाकल) मल तथा कर्म से युक्त है तथा तीसरा (सकल) मल, कर्म तथा

माया से युक्त है। उनमें पहले (विज्ञानाकल) के दो भेद हैं—पहला समाप्त कलुष वाले जीव तथा दूसरे असमाप्त कलुष वाले जीव। पहले (समाप्तकलुष) जीवों पर अनुग्रह करके भगवान् शिव विद्येश्वर आदि आठ पद देते हैं। दूसरे (असमाप्त कलुष) को भगवान् शिव सात करोड़ मन्त्रों का उपदेश देते हैं।

सोमशम्भुनाप्यभिहितम्-

१९. विज्ञानाकलनामैको द्वितीयः प्रलयाकलः।
तृतीयः सकलः शास्त्रेऽनुग्राह्यस्त्रिविधो मतः॥
२०. तत्राद्यो मलमात्रेण युक्तोऽन्यो मलकर्मभिः।
कलादिभूमिपर्यन्ततत्त्वैस्तु सकलो युतः॥ इति।

अनुवाद—सोमशम्भु ने भी कहा है—

(जीव तीन प्रकार के हैं) एक विज्ञानाकल, दूसरा प्रलयाकल और तीसरा सकल—ये तीनों ही शास्त्र में अनुग्रह के पात्र हैं।

उसमें पहला केवल मल से ही युक्त है, दूसरा मल तथा कर्म से युक्त है और तीसरा (सकल) कला से लेकर भूमि तक के तत्त्वों से युक्त हैं।

विशेष—कला से भूमि तक ३० तत्त्व हैं—सात कलाएँ, तीन अन्तःकरण, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)

५. ख. प्रलयाकल जीव के दो भेद

प्रलयाकलोऽपि द्विविधः-पक्वपाशद्वयस्तद्विलक्षणश्च। तत्र प्रथमो मोक्षं प्राप्नोति। द्वितीयस्तु पुर्यष्टकयुतः कर्मवश्यान्नानाविधजन्मभाग्भवति। तदप्युक्तं तत्त्वप्रकाशे-

२१. प्रलयाकलेषु येषामपक्वमलकर्मणी व्रजन्त्येते।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात्॥ इति।

अनुवाद—प्रलयाकल जीव भी दो प्रकार का है—पहला वह जिसके दोनों पाश (मल और कर्म) पक गये हैं, दूसरा उससे भिन्न अर्थात् जिसके दोनों पाश नहीं पके हैं। उसमें पहला जीव मोक्ष प्राप्त करता है। दूसरा पुर्यष्टक से युक्त होकर अपने कर्म के कारण अनेक प्रकार के जन्म पाता है। तत्त्वप्रकाश में यह भी कहा गया है—

प्रलयाकल जीवों में जो अपक्व मल और कर्म वाले जीव हैं वे पुर्यष्टकवाले देह से युक्त होकर कर्म के वश में सभी योनियों में घूमते हैं।

विशेष—पुर्यष्टक का वर्णन अगले परिच्छेद में किया गया है।

पुर्यष्टकमपि तत्रैव निर्दिष्टम्-

स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि।। इति।

विवृतं चाघोरशिवाचार्येण-पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः, सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः, पृथिव्यादिकलापर्यन्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकः, सूक्ष्मो देहः। तथा चोक्तं तत्त्वसंग्रहे-

२२. वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम्।
पर्यटति कर्मवशाद् भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु॥ इति।

अनुवाद—पुर्यष्टक का वर्णन भी वहीं किया गया है—अन्तःकरण (मन, बुद्धि अहंकार तथा सात कलादि), बुद्धि में कर्म (पांच महाभूत, पांच तन्मात्र) तथा करण (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय)—ये पुर्यष्टक हैं।

अघोर शिवाचार्य ने विस्तृतरूप से कहा है—प्रत्येक पुरुष में निश्चित रूप से रहनेवाला सूक्ष्म शरीर, जो सृष्टि से लेकर कल्पान्त तक या मोक्षान्त तक रहता है, वही पुर्यष्टक है। इसमें पृथ्वी से लेकर कला तक तीस तत्त्व हैं। जैसा कि तत्त्वसंग्रह में भी कहा गया है।

प्रत्येक पुरुष में नियत रूप से रहनेवाला पृथ्वी से लेकर कला तक का यह तत्त्वसमूह कर्म वश संसार के सभी देहों में (स्थूल देहों में) घूमता रहता है।

विशेष—पुर्यष्टक को ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं। यह सभी के स्थूल शरीर के अन्दर रहता है। इसमें आठ तत्त्व ही प्रमुख हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, अहंकार। इन आठ तत्त्वों में समस्त ३० तत्त्वों का समावेश हो जाता है। आठ तत्त्वों की प्रधानता के कारण ही इसे पुर्यष्टक कहा जाता है।

तथा चायमर्थः समपद्यत—अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहंकार-वाचिनाऽन्यान्यपि पुंसो भोगक्रियायामन्तरङ्गाणि कला-काल-नियति-विद्या-राग-प्रकृति-गुणाख्यानि सप्त तत्त्वान्युपलक्ष्यन्ते। धीकर्मशब्देन ज्ञेयानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च तन्मात्राणि विवक्ष्यन्ते। करणशब्देन ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं संगृह्यते।

अनुवाद—इसका यह अर्थ हुआ है—मन, बुद्धि तथा अहंकार को बतलाने वाले अन्तःकरण शब्द से पुरुष की भोग क्रिया में अन्तरंग रूप से रहनेवाले कला, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति तथा गुण ये अन्य सात तत्त्व भी उपलक्षित होते हैं। धीकर्म शब्द से ज्ञेय पञ्चमहाभूत तथा उनके कारण पञ्चतन्मात्र विवक्षित होते हैं। 'करण' शब्द से ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ कर्मेन्द्रिय—ये दस लिये जाते हैं।

विशेष—ये तीस तत्त्व मिलकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण कराते हैं। इनमें दस अन्तःकरण, दस बुद्धिकर्म तथा दस करण हैं।

ननु श्रीमत्कालोत्तरे-

२३. **शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चकम्।
बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्॥**

इति श्रूयते। तत्कथमन्यथा कथ्यते? अद्धा, अत एव च तत्रभवता रामकाण्डेन तत्सूत्रं त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यायीत्यलमतिप्रपञ्चेन।

अनुवाद—श्रीमत् कालोत्तर में कहा गया है—

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, पांचवां गन्ध, बुद्धि, मन तथा अहंकार—ये पुर्यष्टक कहे गये हैं। तो आप दूसरी बात कैसे कह रहे हैं? आप ठीक कहते हैं। इसीलिये आदरणीय

रामकाण्ड ने उस सूत्र की व्याख्या तीस तत्त्वों के अभिप्राय से की है। यहाँ तक बहुत विस्तार हो गया। (अर्थात् अब वही विराम करते हैं)

विशेष—सूक्ष्मशरीर में कुल ३० तत्त्व होते हैं, जिनमें ८ तत्त्व ही प्रमुख हैं। इन्हीं आठ तत्त्वों को पुर्यष्टक कहा जाता है।

तथापि कथमस्य पुर्यष्टकत्वम्? भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैः तत्कारणेन प्रधानेन कलादिपञ्चकात्मना वर्गेण चारब्धत्वादित्यतिविरोधः। तत्र पुर्यष्टकयुतान्विशिष्टपुण्यसंपन्नान् काँश्चिदनुगृह्य भुवनपतित्वमत्र महेश्वरोऽनन्तः प्रयच्छति। तदुक्तम्–

काँश्चिदनुगृह्य वितरति भुवनपतित्वं महेश्वरस्तेषाम्।। इति।

अनुवाद—फिर भी इसका पुर्यष्टकत्व कैसे होता है? भूत, तन्मात्र, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण संज्ञक पांच वर्गों एवं उसके कारण (गुण), प्रधान तथा कलादि पञ्च वर्ग को साथ में मिलाने से (३० और ८ तत्वों का) विरोध नहीं होता है। भगवान् अनन्त महेश्वर पुर्यष्टक से युक्त तथा विशिष्ट पुण्य से सम्पन्न कुछ लोगों पर अनुग्रह करके भुवन प्रतिपद प्रदान करते हैं। जैसा कि कहा गया है।

कुछ लोगों पर अनुग्रह करके भगवान् महेश्वर उन्हें भुवनपतित्व देते हैं।

विशेष—पुर्यष्टक के आठ तत्त्वों में ३० तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

१. पांच महाभूत	—	५
२. पांच तन्मात्र	—	५
३. पांच ज्ञानेन्द्रिय	—	५
४. पांच कर्मेन्द्रिय	—	५
५. अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार)	—	३
६. गुण (प्रधान)	—	१
७. प्रकृति (प्रधान)	—	१
८. कलादि पांच वर्ग (कला काल, नियति, विद्या, सम)	—	५
		३०

५. ग. 'सकल' जीव के भेद

सकलोऽपि द्विविधः। पक्वकलुषापक्वकलुषभेदात्। तत्राद्यान्परमेश्वरस्तत्परिपाकपरिपाट्या तदनुगुणशक्तिपातेन मण्डल्याद्यष्टादशोत्तरशतमन्त्रेश्वरपदं प्रापयति। तदुक्तम्–

२४. **शेषा भवन्ति सकलाः कलादियोगादहर्मुखे काले।**
शतमष्टादश तेषां कुरुते स्वयमेव मन्त्रेशान्॥

२५. तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः ।
श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम् ॥ इति।

अनुवाद—सकल भी दो प्रकार का है। पक्व कलुष वाला तथा अपक्व कलुषवाला—इन दो भेदों से। उनमें पहले (अर्थात् पक्वकलुष जीवों) को परमेश्वर उनके परिपाक की प्रणाली के अनुसार शक्तिपात करके मण्डली आदि ११८ मन्त्रेश्वर पद को प्राप्त कराते हैं। जैसा कि कहा गया है—

शेष जीव (विज्ञानाकल और प्रलयाकल से बचे हुए) सकल कहलाते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में इनका कलादि ७ तत्त्वों से सम्बन्ध रहता है। उन जीवों को भगवान् शिव स्वयं ११८ मन्त्रेश्वर बना देते हैं।

इन ११८ में ८ मण्डली हैं तथा क्रोध आदि ८ तत्त्व और हैं। फिर वीरेश्वर, श्रीकण्ठ आदि १०० रुद्र हैं। इस प्रकार ११८ मन्त्रेश्वर हैं।

विशेष—ब्रह्मदेव का एक दिन मनुष्यों का एक कल्प तथा उतना ही एक कल्प ब्रह्मा की रात्रि होती है। ब्रह्मा के हर एक दिन का प्रारम्भ सृष्टि से होता है। इसी कारण अहर्मुख का तात्पर्य है—ब्रह्मा के दिन (अहः) का प्रारम्भ अर्थात् सृष्टिकाल।

तत्परिपाकाधिक्यानुरोधेन शक्त्युपसंहारेण दीक्षाकरणेन मोक्षप्रदो भवत्याचार्यमूर्तिमास्थाय परमेश्वरः। तदप्युक्तम्—

२६. परिपक्वमलानेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥ इति।

श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

पूर्वं व्यत्यासितस्याणोः पाशजालमपोहति ॥ इति।

अनुवाद—परमेश्वर उन (सकल) जीवों के कलुष का अत्यधिक परिपाक हो जाने पर, अपनी शक्ति को समेट करके आचार्य की मूर्ति में प्रवेश करके दीक्षा देने के माध्यम से उन जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं। यह भी कहा गया है—

परमेश्वर अपनी शक्ति का पात करके परिपक्व मलवाले इन जीवों को आचार्य की मूर्ति में बैठकर दीक्षा के माध्यम से परमतत्त्व से जोड़ता है।

श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—पहले व्यत्यासित (मुक्त किये गये) अणु (जीव) के पाशजाल को वह परमेश्वर दूर करता है।

व्याकृतं च नारायणकण्ठेन। तत्सर्वं तत एवावधार्यम्। अस्माभिस्तु विस्तरभिया न प्रस्तूयते। अपक्वकलुषान्बद्धानणून्भोगभाजो विधत्ते परमेश्वरः कर्मवशात्। तदप्युक्तम्—

२७. बद्धाञ्छेषानपरान् विनियुङ्क्ते भोगभुक्तये पुंसः ।
तत्कर्मणानुगमादित्येवं कीर्तिताः पशवः ॥ इति।

अनुवाद—नारायण कण्ठ ने व्याख्या भी की है। यह सब विषय वहीं से समझ लेना चाहिये। हम लोग विस्तार के भय से प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। परमेश्वर अपक्व कलुष वाले, बद्ध तथा अणु जीवों को उनके कर्म के अनुसार भोग का भागी बनाता है। यह भी कहा गया है—

बद्ध तथा शेष अन्य जीवों को परमेश्वर उनके कर्मानुसार भोग भोगने में लगा देता है। इस प्रकार पशुओं का वर्णन किया गया है।

विशेष—'सकल' जीवों के दूसरे भेद अपक्व मल वाले जीवों का वर्णन यहाँ किया गया है। जीवों का विवेचन यहीं पूर्ण हो रहा है। अब पाश का विवेचन होगा।

६. *'पाश' पदार्थ का निरूपण*

अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः—कलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्। ननु—

२८. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात् त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः॥

इति पाशः पञ्चविधः कथ्यते। तत्कथं चतुर्विध इति गण्यते?

अनुवाद—अब पाशपदार्थ बतलाते हैं। पाश चार प्रकार का है—मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। यहाँ शंका यह है कि—शैवागमों में मुख्य रूप में क्रमशः तीन पदार्थ कहे गये हैं—पति, पशु तथा पाश। उसमें पति शिव है, अणु पशु (जीव) है तथा पांच पदार्थ पाश हैं।

इस प्रकार यहाँ पाश पांच प्रकार का कहा गया है। तो फिर पाश को चार प्रकार का कैसे कहा जाता है?

उच्यते—बिन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरम-मुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादिपदप्राप्तिहेतुत्वेन अपरमुक्तित्वात्पा-शत्वेनानुपादानम् इत्यविरोधः। अत एवोक्तं तत्त्वप्रकाशे—'पाशाश्चतुर्विधाः स्युः' इति। श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

२९. प्रावृतीशो बलं कर्म मायाकार्यं चतुर्विधम्।
पाशजालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥ इति।

अनुवाद—माया रूपी बिन्दु, जो कि शिवतत्त्व के रूप में वेदनीय हैं, वह यद्यपि शिवतत्त्व की प्राप्ति रूप जो परममुक्ति है उसकी अपेक्षा से पाश ही है, फिर भी वह तत्सम्बन्धित विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति का कारण है। अतः, अपर मुक्ति का कारण होने से उसका पाश के रूप में ग्रहण नहीं है, इस प्रकार दोनों का (पाश चतुर्विध है या पञ्चविध इन वचनों का) का विरोध नहीं है। इसीलिये तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—पाश चार प्रकार के होते हैं। श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—

आवरण (मल रूपी स्वामी) बल, कर्म तथा मायाकार्य—ये चार प्रकार के पाशजाल संक्षेप में हैं। इनका धर्म (स्वभाव) इनके नाम से ही स्पष्ट है।

विशेष—पाश चार हैं या पांच? इस विषय पर सन्देह उपस्थित होता है। कहीं चार पाशों का वर्णन है तो कहीं पांच का। इस पर समाधान यह है कि बिन्दु रूपी पाश जो परममुक्ति के लिये तो पाश हे लेकिन अपरा मुक्ति (विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति) को प्राप्त कराने के कारण उसे पाश नहीं कहा जा सकता है। अतः पाशों की संख्या में मतभेद है।

मल (प्रावृतीश), कर्म, माया, बल (रोधशक्ति)—चार पाश हैं। इनमें बिन्दु को लेकर पाशों की संख्या पांच होती है।

अस्यार्थः-प्रावृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविक्यौ दृक्क्रिये इति प्रावृतिरशुचिर्मलः। स च ईष्टे स्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम्-

३०. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलःपुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वै ॥ इति।

अनुवाद—इसका अर्थ है जो आत्मा की स्वाभाविक दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति का प्रावरण करे अर्थात् अच्छी तरह से आच्छादन करे वह प्रावृति या अपवित्र मल है। वह स्वतन्त्र रूप से शासन करता है अत: ईश्वर कहलाता है। जेसा कि कहा गया है—

जो एक है, किन्तु अनेक शक्तियों से युक्त है, जो पुरुष की दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति को ढकने वाला मल है। उसे तुष तण्डुल के समान समझे या तांबे पर लगे जंग (कालिमा) की तरह समझे।

विशेष—प्रावृतिश्चासौ ईश इति प्रावृतीश: (कर्मधारय समास तथा प्रावृत्ति+ईश में दीर्घ सन्धि हुई है) जैसे तुष (घास) चावल (तण्डुल) को ढकता है, वैसे ही प्रावृतीश (मल) आत्मा की ज्ञान शक्ति (दृक्शक्ति) और क्रिया शक्ति को ढकता है। या फिर जैसे तांबे पर लगा हुआ जंग तांबे को ढक देता है, वैसे ही मल आत्मा की शक्ति को ढक देता है।

बलं रोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम्-

३१. तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनावेव पाश इत्युपचर्यते ॥ इति।

अनुवाद—बल का अर्थ है—रोधशक्ति। यह शिव शक्ति पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिये इसे औपचारिक रूप से पाश कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

मैं इनमें परा शक्ति हूँ तथा सभी पर अनुग्रह करने वाली शिवा हूँ। धर्म के अनुसार चलने के कारण ही इसे 'पाश' भी कहा गया है।

विशेष—रोधशक्ति पाश पर अधिष्ठित रहती है। फिर भी इसे पाश कहा दिया जाता है। यही औपचारिक प्रयोग है। जैसे कुन्तधारी पुरुष को भी कुन्त कह दिया जाता है।

क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। यथोक्तं श्रीमत्किरणे-

३२. यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादिर्न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना ॥ इति।

अनुवाद—फलेच्छुक लोग जिसे करते हैं वह कर्म है, यह धर्म-अधर्म रूप है तथा बीजांकुर के समान प्रवाहरूप होने के कारण अनादि है। जैसा कि 'श्रीमत्किरण' ग्रन्थ में कहा गया है—

बद्ध तथा शेष अन्य जीवों को परमेश्वर उनके कर्मानुसार भोग भोगने में लगा देता है। इस प्रकार पशुओं का वर्णन किया गया है।

विशेष—'सकल' जीवों के दूसरे भेद अपक्व मल वाले जीवों का वर्णन यहाँ किया गया है। जीवों का विवेचन यहीं पूर्ण हो रहा है। अब पाश का विवेचन होगा।

६. *'पाश' पदार्थ का निरूपण*

अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः–कलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्। ननु–

२८. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात् त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः॥

इति पाशः पञ्चविधः कथ्यते। तत्कथं चतुर्विध इति गण्यते?

अनुवाद—अब पाशपदार्थ बतलाते हैं। पाश चार प्रकार का है—मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। यहाँ शंका यह है कि—शैवागमों में मुख्य रूप में क्रमशः तीन पदार्थ कहे गये हैं—पति, पशु तथा पाश। उसमें पति शिव है, अणु पशु (जीव) है तथा पांच पदार्थ पाश हैं।

इस प्रकार यहाँ पाश पांच प्रकार का कहा गया है। तो फिर पाश को चार प्रकार का कैसे कहा जाता है?

उच्यते–बिन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादिपदप्राप्तिहेतुत्वेन अपरमुक्तित्वात्पाशत्वेनानुपादानम् इत्यविरोधः। अत एवोक्तं तत्त्वप्रकाशे–'पाशाश्चतुर्विधाः स्युः' इति। श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि–

२९. प्रावृतीशो बलं कर्म मायाकार्यं चतुर्विधम्।
पाशजालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥ इति।

अनुवाद—माया रूपी बिन्दु, जो कि शिवतत्त्व के रूप में वेदनीय हैं, वह यद्यपि शिवतत्त्व की प्राप्ति रूप जो परममुक्ति है उसकी अपेक्षा से पाश ही है, फिर भी वह तत्सम्बन्धित विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति का कारण है। अतः, अपर मुक्ति का कारण होने से उसका पाश के रूप में ग्रहण नहीं है, इस प्रकार दोनों का (पाश चतुर्विध है या पञ्चविध इन वचनों का) का विरोध नहीं है। इसीलिये तत्त्वप्रकाश में कहा गया है—पाश चार प्रकार के होते हैं। श्रीमत् मृगेन्द्र में भी कहा गया है—

आवरण (मल रूपी स्वामी) बल, कर्म तथा मायाकार्य—ये चार प्रकार के पाशजाल संक्षेप में हैं। इनका धर्म (स्वभाव) इनके नाम से ही स्पष्ट है।

विशेष—पाश चार हैं या पांच? इस विषय पर सन्देह उपस्थित होता है। कहीं चार पाशों का वर्णन है तो कहीं पांच का। इस पर समाधान यह है कि बिन्दु रूपी पाश जो परममुक्ति के लिये तो पाश हे लेकिन अपरा मुक्ति (विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति) को प्राप्त कराने के कारण उसे पाश नहीं कहा जा सकता है। अतः पाशों की संख्या में मतभेद है।

मल (प्रावृतीश), कर्म, माया, बल (रोधशक्ति)—चार पाश हैं। इनमें विन्दु को लेकर पाशों की संख्या पांच होती है।

अस्यार्थः–प्रावृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविक्यौ दृक्क्रिये इति प्रावृतिरशुचिर्मलः। स च ईष्टे स्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम्–

३०. एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वै ॥ इति।

अनुवाद—इसका अर्थ है जो आत्मा की स्वाभाविक दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति का प्रावरण करे अर्थात् अच्छी तरह से आच्छादन करे वह प्रावृति या अपवित्र मल है। वह स्वतन्त्र रूप से शासन करता है अतः ईश्वर कहलाता है। जेसा कि कहा गया है—

जो एक है, किन्तु अनेक शक्तियों से युक्त है, जो पुरुष की दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति को ढकने वाला मल है। उसे तुष तण्डुल के समान समझे या तांबे पर लगे जंग (कालिमा) की तरह समझे।

विशेष—प्रावृतिश्चासौ ईश इति प्रावृतीशः (कर्मधारय समास तथा प्रावृत्ति+ईश में दीर्घ सन्धि हुई है) जैसे तुष (घास) चावल (तण्डुल) को ढकता है, वैसे ही प्रावृतीश (मल) आत्मा की ज्ञान शक्ति (दृक्शक्ति) और क्रिया शक्ति को ढकता है। या फिर जैसे तांबे पर लगा हुआ जंग तांबे को ढक देता है, वैसे ही मल आत्मा की शक्ति को ढक देता है।

बलं रोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम्–

३१. तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा।
धर्मानुवर्तनावेव पाश इत्युपचर्यते ॥ इति।

अनुवाद—बल का अर्थ है—रोधशक्ति। यह शिव शक्ति पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिये इसे औपचारिक रूप से पाश कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

मैं इनमें परा शक्ति हूँ तथा सभी पर अनुग्रह करने वाली शिवा हूँ। धर्म के अनुसार चलने के कारण ही इसे 'पाश' भी कहा गया है।

विशेष—रोधशक्ति पाश पर अधिष्ठित रहती है। फिर भी इसे पाश कहा दिया जाता है। यही औपचारिक प्रयोग है। जैसे कुन्तधारी पुरुष को भी कुन्त कह दिया जाता है।

क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाहरूपेणानादि। यथोक्तं श्रीमत्किरणे–

३२. यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादिर्न संसिद्धं वैचित्र्यं केन हेतुना ॥ इति।

अनुवाद—फलेच्छुक लोग जिसे करते हैं वह कर्म है, यह धर्म-अधर्म रूप है तथा बीजांकुर के समान प्रवाहरूप होने के कारण अनादि है। जैसा कि 'श्रीमत्किरण' ग्रन्थ में कहा गया है—

जिस प्रकार मल अनादि है, उसी प्रकार जीव के थोड़े से कर्म भी अनादि है यदि कर्म का अनादि होना सिद्ध नहीं है तो संसार में विचित्रता क्यों है?

विशेष—बीज तथा अंकुर की परम्परा अनादि है। पहले बीज हुआ या पहले अंकुर—यह कहना असम्भव है। संसार में विविधता का कारण भी प्रत्येक जीव का अनादि कर्म है।

मात्स्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत्सृष्टौ व्यक्तिमायातीति माया। यथोक्तं श्रीमत्सौरभेये-

३३. शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना ॥ इति।

अनुवाद—प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् जिसमें शक्ति के रूप समा जाता है और सृष्टि के समय प्रकट होता है, वह माया है। जैसे कि श्रीमत्सौरभेय नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

महाप्रलय होने पर शक्तिरूप से सभी कार्य उसी में लीन होते हैं और सृष्टि के समय कलादि कार्य के द्वारा वह माया प्रकट होती है।

विशेष—यहाँ तक चारों प्रकार के पाश का वर्णन किया गया है। किन्हीं के मतानुसार पांचवां पाश बिन्दु है, इसका वर्णन पहले हो चुका है।

७. उपसंहार

यद्यप्यत्र बहु व्यक्तव्यमस्ति तथापि ग्रन्थभूयस्त्वभयादुपरम्यते। तदित्थं पतिपशुपाशपदार्थास्त्रयः प्रदर्शिताः।

३४. पतिविद्ये तथाविद्या पशुः पाशश्च कारणम्।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः ॥

इत्यादिना प्रकारान्तरं ज्ञानरत्नावल्यादौ प्रसिद्धम्। सर्वं तत एवावगन्तव्यमिति सर्वं समञ्जसम्।।

अनुवाद—यद्यपि कहने योग्य तो बहुत विषय हैं, लेकिन ग्रन्थ विस्तार के भय से यहीं विराम कर रहे हैं। तो इस प्रकार पति, पशु तथा पाश—ये तीन पदार्थ दिखलाये गये हैं।

पति, विद्या, अविद्या, पशु, पाश और कारण। उस कारण रूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिये ये ६ पदार्थ संक्षेप में बतलाये गये हैं।

इस प्रकार दूसरे तरह से ज्ञान रत्नावली आदि में प्रसिद्ध है। ये सब वहीं से जान लेना चाहिये। इस तरह से सब कुछ ठीक है।

विशेष—ज्ञान रत्नावली के अनुसार ६ पदार्थ बतलाये गये हैं। इनमें छठा पदार्थ कारण ही परमेश्वर है।

॥ इति शैवदर्शनम् ॥

अध्याय-८
प्रत्यभिज्ञा-दर्शनम्

स्वच्छन्दतः सृजति संसृतिमीश्वरोऽयं,
भावान्विभासयति चात्मनि विम्बरूपान्।
अद्वैतरूपविदितं नवतत्त्वमत्र
साक्षात्कृतिं दिशति तत्परमं समीहे ॥ ऋषिः।

१. *प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप*

अत्रापेक्षाविहीनानां जडानां कारणत्वं दुष्यतीत्यपरितुष्यन्तो, मतान्तरमन्विष्यन्तः परमेश्वरेच्छावशादेव जगन्निर्माणं परिघुष्यन्तः, स्वसंवेदनोपपत्त्या आगमसिद्धप्रत्यगात्मतादात्म्ये नानाविधमानमेयादिभेदाभेदशालिपरमेश्वरोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणस्वातन्त्र्यभाक् स्वात्मदर्पणे भावान्प्रतिबिम्बवद् अवभासयतीति भणन्तो, बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामातिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसुलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्ध्युपायमभ्युगच्छन्तः, परे माहेश्वराः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमभ्यस्यन्ति।

अनुवाद—इस शैव दर्शन में अपेक्षाहीन जड़ वस्तुओं को कारण माना गया है—यह दोषपूर्ण है। इसलिये माहेश्वर सम्प्रदाय से भिन्न कुछ लोग इस शैवदर्शन से सन्तुष्ट नहीं है। वे लोग दूसरे मत को खोजते हुए, परमेश्वर की इच्छा से ही जगत् का निर्माण हुआ है—यह घोषणा करते हुए, अपने अनुभव के द्वारा अनुमान करने से और आगम के द्वारा सिद्ध प्रत्यगात्मा के तादात्म्य होने पर नाना प्रकार के मान, मेय आदि भेद से युक्त किसी अन्य की मुख प्रेक्षता से रहित स्वातन्त्र्य को धारण करने वाला परमेश्वर अपने आत्मा रूपी दर्पण में भावों को प्रतिबिम्ब के समान अवभासित करता है—ऐसा कहते हुए बाह्यचर्या, आभ्यन्तर चर्या, प्राणायाम आदि दुःखद प्रयासों से रहित सर्वसुलभ ओर अत्यन्त नवीन प्रत्यभिज्ञामात्र को ही पर और अपर सिद्धि का उपाय मानते हुए प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का अभ्यास करते हैं।

विशेष—यहाँ से प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रारम्भ हो रहा है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के निरूपण के उपोद्घात में शैवदर्शन की निन्दा करते हुए प्रत्यभिज्ञा दर्शन की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है। शैव दर्शन में निरपेक्ष जड़ को कारण माना गया है। किन्तु यह ठीक नहीं। जड़ पदार्थ कारण तभी हो सकता है, जब वह चेतन सापेक्ष हो। जैसे मिट्टी बिना

कुलाल के घट का निर्माण नहीं कर सकती। प्रत्यभिज्ञा के अनुसार परमेश्वर की इच्छा ही जगत् के निर्माण का कारण है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल सिद्धान्त यह है कि ''वह ईश्वर मैं ही हूँ'' यह ज्ञान जीव को उत्पन्न हो। यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान अनुभूतिरूप है। इसी ज्ञान से जीव तथा परमेश्वर के तादात्म्य का अनुभव होता है। यह ज्ञान आगम से होता है। जिस तरह दर्पण में बिम्ब का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी तरह परमेश्वर अपने ही स्वरूप में सृष्टि स्थिति, संहार आदि सभी क्रियाओं को व्यक्त करता है। परमेश्वर स्वतन्त्र है उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे सेवक अपने स्वामी के मुखप्रेक्षण (मुख को देखने) की अपेक्षा रखता है, उस तरह परमेश्वर को किसी का मुख नहीं देखना है। वह तो स्वयं ही स्वामी है। शैव दर्शन में भस्मधारण, प्राणायाम आदि चर्याएँ बतायी गयी थीं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ये सब चर्याएँ नहीं हैं। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन शैवदर्शन से श्रेष्ठ है।

२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का साहित्य

तस्येयत्तापि न्यरूपि परीक्षकैः-

१. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ॥

अनुवाद—उस प्रत्यभिज्ञादर्शनशास्त्र के विस्तार का निरूपण भी परीक्षकों ने किया है—

सूत्र, वृत्ति, विवृति, लघ्वी और बृहती नामक दो विमर्शिनियाँ—ये ५ प्रकार के प्रकरण या विवरण प्रत्यभिज्ञा का शास्त्र हैं।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ये पांच ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सूत्र, वृत्ति तथा विवृत्ति की रचना उत्पलाचार्य ने की है तथा लघु विमर्शिनी एवं बृहद्विमर्शिनी की रचना अभिनवगुप्त ने की है।

उत्पल सोमानन्द के शिष्य थे। सोमानन्द (८५० ई०) ने शिवदृष्टि ग्रन्थ लिखा है। उत्पल के कुल ११ ग्रन्थ हैं, जिनमें ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा टीका, स्तोत्रावली आदि प्रमुख हैं।

उत्पल के पुत्र लक्ष्मण गुप्त थे। लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनव गुप्त थे। अभिनवगुप्त महान् दार्शनिक, साहित्यिक तथा आगमिक थे। इनकी ध्वन्यालोक पर लोचनटीका तथा भरत नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती प्रसिद्ध रचना है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—म लिनी विजयवार्तिक, परा त्रिंशिका विवृति, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, विवृत विमर्शिनी आदि।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के कुछ अन्य प्रमुख आचार्य निम्नलिखित हैं—

वसुगुप्त (८२५ ई०) — शिवसूत्र, स्पन्दामृत, सिद्धान्त चन्द्रिका आदि।

रामकण्ठ (९५० ई०) — स्पन्दविवरणसारमात्र

कल्लट (८५५ ई०) — स्कन्द सर्वस्व, तत्त्वार्थ चिन्तामणि
क्षेमराज (९७५ ई०) — स्पन्द सन्दोह, स्पन्द निर्णय, प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवसूत्र विमर्शिनी।
योगराज (१०७५ ई०) — विवृत्ति (परमार्थ सार पर)
सुभट दत्त (१२०० ई०) — तन्त्रालोक की टीका
भास्करकण्ठ (१७५० ई०)—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी पर भास्करी टीका

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ही दूसरा नाम त्रिक दर्शन भी है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सिद्धा, नामक तथा मालिनी—इन तीन पदार्थों की प्रधानता होने के कारण इसका नाम त्रिकदर्शन पड़ा है या फिर यह भी कहा जा सकता है कि पर, अपर तथा परापर—इन तीन पदार्थों की प्रधानता के कारण इसका नाम त्रिकदर्शन है। काश्मीर में अधिक प्रचार-प्रसार तथा ग्रन्थलेखन होने के कारण इस दर्शन का नाम काश्मीरी शैवदर्शन भी है।

३. *प्रथम सूत्र की व्याख्या*

तत्रेदं प्रथम सूत्रम्–

२. **कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।**
समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।। इति।

अनुवाद—उसमें यह प्रथम सूत्र है—

किसी तरह से भगवान् महेश्वर का दासभाव प्राप्त करके और लोगों का उपकार करने की इच्छा से मैं समस्त सम्पत्ति की प्राप्ति के कारण प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन कर रहा हूँ।

विशेष—यह श्लोक आचार्य अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का प्रथम श्लोक है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भगवान् शिव की दासता को स्वीकार करने का अत्यधिक महत्त्व बतलाया गया है।

अब आगे के ग्रन्थ में इसी श्लोक की व्याख्या की जायेगी।

कथञ्चिदिति–परमेश्वराभिन्नगुरुचरणारविन्दयुगलसमाराधनेन परमेश्वर-घटितेन एवेत्यर्थः। आसाद्येति–आ समन्तात्परिपूर्णतया सादयित्वा, स्वात्मोपभोग्यतां निर्गलां गमयित्वा। तदनेन विदितवेद्यत्वेन परार्थशास्त्रकरणेऽधिकारो दर्शितः। अन्यथा प्रतारणमेव प्रसज्येत।

अनुवाद—कथञ्चित् का तात्पर्य है—परमेश्वर से अभिन्न गुरु के चरणारविन्द युगल की आराधना करने से, जो आराधना परमेश्वर घटित ही है। आसाद्य का अर्थ है—'आ' समन्तात् अर्थात् परिपूर्ण रूप से 'सादयित्वा' अर्थात् प्राप्त करके या अप्रतिहत रूप से अपने आत्मा की उपभोग्यता को दिखाकर। इस प्रकार विदित वेद्य होने के कारण परोपयोगी शास्त्र के निर्माण में अधिकार दिखलाया गया है। अन्यथा केवल ठगना ही होगा।

विशेष—गुरु तथा परमेश्वर मे कोई भेद नहीं है। अत: गुरु की आराधना परमेश्वर की ही आराधना है। परमेश्वर की आराधना से ही उसकी दासता मिलती है। जीव परमेश्वर का दास है। अत: उसे परमेश्वर की दासता प्राप्ति करने के लिये बिना किसी रुकावट के अपनी आत्मा को उपभोग योग्य बनाना पड़ता है। आत्मा का उपभोक्ता परमेश्वर है। परमेश्वर की आराधना से जब जीव समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह इस परोपयोगी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अधिकारी बनता है।

मायोत्तीर्णा अपि महामायाधिकृता विष्णुविरिञ्च्याद्या यदीयैश्वर्यलेशेन ईश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः। तस्य दास्यम्। दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासः। परमेश्वरस्वरूपस्वातन्त्र्यपात्र-मित्यर्थः।

अनुवाद—माया से पार किन्तु महामाया के अधीन रहने वाले विष्णु, ब्रह्मा आदि जिसके ऐश्वर्य के लेश से ईश्वर रूप हैं, वह भगवान् अनवच्छिन्न (अनावृत्त) प्रकाश, आनन्द तथा स्वातन्त्र से युक्त परम तत्त्व महेश्वर हैं। उनकी दासता। जिसके स्वामी सब इच्छित प्रदान करते हैं, वह दास है। तात्पर्य है कि परमेश्वर रूपी स्वतन्त्रता का जो पात्र है, वह दास है।

विशेष—भगवान् महेश्वर का प्रकाश किसी से घिरा नहीं है अर्थात् अवच्छिन्न नहीं है, अपितु भगवान् महेश्वर के प्रकाश से ही समस्त लोक अवच्छिन्न है। भगवान् महेश्वर के स्वरूप में तीन पदार्थ हैं—प्रकाश, आनन्द तथा स्वातन्त्र्य।

जनशब्देनाधिकारिविषयनियमाभावः प्रादर्शि। यस्य यस्य हीदं स्वरूपकथनं तस्य तस्य महाफलं भवति। प्रज्ञानस्यैव परमार्थफलत्वात्। तथोपदिष्टं शिवदृष्टौ परमगुरुभिर्भगवत्सोमानन्दनाथपादैः–

३. **एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।**
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥
४. **करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा।**
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्॥ इति।

अनुवाद—'जन' शब्द से अधिकारी के नियम का अभाव दिखलाया गया है। जिस जिस व्यक्ति को भगवान् महेश्वर के इस स्वरूप का कथन होता है, उसको उसको महान् फल प्राप्त होता है। श्रेष्ठ ज्ञान (प्रज्ञान) ही परमार्थ का फल है। परमगुरु भगवान् सोमानन्दनाथ पाद से शिवदृष्टि ग्रन्थ में इस प्रकार उपदेश दिया है—

एक बार प्रमाण के द्वारा, शास्त्र के द्वारा या गुरु वाक्य के द्वारा दृढ़ विश्वास से सभी जीवों में स्थित शिव तत्त्व के ज्ञात हो जाने पर किसी करण (साधन) में किसी भावना

में कोई प्रयोजन नहीं रहता है। जैसे सुवर्ण का ज्ञान होने पर करण या भावना को छोड़ दिया जाता है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सभी का अधिकार है—यही बात श्लोकस्थ जन शब्द से द्योतित होती है। प्रज्ञान में सभी का अधिकार है। एक बार ज्ञान हो जाने पर फिर साधन का कोई काम नहीं रहता। साध्य के मिल जाने पर साधन की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। जैसे किसी सुवर्ण की तरह चमकदार पदार्थ में किसी व्यक्ति को संदेह होता है कि यह सुवर्ण है या नहीं। फिर साधनों (उपायों) से यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह सुवर्ण ही है। इस तरह एक सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर फिर से कोई व्यक्ति उसको नहीं परखता है, वैसे ही ज्ञान हो जाने पर साधन की कोई जरूरत नहीं रहती है।

३. क. 'अपि' और 'उप' शब्दों के अर्थ

अपिशब्देन स्वात्मनस्तदभिन्नतामाविष्कुर्वता पूर्णत्वेन स्वात्मनि परार्थ-सम्पत्त्यतिरिक्तप्रयोजनान्तरावकाशश्च पराकृतः। परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव। तल्लक्षणयोगात्। न ह्ययं देवशापः 'स्वार्थ एव प्रयोजनं न परार्थ' इति। अत एवोक्तमक्षपादेन–'यमर्थधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्- (गौ० सू० १.१.२४) इति।

अनुवाद—अपि शब्द के द्वारा अपनी आत्मा का उस परमात्मा से अभिन्नता बनाने वाले पूर्णत्व के साथ अपनी आत्मा में परोपकार सम्पादन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजन को दूर किया गया है। परोपकार तो प्रयोजन होता ही है। क्योंकि उसका लक्षण प्राप्त हो जाता है। यह किसी देवता का शाप नहीं है कि स्वार्थ ही प्रयोजन है, परोपकार नहीं। इसलिये अक्षपाद ने कहा है—जिसको उद्देश्य करके प्रवृत्त होते हैं, वही प्रयोजन है। (गौ०सू० १.१.२४)

विशेष—श्लोकस्थ अपि शब्द से यह द्योतित होता है कि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रयोजन स्वार्थ नहीं है बल्कि परोपकार है। परोपकार के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन इस शास्त्र का नहीं है—यह बात अपि शब्द से द्योतित होती है।

उपशब्दः सामीप्यार्थः। तेन जनस्य परमेश्वरसमीपताकरणमात्रं फलम् अत एवाह–समस्तेति। परमेश्वरतालाभे हि सर्वाः सम्पदस्तन्निष्यन्दमय्यः सम्पन्ना एव, रोहणाचललाभे रत्नसम्पद इव। एवं परमेश्वरतालाभे किमन्यत्प्रार्थनीयम्?

अनुवाद—उप शब्द का अर्थ है—समीप आना। इसलिये प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का फल यही है कि मनुष्य को परमेश्वर के समीप कर देना। इसीलिये कहा गया है—समस्त-सम्पत्समवाप्तिहेतुम्। परमेश्वत्व की प्राप्ति होने पर सभी सम्पत्तियाँ परमेश्वर की प्राप्ति होने पर सभी सम्पत्तियाँ परमेश्वर का निष्पन्द (प्रवाह) रूप होकर प्राप्त हो जाती है, जिस प्रकार

रोहणाचल का लाभ होने पर समस्त रत्नसम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस तरह परमेश्वर की प्राप्ति होने पर और किस वस्तु की इच्छा होती है?

विशेष—सुवर्णमय सुमेरु पर्वत को रोहणाचल कहा जाता है। इसमें अनेक रत्न भरे रहते हैं। रोहणाचल के प्राप्त होने पर समस्त रत्न भी प्राप्त हो जाते हैं।

तदुक्तमुत्पलाचार्यैः-

६. भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥ इति।

इत्थं षष्ठीसमासपक्षे प्रयोजनं निर्दिष्टम्। बहुव्रीहिपक्षे तूपपादयामः।

अनुवाद—जैसा कि उत्पलाचार्य ने कहा है—भक्तिरूपी लक्ष्मी से समृद्ध व्यक्ति किस अन्य वस्तु की याचना करते हैं (अर्थात् किसी वस्तु की याचना नहीं करते) और भक्तिरूपी लक्ष्मी से रहित व्यक्ति कौन सी वस्तु देते हैं (अर्थात् कुछ भी नहीं देते)

इस प्रकार षष्ठी समास के पक्ष में प्रयोजन निर्दिष्ट है। बहुव्रीहिसमास के पक्ष को हम लोग प्रतिपादन कर रहे हैं।

विशेष—जो भक्त है वह किसी से कुछ मांगता नहीं, क्योंकि वह तो आप्तकाम रहता है। इसके विपरीत जो भक्त नहीं है, वह किसी को कुछ भी नहीं देता बल्कि मांगता ही रहता है।

'समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं' इस पद में तत्पुरुष समास होगा-समस्तायाः सम्पदः समवाप्तेः हेतुः तम्। यहाँ 'समस्तसम्पत् की प्राप्ति' का हेतु प्रत्यभिज्ञा को बतलाया गया है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का प्रयोजन सम्पत् प्राप्ति है।

समस्तस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नित्यसुखादेर्या सम्पत्सिद्धिः तथात्वप्रकाशः, तस्याः सम्यगवाप्तिर्यस्याः प्रत्यभिज्ञायाः हेतुः सा तथोक्ता। तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा, प्रति आभिमुख्येन, ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसन्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्ध-पुराणसिद्धागमानुमानादिज्ञातपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मनि अभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति नूनं स एवेश्वरोऽहमिति।

अनुवाद—समस्त बाह्य और आन्तरिक नित्यसुख आदि की जो सम्पत्ति या सिद्धि है, उस सिद्धि का वैसा ही प्रकाश अर्थात् उसकी प्राप्ति जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु है, वह प्रत्यभिज्ञा। उन भगवान् महेश्वर की प्रत्याभिज्ञा अर्थात् उनका ज्ञान। लोक में "यह वही चैत्र है" इस प्रकार प्रतिसन्धान करके अर्थात् अभिमुख वस्तु का जो ज्ञान है वही प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। यहाँ भी प्रसिद्ध अर्थात् पुराणों में प्रसिद्ध, आगम (शब्द), अनुमान आदि के द्वारा ज्ञात परिपूर्ण शक्ति वाले परमेश्वर के अपनी ओर अभिमुख होने पर उनकी शक्ति के प्रति सन्धान से ज्ञान उत्पन्न होता है कि निश्चित ही वह ईश्वर मैं ही हूँ।

विशेष—"समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुम्" में बहुव्रीहि समास करने पर यह अर्थ होता है कि प्रत्यभिज्ञा का हेतु सम्पत्प्राप्ति है। वस्तुतः यहाँ भी प्रयोजन को ही हेतु बताया गया है।

जीव यह भूल जाता है कि मैं ही परमेश्वर हूँ। उसे आगमादि के द्वारा ज्ञान होता है कि "मैं ही परमेश्वर हूँ।" यह ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा है।

तामेतां प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि। उपपत्तिः सम्भवः, सम्भवतीति। तत्समर्थाचरणेन प्रयोजकव्यापारेण सम्पादयामीत्यर्थः।

अनुवाद—उस इस प्रत्यभिज्ञा का मैं उपपादन कर रहा हूँ। उपपत्ति का अर्थ है—उत्पन्न होना या उत्पन्न होता है। शास्त्र प्रतिपादन में समर्थ आचरण के द्वारा अर्थात् प्रयोजक व्यापार के द्वारा सम्पन्न कर रहा हूँ—यह अर्थ है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रतिपादन करने का जो प्रयोजक कारण है, वही प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्रतिपादन में समर्थ आचरण है।

जैसे ठण्डी के समय में अग्नि के समीप अध्ययन करने वाले छात्र को अध्ययन में अग्नि के द्वारा सहायता होती है। अतः अग्नि का ताप छात्र को अध्ययन में समर्थ बनाता है। यही प्रयोजक व्यापार भी कहलाता है।

४. प्रत्यभिज्ञा के प्रदर्शन की आवश्यकता

यदीश्वरस्वभाव एवात्मा प्रकाशते, तर्हि किमनेन प्रत्यभिज्ञाप्रदर्शनप्रयासेनेति चेत्–तत्रायं समाधिः। स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते।

अनुवाद—यदि यह प्रश्न हो कि ईश्वर के स्वभाववाला ही आत्मा प्रकाशित होता है, तो फिर इस प्रत्यभिज्ञा को दिखलाने का परिश्रम करके क्या लाभ है यदि यह कहा जाये तो इसका समाधान यह है कि स्वप्रकाश होने के कारण यद्यपि आत्मा सदा प्रकाशित होता है। किन्तु माया के कारण आत्मा का एक भाग ही प्रकाशित होता है। अतः, आत्मा के पूर्ण प्रकाश के लिये दृक् शक्ति तथा क्रियाशक्ति को प्रकट करके प्रत्यभिज्ञा दिखलाई जाती है।

विशेष—माया के द्वारा जीव का पूर्ण चैतन्य छिप जाता है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति के द्वारा जीव को उसका पूर्ण स्वरूप दिखला देता है।

तथा च प्रयोगः 'अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वरवद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाता कर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम्' इति। अवयवपञ्चकस्याश्रयणं मायावदेव नैयायिकमतस्य कक्षीकारात्।

अनुवाद—जैसा कि प्रयोग है—यह आत्मा परमेश्वर हो सकता है, ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण। जो जितने का ज्ञाता तथा कर्ता है वह उसने का ईश्वर है। जैसे—सुप्रसिद्ध ईश्वर तथा सुप्रसिद्ध राजा। आत्मा विश्व का ज्ञाता तथा कर्ता है। अत: यह आत्मा ईश्वर है। हमने नैयायिक मत को स्वीकार करने के कारण इन पांच अवयवों का आश्रय लिया है, जैसे कि हमने अद्वैत वेदान्त का आश्रय लेकर माया को स्वीकार किया है।

विशेष—न्याय दर्शन में अनुमान के दो भेद किये गये हैं—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। परार्थानुमान में पांच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। प्रस्तुत में प्रयुक्त पांच अवयव इस प्रकार हैं—

१. प्रतिज्ञा—आत्मा परमेश्वर है।

२. हेतु—ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण।

उदाहरण—जो जितने का ज्ञाता तथा कर्ता है, वह ईश्वर है जैसे प्रसिद्ध ईश्वर या राजा।

उपनय—आत्मा ज्ञाता तथा कर्ता है।

निगमन—अत: वह ईश्वर है।

तदुक्तमुदयाकरसूनुना-

७. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ॥

८. किं तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥

अनुवाद—जैसा कि उदयाकर के पुत्र ने कहा है—कर्ता तथा ज्ञाता यह जीवात्मा आदि सिद्ध महेश्वर ही है। अत: ऐसा कौन बुद्धिमान् व्यक्ति होगा, जो इनका निषेध करे या सिद्धि करे।

किन्तु मोह के कारण यह आत्मा दिखलाई तो देता है किन्तु पहचान में नहीं आता। शक्ति का आविष्कार करने के माध्यम से ही यह प्रत्यभिज्ञा दिखलाई जाती है।

विशेष—जीवात्मा ही ईश्वर है—यह बात सिद्ध है। अत: इसका निषेध करना उचित नहीं है। सिद्ध वस्तु को पुन: सिद्ध करना भी पिष्टपेषण ही है। अत: पुन: सिद्ध करना भी अनुचित है। केवल मोह के कारण जो दृष्टि पर पर्दा पड़ा रहता है, उसे प्रत्यभिज्ञा के द्वारा हटा दिया जाता है। प्रत्यभिज्ञा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का आविष्कार करके इस अज्ञान के पर्दे को हटाती है।

५. ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति

तथा हि–

९. **सर्वेषामिह भूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।**
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्॥

१०. **तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं क्रिया कार्याश्रिता सती।**
परैरप्युपलक्ष्येत तथान्यज्ञानमुच्यते॥ इति।

११. **या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूपिता।**
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ इति च।

अनुवाद—जैसे कि—इस संसार में सभी प्राणियों की प्रतिष्ठा जीवों पर ही आश्रित है। ज्ञान तथा क्रिया ही सभी जीवित प्राणियों का जीवन कहा गया है।

उसमें ज्ञान स्वतः सिद्ध है तथा क्रिया कार्य पर आश्रित रहती है। इस क्रिया को अन्य लोग भी जान सकते हैं तथा अन्य लोगों के ज्ञान को भी अन्य लोग जान सकते हैं।

यह प्रतिभा (ज्ञानशक्ति) पदार्थों के क्रम के अनुसार निरूपित होती है। क्रम से रहित आनन्द तथा चिद्रूपी प्रमाता ही वह महेश्वर है।

विशेष—कार्य के द्वारा क्रिया शक्ति का अनुमान होता है। ज्ञानशक्ति को ही प्रतिभा भी कहा जाता है।

सोमानन्दनाथपादैरपि–

सदा शिवात्मना वेत्ति सदा वेत्ति मदात्मना। इत्यादि।

ज्ञानाधिकारपरिसमाप्तावपि–

१२. **तदैक्येन विना नास्ति संविदां लोकपद्धतिः।**
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः॥

१३. **स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।**
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः॥ इति।

अनुवाद—सोमानन्दनाथ पाद ने भी कहा है—

(योगी) अपने को सदा शिवरूप में जानता है तथा स्वयं को सदा आत्मरूप में जानता है। इत्यादि।

'ज्ञानाधिकारपरिसमाप्ति' में भी कहा गया है—आत्मा तथा परमेश्वर की एकता के बिना सभी ज्ञानों का लौकिक प्रयोग नहीं हो सकता है। आत्मा के प्रकाश तथा परमेश्वर के प्रकाश में एकता होने के कारण ये दोनों (आत्मा तथा परमेश्वर) एक ही हैं। इस प्रकार प्रमाता एक ही है—यह वस्तु स्थिति है।

वही प्रकाश एक निश्चित विमर्श के कारण महेश्वर कहलाता है। परमात्म विमर्श ही शुद्ध ज्ञान शक्ति और शुद्ध क्रियाशक्ति है।

विशेष—सायणमाधवाचार्य अनेक उद्धरणों को प्रस्तुत करके यह सिद्ध क हैं कि आत्मा तथा परमेश्वर का तादात्म्य है।

६. वस्तुओं का प्रकाशन-आभासवाद

विवृतं चाभिनवगुप्ताचार्यैः। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भा सर्वमिदं विभाति' (काठक० २.२) इति श्रुत्या प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्व भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते। ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाशः पीतप्रका इति विषयोपरागभेदाद्भेदः। वस्तुतस्तु देशकालाकारसंकोचवैकल्यादभेद एव। एव चैतन्यरूपः प्रकाशः प्रमातेत्युच्यते।

अनुवाद—अभिनवगुप्ताचार्य ने इसकी व्याख्या भी की है। उसी प्रकाशमान् सभी अनुप्रकाशन करते हैं, उसके प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित होता है। (काठक २.२) इस श्रुति से यह स्वीकृत होता है कि प्रकाशरूप चिद्रूप की महिमा से सभी पद का प्रकाशकत्व है। फिर विषय प्रकाश के ही नील प्रकाश, पीतप्रकाश इत्यादि विषयों सम्पर्क के भेद से ही भेद होता है। वस्तुतः देश-काल तथा आकार का संकोच न हे से अभेद ही है। वही चैतन्यरूप प्रकाश प्रमाता कहलाता है।

विशेष—'अनुप्रकाशन का तात्पर्य है—पीछे-पीछे प्रकाशित होना। जैसे स्वयं प्रकाश है तथा दूसरों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार चित् भी स्वयं प्रका तथा अन्य प्रकाशक हैं। प्रकाश रूप वह चित् एक ही है, किन्तु विषय के प्रकाश से उस अनेक भेद हो जाते हैं।

तथा च पठितं शिवसूत्रेषु-'चैतन्यमात्मा' (१.१) इति। तस्य चिद्रूपत्वमन वच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वमानन्दैकघनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः। स एव भावात्मा विमर्शः शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। तत्र प्रकाशरूपता ज्ञानम्। स्वतो जगन्निर्मातृत्वं क्रिया।

अनुवाद—जैसा कि शिवसूत्रों में कहा गया है—चैतन्य ही आत्मा है। (१.१ उसी का पर्याय है—चिद्रूपत्व, अनवच्छिन्न विमर्शत्व, अनन्योन्मुखत्व आनन्दैकघनत्व, माहेश्वर्य इत्यादि। वही यह भावरूप विमर्श है, जो शुद्ध तथा पारमार्थि ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति है। उसमें स्वयं प्रकाशरूप होना ही ज्ञान है। स्वतः जगत का निर्माण करना ही क्रिया है।

विशेष—'अन्योन्मुखत्व' का अर्थ है—एक-दूसरे पर निर्भर न रहना। यह विमर्श देश-कालादि से अवच्छिन्न नहीं है।

तच्च निरूपितं क्रियाधिकारे-

१४. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषां क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥ इति।

उपसंहारेऽपि-

१५. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया ॥ इति।

अनुवाद—यह बात क्रियाधिकार में बतलायी गयी है—यह महेश्वर अपनी अनन्त शक्ति के कारण इस प्रकार इन भावों को प्रकाशित करता है। अपनी इच्छा के कारण इन पदार्थों का निर्माण करना ही उसकी क्रिया है।

उपसंहार में भी (कहा गया है)—इस प्रकार घट-पट आदि आकार वाले जगत् के रूप से स्थित रहने वाले हेतुकर्ता उस परमेश्वर की इच्छा ही क्रिया है।

विशेष—भगवान् महेश्वर सभी के हेतुकर्ता हैं अर्थात् प्रयोजककर्ता हैं। प्रयोजक का अर्थ कारयिता (करवाने वाला)। कहते भी हैं—कर्ता कारयिता शिवः।

७. *ईश्वर की इच्छा से संसारोत्पत्ति*

१६. तस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणताऽपि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते ॥

इति न्यायेन यतो जडस्य न कारणता न वाऽनीश्वरस्य चेतनस्यापि, तस्मात्तेन तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकारतत्तद्भेदक्रियासहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यत इति।

अनुवाद—उसके होने पर यह होगा—इस प्रकार की जो कार्यकारणता (कार्यकारण सम्बन्ध) है, वह अपेक्षारहित जड़वस्तु पर लागू नहीं होता।

इस न्याय से चूंकि जड़ वस्तु की कारणता नहीं होती, न ही ईश्वरातिरिक्त किसी चेतन की जगत्कारणता है। इस कारण उन हजारों क्रियाओं के रूप में, जो क्रिया जगत् के जन्म, स्थिति आदि भाव विकार तथा उनके भेद रूप है, उस क्रिया के रूप में स्थिर रहने की इच्छावाले स्वतन्त्र भगवान् महेश्वर की इच्छा ही निरन्तर बढ़ते हुए स्वभाव वाली क्रिया है या इसे ही विश्वकर्तृत्व कहा जाता है।

विशेष—ईश्वर की इच्छा ही क्रिया कहलाती है, क्योंकि वह समस्त क्रियाओं के रूप में स्थित रहता है। भावविकार छः प्रकार के होते हैं—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। इन भावविकारों के कारण ही ईश्वर की इच्छा निरन्तर बढ़ती जाती है।

'चूँकि जड़ वस्तु कारण नहीं हो सकती है। न ही ईश्वर के अलावा और कोई चेतन जगत् का कारण हो सकता है। अतः ईश्वर ही जगत् का कारण सिद्ध होता है।

इच्छामात्रेण जगन्निर्माणमित्यत्र दृष्टान्तोऽपि स्पष्टं निर्दिष्टः-

१७. **योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।**
घटादि जायते तत्तत्स्थिरभावक्रियाकरम्।। इति।

यदि घटादिकं प्रति मृदाद्येव परमार्थतः कारणं स्यात्तर्हि कथं योगीच्छामात्रे घटादिजन्म स्यात्? अथोच्येत-अन्य एव मृद्बीजादिजन्या घटाङ्कुरादयो, योगीच्छाजन्यास्त्वन्य एवेति। तत्रापि बोध्यसे-सामग्रीभेदात्तावत्कार्यभेद इति सर्वजनप्रसिद्धम्।

अनुवाद—केवल इच्छा से ही जगत् का निर्माण होता है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से दृष्टान्त भी दिखाया गया है—

योगियों द्वारा बिना मिट्टी तथा बीज के केवल इच्छा मात्र से ही जिस घटादि की उत्पत्ति होती है, वह लौकिक स्थिर भाव (मिट्टी आदि) तथा क्रिया से भी होता है।

यदि घटादि के प्रति मिट्टी आदि ही वास्तव में कारण होंगे, तो केवल योगियों की इच्छामात्र से ही घटादि का जन्म क्यों होगा? अब कहते हैं—मिट्टी तथा बीज से उत्पन्न घटाङ्कुर आदि भिन्न ही हैं तथा योगी की इच्छा से उत्पन्न घटाङ्कुर आदि भिन्न ही हैं।

उसमें भी यह जानना चाहिये कि सामग्री के भेद से कार्य में भेद होता है। यह बात सर्वजनप्रसिद्ध है।

विशेष—जैसे योगी इच्छा मात्र से निर्माण करते हें, वैसे ही ईश्वर भी इच्छामात्र से जगत् का निर्माण करता है।

८. उपादान कारण और पदार्थों की उत्पत्ति

ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिरिति, योगी त्विच्छया परमाणून्व्यापारयन् संघटयतीति तेऽपि बोधनीयाः। यदि परिदृष्टकार्यकारणभावविपर्ययो न लभ्येत तर्हि घटे मृद्दण्डचक्रादिदेहे स्त्रीपुरुषसंयोगादि सर्वमपेक्ष्येत। तथा च योगीच्छासमनन्तरसंजातघटदेहादिसंभवो दुःसमर्थ एव स्यात्।

अनुवाद—जो यह कहते हैं कि उपादान के बिना घटादि की उत्पत्ति नहीं होती है, योगी अपनी इच्छा से परमाणुओं में व्यापार उत्पन्न कर उन्हें जोड़ता है, उन लोगों को भी समझाना चाहिये। यदि दृष्ट कार्यकारणभाव का अभाव नहीं दिखाई देता तो घट के लिये मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि तथा देह के लिये स्त्री-पुरुष संयोग आदि सभी की अपेक्षा होती। फिर योगी की इच्छा के तुरन्त बाद होने वाले घट, देह आदि की उत्पत्ति असम्भव ही हो जायेगी।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि कार्यकारण भाव से ही सर्वत्र कार्योत्पत्ति होती है। बिना उपादान कारण के कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं

कि योगियों की इच्छामात्र से तुरन्त कार्य हो जाता है। उपादान की वहाँ आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि उपादान को ही कारण मान लें, तो योगी की इच्छा से घटादि की उत्पत्ति मानना सम्भव ही नहीं होगा।

चेतन एव तु तथा भाति, भगवान् भूरिभगो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लङ्घनतरस्वातन्त्र्य इति पक्षे न काचिदनुपपत्तिः। अत एवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः-

१८. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥ इति।

अनुवाद—यह अनुपपत्ति केवल चेतन पदार्थ में ही हो सकती है, अत्यधिक ऐश्वर्यवाले भगवान् महादेव नियति का अनुसरण अथवा उल्लंघन करने में स्वतंत्र हैं—इस पक्ष में कोई अनुपपत्ति नहीं है। अतः वसुगुप्ताचार्यों ने कहा है—

जो परमात्मा बिना किसी उपादान समूह के बिना दीवार के ही इस विचित्र संसार को बनाते हैं, उन कलाओं के स्वामी, त्रिशूलधारी शिव को नमस्कार है।

विशेष—योगी के द्वारा इच्छामात्र से जगत् की रचना में अनुपपत्ति तो जरूर है, किन्तु भगवान् शिव के द्वारा इच्छामात्र से जगत् की रचना में अनुपपत्ति नहीं है।

चित्रकार तो भित्ति आदि के आधार पर चित्र बनाता है, लेकिन भगवान् शिव बिना आधार के ही जगत् बना देते हैं।

९. विभिन्न प्रश्न-जीव और संसार का सम्बन्ध

ननु प्रत्यगात्मनः परमेश्वराभिन्नत्वे संसारसम्बन्धः कथं भवेदिति चेत्-तत्रोक्तमागमाधिकारे-

१९. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते॥ इति।

अनुवाद—प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) परमेश्वर से अभिन्न है, तो उसका संसार से सम्बन्ध कैसे होता है? यदि ऐसा कहें, तो इस विषय में 'आगमाधिकार' में कहा गया है—

यह प्रमाता (जीवात्मा या प्रत्यगात्मा) माया से अन्धा होकर कर्म के बन्धन में पड़कर संसार में रहता है। उसे विद्यादि के द्वारा ऐश्वर्य का ज्ञान होने पर वह चित् से युक्त होकर मुक्त होता है।

विशेष—इस प्रकार जीव परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी बन्धन में पड़ता है तथा मुक्त होता है।

९. क. प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त में भेद

ननु प्रमेयस्य प्रमात्रभिन्नत्वे बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को विशेषः? अत्राप्युत्तरमुक्तं तत्त्वार्थसंग्रहाधिकारे-

२०. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥ इति।

अनुवाद—फिर प्रमेय को प्रमाता से अभिन्न मानने पर बद्ध मुक्त जीव का प्रमेय के साथ क्या विशेष (भेद) है? इसका उत्तर तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार में कहा गया है—

मुक्त जीव भगवान् महेश्वर के समान सभी मेय पदार्थों को अपनी आत्मा से अभिन्न साधारण मानता है। जबकि बद्ध जीव मेय पदार्थों को अत्यन्त भिन्न समझता है।

विशेष—सभी प्रमेय ईश्वर से अभिन्न हैं तथा ईश्वर जीव से अभिन्न है। इस स्थिति में जीव (प्रमाता) तथा प्रमेय में कोई भेद नहीं रह जायेगा। इसका यह समाधान दिया गया है कि मुक्त जीव तो सभी प्रमेयों को अभिन्न समझता है, परन्तु बद्ध जीव प्रमेय में भेद देखता है। इस प्रकार बद्ध जीव के कारण भेद मानना पड़ता है।

१०. प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता–अर्थक्रिया में भेद

ननु आत्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञाप्रार्थनया। न हि बीजमप्रतिज्ञातं सति सहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। तस्मात्कस्माद्वात्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्ध इति चेत्–

उच्यते। शृणु तावदिदं रहस्यम्। द्विविधा ह्यर्थक्रिया–बाह्याङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते। द्वितीया तु तदपेक्षत एव।

अनुवाद—यदि आत्मा का परमेश्वरत्व (परमेश्वर हो जाना) स्वाभाविक गुण है, तो प्रत्यभिज्ञा की प्रार्थना करने से कोई लाभ नहीं है। बीज ज्ञात न होने पर सहकारियों की सहायता मिलने पर अंकुर उत्पन्न नहीं करता, ऐसा नहीं है। (अर्थात् अज्ञात बीज भी सहकारि सहायता मिलने पर अंकुर उत्पन्न करता ही है)। तो फिर किसलिये आत्मा के प्रत्यभिज्ञान में इतना आग्रह है यदि ऐसा कहें तो कहते हैं, सुनिये यह रहस्य। अर्थ क्रिया दो प्रकार की है—बाह्य अंकुर आदि रूपा तथा प्रमाता को विश्रान्तिरूप आनन्द देने वाली प्रेमरूपा। उसमें पहली प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा नहीं करती, लेकिन दूसरी तो उसकी अपेक्षा करती है।

विशेष—बाह्य अर्थ क्रिया के लिये सहकारी कारण की तो अपेक्षा होती है लेकिन उस सहकारी क्रिया के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। जैसे अंकुर के सहकारी कारण होने पर वह बीज अपने आप ही अंकुर उत्पन्न करता है, भले ही बीज या उनके सहकारी कारणों का किसी को ज्ञान न हो। लेकिन आन्तरिक अर्थ क्रिया जैसे प्रेम, दुःख, आनन्द आदि संवेगों को सहकारी कारण के ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे किसी व्यक्ति को पुत्र होने पर भी उसे तब तक आनन्द नहीं होता, जब तक कि उसे यह ज्ञान

नहीं होता कि मुझे पुत्र हुआ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रत्यभिज्ञा दूसरे प्रकार की आन्तरिक क्रिया की पोषक है।

इहाप्यहमीश्वर इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षणजीवात्मैकत्वशक्तिविभूतिरूपार्थक्रियेति स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमपेक्षणीयम्।

ननु प्रमातृविश्रान्तिसाराऽर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना अदृष्टा सती तस्मिन्दृष्टेति क्व दृष्टम्? अत्रोच्यते–नायकगुणगणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा काचन कामिनी मदनविह्वला विरहक्लेशमसहमाना मदनलेखावलम्बनेन स्वावस्थानिवेदनानि विधत्ते। तथा वेगात्तन्निकटमटन्त्यपि तस्मिन्नवलोकितेऽपितदवलोकनं तदीयगुणपरामर्शाभावे जनसाधारणत्वं प्राप्ते हृदयङ्गमभावं न लभते। यदा तु दूतीवचनात् तदीयगुणपरामर्शं करोति तदा तत्क्षणमेव पूर्णभावमभ्येति।

अनुवाद—यहाँ भी "मैं ईश्वर हूँ" इस प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण, परापरसिद्धि रूप जीव तथा ईश्वर की एकत्वशक्ति की विभूति रूपा अर्थ क्रिया है, इसलिये स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा है।

यदि यह कहें कि प्रमाता को आनन्द देने वाली अर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञान के बिना दिखाई नहीं देती और प्रत्यभिज्ञान होने पर ही दिखाई देती है—ऐसा कहाँ देखा गया है? इस पर कहते हैं—

जैसे नायक के गुणों को सुनने से बढ़े अनुरागवाली कोई नायिका काम से विह्वल होकर नायक के विरह-क्लेश को सहन न करते हुए प्रेम पत्र के माध्यम से अपनी विरहावस्था का निवेदन नायक को करती है। उसी प्रकार वह नायिका प्रेमावेग के कारण नायक के निकट घूमते हुए उसे देखकर भी नायक के गुणों को न जानने के कारण नायक के दर्शन को साधारण मानकर उसे हृदयंगम नहीं कर पाती है। लेकिन जब दूती के वचन से उसके गुणों का ज्ञान करती है, तब तत्क्षण ही पूर्णता को प्राप्त कर लेती है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा दर्शन आभ्यन्तर अन्त:क्रिया को उत्पन्न करता है। जैसे कोई नायिका नायक को जानती है, दूती के द्वारा उसके गुणों का भी ज्ञान करती है। किन्तु नायक को पहचान न पाने से उसे देखकर भी उसे साधारण पुरुष मान लेती है। बाद में जब दूती के द्वारा उसे नायक का प्रत्यभिज्ञान होता है, तब उसका प्रयोजन परिपूर्ण होता है। इसी प्रकार चित्र में जो आनन्द रूपा या जीवब्रह्मैक्य रूपा आभ्यन्तर क्रिया है, वह प्रत्यभिज्ञा द्वारा ही सम्भव है। इसका दृष्ट या लौकिक उदाहरण यहाँ बताया गया है।

एवं स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये पूर्णभावं न सम्पादयति। यदा तु गुरुवचनादिना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वातिलक्षणपरमेश्वरोत्कर्षपरामर्शो जायते तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मतालाभः।

अनुवाद—इसी प्रकार आत्मा में विश्वेश्वर रूप भासित होने पर भी उनके प्रकाशन का पूर्ण भाव तब तक नहीं होता, जब तक उनके गुणों का ज्ञान नहीं होता। लेकिन जब गुरुवचनों के द्वारा सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि रूप परमेश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान होता है, तब उसी क्षण पूर्णात्मकता की प्राप्ति हो जाती है।

११. उपसंहार

तदुक्तं चतुर्थे विमर्शे—

२१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

(ई०प्र० ४.२.२) **इति।**

अभिनगुप्तादिभिराचार्यैर्विहितप्रतानोऽप्ययमर्थः संग्रहमुपक्रममाणैरस्माभिर्विस्तरभिया न प्रतानित इति सर्वं शिवम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे प्रत्यभिज्ञादर्शनम्॥

अनुवाद—जैसा कि चतुर्थ विमर्श में कहा गया है—

जैसे नायिका के द्वारा अनेक प्रकार के निवेदन करने के बाद भी उस नायिका के पास ही रमण करने के लिए स्थित नायक उसके द्वारा (नायिका के द्वारा) ज्ञात न होने पर सामान्य लोगों की तरह ही रहता है। उसी तरह आत्मारूपी भगवान् विश्वेश्वर लोगों के द्वारा अज्ञात गुणवाले बनकर अपने वैभव के लिये नहीं हो पाते—इसीलिये यह प्रत्यभिज्ञा कही गयी है।

(ई०प्र० ४.२.२)

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के द्वारा विस्तृत रूप से यह विषय वर्णित है। अतः संक्षेप के इच्छुक हम लोगों ने विस्तार के भय से इसका अधिक वर्णन नहीं किया है। इस प्रकार सभी का कल्याण हो।

॥ इति प्रत्यभिज्ञादर्शनम् ॥

अध्याय-९
रसेश्वर-दर्शनम्

माहेश्वरः कलितकाञ्चनचारुरूपो
रोगक्षपाक्षरणदीप्तदिनेशरश्मिः ।
मोक्षं च जीवति जने तनुतेऽक्षरं यः
पायादपायनिचयात्परपारदोऽसौ ॥ –ऋषिः

१. रस से जीवन्मुक्ति–पारद और उसका स्वरूप

अपरे माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि, पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय, पिण्डस्थैर्योपायं पारदादिपदवेदनीयं रसमेव संगिरन्ते।

अनुवाद—माहेश्वर सम्प्रदाय से भिन्न कुछ लोग परमेश्वर के साथ तादात्म्य स्वीकार करने पर भी यह मानते हैं कि पिण्ड (शरीर) की स्थिरता होने पर ही सर्वसम्मत जीवन्मुक्ति प्राप्त होगी, इसलिये उन विद्वान् लोगों ने पिण्ड (शरीर) की स्थिरता का उपाय पारद आदि शब्दों के द्वारा ज्ञात होने वाले रस को ही बतलाया है।

विशेष—रसेश्वर दर्शन के विद्वानों ने जीव तथा परमेश्वर को अभिन्न ही माना है, किन्तु उनका मत माहेश्वर सम्प्रदाय से थोड़ा भिन्न है। रसेश्वर दार्शनिकों का यह मानना है कि जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवित रहते हुए ही मुक्ति और जीवन्मुक्ति तो तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का शरीर स्थिर हो। शरीर को स्थिर करने का उपाय पारद रस (पारे का रस) है। इस पारद रस का विशेष महत्त्व आयुर्वेद में बतलाया गया है।

रसस्य पारदत्वं संसारपरप्रापणहेतुत्वेन। तदुक्तम्–

१. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः। इति।

रसार्णवेऽपि–

२. सुप्तोऽयं मत्समो देवि! मम प्रत्यङ्गसम्भवः।
मम देहरसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते ॥ इति॥

अनुवाद—संसार से पार पहुँचा देने के कारण रस को पारद कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—

संसार का पर (श्रेष्ठ) पार देने के कारण यह पारद कहा गया है।

'रसार्णव' में भी कहा गया है—

उत्तम साधक लोग पर (श्रेष्ठ) मोक्ष के लिये इसका प्रयोग करते हैं, अत: इसे पारद कहा गया है। हे देवि पार्वती! यह मेरे ही अङ्ग से उत्पन्न है तथा सुप्तावस्था में यह मेरे ही समान है। मेरे शरीर का रस होने के कारण ही इसे रस कहा जाता है।

विशेष—भगवान् शिव के वीर्य से पारद रस की उत्पत्ति हुई है। पारद की सुप्तावस्था का तात्पर्य है—उसका अशोधित मूल रूप। वह भगवान् शिव के ही समान है।

२. जीवन्मुक्ति की आवश्यकता

ननु प्रकारान्तरेणापि जीवन्मुक्तियुक्तौ नेयं वाचोयुक्तिर्युक्तिमतीति चेन्न, षट्स्वपि दर्शनेषु देहपातानन्तरं मुक्तेरुक्ततया तत्र विश्वासानुपपत्त्या निर्विचिकित्स-प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तदप्युक्तं तत्रैव-

३. षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने।
करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते।
तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः ॥ इति।

अनुवाद—यदि यह कहें कि जीवन्मुक्ति की युक्ति तो अन्य प्रकार से भी सम्भव है, इसलिये यह कहना (पारद से जीवन्मुक्ति की कल्पना) ठीक नहीं है तो यह भी ठीक नहीं है। षड् दर्शनों में भी देहपात के बाद मुक्ति कही गयी है तथा उस मुक्ति में विश्वास न होने से लोगों की असंदिग्ध प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। यह बात भी वहीं कही गयी है—

षड्दर्शनों में शरीर के गिरने पर ही मुक्ति दिखाई गयी है। वह मुक्ति भी हाथ में रखे आंवले के समान प्रत्यक्ष नहीं है। अत: रस तथा रसायनों से पिण्ड की रक्षा करें।

विशेष—पूर्वपक्षी की शंका यह है कि मुक्ति दो प्रकार की है—

१. जीवन्मुक्ति या सदेह मुक्ति अर्थात् जीवित रहते हुए ही मुक्ति। २. विदेह मुक्ति अर्थात् शरीर त्यागने के बाद मुक्ति। ऐसी स्थिति में रस, रसायन द्वारा ही जीवन्मुक्ति सम्भव है—यह कहना ठीक नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि षड् दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त) में विदेह मुक्ति का वर्णन है और विदेह मुक्ति के प्रति प्रयास तभी सम्भव है, जब उसके प्रति विश्वास हो। चूंकि विदेह मुक्ति के प्रति लोगों की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। अत: यह सिद्ध है उसके प्रति लोगों का विश्वास हो किन्तु यह विदेह मुक्ति प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देती, जबकि सदेह मुक्ति तो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती है। अत: सदेह मुक्ति (जीवन्मुक्ति) के प्रति प्रयास करना चाहिये और वह प्रयास रस-रसायनों से ही सम्भव है।

३. हर-गौरी की सृष्टि-पारद, अभ्रक

गोविन्दभगवत्पादाचार्यैरपि-

४. इति धनशरीरभोगान्मत्वाऽनित्यान्सदैव यतनीयम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ॥ इति।

ननु विनश्वरतया दृश्यमानस्य देहस्य कथं नित्यत्वमवसीयत इति चेत्-मैवं मंस्थाः। षाट्कौशिकस्य शरीरस्यानित्यत्वेऽपि रसाभ्रकपदाभिलप्यहरगौरी-सृष्टिजातस्य नित्यत्वोपपत्तेः।

अनुवाद—गोविन्दभगवत्पादाचार्य ने भी कहा है—

इस प्रकार धन, शरीर तथा भोगों को अनित्य मानकर सदा मुक्ति के लिये ही प्रयास करना चाहिये। वह मुक्ति भी ज्ञान से होती है, वह ज्ञान अभ्यास से होता है तथा अभ्यास स्थिर देह में ही होता है।

यदि कोई यह कहे कि अनित्यरूप से दिखलाई पड़ रहे इस शरीर में नित्यता को कैसे माना जायेगा, तो ऐसा मत मानिये। छह कोशों वाले इस शरीर के अनित्य होने पर भी पारद रस तथा अभ्रक पदों से वाच्य हर (शिव) तथा गौरी (पार्वती) की सृष्टि से उत्पन्न शरीर को नित्य माना जाता है।

विशेष—षट् कोश हैं—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि तथा मज्जा। इन छह कोशों से शरीर बनता है। पारस रस शिव का प्रतीक है और अभ्रक पार्वती का। इनका संयोग होने पर शरीर को नित्य बनाया जा सकता है।

तथा च रसहृदये-

५. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येषाम्॥ (१.७) इति।

तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमं दिव्यतनुर्विधेया। हरगौरी-सृष्टिसंयोगजनितत्वं च रसस्य हरजत्वेनाभ्रकस्य गौरीसंभवत्वेन तत्तदात्मकत्वमुक्तम्-

६. अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥ इति।

अनुवाद—उसी प्रकार रसहृदय में कहा गया है—

जो लोग शरीर को बिना त्यागे ही हर तथा गौरी की सृष्टि से उत्पन्न शरीर को प्राप्त किये हैं, वे मुक्त तथा रससिद्ध हैं। मन्त्रों का समूह भी उनका किंकर है।

इसलिये जीवन्मुक्ति चाहने वाले योगी ने सबसे पहले दिव्य शरीर प्राप्त करना चाहिये। पारद रस शिवरूप है तथा अभ्रक गौरी रूप है। अतः हरगौरी की सृष्टि के संयोग से उत्पन्न होने का तात्पर्य है कि रस तथा अभ्रक शिव-पार्वती रूप है। यही बात कही गयी है—

हे देवि! अभ्रक तुम्हारा बीज है तथा पारद मेरा बीज है। इन दोनों का संयोग मृत्यु तथा दारिद्र्य को नष्ट करने वाला है।

विशेष—गोविन्दभगवत्पादाचार्य ने 'रसहृदय' नामक ग्रन्थ लिखा है।

४. रस के सामर्थ्य से दिव्य-देह की प्राप्ति

अत्यल्पमिदमुच्यते। देवदैत्यमुनिमानवादिषु बहवो रससामर्थ्याद्दिव्यं देहमाश्रित्य जीवन्मुक्तिमाश्रिताः श्रूयन्ते रसेश्वरसिद्धान्ते—

७. देवाः केचिन्महेशाद्या दैत्याः काव्यपुरस्सराः।
मुनयो बालखिल्याद्या नृपाः सोमेश्वरादयः॥

८. गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः।
चर्वटिः कपिलो व्यालिः कापालिः कन्दलायनः॥

९. एतेऽन्ये बहवः सिद्धा जीवन्मुक्ताश्चरन्ति हि।
तनुं रसमयीं प्राप्य तदात्मककथाचणाः॥ इति।

अनुवाद—यह तो बहुत कम ही कहा जा रहा है। देव, दैत्य, मुनि तथा मानव आदि में बहुत से लोग रस के सामर्थ्य से दिव्यदेह का आश्रय लेकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त किये हैं—ऐसा रसेश्वर सिद्धान्त में कहा गया है।

कुछ महेश (शिव) आदि देवता, काव्य (शुक्राचार्य) आदि दैत्य, बालखिल्यादि मुनि, सोमेश्वर आदि राजा लोग, गोविन्द भगवत्पादाचार्य, गोविन्दनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन—ये सब और अन्य भी बहुत से सिद्ध लोग रसपूर्ण कथाओं से प्रसिद्धि प्राप्त कर तथा रसपूर्ण शरीर प्राप्त करके जीवन्मुक्त होकर विचरण करते रहते हैं।

विशेष—आचार्य सोमदेव ने 'रसेश्वरसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ लिखा है।

५. दो प्रकार के कर्म-योग

अयमेवार्थः परमेश्वरेण परमेश्वरीं प्रति प्रपञ्चितः—

१०. कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा स्मृतः॥

११. मूर्च्छितो हरति व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि॥ इति।

अनुवाद—यही बात भगवान् शिव ने पार्वती को बतलायी है—हे देवेशि! कर्मयोग से शरीर की प्राप्ति होती है। कर्मयोग दो प्रकार का है—रस (पारद रस) और वायु।

हे भैरवी! रस और वायु—ये दोनों मूर्छित होने पर रोगों को हरता है, मृत होने पर स्वयं जिलाता है तथा बद्ध होने पर आकाशचारी बना देता है।

विशेष—पारदरस तथा वायु के तीन रूप हैं—१. मूर्छित २. मृत तथा ३. बद्ध।

प्राणायाम के माध्यम से जब वायु का निरोध होता है, तब क्रमश: वायु की तीन अवस्थायें होती हैं—मूर्छित, मृत तथा बद्ध। इन तीनों अवस्थाओं के होने पर योगी में विशेष सामर्थ्य आता है।

इसी प्रकार पारद रस की भी तीनों अवस्थाओं का वर्णन आगे के परिच्छेद में किया गया है।

६. पारद के तीन स्वरूप—मूर्छित, मृत और बद्ध

मूर्च्छितस्वरूपमुक्तम्–

१२. नानावर्णो भवेत्सूतो विहाय घनचापलम्।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि॥

१३. आर्द्रत्वं च घनत्वं च तेजो गौरवचापलम्।
यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम्॥ इति।

अन्यत्र बद्धस्वरूपमप्यभ्यधायि–

१४. अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम्॥ इति।

अनुवाद—मूर्च्छित का स्वरूप कहा गया है—

जब अनेक वर्णों का पारद हो और उसमें घनत्व तथा चंचलता से रहित होने का लक्षण दिखाई पड़ता है, उसे मूर्छित पारद कहते हैं।

जब पारद में आर्द्रत्व, घनत्व, तेज, गुरुता (भारीपन) तथा चंचलता—ये सब दिखलाई नहीं पड़ते, उसे मृत सूतक (पारद) समझना चाहिये।

अन्यत्र बद्ध का स्वरूप भी कहा गया है—

क्षयरहित, हल्का द्रवित होने वाला, तेजवाला, शुद्ध, भारी तथा संस्कार के समय फैल जाना—यह बद्ध पारद का लक्षण है।

७. रस के अष्टादश संस्कार

ननु हरगौरीसृष्टिसिद्धौ पिण्डस्थैर्यमास्थातुं पार्यते, तत्सिद्धिरेव कथमिति चेत्–न। अष्टादशसंस्कारवशात्तदुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः–

१५. तस्य प्रसाधनविधौ सुधिया प्रतिकर्मनिर्मलाः प्रथमम्।
अष्टादश संस्कारा विज्ञातव्याः प्रयत्नेन॥ इति।

अनुवाद—यदि यह कहें कि हर तथा गौरी के सृष्टि (पारद रस) की सिद्धि होने पर शरीर की स्थिरता होना सम्भव है, लेकिन उस पारद की सिद्धि ही कैसे होती है? तो यह ठीक नहीं है। अठारह संस्कारों के कारण पारद की सिद्धि सम्भव है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

प्रत्येक कार्य करने में निर्मल विद्वानों को सबसे पहले उस पारद के साधन की विधि में प्रयत्नपूर्वक अठारह संस्कारों को जान लेना चाहिये।

विशेष—पारद रस की सिद्धि अर्थात् निष्पत्ति के लिये १८ संस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। इन १८ संस्कारों का वर्णन अग्रिम परिच्छेद में किया गया है।

ते च संस्कारा निरूपिताः—

१६. **स्वेदनमर्दनमूर्च्छनस्थापनपातननिरोधनियमाश्च ।**
दीपनगमनग्रासप्रमाणमथ जारणपिधानम् ॥

१७. **गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिक्षारणसंरागसारणाश्चैव ।**
क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म ॥ इति।

तत्प्रपञ्चस्तु गोविन्दभगवत्पादाचार्य-सर्वज्ञरामेश्वरभट्टारकप्रभृतिभिः प्राचीनैराचार्यैर्निरूपित इति ग्रन्थभूयस्त्वभयादुदास्यते।

अनुवाद—उन संस्कारों का वर्णन किया गया है—

१. स्वेदन (पसीजना) २. मर्दन (रगड़ना) ३. मूर्छन (घनत्व लाना) ४. स्थापन (स्थिर रखना) ५. पातन (गिराना) ६. निरोध नियम (रोकना) ७. दीपन (जलाना) ८. गमन (चलना) ९. ग्रासप्रमाण (मोल बनाना) १०. जारण विधान (पीसना और ढकना) ११. गर्भद्रुति (अन्दर परिवर्तन) १२. बाह्य द्रुति (बाहर परिवर्तन) १३. क्षारण (टुकड़े-टुकड़े करना) १४. संराग (रंगना) १५. सारण (छिड़कना) १६. क्रामण (लांघना) १७. वेध (बेंधना) १८. भक्षण (खाना)—१८ रसकर्म हैं।

इसका विस्तृत वर्णन गोविन्द भगवत्पादाचार्य, सर्वज्ञ रामेश्वर भट्टारक आदि प्राचीन आचार्यों ने किया है—इसलिये ग्रन्थ के बढ़ने के भय से यहीं रुकते हैं।

८. देहवेध ओर उसकी आवश्यकता

न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यम्। देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्। तदुक्तं रसार्णवे—

१८. **लोहवेधस्त्वया देव यदर्थमुपवर्णितः ।**
तं देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात्खेचरी गतिः ॥

१९. **यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता ।**
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः ॥
पूर्वं लोहे परीक्षेत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत् ॥ इति।

अनुवाद—रसशास्त्र केवल धातुवाद के लिये ही है—यह नहीं समझना चाहिये। देह वेध के द्वारा मुक्ति ही इस रसशास्त्र का परम प्रयोजन है। जैसा कि रसार्णव में कहा गया है—

हे भगवन् ! आपने जिस देहवेध के लिये लोहवेध का वर्णन किया है, उस देह वेध का वर्णन करिये, जिससे खेचरी गति प्राप्त होती है।

सज्जन व्यक्ति को चाहिये कि जिस प्रकार लोहे में, उसी प्रकार देह में भी पारद का प्रयोग करे। हे देवि! यह पारद लोहे तथा देह—दोनों में समान रूप उत्पन्न करता है। अतः पहले लोहे में परीक्षा करके फिर देह में पारद का प्रयोग करें।

विशेष—रसशास्त्र केवल धातुशास्त्र ही नहीं है, बल्कि यह मोक्षदायक शास्त्र है। लोहवेध का प्रयोजन है देह वेध। पहले साधक पारद से लोह वेध करके परीक्षा करे, फिर खेचरी सिद्धि के लिये देहवेध करे।

९. जीवितावस्था में मुक्ति-देहवेध के विषय में शंका

ननु सच्चिदानन्दात्मकपरतत्त्वस्फुरणादेव मुक्तिसिद्धौ किमनेन दिव्यदेह-संपादनप्रयासेनेति चेत्–तदेतद्वार्तम्। अवार्तशरीरालाभे तद्वार्ताया आयोगात्। तदुक्तं रसहृदये–

२०. गलितानल्पविकल्पः सर्वाध्वविवक्षितश्चिदानन्दः।
स्फुरितोऽप्यस्फुरिततनोः करोति किं जन्तुवर्गस्य॥

(र०हृ० १.२०) इति।

२१. यज्जरया जर्जरितं कासश्वासादिदुःखविशदं च।
योग्यं यन्न समाधौ प्रतिहतबुद्धीन्द्रियप्रसरम्॥

(र०हृ० १.२९) इति।

२२. बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः।
यातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम्॥ इति।

अनुवाद—यदि यह कहें कि सच्चिदानन्द रूप परमतत्त्व के प्रकाशन से ही मुक्ति की सिद्धि हो जाती है, तो फिर इस दिव्य देह के सम्पादन के प्रयास से क्या लाभ है, तो यह कहना बेकार है। सार्थक शरीर की प्राप्ति के बिना उस मुक्ति की बात भी नहीं हो सकती। जैसा कि रस हृदय में कहा गया है—

सभी विकल्पों को समाप्त करने वाला तथा सभी मार्गों में विवक्षित चिदानन्द प्रकट होने पर भी अप्रकट (अदिव्य) शरीरवाले जीवों का क्या करता है? (रसहृदय १.२०)

जो शरीर वृद्धावस्था से शिथिल है, जो खांसी तथा खांस आदि दुःखों से व्याप्त है तथा जिस शरीर में ज्ञानेन्द्रियों का प्रभाव बाधित हो जाता है, वह समाधि के योग्य शरीर नहीं है। (रसहृदय १.२९)

कोई व्यक्ति १६ वर्ष तक बालक रहता है, उसके बाद विषयों के रसास्वाद से लम्पट रहता है। वृद्ध होने पर वह मनुष्य विवेकहीन हो जाता है, तो ऐसा व्यक्ति मुक्ति कैसे प्राप्त करेगा?

विशेष—ब्रह्मज्ञान होने पर भी यदि रससिद्ध दिव्य शरीर प्राप्त नहीं है, तो वह ब्रह्मज्ञान व्यर्थ है। पारद रस के द्वारा शरीर वृद्ध नहीं होता तथा अवृद्ध शरीर ही समाधि के योग्य होता है।

१०. जीवितावस्था में मुक्ति–एक वाद

ननु जीवत्वं नाम संसारित्वम्। तद्विपरीतत्वं मुक्तत्वम्। तथा च परस्पर-विरुद्धयोः कथमेकायतनत्वमुपपन्नं स्यादिति चेत्–तदनुपपन्नम्। विकल्पानुपपत्तेः। मुक्तिस्तावत्सर्वतीर्थकरसंमता। सा किं ज्ञेयपदे निविशते न वा। चरमे शशविषाणकल्पा स्यात्। प्रथमे न जीवनं वर्जनीयम्। अजीवतो ज्ञातृत्वानुपपत्तेः। तदुक्तं रसेश्वरसिद्धान्ते-

२३. रसाङ्कमेयमार्गोक्तो जीवमोक्षोऽन्यथा तु न।
प्रमाणान्तरवादेषु युक्तिभेदावलम्बिषु ॥

२४. ज्ञातृज्ञेयमिदं विद्धि सर्वतन्त्रेषु संमतम्।
नाजीवञ्ज्ञास्यति ज्ञेयं यदतोऽस्त्येव जीवनम् ॥ इति।

अनुवाद—यदि यह कहें कि जीवित रहने का अर्थ है—संसार में रहना और उससे विपरीत है मुक्त होना। तो फिर परस्पर विरुद्ध इन दोनों (जीवन और मुक्ति) का एक आधार (शरीर) में रहना कैसे उपपन्न होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें दोनों विकल्पों की उपपत्ति नहीं हो पाती है। मुक्ति तो सभी तीर्थकरों के लिये अभिमत है। वह मुक्ति क्या ज्ञेय है या नहीं? यदि अन्तिम विकल्प मानते हैं अर्थात् यदि वह ज्ञेय नहीं, तो शशविषाण (खरगोश के सींग) की तरह मिथ्या हो जायेगी। यदि प्रथम विकल्प माना जाये अर्थात् मुक्ति को ज्ञेय माना जाये, तो जीवन को त्यागा नहीं जा सकता। बिना जीवन के ज्ञातृत्व होना ही अनुपपन्न है। जैसा कि रसेश्वर सिद्धान्त में कहा गया है—

रसशास्त्र में कहे गये मार्ग के अनुसार जीवन की मुक्ति सम्भव है, अन्य प्रकार से नहीं। विभिन्न युक्तियों का आश्रय लेने वाले प्रमाणान्तरों को बतलाने वाले सभी तन्त्रों में सम्मत ज्ञाता तथा ज्ञेय को जानो। बिना जीवित रहते हुए ज्ञेय को नहीं जाना जा सकता, इसलिये जीवन अवश्य ही है।

विशेष—सिद्धान्ती ने मुक्ति को ज्ञेय तथा अज्ञेय—इन दो विकल्पों में उलझाकर जीवन्मुक्ति के सिद्ध करने का प्रयास किया है। यदि मुक्ति को अज्ञेय कहें तो वह मिथ्या हो जायेगी और यदि ज्ञेय कहें, तो जीवन मानना ही पड़ेगा अर्थात् जीवित रहते हुए ही मुक्ति की सत्ता को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीवन तथा मुक्ति दोनों का सामानाधिकरण्य सम्भव है।

११. शरीर की नित्यता–इसके प्रमाण

न चेदमदृष्टचरमिति मन्तव्यम्। विष्णुस्वामिमतानुसारिभिर्नृपञ्चास्य शरीरस्य नित्यत्वोपपादनात्। तदुक्तं साकारसिद्धौ–

२५. सच्चिन्नित्यनिजाचिन्त्यपूर्णानन्दैकविग्रहम्।
नृपञ्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसंमतम् ॥ इति।

अनुवाद—यह देह नित्यता पहले नहीं देखी गयी है—ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। विष्णु स्वामी के मतानुसार भगवान् नरसिंह के शरीर को नित्य माना गया है। जैसा कि साकार सिद्धि में कहा गया है—

सत्, चित्, नित्य, निज, अचिन्त्य तथा पूर्ण आनन्द रूप एक शरीर धारण करने वाले भगवान् नरसिंह को मैं प्रणाम करता हूँ, यह नरसिंह श्री विष्णुस्वामी के द्वारा सम्मत हैं।

विशेष—शरीर की नित्यता में यह उदाहरण दिया है कि भगवान् नरसिंह का शरीर भी नित्य है और विष्णु स्वामी ने उसे सप्रमाण नित्य माना है।

नन्वेतत्सावयवं रूपवदवभासमानं नृकण्ठीरवाङ्गं सदिति न संगच्छत इत्यादिनाक्षेपपुनःसरं सनकादिप्रत्यक्षं, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (श्वे० ३.१४) इत्यादि श्रुति–

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम्।

(भाग० १०.३.९)

इत्यादिपुराणलक्षणेन प्रमाणत्रयेण सिद्धं नृपञ्चाननाङ्गं कथमसत्स्यादिति सदादीनि विशेषणानि गर्भश्रीकान्तमिश्रैर्विष्णुस्वामिचरणपरिणतान्तःकरणैः प्रतिपादितानि। तस्मादस्मदिष्टदेहनित्यत्वमत्यन्तादृष्टं न भवतीति पुरुषार्थकामुकैः पुरुषैरेष्टव्यम्। अत एवोक्तम्–

२६. आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम्।। इति।

अनुवाद—यदि कोई यह पूछे कि अवयवों से युक्त तथा रूप से युक्त दिखलाई पड़ने वाला यह नरसिंह का अङ्ग सत् है, यह बात लागू नहीं हो पाती, तो इस प्रकार के आक्षेप के साथ सनकादि ऋषियों का प्रत्यक्ष, ''हजारों मस्तक वाला पुरुष (श्वे० ३.१४)'' इत्यादि श्रुति तथा कमल के समान नेत्र वाले, चतुर्भुज तथा शंख, गदा आदि आयुध धारण किये हुए उस अद्भुत बालक को'' (भाग० १०.३.९) इत्यादि पुराण—इन तीन प्रमाणों से सिद्ध नरसिंह का अङ्ग असत् कैसे होगा? इसलिये विष्णु स्वामी के चरणों को अपने अन्तःकरण में धारण करने वाले अनेक पट्टशिष्य श्रीकान्तमिश्र ने सदादि विशेषणों को प्रतिपादित किया है। इसलिये हमारा अभीष्ट देह का नित्यत्व'' अत्यन्त अदृष्ट नहीं होता है—यह बात पुरुषार्थ के इच्छुक पुरुषों ने समझ लेनी चाहिये। इसीलिये कहा गया है—

विद्याओं का आधार तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के मूल इस अजर अमर एक शरीर को छोड़कर अन्य कल्याण क्या है?

विशेष—यहाँ शरीर की नित्यता में तीन प्रमाणों को उपस्थापित किया गया है—१. प्रत्यक्ष, २. श्रुति ३. पुराण। सनकादि ऋषियों को शरीर की नित्यता का प्रत्यक्ष हुआ था। वेद में सहस्रशीर्षा कहकर विराट् पुरुष के शरीर की नित्यता को बतलाया गया है तथा भागवत पुराण में यह बताया गया है कि कृष्ण जन्म होने पर देवकी को बालकृष्ण का जो रूप दिखा था, वह बालरूप होने पर भी चतुर्भुज तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म से युक्त था। इससे यह सिद्ध होता है कि चतुर्भुज विष्णु का रूप नित्य है तभी वही रूप बालकृष्ण में भी दिखलाई पड़ा।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भगवान् नरसिंह का शरीर भी सत् (नित्य) है।

१२. पारद-रस के सेवन से जरामरण से मुक्ति

अजरामरीकरणसमर्थश्च रसेन्द्र एव। तदाह–

एकोऽसौ रसराजः शरीरमराजमरं कुरुते। इति।

किं वर्ण्यते रसस्य माहात्म्यम्? दर्शनस्पर्शनादिनापि महत्फलं भवति।

अनुवाद—रसराज पारद में ही शरीर को अजर तथा अमर करने का सामर्थ्य है। जैसा कि कहा गया है—

एक यह रसराज ही शरीर को अजर तथा अमर करता है।

रस की महिमा का कितना वर्णन किया जाए? उसके दर्शन तथा स्पर्श आदि करने से भी महान् फल होता है।

१३. पारद-लिंग की महिमा

तदुक्तं रसार्णवे–

२७. दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य भक्षणात्स्मरणादपि ।
पूजनाद्रसदानाच्च दृश्यते षड्विधं फलम् ॥

२८. केदारादीनि लिङ्गानि पृथिव्यां यानि कानिचित् ।
तानि दृष्ट्वा तु यत्पुण्यं तत्पुण्यं रसदर्शनात् ॥

इत्यादिना।

२९. काश्यादिसर्वलिङ्गेभ्यो रसलिङ्गार्चनाच्छिवः ।
प्राप्यते येन तल्लिङ्गं भोगारोग्यामृतप्रदम् ॥ इति।

अनुवाद—जैसा कि रसार्णव में कहा गया है—

पारद का दर्शन करने से, स्पर्श करने से, खाने से, स्मरण करने से, पूजन करने से तथा रस का दान करने से छह प्रकार का फल मिलता है।

पृथ्वी पर जो केदार आदि कितने सारे लिङ्ग हैं, उनके दर्शन का जो पुण्य है, वह पुण्य रस के दर्शन से प्राप्त होता है।

अन्यत्र भी कहा गया है—

काशी आदि तीर्थों के सभी लिङ्गों की अपेक्षा भी रसलिङ्ग का पूजन करने से शिव की प्राप्ति होती है, क्योंकि पारदलिङ्ग सुख, आरोग्य तथा अमरता प्रदान करनेवाला है।

रसनिन्दायाः प्रत्यवायोऽपि दर्शितः-

३०. प्रमादाद्रसनिन्दायाः श्रुतावेनं स्मरेत्सुधीः ।
द्राक्त्यजेन्निन्दकं नित्यं निन्दया पूरिताशुभम् ॥ इति।

अनुवाद—रसनिन्दा करने का फल भी दिखलाया गया है—

विद्वान् व्यक्ति यदि असावधानी से पारदरस की निन्दा सुन ले, तो इस पारदरस का ही स्मरण करे (अर्थात् स्मरण करने से निन्दा दोष से मुक्त होता है।) और निन्दा के कारण अशुभ से परिपूर्ण उस निन्दक का नित्य के लिये तुरन्त ही त्याग कर दें।

१४. पुरुषार्थ और ब्रह्म-पद

तस्मादस्मदुक्तया रीत्या दिव्यं देहं संपाद्य योगाभ्यासवशात्परतत्त्वे दृष्टे पुरुषार्थप्राप्तिर्भवति। तदा–

३१. भ्रूयुगमध्यगतं यच्छिखिविद्युत्सूर्यवज्जगद्भासि।
केषांचित्पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं ज्योतिः॥

३२. परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिःस्वभावमविकल्पम्।
विगलितसकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्वसंवेद्यम्॥

३३. तस्मिन्नाधाय मनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत्पश्यन्।
उत्सन्नकर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाप्नोति॥

(र०हृ० १/२१/२३)

अनुवाद—इस प्रकार हमारे बतलाये हुए मार्ग के अनुसार दिव्य देह का संपादन करके योगाभ्यास के कारण परम तत्त्व का दर्शन होने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। उस समय—

दोनों भौंहों के मध्य में स्थित जो तत्त्व अग्नि, विद्युत् तथा सूर्य के समान जगत् को प्रकाशित करने वाला है, किन्हीं किन्हीं पुण्यदृष्टिवाले लोगों को ही वह चिद्रूप ज्योति प्रकाशित होती है।

परम आनन्दरूप, एक रस से परिपूर्ण, परमज्योति स्वभाववाला, विकल्परहित, समस्त क्लेशों से रहित, शान्त, ज्ञेय तथा अनुभवगम्य जो तत्त्व है, उसमें मन को लगाने पर इस प्रकाशमान सम्पूर्ण जगत् को चिद्रूप देखते हुए मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त होकर यहीं ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।

विशेष—जीवित रहते हुए ही योगाभ्यास से अथवा तत्त्वज्ञान से ब्रह्मतत्व की प्राप्ति सम्भव है—यही तथ्य यहाँ भी प्रतिपादित किया गया है।

(१५. रस और परब्रह्म में समता–रसस्तुति)

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै० ७/१) इति। तदित्थं भवदैन्यदुःखभरतरणोपायो रस एवेति सिद्धम्। तथा च रसस्य परब्रह्मणा साम्यमिति प्रतिपादकः श्लोकः–

३४. यः स्यात्प्रावरणाविमोचनधियां साध्यः प्रकृत्या पुनः।
सम्पन्नः सह तेन दीव्यति परं वैश्वानरे जाग्रति।

ज्ञातो यद्यपरं न वेदयति च स्वस्मात्स्वयं द्योतते
यो ब्रह्मेव स दैन्यसंसृतिभयात्पायादसौ पारदः।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे रसेश्वरदर्शनम्।।

अनुवाद—श्रुति भी कहती है—"वह परमात्मा रस ही है। यह रस को प्राप्त करके आनन्द रूप हो जाता है" (तै० २.७.१)। तो इस प्रकार संसार के दीनता के दुःख भार से पार करने का उपाय रस ही है। रस परब्रह्म के समान है—इसका प्रतिपादक यह श्लोक है—

आवरक माया से मुक्ति पाने की बुद्धि वाले लोगों का जो (पारद) स्वभावतः साध्य है, उस पारद से सम्पन्न व्यक्ति वैश्वानर के जागृत होने पर प्रकाशित होता है, यदि वह (पारद) स्वयं ज्ञात हो जाये, तो दूसरे का ज्ञान नहीं कराता, वह स्वयं ही प्रकाशित होता है, जो ब्रह्म रूप ही है, वह यह पारद दीनता तथा संसार के भय से हमारी रक्षा करे।

विशेष—यहाँ पारदरस की स्तुति की गयी है। पारदरस स्वयं ब्रह्मरूप ही है। उससे सम्पन्न व्यक्ति स्वयसं प्रकाशवान् हो जाता है।

।। इति रसेश्वरदर्शनम् ।।

अध्याय-१०

औलूक्य दर्शनम्

भावाः षडेव मुनिना विहितास्तदन्ते
चान्योऽप्यभाव इति सप्तपदार्थशास्त्रम्।
सामान्यवर्णनपरोऽपि विशेषरूपोऽ-
सौ नित्यमेव जयति प्रथितः कणादः ॥ ऋषि

१. दुःखान्त के लिए परमेश्वर का साक्षात्कार

इह खलु निखिलप्रेक्षावान् निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारमुपायमाकलयति।

१. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात्।

अनुवाद—इस संसार में सभी बुद्धिमान् लोग चूँकि दुःख का अनुभव स्वभावतः प्रतिकूल ही है, इसलिये आत्म-अनुभव से सिद्ध समस्त दुःख को त्यागने की इच्छा से उस दुःख के नाश का उपाय जानने की इच्छा करते हुए परमेश्वर के साक्षात्कार रूप उपाय को समझते हैं।

जब मनुष्य लोग चमड़े की तरह ही आकाश को भी ढंकने लगेंगे, तभी शिव को बिना जाने दुःख का अन्त हो जायेगा।

इत्यादि वचनों का भी प्रामाण्य है।

विशेष—सभी व्यक्ति दुःख का त्याग करना चाहते हैं, क्योंकि दुःख प्रतिकूलवेदनीय हैं। इस दुःख के नाश का उपाय परमेश्वर का साक्षात्कार ही है।

भगवान् शिव को बिना जाने अर्थात् उनका साक्षात्कार बिना किये दुःख का नाश सम्भव नहीं है। जिस तरह आकाश को ढकना सम्भव नहीं है, उसी तरह भगवान् शिव के ज्ञान के बिना दुःख का नाश नहीं हो सकता।

'औलूक्य दर्शन' यह वैशेषिक दर्शन का ही दूसरा नाम है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य कणाद थे। ये उलूक ऋषि के पुत्र थे। इसीलिये उनके दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन पड़ा है। उनका नाम 'कणाद' पड़ने का कारण यह है कि वे अपनी तपस्या के अन्तर्गत केवल अन्न के कण खाकर ही रहते थे अतः वे 'कणाद' (कणान् अत्ति इति कणादः) नाम से प्रसिद्ध हो गये। अन्नकणभक्षण को ही स्मृतियों में शिलोञ्छ वृत्ति कहा

गया है। यह भी जनश्रुति है कि भगवान् शिव ने एक बार उलूक (उल्लू) का रूप धारण कर इस दर्शन का उपदेश दिया, इसलिये इसका नाम औलूक्य दर्शन है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन समान तन्त्र हैं, लेकिन न्याय की अपेक्षा कुछ विशेषता होने के कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। न्याय में १६ पदार्थ माने जाते हैं, जबकि वैशेषिक दर्शन में ७ पदार्थ।

वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार—आचार्य कणाद द्वारा प्रणीत वैशेषिक सूत्र इस दर्शन का प्रथम ग्रन्थ है। वैशेषिक सूत्रों पर आचार्य प्रशस्तपाद ने भाष्य की रचना की है। इस भाष्य का नाम है—पदार्थ धर्मसंग्रह। इस भाष्य पर अनेक टीकायें लिखी गयीं—व्योमवती (रचयिता-व्योमशिवाचार्य), किरणावती (उदयनाचार्य रचित), न्यायकन्दली (श्रीधर रचित), लीलावती (श्रीवत्स रचित), सूक्ति (जगदीश भट्टाचार्य रचित)।

इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में कुछ अन्य भी मौलिक ग्रन्थ लिखे गये जैसे—प्रद्योतन मिश्र या पद्मनाम मिश्र का 'सेतु' ग्रन्थ, शंकर मिश्र प्रणीत कणादरहस्य, शिखादित्यमिश्र प्रणीत सप्तपदार्थी। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ पञ्चानन का नाम वैशेषिक दर्शन में सुप्रसिद्ध है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में भाषापरिच्छेद तथा न्यायसूत्रवृत्ति प्रमुख हैं। भाषापरिच्छेद का ही दूसरा नाम कारिकावली है। इस पर स्वयं विश्वनाथ पञ्चानन के न्यायसिद्धान्त मुक्तावली नामक टीका लिखी है। मुक्तावली के ऊपर बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र महादेव भट्टभारद्वाज ने मुक्तावली प्रकाश नामक टीका लिखी, जिसे उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने पूरा किया। अतः इसका नाम 'दिनकरी' पड़ गया। दिनकरी टीका पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'रामरुद्री' नामक टीका लिखी, इसे महामहोपाध्याय श्री राजराजेश्वर शास्त्री ने पूर्ण किया। अन्नम्भट्टकृत तर्कसंग्रह भी वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक ग्रन्थों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

परमेश्वरसाक्षात्कारश्च श्रवणमननभावनाभिर्भावनीयः । यदाह—

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति।

तत्र मननमनुमानाधीनम्। अनुमानं च व्याप्तिज्ञानाधीनम्। व्याप्तिज्ञानं च पदार्थविवेकसापेक्षम्। अतः पदार्थषट्कम् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै०सू० १।१।१) इत्यादिकायां दशलक्षण्यां कणभक्षेण भगवता व्यवस्थापितम्।

अनुवाद—परमेश्वर का साक्षात्कार श्रवण, मनन तथा भावना (निदिध्यासन) के द्वारा करना चाहिये। जैसाकि कहा गया है—

आगम से, अनुमान से और ध्यानाभ्यास के बल से इन तीन प्रकारों से अपनी बुद्धि को लगाने पर व्यक्ति उत्तम योग प्राप्त करता है।

उसमें मनन अनुमान के अधीन है और अनुमान व्याप्तिज्ञान के अधीन है। व्याप्ति ज्ञान पदार्थों के विवेक के अधीन है। इसलिये छह पदार्थों के विवेक के अधीन है। इसलिये

छह पदार्थों की 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (अब हम धर्म की व्याख्या करते हैं) इत्यादि दश अध्यायां वाले वैशेषिक सूत्र में भगवान् कणाद ने स्थापित किया है।

विशेष—बुद्धि को ईश्वर में लगाने के तीन उपाय हैं—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। उपनिषदों में भी कहा गया है—आत्मा वा अरे श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च।

१. इनमें प्रथम उपाय 'श्रवण' का अर्थ है सुनना अर्थात् आगम या शब्द प्रमाण से होने वाला ज्ञान श्रवण है।

२. दूसरा उपाय है—मनन अर्थात् अनुमान। अनुमान विना व्याप्ति ज्ञान के नहीं होता और व्याप्ति ज्ञान भी तभी होता है, जब सभी भावात्मक छह पदार्थों—द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय को जाना जाए। सातवें पदार्थ अभाव के ज्ञान के बिना भी व्याप्ति ज्ञान होकर अनुमान हो सकता है परन्तु तर्क के लिये अभाव का ज्ञान भी आवश्यक है।

३. निदिध्यासन का अर्थ है—ध्यान तथा अभ्यास। परमात्मा का दृढतापूर्वक ध्यान ही निदिध्यासन कहलाता है।

इन तीनों उपायों से बुद्धि को परमात्मा में लगाना ही योग है।

दश लक्षणी का अर्थ है—दशाध्यायी। लक्षण शब्द का एक अर्थ अध्याय भी है। वैशेषिक सूत्र में १० अध्याय हैं। इसका प्रथमसूत्र है—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। द्वितीय सूत्र में धर्म का लक्षण बतलाया गया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (जिससे अभ्युदय=लौकिक सुख तथा निःश्रेयस=पारलौकिक सुख (मोक्ष) की सिद्धि होती है, वही धर्म है)।

२. वैशेषिक-सूत्र की विषय-वस्तु

तत्राह्निकद्वयात्मके प्रथमेऽध्याये समवेताशेषपदार्थकथनमकारि। तत्रापि प्रथमाह्निके जातिमन्निरूपणम्। द्वितीयाह्निके जातिविशेषयोर्निरूपणम्।

आह्निकद्वययुक्ते द्वितीयेऽध्याये द्रव्यनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमे भूतविशेषलक्षणम्। द्वितीये दिक्कालप्रतिपादनम्।

आह्निकद्वययुक्ते तृतीय आत्मान्तःकरणलक्षणम्। तत्राप्यात्मलक्षणं प्रथमे। द्वितीयेऽन्तःकरणलक्षणम्। आह्निकद्वययुक्ते चतुर्थे शरीरतदुपयोगिविवेचनम्। तत्रापि प्रथमे तदुपयोगिविवेचनम्। द्वितीये शरीरविवेचनम्।

अनुवाद—उसमें दो आह्निक वाले प्रथमे अध्याय में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सभी पदार्थों का वर्णन है। उसमें भी प्रथम आह्निक में जाति से युक्त पदार्थ का निरूपण है। द्वितीय आह्निक में जाति तथा विशेष का निरूपण है।

दो आह्निकों वाले द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण है। उसमें पहले आह्निक में भूतों के विशेष का लक्षण है तथा द्वितीय आह्निक में दिशा तथा काल का निरूपण है।

दो आह्निकों वाले तृतीय अध्याय में आत्मा तथा अन्तःकरण का लक्षण है। उसमें आत्मा का लक्षण प्रथम आह्निक में हैं तथा दूसरे आह्निक में अन्तःकरण का लक्षण है। दो आह्निकों वाले चतुर्थ अध्याय में शरीर तथा उसके उपयोगी तत्त्वों का वर्णन है। उसमें प्रथम आह्निक में उसके उपयोगी तत्त्वों का वर्णन है तथा द्वितीय आह्निक में शरीर का वर्णन है।

विशेष—वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ स्वीकृत हैं—१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, ७. अभाव। सामान्य का अर्थ है—जाति। यह द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में समवाय सम्बन्ध से रहती है। गुण तथा कर्म ये दोनों समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहते हैं। विशेष का आश्रय नित्यद्रव्य है। इसमें प्रथम छह भाव पदार्थ हैं तथा अन्तिम सातवाँ पदार्थ अभाव है। द्रव्य के नौ भेद हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन।

द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में इन्हीं द्रव्यों का वर्णन है।

आह्निकद्वयवति पञ्चमे कर्मप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे शरीरसंबन्धिकर्मचिन्तनम्। द्वितीये मानसकर्मचिन्तनम्। आह्निकद्वयशालिनि षष्ठे श्रौतधर्मनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमे दानप्रतिग्रहधर्मविवेकः। द्वितीये चातुराश्रम्योचितधर्मनिरूपणम्।

अनुवाद—दो आह्निकों वाले पाँचवें अध्याय में कर्म का प्रतिपादन है। उसमें भी पहले आह्निक में शरीर सम्बन्धी कर्म का चिन्तन है तथा दूसरे में मानस कर्म का चिन्तन है। दो आह्निकों वाले षष्ठ अध्याय में श्रौत धर्म का निरूपण है। उसमें भी पहले आह्निक में दान, प्रतिग्रह आदि धर्मों का विवेक है। दूसरे आह्निक में चारों आश्रमों के उचित धर्म का निरूपण हुआ है।

तथाविधे सप्तमे गुणसमवायप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे बुद्धिनिरपेक्षगुणप्रतिपादनम्। द्वितीये तत्सापेक्षगुणप्रतिपादनं समवायप्रतिपादनं च।

अष्टमे निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षप्रमाणचिन्तनम्। नवमे बुद्धिविशेषप्रतिपादनम्। दशमेऽनुमानभेदप्रतिपादनम्।

अनुवाद—वैसे ही अर्थात् दो आह्निकों वाले सातवें अध्याय में गुण तथा समवाय का प्रतिपादन है। उसमें भी पहले आह्निक में बुद्धि से निरपेक्ष गुणों का प्रतिपादन है। दूसरे आह्निक में बुद्धि से सापेक्ष गुणों का प्रतिपादन तथा समवाय का प्रतिपादन है।

आठवें अध्याय में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक भेद वाले प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार है। नवम अध्याय में बुद्धि-विशेष का प्रतिपादन है। दशम अध्याय में अनुमान के भेद का प्रतिपादन है।

विशेष—प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। प्रकार से रहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं तथा प्रकार से युक्त ज्ञान को सविकल्पक कहा जाता है।

३. शास्त्र की प्रवृत्ति–उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा

तत्रोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः (वात्स्यायन० १।१।१)। ननु विभागापेक्षया चातुर्विध्ये वक्तव्ये कथं त्रैविध्यमुक्तमिति चेत्–मैवं मंस्थाः । विभागस्य विशेषोद्देशरूपत्वात् उद्देश एवान्तर्भावात्। तत्र द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेषसमवाया इति षडेव ते पदार्था इत्युद्देशः।

अनुवाद—इस न्याय-वैशेषिक शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है—उद्देश्य, लक्षण तथा परीक्षा। (वात्स्यायन सूत्र १/१/१)। यदि यह कहें कि विभाग की अपेक्षा होने के कारण शास्त्र प्रवृत्ति के चार भाग कहने चाहिये थे, तो फिर तीन प्रकार क्यों कहे गये—तो ऐसा मत कहें। विभाग विशेष उद्देश्य रूप है अत: उसका उद्देश में ही अन्तर्भाव होता है। उसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय—ये छह पदार्थ हैं—यह उद्देश्य है।

विशेष—(यह छह भाव पदार्थ हैं, सातवां पदार्थ अभाव है।)

शास्त्रप्रवृत्ति के भेदों में विभाग को लेकर चार भाग कहने चाहिये थे—उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा तथा विभाग। लेकिन 'विभाग' को उद्देश्य के अन्तर्गत ही रखा जाता है। अत: यहाँ तीन भाग ही गहे गये हैं।

१. उद्देश्य—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—ये छह पदार्थ हैं—यह कहना उद्देश्य है।

२. लक्षण—लक्ष्य को सजातीय, विजातीय वस्तु से पृथक् करने के लिये लक्ष्य में स्थित किसी विशेषता को बतलाना ही लक्षण है।

३. परीक्षा—लक्षण ठीक है या नहीं—यह विचार करके निर्णय करना ही परीक्षा है।

किमत्र क्रमनियमे कारणम्? उच्यते। समस्तपदार्थायतनत्वेन प्रधानस्य द्रव्यस्य प्रथममुद्देशः। अनन्तरं गुणत्वोपाधिना सकलद्रव्यवृत्तेर्गुणस्य। तदनु सामान्य-वत्त्वसाम्यात्कर्मणः। पश्चात्तत्त्रितयाश्रितस्य सामान्यस्य। तदनन्तरं समवायाधिकरणस्य विशेषस्य। अन्तेऽवशिष्टस्य समवायस्येति।

अनुवाद—इन पदार्थों के क्रम के नियम में कारण क्या है ? कहते हैं। सभी पदार्थों का आधार होने के कारण प्रमुख द्रव्य को पहले कहा गया। उसके बाद गुणत्व उपाधि से समस्त द्रव्य में रहने वाले गुण का वर्णन किया गया। उसके बाद सामान्यवत्त्व (सामान्य) की साम्यता के कारण कर्म का वर्णन है। उसके बाद उन तीनों (द्रव्य, गुण, कर्म) में आश्रित सामान्य का वर्णन है। फिर समवाय के अधिकरण विशेष का वर्णन है। अन्त में बचे हुए समवाय का वर्णन है।

विशेष—यहाँ ६ भाव पदार्थों का क्रम अत्यन्त युक्तियुक्त ढंग से बतलाया गया है। द्रव्य सभी अन्य पदार्थों का आधार है अत: वह सबसे पहले रखा गया। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय—सभी द्रव्य में रहते हैं। गुण द्रव्य में रहता है। अत: उसका

स्थान द्रव्य के बाद है। सत्तारूप सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में है। अत: गुण के बाद कर्म को स्थान दिया गया। फिर द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहने वाले सामान्य तथा तत्पश्चात् नित्य द्रव्य में रहने वाले विशेष को स्थान है। सामान्य तथा विशेष—ये दोनों समवाय सम्बन्ध से क्रमश: द्रव्यादि तीन तथा नित्यद्रव्य में रहते हैं। सबसे अन्त में समवाय सम्बन्ध को रखा गया है।

४. पदार्थों की संख्या–छह या सात?

ननु षडेव पदार्था इति कथं कथ्यते? अभावस्यापि सद्भावात् इति चेत्-मैवं वोच:। नञर्थानुल्लिखितधीविषयतया भावरूपतया षडेवेति विवक्षितत्वात्। तथापि कथं षडेवेति नियम उपपद्यते? विकल्पानुपपत्ते:। नियमव्यवच्छेद्यं प्रमितं न वा? प्रमितत्वे कथं निषेध:? अप्रमितत्वे कथंतराम्?

अनुवाद—यदि यह कहें कि पदार्थ छह ही हैं—ऐसा कैसे कहा जा रहा है? क्योंकि अभाव भी एक पदार्थ है तो ऐसा मत कहिये। नञर्थ (नञ् का अर्थ अर्थात् अभाव) के रूप में अबोधित ज्ञान के विषय के कारण छह पदार्थ ही भावरूप में विवक्षित हैं (अर्थात् नञर्थ रूप में बोधित ज्ञान विषयता वाला पदार्थ अभाव है, लेकिन नञर्थ के रूप में अबोधित ज्ञान विषयत्व तो छह भाव पदार्थों में ही है, वे छह भाव पदार्थ ही यहाँ विवक्षित हैं) फिर छह पदार्थ ही हैं? यह नियम कैसे लागू होता है? क्योंकि यह नियम दो विकल्पों से अनुपन्न है। प्रमित पदार्थ (प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ) इस नियम से व्यावृत (अपसारित=दूर करना) किया जा रहा है या नहीं? यदि वह प्रमित है, तो उसका निषेध कैसे? यदि प्रमित नहीं है, तो भी निषेध कैसे होगा?

विशेष—भाव पदार्थ छह ही है। सातवाँ पदार्थ अभाव है। लेकिन भाव पदार्थ छह ही है—इस नियम का क्या औचित्य है? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि यह नियम दो विकल्प सहन नहीं कर पाता है। इस नियम से जिस अभाव का निषेध हो रहा है वह अभावप्रमित है या अप्रमित? यदि वह प्रमित है तो फिर उसका निषेध कैसे होगा? और यदि अप्रमित है तो फिर तो उसका निषेध ही सम्भव नहीं है। अत: 'भाव पदार्थ छह ही हैं' यह प्रतिज्ञा ठीक नहीं है।

न कि कश्चित्प्रेक्षावान्मूषिकविषाणं प्रतिषेद्धुं यतते। ततश्चानुपपत्तेर्न नियम इति चेत्–मैवं भाषिष्ठा:। सप्तमतया प्रमितेऽन्धकारादौ भावत्वस्य, भावतया प्रमिते शक्तिसादृश्यादौ सप्तमत्वस्य च निषेधादिति कृतं विस्तरेण।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है कि) कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति चूहे की सींग को मना करने का प्रयास नहीं करता। अत: अनुपपत्ति के कारण 'भाव पदार्थ छह ही है' यह निमय नहीं है—यदि ऐसा कहा जाये तो (सिद्धान्ती कहता है कि) ऐसा मत कहो। क्योंकि सातवें पदार्थ के रूप में प्रमित अन्धकार आदि में भावत्व का तथा भाव के रूप प्रमित शक्ति तथा सादृश्य आदि में सप्तमत्व का निषेध किया जाता है। इतना ही विस्तार काफी है।

विशेष—जैसे कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति चूहे की सींग है या नहीं—इसे जानने का प्रयास नहीं करता, उसी तरह अभाव पदार्थ के कारण का प्रयास कौन करेगा?

इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि 'भाव पदार्थ छह ही हैं' यह कहने से ये बात सिद्ध हो रही है कि अन्धकार आदि भाव पदार्थ नहीं है, वह अभाव के ही अन्तर्गत आता है। कुछ दार्शनिकों (मीमांसकों) ने तम (अन्धकार) को द्रव्य के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार 'भाव पदार्थ छह ही हैं' इस प्रतिज्ञा से यही भी सिद्ध हो रहा है कि शक्ति तथा सादृश्य कोई भाव पदार्थ नहीं है। मीमांसकों ने शक्ति तथा सादृश्य को भी अलग पदार्थ माना है।

५. छह पदार्थों के लक्षण-द्रव्यत्व और गुणत्व

तत्र द्रव्यादित्रितयस्य द्रव्यत्वादिजातिर्लक्षणम्। द्रव्यत्वं नाम गगनारविन्द-समवेतत्वे सति, नित्यत्वे सति, गन्धासमवेतत्वम्। गुणत्वं नाम समवायिकारणा-समवेतासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः।

अनुवाद—उसमें द्रव्य आदि तीनों (द्रव्य, गुण, कर्म) का लक्षण द्रव्यत्व आदि जाति है। द्रव्यत्व का लक्षण है—गगन तथा पृथ्वी (अरविन्द=कमल) में समवेत होते हुए, नित्य होते हुए, गन्ध में समवेत न रहना। गुणत्व का लक्षण है—समवायि कारण में समवेत न रहना, असमवायिकारण से भिन्न में समवेत रहना तथा सत्ता से साक्षात् व्याप्य जाति का होना।

विशेष—द्रव्यत्व तथा गुणत्व का एक नवीन लक्षण प्रकृत परिच्छेद में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है।

द्रव्यत्व लक्षण का पदकृत्य—द्रव्यत्व के लक्षण में प्रयुक्त गगनारविन्द शब्द से 'आकाशपुष्प' अर्थ नहीं लिया जाता। 'आकाशपुष्प' का अर्थ है—आकाश में फूल, जो कि होता ही नहीं है। अतः आकाशपुष्प का अर्थ है—मिथ्या। लेकिन द्रव्यत्वलक्षणस्थ गगनारविन्द का अर्थ है—गगन तथा अरविन्द। गगन से आकाश तथा अरविन्द पृथ्वी का ग्रहण होता है। इस प्रकार द्रव्यत्व के लक्षण में तीन विशेषण हैं—

१. आकाश तथा पृथ्वी दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहना।

२. नित्य होना।

३. गन्ध में समवाय से न रहना।

चूँकि द्रव्यत्व सभी द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन) में रहता है, तो आकाश तथा पृथ्वी दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहता ही है। साथ ही वह (द्रव्यत्व) जाति होने के कारण नित्य भी है और वह गन्ध में नहीं रहता, क्योंकि गन्ध एक गुण है तथा उसमें तो गन्धत्व रहता है।

यदि इस लक्षण के किसी एक भी विशेषण को हटा दें, तो लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। जैसे यदि 'गगन समवेतत्व' लक्षण से हटा दिया जाये, तो लक्षण होगा—'पृथ्वी समवेतत्वे सति नित्यत्वे सति गन्धासमवेतत्वम्।' यह लक्षण 'पृथ्वीत्व'

में अतिव्याप्त होगा, क्योंकि 'पृथ्वीत्व' पृथ्वी में समवेत है, नित्य है तथा गन्धासमवेत भी है, परन्तु 'पृथ्वीत्व' आकाश में समवेत नहीं है। अत: 'गगनसमवेतत्व' लगाने पर पृथ्वीत्व में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

इसी प्रकार यदि लक्षण से 'पृथ्वीसमवेतत्व' हटा दें, तो आकाश में रहने वाले एकत्व में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यह एकत्व आकाश-समवेत है, नित्य है तथा गन्ध में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, क्योंकि एकत्व भी गुण (संख्या) है, गन्ध भी गुण। गुण में गुण नहीं रहता—यह नियम है।

अत: 'पृथ्वीसमवेतत्व' लगाने पर अतिव्याप्ति नहीं आती, क्योंकि आकाश में रहने वाला एकत्व पृथ्वी में नहीं रहता। पृथ्वी में जो एकत्व है वह आकाशनिष्ठ एकत्व से भिन्न है।

इसी प्रकार लक्षण से 'गगन समवेतत्व' हटा देने पर पृथ्वी-निष्ठ-विशेष में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होती है तथा 'पृथ्वीसमेवतत्व' हटा देने पर नित्य आकाशनिष्ठविशेष में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अत: ये दोनों पद सार्थक हैं। 'द्रव्यत्व' के लक्षण से 'नित्यत्व' हटा देने पर तो अनेक स्थानों पर अतिव्याप्ति होती है। जैसे—'पृथ्वीगगन संयोग'। यह पृथ्वी तथा आकाश दोनों में रहता है तथा गन्ध में नहीं रहता। लेकिन संयोग नित्य नहीं है। अत: 'नित्यत्व' लगा देने पर लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार पृथ्वी तथा आकाश में रहने वाली द्वित्व संख्या भी गन्ध में नहीं रहती। अत: नित्यत्व हटाने पर उस द्वित्वसंख्या में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि द्वित्वसंख्या नित्य नहीं है अपितु अपेक्षा बुद्धि से जन्य है।

इसी तरह यदि द्रव्यत्व लक्षण से 'गन्धासमवेतत्व' हटा दें तो यह लक्षण 'सत्ता' में अतिव्याप्त हो जायेगा। 'सत्ता' जाति द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती है। अत: आकाश तथा पृथ्वी में तो 'सत्ता' है ही। वह सत्ता जाति नित्य भी है, लेकिन वह गन्ध में असमवेत नहीं है अपितु गन्ध में भी समवेत है। अत: 'गन्धासमवेतत्व' विशेषण देने पर लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

गुणत्व लक्षण का पदकृत्य—गुणत्व के लक्षण में तीन विशेषण हैं—१. समवायिकारण में असमवेत, २. असमवायिकारण से भिन्न में समवेत, ३. सत्ता से साक्षात् व्याप्य जाति।

जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहा जाता है। जैसे—कपाल घट का समवायिकारण है। अवयव-अवयवी, गुणी-गुण, क्रियावान्-क्रिया, नित्यद्रव्य-विशेष तथा व्यक्ति-जाति में समवाय सम्बन्ध होता है। समवायिकारण हमेशा कोई द्रव्य ही रहता है। समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से रहकर जो कार्य का कारण बनता है, वह असमवायिकारण कहलाता है। जैसे—तन्तु संयोग पट का तथा तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है। गुण तथा कर्म असमवायिकारण होते हैं।

प्रकृत में गुणत्व के लक्षण का समन्वय इस प्रकार होता है—गुणत्व समवायिकारण में समवेत नहीं रहता, क्योंकि गुणत्व तो गुण में समवेत है और गुण किसी के समवायिकारण नहीं होते। समवायिकारण तो द्रव्य ही होते हैं। अतः गुणत्व समवायिकारणसमेवत हुआ। आत्मा के आठ गुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,) किसी के असमवायिकारण नहीं होते। उनसे भिन्न अन्य गुणों में गुणत्व समवेत रहता है। साथ ही आत्मा के अष्ट गुणों में भी रहता है। अतः, गुणत्व असमवायिकारण भिन्नसमवेत हुआ। साथ ही गुणत्व सत्ता से साक्षात् व्याप्य है। सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म—तीनों में रहती है और गुणत्व केवल गुण में। अतः सत्ता व्यापक है तथा गुणत्व व्याप्य है। गुणत्व सत्ता से साक्षात् व्याप्य है। पृथ्वीत्व, रुपत्व आदि सत्ता से साक्षात् व्याप्य नहीं बल्कि परम्परया व्याप्त हैं।

यदि उक्त लक्षण से 'समवायिकारणासमवेतत्व' हटा दें, तो इस गुणत्व लक्षण की 'द्रव्यत्व' में अतिव्याप्ति हो जायेगी। द्रव्यत्व असमवायिकारण (गुणों) से भिन्न द्रव्य में समवेत है तथा सत्ता से साक्षात् व्याप्य भी है लेकिन वह समवायिकारणासमेवत नहीं बल्कि समवायिकारणद्रव्य में समवेत है। अतः 'समवायिकारणासमवेतत्व' लगाने पर 'द्रव्यत्व' में गुणत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार यदि उक्त लक्षण से 'असमवायिकारणभिन्नसमवेतत्व' हटा दें, तो यह गुणत्व का लक्षण 'कर्मत्व' में अतिव्याप्त हो जायेगा। क्योंकि कर्मत्व समवायिकारण (द्रव्य) में असमवेत है तथा सत्ता से साक्षात् व्याप्य जाति है। लेकिन कर्मत्व असमवायिकारणभिन्न समवेत नहीं है, बल्कि असमवायिकारण (कर्म) में समवेत है। क्योंकि कर्म भी असमवायिकारण होता है। अतः 'असमवायिकारणभिन्नसमवेतत्व' रखने पर कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी तरह यदि 'सत्तासाक्षात्व्याप्यजाति' हटा दें तो यह लक्षण 'बुद्धित्व' में अतिव्याप्त होगा। बुद्धित्व असमवायिकारण से भिन्न बुद्धि में समवेत है तथा समवायिकारण 'द्रव्य' में असमवेत है। लेकिन यह सत्ता से साक्षात् व्याप्य नहीं बल्कि परम्परया व्याप्य है। अतः 'सत्तासाक्षात् व्याप्यजाति' यह विशेषण रखने पर लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

५ क. कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय

कर्मत्वं नाम नित्यासमवेत्वसहितसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः। सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम्। विशेषो नामान्योन्याभावाविरोधी सामान्यरहितः समवेतः। समवायस्तु समवायरहितः सम्बन्धः इति षण्णां लक्षणानि व्यवस्थितानि।

अनुवाद—नित्य में असमवेत होते हुए सत्ता से साक्षात् व्याप्य जाति कर्मत्व है। सामान्य का लक्षण है—प्रध्वंस (अभाव) के प्रतियोगित्व से रहित होना तथा अनेक में समवेत होना। विशेष का लक्षण है—अन्योन्याभाव के अविरोधी, सामान्य से रहित एवं समवाय सम्बन्ध से रहने वाला। समवायरहित सम्बन्ध समवाय है—इस प्रकार छहों भाव पदार्थों के लक्षण व्यवस्थित हो गये।

विशेष—कर्मत्व के लक्षण में दो भाग है—१. नित्य पदार्थ में असमवेत, २. सत्ता से साक्षात् व्याप्य जाति।

कर्म सदा अनित्य ही होता है। अत: कर्मत्व अनित्य कर्म में रहता है। इसलिये वह नित्य में असमवेत हुआ। साथ ही कर्मत्व सत्ता से साक्षात् व्याप्य भी है।

यदि इसे लक्षण से प्रथम दल 'नित्यासमवेत' हटा दें तो यह लक्षण द्रव्यत्व तथा गुणत्व में अतिव्याप्त हो जायेगा क्योंकि द्रव्यत्व तथा गुणत्व सत्ता से साक्षात् व्याप्य है। इसी तरह यदि द्वितीय दल हटा दें तो कर्मत्व का लक्षण होगा—नित्यासमवेतत्व। यह लक्षण 'अनित्यत्व' में अतिव्याप्त हो जायेगा। 'अनित्यत्व' नित्यासमवेत है। अत: कर्मत्व लक्षण में दोनों दलों को रखना अनिवार्य है।

सामान्य के लक्षण में भी दो भाग हैं—प्रध्वंसाप्रतियोगित्व तथा अनेक समवेतत्व।

प्रध्वंस का अर्थ है—अभाव। जिसके आने से उसी वस्तु का अभाव दूर हो जाता है, उसे अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। जैसे—घटाभाव का प्रतियोगी घट है। सामान्य का कभी अभाव होता ही नहीं, क्योंकि वह नित्य है। अत: सामान्याभाव का प्रतियोगी सामान्य होता ही नहीं है अत: सामान्याभाव का प्रतियोगी सामान्य ही नहीं है अत: सामान्य अभावाप्रतियोगी है तथा वह अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

यदि लक्षण से अनेक समवेतत्व हटा दें, अर्थात् 'प्रध्वंसाप्रतियोगित्व' ही सामान्य का लक्षण होगा, तो काल, दिक् आदि में अतिव्याप्ति होगी। काल आदि भी नित्य होने के कारण प्रध्वंसाप्रतियोगी है लेकिन काल अनेक समवेत नहीं है। काल समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता। अत: अनेक समवेतत्व का निवेश करने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार यदि 'अनेक समवेतत्व' ही लक्षण हो, तो रूप आदि गुणों में अतिव्याप्ति हो जायेगी, लेकिन रूप आदि नित्य नहीं हैं। अत: 'प्रध्वंसाप्रतियोगित्व' के निवेश से अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है।

विशेष के लक्षण में तीन दल हैं—अन्योन्याभाव का अविरोधी, सामान्य से रहित होना तथा समवाय सम्बन्ध से रहना। अन्योन्याभाव का अर्थ है—दो वस्तुओं का परस्पर अभाव। जैसे घटत्व का पट में अभाव है तथा पटत्व का घट में अभाव है। अत: घट तथा पट में परस्पर अन्योन्याभाव है। सामान्य अन्योन्याभाव का विरोधी है, क्योंकि जिन पदार्थों में एक ही सामान्य है उनमें परस्पर अन्योन्याभाव (भेद) नहीं होता। जैसे घट का घट में अन्योन्याभाव नहीं होता है। क्योंकि प्रतियोगितावच्छेक घटत्व सामान्य एक ही है। अत: सामान्य अन्योन्याभाव का विरोधी है। लेकिन विशेष अन्योन्याभाव का विरोधी नहीं होता। विशेष के रहने पर अन्योन्याभाव हो जाता है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद तद्परमाणुगत विशेष के कारण ही होता है। इसी प्रकार विशेष सामान्य से रहित होता है। विशेष में विशेषत्व रूप सामान्य नहीं रहता। विशेष समवाय सम्बन्ध से नित्य द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार विशेष में यह लक्षण घटित होता है।

यदि इस लक्षण से प्रथम दल 'अन्योन्याभावाविरोधित्व' हटा दें, तो इस लक्षण की सामान्य में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसी प्रकार यदि लक्षण से द्वितीय दल 'सामान्य रहितत्व' हटा दें, तो गुण तथा कर्म में अतिव्याप्ति हो जायेगी। गुण तथा कर्म अन्योन्याभाव के विरोधी नहीं हैं क्योंकि अन्योन्याभाव का विरोधी तो केवल सामान्य ही है। साथ ही गुण व कर्म समवेत भी रहते हैं, लेकिन 'सामान्यरहित:' कहने पर गुण-कर्म में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि गुण-कर्म सामान्य से रहित नहीं है। यदि इस विशेष लक्षण में 'समवेतत्व' विशेषण न दें, तो इस लक्षण की समवाय में अतिव्याप्ति हो जायेगी। समवाय अन्योन्याभावविरोधी तथा सामान्य से रहित है। लेकिन, वह स्वयं समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता। अत: 'समवेतत्व' के निवेश से समवाय में विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

समवाय के लक्षण में दो दल हैं—समवायरहितत्व तथा सम्बन्धत्व। केवल 'सम्बन्धत्व' कहने पर संयोग में समवाय लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। लेकिन संयोग समवाय रहित नहीं है, बल्कि समवाय सम्बन्ध से ही रहता है। अत: 'समवाय रहितत्व' निवेश करना आवश्यक है। 'द्रव्य' में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'सम्बन्धत्व' कहा गया है। द्रव्य समवाय से सम्बन्ध से कहीं नहीं रहता है। अत: वह समवायरहित तो है परन्तु वह सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार ७ भाव पदार्थों के लक्षण पदकृत्य द्वारा व्यवस्थित कर दिये गये।

६. द्रव्य के भेद और उनके लक्षण

द्रव्यं नवविधं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि इति। तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयस्य पृथिवीत्वादिजातिर्लक्षणम्।

पृथिवीत्वं नाम पाकजरूपसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजाति:। अप्त्वं नाम सरित्सागरसमवेतत्वे सति ज्वलनासमवेतं सामान्यम्।

अनुवाद—द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन। उसमें पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का लक्षण है—पृथ्वीत्व आदि जाति।

पृथ्वीत्व का लक्षण है—पाकजरूप का समानाधिकरण तथा द्रव्यत्व से साक्षात् व्याप्य जाति। अप्त्व (जलत्व) का लक्षण है—नदी तथा सागर में समवेत होते हुए अग्नि में असमवेत सामान्य।

विशेष—पृथ्वीत्व के लक्षण में दो दल हैं—

१. पाकजरूप समानाधिकरण

२. द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जाति।

रूप दो तरह का होता है—पाकज (पाक से उत्पन्न) तथा अपाकज (पाक से उत्पन्न नहीं होने वाला)। पाकज रूप केवल पृथ्वी में ही होता है तथा अपाकज रूप जल, तेज, में होता है। जहाँ (पृथ्वी में) पाकज रूप समवेत हैं वहीं पृथ्वीत्व भी समेवत है। इस

प्रकार पृथ्वीत्व पाकज रूप समानाधिकरण है तथा द्रव्यत्व से साक्षात् व्याप्य भी है। अतः पृथ्वीत्व में लक्षण समन्वय हो जाता है।

यदि इस लक्षण से पाकज पद हटा दें, तो जलत्व में अतिव्याप्ति हो जायेगी। जलत्व अपाकजरूप समानाधिकरण तो है ही और द्रव्यत्व से साक्षात् व्याप्य भी है। अतः 'पाकज' पद का सार्थक्य है। साथ ही 'पाकजरूप समानाधिकरण' यह सम्पूर्ण विशेषण हटाने पर भी जलत्व में अतिव्याप्ति होती है।

यदि लक्षण से द्वितीय दल 'द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य' हटा दें तो गन्ध में अतिव्याप्ति हो जायेगी। जैसे पृथ्वी में पाकज रूप रहता है वैसे ही गन्ध भी रहता है। अतः पाकजरूप समानाधिकरण गन्ध हो जायेगा लेकिन गन्ध 'द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य' नहीं है। अतः पृथ्वीत्व के लक्षण में 'द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्यत्व' का निवेश करने पर गन्ध में अतिव्याप्ति नहीं आती और लक्षण समन्वय हो जाता है।

जलत्व के लक्षण में भी दो दल हैं—

१. जल (नदी, सागर आदि) में समवेत

२. अग्नि में असमवेत

यदि प्रथम दल को हटा दें तो पृथ्वीत्व आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। पृथ्वीत्व अग्नि में असमेवत है। अतः 'जल समवेतत्व' का निवेश आवश्यक है। पृथ्वीत्व 'जल समवेत' नहीं है।

द्वितीय दल 'अग्नि असमवेतत्व' हटा दें रूपादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। रूप भी जल में समवेत है लेकिन अग्नि में असमवेत नहीं है। अतः 'अग्नि-असमेवतत्व' के निवेश से रूप में जलत्व लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी तरह द्रव्यत्व, सत्ता, आदि जाति के वारणार्थ भी 'अग्नि-असमवेतत्व' विशेषण आवश्यक है।

तेजस्त्वं नाम चन्द्रचामीकरसमवेतत्वे सति सलिलासमवेतं सामान्यम्। वायुत्वं नाम त्वगिन्द्रियसमवेतद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिः।

आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति। आकाशं कालो दिगिति।

अनुवाद—तेजस्त्व का लक्षण है—चन्द्र तथा सुवर्ण में समवेत होते हुए जल में असमवेत सामान्य। वायुत्व का लक्षण है—त्वगिन्द्रिय में समवेत तथा द्रव्यत्व से साक्षात् व्याप्य जाति।

आकाश, काल तथा दिशा तीनों के एक-एक ही होने के कारण, इनमें अन्य जाति के न रहने से इन तीनों की पारिभाषिक संज्ञायें ही होती है। जैसे—आकाश, काल तथा दिक्।

विशेष—तेजस्त्व के लक्षण में दो दल हैं—

१. चन्द्र तथा सुवर्ण में समवेत रहना।

२. जल में असमवेत।

चन्द्र, सुवर्ण आदि तेज के ही प्रकार है। अत: उनमें तेजस्त्व रहता ही है तथा जल में तेजस्त्व नहीं रहता। इस प्रकार लक्षण समन्वय हो जाता है।

यदि लक्षण के प्रथम दल को हटा दें, तो पृथ्वीत्व में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। साथ ही द्रव्यत्व, सत्ता आदि के वारणार्थ द्वितीय दल को लक्षण में रखा गया है।

वायुत्व के लक्षण में भी दो दल हैं—

१. त्वगिन्द्रिय समवेतत्व

२. द्रव्यत्वसाक्षात् व्याप्य जाति।

पृथ्वीत्व आदि के वारण के लिये प्रथम दल का समावेश आवश्यक है। द्रव्यत्व, सत्ता आदि के वारणार्थ द्वितीय दल को लक्षण में रखा गया है।

आकाश, काल तथा दिक् ये तीनों एक-एक ही होते हैं। अत: इनमें जाति (सामान्य) नहीं रहती, क्योंकि जाति तो अनेकसमवेत होती है।

संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम्। विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वासमवायिकारणाधिकरणः कालः। अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक्।

अनुवाद—संयोग से अजन्य तथा अनित्य जो विशेष गुण, उस विशेष गुण का समानाधिकरण जो विशेष है, उसका अधिकरण आकाश है। जो विभु हो तथा दिक् का असमवेत जो परत्व उसके असमवायिकारण का अधिकरण हो, वह काल है। काल न होते हुए अविशेष गुण वाली तथा महान् परिमाण वाली दिशा है।

विशेष—आकाश का लक्षण है—विशेष का अधिकरण। किन्तु जिस विशेष का अधिकरण आकाश है, वह विशेष संयोगाजन्य तथा अनित्य विशेष गुण का समानाधिकरण होना चाहिये।

यह ज्ञातव्य है कि जिस द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ रहता है। आकाश नित्य द्रव्य है। अत: वहाँ भी विशेष रहता है। वैसे तो पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के नित्य प्रकार में तथा काल, दिक्, आत्मा एवं मन में भी विशेष रहता है। इन सभी की व्यावृत्ति करने के लिये ही लक्षण में विशेष का विशेषण दिया है—संयोगाजन्य एवं जन्य विशेष गुण का समानाधिकरण।

यहाँ विशेष गुण का समानाधिकरण कहने से काल, दिक् तथा मन की व्यावृत्ति हो जाती है। क्योंकि काल, दिक् तथा मन में कोई विशेष गुण नहीं रहता। विशेष गुण केवल ६ द्रव्यों में रहते है—पृथ्वी जल, तेज, वायु आकाश तथा आत्मा। अत: नित्य होने के कारण काल, दिक्, मन में यद्यपि विशेष तो है, पर वह विशेष विशेषगुण का समानाधिकरण नहीं है। समानाधिकरण का तात्पर्य है कि जिस अधिकरण में विशेष है, उसी अधिकरण (आधार) में विशेष गुण भी रहे।

यह विशेष गुण, संयोगाजन्य तथा जन्य होना चाहिये। यहाँ 'संयोगाजन्य' कहने से पृथ्वी तथा आत्मा में अतिव्याप्ति का कारण होता है। नित्य पृथ्वी में जो विशेष गुण 'रूप' है वह संयोग जन्य होता है, क्योंकि तेज के संयोग से पृथ्वी में रूप की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार आत्मा में जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, वे भी मन संयोग से उत्पन्न होते हैं। अतः विशेष गुण में 'संयोगाजन्य' विशेषण देने से पृथ्वी तथा आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं आती। इसी तरह जल, तेज, वायु के परमाणुओं में जो विशेष गुण है, वह नित्य है, अनित्य (जन्य) नहीं। अतः विशेष गुण के 'जन्यत्व' विशेषण से जल, तेज तथा वायु में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है।

काल के लक्षण में दो दल है—

१. विभु होना।

२. दिगसमवेत परत्व के असमवायिकारण का अधिकरण।

यहाँ 'विभुत्व' इस प्रथम दल से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन का वारण हो जाता है। 'परत्व के असमवायिकारण का अधिकरण' कहने से आकाश तथा आत्मा का भी वारण हो जाता है क्योंकि आकाश तथा आत्मा में परत्व रहता ही नहीं है। एवं च परत्व के असमवायिकारण का अधिकरण आकाश तथा काल कथमपि नहीं हो सकता। 'परत्व' दो प्रकार का है—देशगत तथा कालगत। देशगत परत्व का समवायिकारण है दिक्। कालगत परत्व का समवायिकारण काल है। दिक् में दिक्-वस्तु संयोग रहता है, जो कि देशगत परत्व का असमवायिकारण है। इसी प्रकार काल में है काल-वस्तु संयोग। यह कालगत परत्व का असमवायिकारण है। देशगत परत्व दिग् समवेत है लेकिन कालगत परत्व दिग् से असमवेत है। इस तरह से दिगसमवेत जो कालगत परत्व उसके असमवायिकारण काल-वस्तु संयोग का अधिकरण काल है, जो कि विभु भी है। इस प्रकार से काल में लक्षण समन्वय हो जाता है।

दिक् के लक्षण में तीन दल हैं—

१. काल से भिन्न

२. विशेष गुण से रहित

३. महत् परिमाण वाली

काल में अतिव्याप्ति वारणार्थ प्रथम दल आवश्यक है। क्योंकि काल भी अविशेष गुण वाला तथा महत् परिमाण वाला है। आकाश तथा आत्मा में अतिव्याति के वारणार्थ 'अविशेषगुणत्व' कहा है। आकाश तथा आत्मा काल से भिन्न तथा महत् परिमाण वाले हैं, परन्तु उनमें विशेष गुण रहता है। मन में अतिव्याप्ति वारणार्थ 'महती' कहा गया है। मन अणु परिमाण वाला होता है। यद्यपि मन कालभिन्न तथा अविशेषगुण वाला है। इस प्रकार दिशा (दिक्) में लक्षण समन्वय हो जाता है।

आत्ममनसोरात्मत्वमनस्त्वे। आत्मत्वं नामामूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजातिः। मनस्त्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताणुसमवेतद्रव्यत्वापरजातिः।

अनुवाद—आत्मा और मन का लक्षण है—आत्मत्व और मनस्त्व। आत्मत्व का लक्षण है—अमूर्त में समवेत तथा द्रव्यत्व के बाद की जाति (अर्थात् द्रव्यत्व व्याप्य जाति)। मनस्त्व का लक्षण है—द्रव्य के समवायिकारणत्व से रहित, अणु में समवेत तथा द्रव्यत्व व्याप्य जाति।

विशेष—'आत्मत्व' के लक्षण में दो दल हैं—१. अमूर्त में समवेत

२. द्रव्यत्व व्याप्य जाति

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन—ये ५ मूर्त द्रव्य है। इनसे भिन्न चारों द्रव्य आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा अमूर्त हैं। इस लक्षण में प्रथम दल 'अमूर्तसमवेतत्व' के द्वारा पृथ्वीत्व आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। पृथ्वीत्व द्रव्यत्व व्याप्य जाति के है, परन्तु अमूर्त समवेत नहीं है। द्वितीय दल द्रव्यत्व व्याप्य जाति कहने से आकाश काल तथा दिक् में अतिव्याप्ति नहीं आती। ये तीनों एक-एक ही है। अतः इनमें जाति नहीं रहती।

मनस्त्व के लक्षण में तीन दल हैं—

१. द्रव्य के समवायिकारणत्व से भिन्न

२. अणुसमवेत

३. द्रव्यत्वव्याप्य जाति

मन द्रव्य का समवायिकारण नहीं होता। अतः, मनस्त्व समवायिकारणत्व से भिन्न हुआ। साथ ही मन अणु, परिमाण हैं। अतः, मनस्त्व अणु समवेत है, एवं द्रव्यत्व व्याप्य जाति भी है। अतः, 'मनस्त्व' में लक्षणसमन्वय हो जाता है।

यहाँ आदि प्रथम दल को हटा दें, तो पृथ्वीत्व आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। पृथ्वीत्व अपने परमाणुओं में समेवत है और द्रव्यत्व व्याप्य जाति भी हैं, परन्तु पृथ्वीत्व समवायिकारण से भिन्न नहीं है। अतः पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व में अतिव्याप्ति वारणार्थ प्रथम दल आवश्यक है। आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये चारों विभु है। अतः इनमें अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'अणु समवेत' कहा गया। एकत्व संख्या के वारणार्थ लक्षण में तृतीयदल 'द्रव्यत्व व्याप्य जाति' देना पड़ा। एकत्व समवायिकारणत्व से भिन्न है तथा अणु समवेत भी है, परन्तु वह द्रव्यत्वव्याप्य जाति नहीं है।

७. गुण के भेद और उनके लक्षण

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-परत्व-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताः गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्ट-शब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः।

तत्र रूपादिशब्दान्तानां रूपत्वादिजातिर्लक्षणम्। रूपत्वं नाम नीलसमवेत-गुणत्वापरजातिः। अनया दिशा शिष्टानां लक्षणानि द्रष्टव्यानि।

अनुवाद—आचार्य कणाद के कण्ठ से कहे गये सत्रह गुण हैं।—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख,

दु:ख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न। 'च' शब्द से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म, अधर्म), शब्द—ये सात भी गृहीत होते हैं—इस प्रकार चौबीस गुण हैं।

उसमें रूप से लेकर शब्द तक का लक्षण है—'रूपत्व' आदि जाति। रूपत्व का लक्षण है—नील में समवेत तथा गुणत्व व्याप्य जाति। इसी तरह अन्य रसादि का लक्षण भी देख लेना चाहिये।

विशेष—वैशेषिक सूत्र में आचार्य कणाद ने १७ गुणों का वर्णन किया है। लेकिन वैशेषिक दर्शन में रज गुण माने गये हैं। अत: कणाद प्रणीत सूत्र के 'च' शब्द से अन्य ७ गुणों का अध्याहार किया जाता है। कणाद सूत्र इस प्रकार है—

'रूप रसगन्धस्पर्शा: संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं
संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धय: सुखदु:खे इच्छाद्वैषौ
प्रयत्नाश्च गुणा:।' कणादसूत्र १.१.५

रूपत्व के लक्षण में दो दल हैं—

१. नीलसमवेत

२. गुणत्व व्याप्य जाति

गुणत्व, में अतिव्याप्ति के कारण के लिये लक्षण में द्वितीय दल आवश्यक है तथा रसत्वादि में अतिव्याप्तिवारणार्थ प्रथम दल आवश्यक है।

इसी प्रकार से रसत्व आदि के लक्षण भी कर लेने चाहिये।

८. कर्म आदि के भेद

कर्म पञ्चविधम्। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्। भ्रमणरेचनादीनां गमन एवान्तर्भावः। उत्क्षेपणादीनामुत्क्षेपणत्वादिजातिर्लक्षणम्। तत्रोत्क्षेपणत्वं नामोर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणसमवेतकर्मत्वापरजातिः। एवमपक्षेपणत्वादीनां लक्षणं कर्तव्यम्।

अनुवाद—कर्म पाँच प्रकार का है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन। भ्रमण (घूमना-फिरना) तथा रेचन (खाली करना) आदि का गमन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उत्क्षेपण आदि का लक्षण है—उत्क्षेपणत्व आदि जाति। उत्क्षेपणत्व का लक्षण है—ऊर्ध्वदेश संयोग के असमवायिकारण में समवेत तथा कर्मत्वव्याप्यजाति। इसी प्रकार अपक्षेपणत्व आदि का लक्षण भी करना चाहिये।

विशेष—कर्म के ५ प्रकार हैं—

१. उत्क्षेपण—ऊपर की ओर जाना।

२. अपक्षेपण—नीचे की ओर जाना।

३. आकुञ्चन—सिकुड़ना। जैसे—कछुआ अपने अंगों को सिकुड़ता है।

४. प्रसारण—फैलाना। जैसे—कछुआ अपने अंगों को फैलाता है।

५. गमन—चलना, फिरना, घूमना, खाली करना आदि।

उत्क्षेपण के लक्षण में दो दल हैं—

१. ऊर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारण समवेतत्व

२. कर्मत्व व्याप्य जाति।

आकुञ्चनत्व आदि में अति व्याप्तिवारणार्थ लक्षण में प्रथम दल रखा गया है। ऊर्ध्वदेश संयोग के समवायिकारण में रहने वाले गुण तथा कर्म उस संयोग के असमवायिकारण है। ऊर्ध्व देश संयोग के असमवायिकारण गुण में समवेत गुणत्व के वारणार्थ इस उत्क्षेपण के लक्षण में द्वितीय दल रखा गया है।

सामान्यं द्विविधं परमपरं च। परं सत्ता द्रव्यगुणसमवेता। अपरं द्रव्यत्वादि। तल्लक्षणं प्रागेवोक्तम्।

विशेषाणामनन्तत्वात् समवायस्य चैकत्वाद् विभागो न सम्भवति। तल्लक्षणं च प्रागेवावादि।

अनुवाद—सामान्य दो प्रकार का है पर तथा अपर। पर सामान्य को सत्ता कहते है। इसका लक्षण है—द्रव्यगुण समवेतत्व। अपर सामान्य द्रव्यत्व आदि है। इनका लक्षण पहले ही कहा गया है। विशेष के अनन्त होने के कारण तथा समवाय के एक होने के कारण इनका विभाग सम्भव नहीं है। इनका लक्षण तो पहले ही कहा गया है।

विशेष—सत्ता का लक्षण है—द्रव्यगुणसमवेतत्व। यद्यपि सत्ता कर्म में भी रहती है। परन्तु द्रव्यगुण दोनों में समवेत भी तो सत्ता ही है अन्य कोई नहीं। अत: लक्षण में न्यून पदों को रखने की दृष्टि से सत्ता का लक्षण द्रव्यगुणसमवेतत्व किया गया है।

९. द्वित्व आदि की उत्पत्ति का विवेचन

३. द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ।।

इत्याभाणकस्य सद्भावात् द्वित्वाद्युत्पत्तिप्रकारः प्रदर्श्यते।

अनुवाद—द्वित्व के सम्बन्ध में पाकज गुणों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तथा विभागज विभाग के सम्बन्ध में जिसकी बुद्धि स्खलित नहीं होती, उसे ही वैशेषिक कहा गया है।

इस कहावत के कारण अब द्वित्व आदि की उत्पत्ति का प्रकार दिखलाया जा रहा है।

विशेष—वैशेषिकों की विचार प्रक्रिया में तीन ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं—

१. द्वित्व की उत्पत्ति

२. पाकज गुणों की उत्पत्ति

३. विभागज विभाग

अब इन्हीं तीनों का विवेचन क्रमशः होगा।

९ क. द्वित्व की उत्पत्ति का फल

तत्र प्रथममिन्द्रियार्थसंनिकर्षः (१)। तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम् (२)। ततोऽपेक्षाबुद्धिः (३)। ततो द्वित्वोत्पत्तिः (४)। ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम् (५)। तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम् (६)। ततो 'द्वे द्रव्ये' इति धीः (७)। ततः संस्कारः (८)। तदाह—

४. आदाविन्द्रियसंनिकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया।। इति।।

अनुवाद—उसमें पहले इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होता है, फिर एकत्व का ज्ञान होता है। फिर अपेक्षा बुद्धि होती है। फिर द्वित्व की उत्पत्ति होती है, फिर द्वित्वसामान्य का ज्ञान होता है। फिर द्वित्व गुण का ज्ञान होता है, उसके बाद 'दो द्रव्य' यह बुद्धि होती है। फिर संस्कार होता है।

पहले इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष से एकत्व का ज्ञान होता है। फिर दो पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप से एकत्व को विषय करने वाली बुद्धि होती है, उसके बाद द्वित्व की उत्पत्ति होती है। फिर 'द्वित्वत्व' सामान्य का ज्ञान होता है, उसके बाद द्वित्व संख्या का ज्ञान होता है। फिर 'दो द्रव्य' यह बुद्धि होती है। इस प्रकार द्वित्व के उदय की प्रक्रिया है।

विशेष—द्वित्व की उत्पत्ति के लिये आठ क्षण लगते हैं। यथा—
प्रथम क्षण—इन्द्रिय तथा विषय का सन्निकर्ष
द्वितीय क्षण—एकत्व ज्ञान
तृतीय क्षण—अपेक्षा बुद्धि
चतुर्थ क्षण—द्वित्व की उत्पत्ति
पंचम क्षण—द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान
षष्ठ क्षण—द्वित्व गुण का ज्ञान
सप्तम क्षण—'दो द्रव्य' यह ज्ञान
अष्टम क्षण—संस्कार

द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे किं प्रमाणम्? अत्राहुराचार्याः—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति। वयं तु ब्रूमः—द्वित्वादिकमेकत्वाद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यङ्ग्यं न भवति। अनेकाश्रितगुणत्वात् पृथक्त्वादिवदिति।

अनुवाद—द्वित्व आदि के अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने में क्या प्रमाण है? इस सम्बन्ध में आचार्यों ने कहा है—अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि की उत्पादिका हो सकती है।

अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि का व्यञ्जक मानने की अनुपपत्ति है। अतः उस अपेक्षाबुद्धि से ही द्वित्व का अनुविधान (उत्पादन) होता है। जैसे संयोग के द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। हमारा तो यह कहना है कि द्वित्व आदि दो एकत्वों को विषय करने वाली अनित्य अपेक्षा बुद्धि के व्यङ्ग्य नहीं होते हैं। क्योंकि द्वित्वादि अनेकों में आश्रित गुण है, पृथक्त्व आदि की तरह।

विशेष—मीमांसकों के अनुसार द्वित्व आदि संख्यायें नित्य हैं तथा अपेक्षा बुद्धि द्वित्व आदि की व्यञ्जक है। इस पर वैशेषिकों का कहना है कि अपेक्षा बुद्धि को द्वित्व का व्यञ्जक मानने की कोई उपपत्ति दिखाई नहीं देती। अतः क्यों न अपेक्षा बुद्धि को द्वित्व का उत्पादक ही कहा जाये। जिस तरह संयोग को शब्द का उत्पादक माना जाता है। कण्ठ तालु आदि के संयोग से ही शब्द उत्पन्न होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय-वैशेषिक मत में शब्द अनित्य है, परन्तु मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं।

यह एक है, यह एक है—इस प्रकार से दो एकत्वों को विषय बनाने वाली जो बुद्धि है, वह अपेक्षा बुद्धि कही जाती है। यह अपेक्षा बुद्धि अनित्य है। अतः, इसके द्वारा द्वित्व व्यञ्जकता नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पृथक्त्व अनेक द्रव्यों में रहने वाला गुण है, वैसे ही द्वित्व आदि संख्या भी अनेक द्रव्यों में रहने वाला गुण है। अतः, यह द्वित्व आदि अनित्य है तथा अपेक्षाबुद्धि से जन्य है।

९ ख. द्वित्व की निवृत्ति का कम

निवृत्तिक्रमो निरूप्यते-अपेक्षाबुद्धित एकत्वसामान्यज्ञानस्य द्वित्वोत्पत्ति-समकालं निवृत्तिः। अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वसामान्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धिसमसमयम्। द्वित्वस्यापेक्षाबुद्धिनिवृत्तेर्द्रव्यबुद्धिसमकालम्। गुणबुद्धेर्द्रव्यबुद्धितः संस्कारोत्पत्ति-समकालम्। द्रव्यबुद्धेस्तदनन्तरं संस्कारादिति।

अनुवाद—अब निवृत्ति का क्रम बतलाते हैं—जिस क्षण में (चतुर्थ क्षण में) अपेक्षा बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है, उसी क्षण में एकत्व ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। जिस समय द्वित्व सामान्य ज्ञानसे द्वित्व गुण बुद्धि की उत्पत्ति होती है, उसी क्षण (षष्ठक्षण) में अपेक्षा बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। अपेक्षा बुद्धि की निवृत्ति होते ही जिस क्षण में 'दो द्रव्य' यह द्रव्य बुद्धि होती है, उसी क्षण में (सप्तम क्षण में) द्वित्व ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। द्रव्य बुद्धि (दो द्रव्य इस बुद्धि) से संस्कार की उत्पत्ति के समय ही (अष्टम क्षण में) द्वित्वगुण बुद्धि का नाश हो जाता है। संस्कार के बाद अगले (नवें) क्षण में द्रव्यबुद्धि का भी नाश हो जाता है।

तथा च संग्रहश्लोकाः-

५. आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः ।
द्वित्वोदयसमं, पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः ॥
६. द्वित्वाख्यगुणधीकाले, ततो द्वित्वं निवर्तते ।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः ॥

७. गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो ततः॥ इति।

अनुवाद—पहले अपेक्षा बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति के समय ही एकत्व ज्ञान नष्ट हो जाता है। उसके बाद द्वित्वत्व सामान्य ज्ञान से द्वित्व गुणबुद्धि की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है। उसके बाद अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्रव्यबुद्धि की उत्पत्ति के समय ही द्वित्व का नाश होता है। द्रव्यबुद्धि के समय की उत्पत्ति के समय ही गुण बुद्धि का नाश होता है। संस्कार के उत्पन्न होने से उसके अगले (नवें) क्षण में द्रव्यबुद्धि का नाश होता है। इस प्रकार नाश का क्रम बतलाया गया है।

विशेष—द्वित्वोत्पत्ति तथा विनाश का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम क्षण	इन्द्रियार्थसन्निकर्ष	
द्वितीय क्षण	एकत्व का ज्ञान	
तृतीय क्षण	अपेक्षा बुद्धि	
चतुर्थ क्षण	द्वित्वोत्पत्ति,	एकत्व ज्ञान का नाश
पंचम क्षण	द्वित्वत्व जाति का ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान)	
षष्ठ क्षण	द्वित्वगुण का ज्ञान (सविकल्प ज्ञान),	अपेक्षा बुद्धि का नाश
सप्तम क्षण	द्रव्यबुद्धि (दो द्रव्य-यह ज्ञान)	द्वित्व का नाश
अष्टम क्षण	संस्कार की उत्पत्ति,	गुण बुद्धि का नाश
नवम क्षण	द्रव्यबुद्धि का नाश	

बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरविनाश्यत्वे संस्कारविनाश्यत्वे च प्रमाणम्—विवादाध्यासितानि ज्ञानान्युत्तरोत्तरकार्यविनाश्यानि क्षणिकविभुविशेषगुणत्वाच्छब्दवत्। क्वचिद् द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मसमकालमेकत्वसमकालचिन्तयाऽऽश्रयानिवृत्तेरेव द्वित्वनिवृत्तिः। कर्मसमकालमपेक्षाबुद्धिचिन्तनादुभाभ्यामिति संक्षेपः।

अनुवाद—बुद्धि का अन्य बुद्धि के द्वारा विनाश होने में और संस्कार के द्वारा विनाश होने में प्रमाण है—विवादास्पद ज्ञान अपने उत्तरोत्तर कार्य (ज्ञान) के द्वारा विनष्ट होते हैं, विभु द्रव्य के विशेष क्षणिक (अनित्य) गुण होने के कारण, शब्द के समान। किसी मत में द्रव्य का आरम्भ करने वाले संयोग के प्रतिद्वन्द्वी विभाग के जनक कर्म के काल में ही एकत्व की चिन्ता (ज्ञान) होने से आश्रय के हट जाने के कारण द्वित्व की भी निवृत्ति हो जाती है। विभाग जनक कर्म के समकाल ही अपेक्षा बुद्धि का ज्ञान हो जाने पर दोनों कारणों से (अर्थात् आश्रय नाश से तथा अपेक्षा बुद्धि के नाश से) द्वित्व का नाश होता है।

विशेष—जो विभु द्रव्यों के विशेष गुण होते हैं, वे क्षणिक होते है। जैसे कि शब्द विभु (आकाश) का विशेष गुण है अतः वह क्षणिक है। उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का विशेष गुण होने के कारण क्षणिक है। ज्ञान का विनाश अन्य ज्ञान से अथवा संस्कार

से होता है, जिसका निरूपण ऊपर नव क्षणों की द्वित्वोत्पत्ति तथा द्वित्वनाश की प्रक्रिया में दिखलाया गया है।

अब अन्य मत से आश्रयनाश से द्वित्वनाश की पञ्चक्षण प्रक्रिया को बतलाया गया है।

विभाग जनक कर्म के समय ही एकत्व ज्ञान या अपेक्षा बुद्धि हो जाने पर पाँच क्षण में ही द्वित्व नाश होता है। विभाग जनक कर्म के समय एकत्व ज्ञान मानने पर आधार (घर) के नाश से द्वित्व का नाश होता है तथा विभाग जनक कर्म के समय अपेक्षा बुद्धि मानने पर आश्रयनाश तथा अपेक्षा बुद्धि नाश—इन दोनों नाशों से द्वित्व का नाश माना जाता है—

		प्रथम मत	द्वितीय मत
प्रथम क्षण	विभागजनक कर्म	एकत्व ज्ञान	अपेक्षाबुद्धि
द्वितीय क्षण	विभाग	अपेक्षा बुद्धि	द्वित्वोत्पत्ति
तृतीय क्षण	संयोगनाश	द्वित्वोत्पत्ति	द्वित्वत्व ज्ञान
चतुर्थ क्षण	घटनाश	द्वित्वत्वजाति ज्ञान	अपेक्षाबुद्धि नाश
पंचम क्षण	आक्षय नाश से	द्वित्वनाश, अपेक्षा बुद्धिनाश	द्वित्वनाश (अपेक्षा बुद्धि नाश से)

प्रथमः मत में आश्रयनाश एक ही क्षण में द्वित्वनाश तथा अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है, जबकि द्वितीय मतानुसार अपेक्षा बुद्धि के नाश होने पर उत्तर क्षण में द्वित्वनाश होता है। अतः द्वितीय मतानुसार होने वाला द्वित्वनाश (आश्रय=घटनाश)। तथा कारण=अपेक्षाबुद्धि नाश दोनों नाशों से होता है।

९ ग. अपेक्षाबुद्धि का लक्षण

अपेक्षाबुद्धिर्नाम विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धिरिति बोद्धव्यम्।

अनुवाद—विनाशक विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि को अपेक्षाबुद्धि समझना चाहिये।

विशेष—अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है, अतः अपेक्षा बुद्धि का नाश विनाशक विनाश हुआ। अपेक्षा बुद्धि विनाश की प्रतियोगिनी अपेक्षाबुद्धि है। इसप्रकार लक्षणसमन्वय होता है।

यदि इस लक्षण में 'विनाशकः' विशेषण न दें तो 'अयं घटः' इत्याकारण बुद्धि में भी लक्षण चला जायेगा। 'अयं घटः' इत्याकारक बुद्धि के नाश की प्रतियोगिनी 'अयं घटः' इत्याकारक बुद्धि है किन्तु 'अयं घटः' इत्याकारक बुद्धि का नाश किसी का विनाशक नहीं है। अतः 'विनाशक विनाश' कहने पर 'अयं घटः' इत्याकारक बुद्धिनाश नहीं लिया जा सकता।

न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में अपेक्षा बुद्धि का लक्षण दिया गया है—

अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षा बुद्धिरुच्यते।

अनेक 'एकत्व' का अवगाहन करने वाली बुद्धि अपेक्षा बुद्धि कहलाती है। जैसे—अयम् एकः, अयम् एकः—इत्याकारिका बुद्धि।

१०. पाकज पदार्थ की उत्पत्ति

अथ द्व्यणुकनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरन्यद् द्व्यणुकमुत्पद्य रूपादिमद्- भवतीति जिज्ञासायामुत्पत्तिप्रकारः कथ्यते-नोदनादिक्रमेण द्व्यणुकनाशः, नष्टे द्व्यणुके परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादीनां निवृत्तिः निवृत्तेषु श्यामादिषु पुनरन्यस्मा-दग्निसंयोगाद् रक्तादीनामुत्पत्तिः।

उत्पन्नेषु रक्तादिषु अदृष्टवदात्मसंयोगात्परमाणौ द्रव्यारम्भणाय क्रिया। तया पूर्वदिशाद्विभागः। विभागेन पूर्वदिशसंयोगनिवृत्तिः। तस्मिन्निवृत्ते परमाण्वन्तरेण संयोगोत्पत्तिः। संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भः। आरब्धे द्व्यणुके कारणगुणादिभ्यः कार्यगुणादीनां रूपादीनामुत्पत्तिरिति यथाक्रमं नव क्षणाः।

दशक्षणादिप्रकारान्तरं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते। इत्थं पीलुपाकप्रक्रिया। पिठरपाकप्रक्रिया नैयायिकधीसंमता।

अनुवाद—अब यह जिज्ञासा होती है कि द्व्यणुक के नाश से प्रारम्भ कर कितने क्षणों में पुनः दूसरा द्व्यणुक उत्पन्न होकर रूपादि से युक्त होता है—इस तरह की जिज्ञासा होने पर उसकी उत्पत्ति का प्रकार बतलाया जा रहा है। नोदन आदि के क्रम से द्व्यणुक का नाश होता है। द्व्यणुक के नष्ट हो जाने पर परमाणु तथा अग्नि के संयोग से श्याम आदि रूप का नाश हो जाता है। श्यामादि का नाश होने पर पुनः अन्य अग्निसंयोग से रक्त आदि रूप की उत्पत्ति होती है। रक्त आदि के उत्पन्न होने पर अदृष्ट से युक्त आत्मा का संयोग होने पर परमाणु में द्रव्य की उत्पत्ति के लिये क्रिया होती है। उस क्रिया से पूर्वदेश से विभाग होता है। विभाग से पूर्वदेश संयोग की निवृत्ति होती है। पूर्वदेश संयोग की निवृत्ति होने पर अन्य परमाणु के साथ संयोग होता है। परमाणु से संयोग होने पर द्व्यणुक का प्रारम्भ होता है। द्व्यणुक की उत्पत्ति होने के कारण रूप गुण से कार्यगुण रूप आदि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यथाक्रम नौ क्षण होते हैं।

दश क्षणों में रूपादि की उत्पत्ति का प्रकार का वर्णन विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जा रहा है। इस प्रकार यह पीलुपाकप्रक्रिया (वैशेषिक मत में) है। नैयायिकों के मत से पिठरपाक प्रक्रिया है।

विशेष—द्व्यणुक नाश होने पर रक्तादिगुण की उत्पत्ति होने तक नौ क्षण लगते हैं—

प्रथम क्षण—द्व्यणुक नाश
द्वितीय क्षण—श्यामरूप का नाश
तृतीय क्षण—रक्त गुण की उत्पत्ति
चतुर्थ क्षण—द्रव्यारम्भ के लिये क्रिया

पंचम क्षण—विभाग

षष्ठ क्षण—पूर्वसंयोग का नाश

सप्तम क्षण—आरम्भक संयोग

अष्टम क्षण—द्व्यणुकोत्पत्ति

नवम क्षण—रक्तगुण की उत्पत्ति

इस रक्तादिगुणोत्पत्ति का वर्णन अन्यमत से दश, एकादश, पञ्च, षड्, सप्त क्षणों में भी होता है। इसका विस्तृत वर्णन न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में किया गया है।

इस सम्बन्ध में न्याय तथा वैशेषिक में अलग-अलग मत है। वैशेषिक दर्शन में पीलु अर्थात् परमाणु में पाक से रक्तादि गुणों की उत्पत्ति मानी गयी है। इसे ही पीलुपाक कहा जाता है। जबकि न्यायमत में पिठर (अवयवी) में, पाक माना गया है। नैयायिकों के अनुसार पिठर पाक प्रक्रिया में द्रव्य के नाश तथा उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जाती है।

११. विभागज विभाग का विवेचन

विभागजविभागो द्विविधः-कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्च। तत्र प्रथमः कथ्यते-कार्यव्याप्ते कारणे कर्मोत्पन्नं यदाऽवयवान्तराद्विभागं विधत्ते, न तदाऽऽकाशादिदेशाद्विभागः। यदा त्वाकाशादिदेशाद्विभागः, न तदावयवान्तरादिति स्थितिनियमः।

अनुवाद—विभागज विभाग दो प्रकार का है—केवल कारण के विभाग से उत्पन्न, कारण तथा अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न। उसमें पहला कहते हैं—कार्य से व्याप्त कारण में उत्पन्न कर्म जब अन्य अवयवों से विभाग करता है, तब आकाश आदि देश से विभाग नहीं होता, जब आकाश आदि देश से विभाग होता है, तब अन्य अवयवों से विभाग नहीं होता, यह स्थिर नियम है।

विशेष—विभाग तीन प्रकार का होता है—

१. एककर्मज विभाग

२. द्वयकर्मज विभाग

३. विभागज विभाग

विभागज विभाग के भी दो प्रकार हैं—१. केवल कारण के विभाग से उत्पन्न विभाग। २. कारण तथा अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न विभाग।

जब दो कपालों में विभाग होने पर उसी कपाल विभाग से कपाल-आकाश विभाग होता है, यही कारण मात्र विभागज विभाग है। पहले कपाल (अवयव) में कर्म उत्पन्न होता है। उस कर्म से कपाल का अन्य कपाल से विभाग होता है फिर आकाश तथा कपाल का विभाग होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कपाल में उत्पन्न कर्म को ही आकाश तथा कपाल के विभाग का कारण क्यों नहीं मान लिया जाता—इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम परिच्छेद में दिया गया है—

कर्मणो गगनविभागाकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागारम्भकत्वेन धूमस्य धूमध्वजवर्गेणेव व्यभिचारानुपलम्भात्। ततश्चावयवकर्मावयवान्तरादेव विभागं करोति नाकाशादिदेशात्। तस्माद्विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः। ततः कारणाभावात्कार्याभाव इति न्यायादवयवनिवृत्तिः।

अनुवाद—जिस प्रकार धूम का अग्नि के साथ व्यभिचार नहीं मिलता, उसी तरह गगन विभाग को न करने वाले कर्म का भी व्यभिचार नहीं मिलता; क्योंकि वह कर्म द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी विभाग का आरम्भ करता है। इस कारण अवयव में होने वाला कर्म अन्य अवयवों से विभाग करता है, आकाशादि देश से नहीं। इसलिये विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग की निवृत्ति होती है। फिर 'कारणाभाव से कार्याभाव होता है' इस न्याय से अवयव की निवृत्ति होती है।

विशेष—कपाल में उत्पन्न कर्म को कपाल-आकाश विभाग का कारण क्यों नहीं मान लिया जाता—इसका उत्तर देते हुए न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा तदनुसार यहाँ भी यह नियम बतलाया गया है कि जब एक कर्म आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, तब अनारम्भक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करता। जैसे कपाल में उत्पन्न कर्म जब घट के आरम्भक कपालद्वय संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, तब घट के अनारम्भक आकाश-कपाल संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकता। इस नियम में कोई भी व्यभिचार उपलब्ध नहीं होता, जिसप्रकार धूम तथा अग्नि के व्याप्ति-नियम में कोई व्यभिचार नहीं होता। इस प्रकार अवयव (कपाल) में उत्पन्न कर्म अवयव का अवयवान्तर (अन्य कपाल) से विभाग करता है। इस कपालद्वय विभाग से घटारम्भक संयोग का नाश होता है और फिर घटारम्भक संयोग का नाश होने से घट का नाश होता है। यही है—कारणाभावात् कार्याभावः। घटारम्भक संयोग (कारण) का नाश होने पर घट (कार्य) का भी नाश हो जाता है।

निवृत्तेऽवयविनि तत्कारणयोरवयवयोः वर्तमानो विभागः कार्यविनाश-विशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वावयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तावाकाश-देशाद्विभागमारभते न निष्क्रियस्य। कारणाभावात्।

अनुवाद—अवयवी (घट) के नष्ट हो जाने पर उसके कारण अवयवों (कपाल) में उत्पन्न विभाग कार्य विनाश से विशिष्ट काल या फिर स्वतन्त्र अवयव की अपेक्षा रखकर सक्रिय अवयव का कार्यसंयुक्त आकाश देश से विभाग प्रारम्भ करता है, निष्क्रिय अवयव का नहीं, कारण के न होने से।

विशेष—कपालद्वय विभाग से सकर्म अवयव (कपाल) का आकाश से विभाग होता है। सक्रिय कपाल का ही आकाश से विभाग होता है, निष्क्रिय कपाल का नहीं।

११ क. विभागज विभाग का दूसरा भेद

द्वितीयस्तु हस्ते कर्मोत्पन्नम् अवयवान्तराद्विभागं कुर्वत् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभते। ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागमारभन्ते। यथा हस्ताकाशविभागाच्छरीराकाशविभागः।

अनुवाद—दूसरा (विभागज विभाग) है—हाथ में उत्पन्न कर्म हाथ का अन्य अवयवों से विभाग करते हुए आकाश आदि देश से भी हाथ का विभाग करता है। यह कारण (हाथ) तथा अकारण (आकाश) का विभाग, जिस दिशा के प्रति कर्म कार्य का आरम्भ करता है, उसी दिशा की अपेक्षा करके कार्य तथा अकार्य का विभाग प्रारम्भ करता है। जैसे हाथ और आकाश के विभाग से शरीर तथा आकाश का विभाग होता है।

विशेष—शरीर के एक अंग (हाथ) में उत्पन्न कर्म के कारण हाथ का शरीर के अन्य अंगों से विभाग होता है। इस विभाग के कारण हाथ तथा आकाश का विभाग होता है। हाथ तथा आकाश का विभाग ही कारणाकारण विभाग है। हाथ शरीर का कारण है तथा आकाश शरीर का अकारण है। इस हस्ताकाश विभाग से शरीराकाशविभाग प्रारम्भ होता है। शरीराकाशविभाग ही कार्याकार्य विभाग है। शरीर हाथ का कार्य हैं तथा आकाश हाथ का अकार्य है। यही है विभागज विभाग का दूसरा भेद—कारणाकारण विभाग से कार्याकार्य विभाग।

न चासौ शरीरक्रियाकार्यः। तदा तस्य निष्क्रियत्वात्। नापि हस्तक्रियाकार्यः व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागकर्तृत्वानुपपत्तेः। अतः पारिशेष्यात् कारणाकारण-विभागस्तस्य कारणमङ्गीकरणीयम्।

अनुवाद—यह शरीर तथा आकाश का विभाग शरीर की क्रिया से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि शरीराकाश विभाग के समय शरीर निष्क्रिय ही रहता है। न ही शरीराकाश विभाग हस्त क्रिया से उत्पन्न है, क्योंकि व्यधिकरण कर्म से विभाग का कर्तृत्व नहीं हो सकता है। अत: परिशेषात् कारणाकारण विभाग ही शरीराकाश विभाग का कारण मान लेना चाहिए।

विशेष—हस्ताकाश विभाग से शरीराकाश विभाग होता है। शरीर की क्रिया शरीराकाश विभाग में कारण नहीं है, क्योंकि शरीर में तो कोई क्रिया ही नहीं होती, क्रिया तो हाथ में होती है। हाथ की क्रिया को भी शरीराकाशविभाग का कारण नहीं कह सकते क्योंकि यह नियम है कि कार्य तथा कारण में सामानाधिकरण्य होना चाहिये। अत: शरीराकाश विभाग शरीर में हो तथा उसका कारण (क्रिया) हाथ में हो—यह सम्भव नहीं है। अत: न तो शरीर क्रिया और न ही हस्तक्रिया शरीराकाश विभाग का कारण है, अपितु हस्ताकाशविभाग ही शरीराकाशविभाग का कारण है।

१२. अन्धकार का विवेचन

यदवादि–'अन्धकारादौ भावत्वं निषिध्यते' इति तदसंगतम्। तत्र चतुर्धा विवादसम्भवात्। तथाहि–द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति। आरोपितं

नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभावः इति प्राभाकरैकदेशिनः। आलोकाभाव इति नैयायिकादय इति चेत्–

अनुवाद—जो यह कहा गया कि अन्धकार आदि में भावत्व नहीं है—यह असंगत है। क्योंकि उस विषय में चार प्रकार से विवाद सम्भव है। तम द्रव्य है—यह भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती लोग कहते हैं अन्धकार में नीलरूप आरोपित है—ऐसा श्रीधराचार्य कहते हैं। अन्धकार आलोकज्ञान का अभाव है—ऐसा प्राभाकरों के एक सम्प्रदाय के लोग कहते हैं। आलोक का अभाव अन्धकार है—ऐसा नैयायिक आदि कहते हैं।

विशेष—तम (अन्धकार) के जो चार मत दिखलाये गये हैं, उनमें क्रमशः तीनों मतों का खण्डन कर अन्तिम मत (सिद्धान्त मत) का प्रतिपादन आगे किया जायेगा।

तत्र द्रव्यत्वपक्षो न घटते। विकल्पानुपपत्तेः। द्रव्यं भवदन्यकाराख्यं पृथिव्याद्यन्यतममन्यद्वा। नाद्यः। यत्रान्तर्भावोऽस्य तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। निर्गुणस्य तस्य द्रव्यत्वासम्भवेन द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामसम्भवात्।

अनुवाद—उसमें पहला द्रव्यत्व पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि दो विकल्पों की अनुपपत्ति है। अन्धकार नामक द्रव्य पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में से ही एक है या उनसे भिन्न है। पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि जिस द्रव्य में इस अन्धकार का अन्तर्भाव होगा, उस द्रव्य में जितने गुण हैं उतने ही गुण इस अन्धकार में भी मानने पड़ेंगे। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्धकार के निर्गुण होने के कारण उसका द्रव्यत्व ही सम्भव नहीं है, फिर द्रव्यान्तरत्व तो निश्चित ही असम्भव है।

विशेष—अन्धकार को द्रव्य कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्धकार को जिस द्रव्य के अन्तर्गत रखा जायेगा उस द्रव्य में जितने गुण होंगे, उतने ही गुण अन्धकार में कहने पड़ेगे। यदि अन्धकार को निर्गुण कहें, तो उसे द्रव्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्रव्य तो सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं।

ननु तमालश्यामलत्वेनोपलभ्यमानं तमः कथं निर्गुणं स्यादिति चेत्- तदसारम्। गन्धादिव्याप्तस्य नीलरूपस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः।

अथ नीलं तम इति गतेः का गतिरिति चेत्–नीलं नभ इतिवद् भ्रान्तिरेवेत्यलं वृद्धवीवधया। अत एव नारोपितरूपं तमः। अधिष्ठानप्रत्ययमन्तरेणाऽऽरोपायोगात्। बाह्यालोकसहकारिरहितस्य चक्षुषो रूपारोपे सामर्थ्यानुपलम्भाच्च।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि तमालपत्र के समान श्यामवर्ण के रूप में प्राप्त तम (अन्धकार) निर्गुण कैसे होगा तो यह कहना व्यर्थ है। अन्धकार में गन्धादि गुणों के न रहने से उन गन्धादि का व्याप्य नीलरूप भी अन्धकार में नहीं रह सकता। यदि यह कहें कि फिर 'तम नील है' इस गति की क्या गति होगी, तो 'आकाश नीला है' की तरह यह भी भ्रान्ति है इसलिये वृद्धों (भाट्ट तथा वेदान्तियों) की इतनी ही आलोचना पर्याप्त है। अतः आरोपित नील रूप वाला भी तम नहीं हो सकता। अधिष्ठान के ज्ञान के बिना

आरोप नहीं हो सकता। बाह्य प्रकाश की सहायता से रहित नेत्र का रूप के आरोप में भी सामर्थ्य नहीं होता है।

विशेष—तम के सम्बन्ध में जो चार मत दिखाये गये थे, उनमे प्रथम मत (तम द्रव्य है) का खण्डन यहाँ हो रहा है। इस मत का खण्डन करते हुए नैयायिकों का कहना है कि तम तो निर्गुण है। तम में नीलरूप भी नहीं रह सकता है। नीलरूप गन्धादि से व्याप्त है अर्थात् नीलरूप व्यापक है गन्धादि व्याप्य।

यत्र-यत्र नीलरूपं, तत्र-तत्र गन्धादि।

यत्र यत्र गन्धादिः नास्ति तत्र तत्र नीलरूपं नास्ति।

अतः जब तम में गन्धादि नहीं है, तो उसमें नीलरूप भी नहीं रह सकता।

दूसरा मत श्रीधराचार्य का है कि तम में नीलरूप आरोपित है। यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान बिना हुए नीलरूप का आरोप ही सम्भव नहीं है। नेत्र भी बाह्य प्रकाश की सहायता से ही रूप का ज्ञान कराता है, बाह्य प्रकाश के बिना नहीं। अब आगे तृतीय मत का खण्डन है।

न चायमचाक्षुषः प्रत्ययः। यदनुविधानस्यानन्यथासिद्धत्वात्। अत एव नालोकज्ञानाभावः। अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात्।

अनुवाद—यह अचाक्षुष ज्ञान भी नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर 'तम का ग्रहण चक्षु से होता है' इस अनुविधान सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः आलोक ज्ञान (प्रकाश ज्ञान) का अभाव भी तम नहीं है। अभाव का ग्रहण उस अभाव के प्रतियोगी की ग्राहक इन्द्रिय से ही होता है—यह नियम है इसलिये तम को भी मानस कहना पड़ेगा।

विशेष—'तम' का ग्रहण चक्षु से होता है—यह बात लोकतः सिद्ध है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

यह नियम है कि जिस इन्द्रिय से अभाव के प्रतियोगी का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उस अभाव का भी ग्रहण होता है। जैसे घट घटाभाव का प्रतियोगी है। घट का ग्रहण चक्षु से होता है, तो अभाव का ग्रहण भी चक्षु से ही विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष के द्वारा होता है। अतः यदि आलोक ज्ञानाभाव को तम कहा जाये तो आलोक ज्ञानाभाव के प्रतियोगी आलोक-ज्ञान का ग्रहण जब मन से होता है, तो फिर आलोक ज्ञानाभाव रूप तम का ग्रहण भी मन से ही होना चाहिये। जबकि अन्धकार (तम) का ग्रहण मन से नहीं, चक्षु से होता है। इसलिये आलोक ज्ञानाभाव तम है—यह प्रभाकरैकदेशियों का मत भी ठीक नहीं है। अब आगे स्वमत का प्रतिपादन होगा—

१३. अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत

तस्मादालोकाभाव एव तमः। न च विधिप्रत्ययवेद्यत्वेनाभावत्वायोग इति सांप्रतम्। प्रलयविनाशावसानादिषु व्यभिचारात्। न चाभावे भावधर्माध्यारोपो दुरुपपादः। दुःखाभावे सुखत्वारोपस्य संयोगाभावे विभागत्वाभिमानस्य च दृष्टत्वात्।

अनुवाद—इसलिये आलोकाभाव ही तम है। विधि प्रत्यय का वेद्य होने के कारण अन्धकार को अभाव नहीं कहा जा सकता—यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से प्रलय, विनाश, अवसान आदि में व्यभिचार होगा। अभाव में भावधर्म का आरोप करना कठिन है—ऐसा भी नहीं है। क्योंकि दुःखाभाव में सुखत्व का आरोप तथा संयोगाभाव में विभागत्व का आरोप दिखाई देता है।

विशेष—विधिप्रत्यय—वेद्य का अर्थ है—विधेय। अन्धकार का प्रयोग विधेय के रूप में किया जाता है। जैसे अन्धकारं कुरु (अंधेरा करो) इत्यादि। यदि अन्धकार को प्रकाशाभाव कहा जा रहा है, तो अभाव को विधेय कैसे बनाया जा सकता है। इस पर वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रकार प्रलय, अवसान, विनाश आदि भी अभाव ही हैं परन्तु ये भी विधेय के रूप में प्रयुक्त होते हैं जैसे—प्रलयं कुरु, अवसानं कुरु, विनाशं कुरु आदि। उसी तरह अन्धकार को विधेय बनाया जा सकता है।

अभाव में भाव धर्म का आरोप भी सम्भव है। जैसे दुःखाभाव में सुखत्व का आरोप किया जाता है। उसी तरह प्रकाशाभाव में अन्धकार का आरोप है।

न चालोकाभावस्य घटाद्यभाववद् रूपवदभावत्वेनालोकसापेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वं स्यादित्येषितव्यम्। यद्ग्रहे यदपेक्षं चक्षुः, तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षत इति न्यायेनालोकग्रहं आलोकापेक्षाया अभावेन तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षाया अभावात्।

अनुवाद—जिस प्रकार घटादि पदार्थों का अभाव रूपवत् पदार्थ का अभाव है, इसलिये वह आलोक सापेक्ष चक्षु के ज्ञान का विषय है, उसी तरह आलोकाभाव भी आलोक सापेक्ष चक्षु के ज्ञान का विषय है। यह नहीं कहना चाहिये। जिसके ग्रहण में चक्षु को जिसकी अपेक्षा होती है, उसके अभाव के ग्रहण में भी उसकी अपेक्षा होती है। इस न्याय से जब आलोक के ग्रहण में आलोक की अपेक्षा नहीं होती, तो आलोकाभाव के ग्रहण में भी आलोक की अपेक्षा नहीं है।

विशेष—जब आलोक के ज्ञान में आलोक सहकार नहीं होता, तो आलोकाभाव के ज्ञान में भी आलोक सहकारी क्यों होगा? अतः आलोकाभाव के ज्ञान में, आलोक सहकारी नहीं है।

न चाधिकरणग्रहणावश्यंभावः। अभावप्रतीतावधिकरणग्रहणावश्यंभावानङ्गीकारात्। अपरथा, 'निवृत्तः कोलाहलः' इति शब्दप्रध्वंसः प्रत्यक्षो न स्यात्-इति अप्रामाणिकं परवचनम्। तत्सर्वमभिसंधाय भगवान्कणादः प्रणिनाय सूत्रं-'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' (वै०सू० ५।२।१९) इति।

अनुवाद—ऐसा भी नहीं है कि (आलोकाभावरूप तम के ग्रहण के लिये) अधिकरण का ग्रहण अवश्यं भावी है, क्योंकि अभाव के ज्ञान के लिये अधिकरण का ग्रहण अवश्यंभावी नहीं माना गया है। अन्यथा 'कोलाहल समाप्त हो गया' यहाँ शब्द का प्रध्वंस प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस प्रकार विपक्षियों का वचन अप्रामाणिक है। यह सब सोचकर ही भगवान् कणाद ने सूत्र बनाया है—द्रव्य, गुण तथा कर्म की विष्पत्ति से भिन्न होने के कारण तम अभाव ही है।

विशेष—प्रभाकर मत में अभाव को अधिकरण रूप माना गया है। उसी का खण्डन प्रकृत में किया गया है। अन्ततः न्याय वैशेषिक में सिद्धान्त पक्ष यही है कि अन्धकार आलोकाभाव रूप है, भिन्न पदार्थ नहीं। द्रव्य, गुण या कर्म—तीनों में से किसी एक में भी तम का समावेश नहीं हो पाता, अतः तम अभाव ही है।

१४. अभाव का विवेचन

अभावस्तु निषेधमुखप्रमाणगम्यः सप्तमो निरूप्यते। स चासमवायत्वे सत्यसमवायः।

संक्षेपतो द्विविधः-संसर्गाभावान्योन्याभावभेदात्। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः-प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावभेदात्। तत्रानित्योऽनादितमः प्रागभावः। उत्पत्तिमानविनाशी प्रध्वंसः। प्रतियोग्याश्रयोऽभावोऽन्त्यन्ताभावः। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वे सति अनवधिरभावोऽन्योन्याभावः।

अनुवाद—निषेधमुख प्रमाण से ज्ञात होने वाले सातवें पदार्थ अभाव का निरूपण हो रहा है। उसका लक्षण है—असमवायत्व होने पर असमवाय। वह अभाव संक्षेप में दो प्रकार का है—संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंस तथा अत्यन्ताभाव। उसमें प्रागभाव अनित्य तथा अनादि है। प्रध्वंस उत्पत्तिमान् तथा नित्य है। प्रतियोगी के आश्रय में रहने वाला अभाव अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव से भिन्न होते हुए अवधिरहित अभाव अन्योन्याभाव है।

विशेष—अभाव का लक्षण है समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित न होते हुए समवाय से भिन्न होना। इस लक्षण में प्रथम दल असमवायत्व (समवाय से असम्बद्ध) है। यदि प्रथम दल लक्षण में न दिया जाये तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष में अतिव्याप्ति होगी। ये सभी समवाय से सम्बद्ध हैं। द्रव्य में गुण, कर्म समवायेन रहते हैं तथा सामान्य एवं विशेष भी समवायेन ही रहते हैं। अतः 'असमवायत्व' विशेषण देने से इन पाँचों पदार्थों में अतिव्याप्ति नहीं होती। लेकिन लक्षण में केवल 'असमवायत्व' ही देने पर समवाय में अभाव लक्षण चला जायेगा। समवाय भी समवाय से नहीं रहता और न तो समवाय में समवाय सम्बन्ध रहता है। अतः 'समवाय भिन्न, कहने पर समवाय में अतिव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार अभावलक्षण में दोनों दल सार्थक हैं—

१. असमवायत्व (समवाय से असम्बद्ध)

२. असमवाय (समवाय से भिन्न)

अभाव के दो प्रकार हैं—संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन प्रकार हैं—१. प्रागभाव २. प्रध्वंस ३. अत्यन्ताभाव।

१. प्रागभाव—घट की उत्पत्ति के पूर्व घट का प्रागभाव होता है। यह अनादि है, क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व घट का प्रागभाव अनादि काल से चला आ रहा है परन्तु घटोत्पत्ति के होते ही घट प्रागभाव नष्ट हो जाता है। अतः घट का प्रागभाव विनाशी (अनित्य) है।

२. प्रध्वंस—घट नाश होने पर घट का प्रध्वंस हो जाता है। यह प्रध्वंस सादि है, क्योंकि घट के फूटने पर घट का प्रध्वंस (अभाव) उत्पन्न होता है किन्तु यह प्रध्वंस नित्य है, इसका कभी विनाश नहीं होता।

३. अत्यन्ताभाव—प्रतियोगी पर आश्रित अभाव अत्यन्ताभाव है। जैसे घटाभाव अपने प्रतियोगी घट पर आश्रित है। घट के रहने पर घटात्यन्ताभाव नहीं रहता है तथा घट के न रहने पर ही घटात्यन्ताभाव रहता है।

अन्योन्याभाव—यह अत्यन्ताभाव से भिन्न प्रकार का अभाव है। यह भी अनवधिक है अर्थात् नित्य है। जैसे घट तथा पट का परस्पर अन्योन्याभाव (भेद) है। घट में पटभेद तथा पट में घटभेद हैं।

ननु अन्योन्याभाव एवात्यन्ताभाव इति चेत्–अहो राजमार्ग एव भ्रमः। अन्योन्याभावो हि तादात्म्यप्रतियोगिकः प्रतिषेधः। यथा घटः घटात्मा न भवतीति। संसर्गप्रतियोगिकः प्रतिषेधोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपसम्बन्धो नास्तीति।

न चास्य पुरुषार्थौपयिकत्वं नास्तीत्याशङ्कनीयम्। दुःखात्यन्तोच्छेदापरपर्यायनिःश्रेयसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात्।।

इति श्रीमत्सायाणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे औलूक्यदर्शनम्।।

अनुवाद—यदि यह कहें कि अन्योन्याभाव ही अत्यन्ताभाव है, तो (इसका उत्तर है कि) अरे आपको राजमार्ग में ही भ्रम हो गया। तादात्म्य प्रतियोगिक अभाव (तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव) अन्योन्याभाव है। जैसे घट, पट नहीं है। संसर्ग प्रतियोगिक अभाव (संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव) अत्यन्ताभाव है। जैसे वायु में रूप का का सम्बन्ध (संसर्ग) नहीं है।

इस अभाव का पुरुषार्थ के लिये उपयोगित्व नहीं है—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। दुःख का अत्यन्ताभाव, जिसका दूसरा पर्याय निःश्रेयस (मोक्ष) है, वही परमपुरुषार्थ है।

विशेष—घट तथा पट का जो परस्पर अभाव है वह अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव को ही भेद भी कहा जाता है। पट में घटभेद तथा घट में पटभेद है। भेद की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है।

अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न है। यहाँ संसर्ग कहने से तादात्म्य का वारण हो जाता है, क्योंकि तादात्म्य संसर्ग नहीं है। जैसे वायु में रूप का अभाव।

॥ इति औलूक्यदर्शनम् ॥

अध्याय-११
अक्षपाद-दर्शनम्

निःश्रेयसाधिगतिरत्र तु षोडशानां
ज्ञानात्प्रमाणमिह वेत्ति चतुष्टयं यः।
ईशो जगत्सृजति यस्य मते स्वतन्त्रो
न्यायप्रवर्तकमहामुनये नमोऽस्मै ॥ ऋषिः।

१. *न्यायशास्त्र की रूपरेखा*

तत्त्वज्ञानाद् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवतीति समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम्। तदाह सूत्रकारः-प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या०सू० १।१।१) इति। इदं न्यायशास्त्रस्यादिमं सूत्रम्।

अनुवाद—तत्त्वज्ञान से दुःखात्यन्ताभाव रूप मोक्ष प्राप्त होता है, यह समानतन्त्र (न्याय दर्शन). में भी प्रतिपादित किया गया है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है— प्रभाव, प्रमेय इत्यादि तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। (न्या.सू. १/१/१) यह न्यायशास्त्र का पहला सूत्र है।

विशेष—न्यायशास्त्र तथा वैशेषिक शास्त्र—ये दोनों समानतन्त्र हैं। वैशेषिक दर्शन में सप्तपदार्थ माने गये हैं तथा न्यायदर्शन में १६ पदार्थ माने गये है। वस्तुतः सप्त पदार्थों का १६ पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ये १६ पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। इनका ही एक नाम अक्षपाद था।

न्यायशास्त्रं च पञ्चाध्यायात्मकम्। तत्र प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम्। तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निके भगवता गौतमेन प्रमाणादिपदार्थनवकलक्षणनिरूपणं विधाय द्वितीये वादादिसप्तपदार्थलक्षणनिरूपणं कृतम्। द्वितीयस्य प्रथमे संशयपरीक्षणं प्रमाणचतुष्टयाप्रामाण्यशङ्कानिराकरणं च। द्वितीयेऽर्थापत्त्यादेरन्तर्भावनिरूपणम्।

अनुवाद—न्यायशास्त्र पाँच अध्यायों का है। उसमें प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में भगवान् गौतम ने प्रमाण आदि नौ पदार्थों का लक्षण बतलाकर दूसरे आह्निक में वाद आदि सात पदार्थों के लक्षण का निरूपण किया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में संशय का परीक्षण तथा चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) के अप्रामाण्य की

शंका का निराकरण किया गया है। द्वितीय आह्निक में अर्थापत्ति आदि के अन्तर्भाव का निरूपण किया गया हैं।

तृतीयस्य प्रथम आत्मशरीरेन्द्रियार्थपरीक्षणम्। द्वितीये बुद्धिमनःपरीक्षणम्। चतुर्थस्य प्रथमे प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गपरीक्षणम्। द्वितीये दोषनिमित्तक-(त)-त्वनिरूपणमवयव्यादिनिरूपणं च। पञ्चमस्य प्रथमे जातिभेदनिरूपणम् द्वितीये निग्रहस्थानभेदनिरूपणम्।

अनुवाद—तीसरे अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय तथा अर्थ की परीक्षा हुई है। द्वितीय आह्निक में बुद्धि तथा मन की परीक्षा की गयी है। चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख तथा अपवर्ग की परीक्षा हुई है। दूसरे आह्निक में दोष निमित्त का निरूपण तथा अवयवी आदि का निरूपण हुआ है। पाँचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में जातिभेद का निरूपण है तथा द्वितीय आह्निक में निग्रह स्थान के भेदों का निरूपण है।

विशेष—आगे के परिच्छेदों में इन सभी पदार्थों का विशद विवेचन हुआ है। अभी तक गौतम द्वारा रचित न्यायसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का नामोल्लेख किया गया है।

आचार्य गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा है। इस भाष्य पर उद्योतकर ने न्याय वार्तिक लिखा है। न्यायवार्तिक पर महान् विद्वान् वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका लिखी। तात्पर्य टीका की व्याख्या है—तात्पर्य परिशुद्धि। इसके लेखक उदयनाचार्य थे। उदयनाचार्य की दूसरी सुप्रसिद्ध रचना न्याय कुसुमाञ्जलि है। इसके अतिरिक्त जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी, भासर्वज्ञ का न्यायभूषणप्राचीन न्याय की परम्परा के ग्रन्थ है। प्राचीन न्याय की परम्रा को बदलकर नव्य न्याय का रूप देने वाले आचार्य थे—आचार्य गंगेशोपाध्याय। गंगेशोपाध्याय ने तत्त्व चिन्तामणि नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा। जिसमें अवच्छेदकता, अवच्छिन्नता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, निरूपकता, निरूप्यता आदि १६ शक्तियों से समन्वित नवीन भाषा का प्रयोग किया। वस्तुतः बौद्धों का खण्डन करने के लिये आचार्य गंगेश ने न्याय शास्त्र की भाषा का जटिल बना दिया। तत्त्वचिन्तामणि पर गंगेशोपाध्याय के पुत्र वर्धमान ने प्रकाश टीका तथा जयदेव ने आलोक नामक टीका लिखी। वासुदेव सार्वभौम ने भी तत्त्वचिन्तामणिपर टीका लिखी तथा नव्य न्याय का नवद्वीप में प्रचार किया। इनके शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने तत्त्वचिन्तामणि पर 'दीधिति' नामक टीका लिखी।

दीधिति पर टीका लिखने वाले आचार्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश भट्टाचार्य तथा गदाधर भट्टाचार्य प्रसिद्ध है। नव्य न्याय की परम्परा में ये सभी आचार्य अमर है।

२. प्रमाण का विचार

मानाधीना मेयसिद्धिरिति न्यायेन प्रमाणस्य प्रथममुद्देशे तदनुसारेण लक्षणस्य कथनीयतया प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य प्रथमं लक्षणं कथ्यते–साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्।

अनुवाद—'प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है।' इस न्याय से प्रमाण का पहले कथन है। अत: उसके अनुसार लक्षण के कई जाते समय प्रथम उद्दिष्ट प्रमाण का लक्षण पहले कहा जा रहा है।

साधन तथा आश्रय से व्यतिरिक्त न होते हुए भी जो प्रमा से व्याप्त हो, वह प्रमाण है।

विशेष—प्रमा (यथार्थ अनुभव) का ज्ञान बिना प्रमाण के नहीं होता, अत: 'यत्र-तत्र प्रमा तत्र-तत्र प्रमाणम्' यह व्याप्ति है।

एवं च प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं परमेश्वरप्रामाण्यं संगृहीतं भवति। यदचकथत् सूत्रकारः–मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् (न्या०सू० २/१/६८) इति। तथा च न्यायनयपारावारपारदृश्वा विश्वविख्यातकीर्तिरुदयनाचार्योऽपि न्यायकुसुमाञ्जलौ चतुर्थे स्तबके–

१. मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ (४/५) इति।

अनुवाद—इस प्रकार प्रतितन्त्र सिद्धान्त में सिद्ध परमेश्वर का प्रामाण्य भी गृहीत होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—जिस प्रकार मन्त्र तथा आयुर्वेद का प्रामाण्य है, उसी प्रकार परमेश्वर का भी प्रमाण्य है, आप्त प्रामाण्य के कारण (न्याय सूत्र २/१/६८)। इसी प्रकार न्यायसिद्धान्त रूपी समुद्र के पारंगत तथा विख्यात कीर्तिवाले उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि के चतुर्थ स्तबक में कहा है—

सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त करना ही मिति (प्रमा) है तथा उससे (उस ज्ञान से) युक्त होना ही प्रमातृत्व है। उस ज्ञान से सम्बन्धाभाव न रखना ही गौतम मत में प्रामाण्य है।

विशेष—न्याय का प्रतितन्त्र सिद्धान्त वैशेषिक सिद्धान्त है। वैशेषिक तथा न्याय-दोनों मतों में परमेश्वर को अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया गया है। न्यायसूत्र में आप्त वचन रूप हेतु से परमेश्वर की प्रामाणिकता को सिद्ध किया गया है।

२. साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।

लेशादृष्टिनिमित्तदृष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।

(न्या० कु० ४/६) इति।

तच्चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

अनुवाद—नित्य युक्त, दूसरे साधन की अपेक्षा न करने वाले तथा साक्षात्कार रूप यथार्थ अनुभव के विषय में मेरे लिये वे भगवान् शिव ही प्रमाण हैं, जिन भगवान् शिव में समस्त उत्पादित वस्तुओं की उत्पत्ति का क्रम समाहित है, तथा जिन भगवान् शिव ने लेश मात्र भी अदृष्टि (दिखलाई न देने) के कारण उत्पन्न दोषों को दूर करके शङ्कारूपी भूसे को नष्ट कर दिया है, फिर शङ्काओं की उत्पत्ति से कलंकित अन्य प्रमाणों से क्या लाभ?

यह प्रमाण चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

विशेष—यथार्थ अनुभव के लिये भगवान् शिव ही प्रमाण हैं। भगवान् शिव रूपी प्रमाण समस्त दोषों का शंकाओं से मुक्त हैं। समस्त जगत् की उत्पत्ति भगवान् शिव से ही होती है। अतः शिव में समस्त उत्पादित तथा उत्पत्स्यमान वस्तुओं का क्रम समाहित है।

न्यायकुमुमाञ्जलिकार उदयनाचार्य ने भगवान् शिव को प्रमाण कहकर उनके प्रति अपनी अपार श्रद्धा प्रकार की है।

न्याय दर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं—

१. प्रत्यक्ष—इन्द्रिय तथा विषयों के सन्निकर्ण से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे—चक्षु के कारण होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में चक्षु ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—

सविकल्पक और निर्विकल्पक।

प्रकार (विशेषण) से युक्त ज्ञान सविकल्पक है तथा प्रकार (विशेषण) से रहित ज्ञान निर्विकल्पक है। चक्षु आदि इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान तीनों को भिन्न-भिन्न प्रमा की दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का क्रम इस प्रकार है—

इन्द्रिय—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष—निर्विकल्पक—सविकल्पक—हानोपादानोपेक्षा बुद्धि

हानोपादानोपेक्षा बुद्धि को प्रमा मानने पर निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण है तथा सविकल्पक ज्ञान व्यापार है। सविकल्पक ज्ञान को प्रमा मानने पर इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रमाण है तथा निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार है। निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमा कहने पर इन्द्रिय प्रमाण है तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष व्यापार है।

२. अनुमान—व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। दूर से पर्वत में धूम को देखकर किसी व्यक्ति को इस व्याप्ति का स्मरण होता है—यत्र-यत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि:। उसके बाद इस व्याप्ति से विशिष्ट धूम पर्वत पर है इस प्रकार का ज्ञान होता है। यही अनुमान प्रमाण है। इस अनुमान प्रमाण से वह्नि का ज्ञान होता है। वह्नि ज्ञज्ञन को अनुमिति प्रमा कहा जाता है।

अनुमान दो प्रकार है—

१. स्वार्थानुमान—अपने लिये किया गया अनुमान।

२. परार्थानुमान—दूसरे व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिये किया गया अनुमान।

३. उपमान—गवय (नीलगाय) को न जानने वाला कोई शहरी व्यक्ति किसी ग्रामीण से पूछता है कि नील गाय कैसी होती है? वह ग्रामीण बताता है कि वन में जाने पर जो गाय जैसा पशु दिखाई देगा, वही नील गाय है। ग्रामीण की बातों से शहरी व्यक्ति को गोसादृश्य का ज्ञान होता है—यही है उपमान प्रमाण। उसके बाद जंगल में जाने पर जब वह नील गाय देखता है तो जान लेता है कि यही नील गाय है। इस ज्ञान को संज्ञा संज्ञिसम्बन्ध ज्ञान कहते हैं। यही उपमिति प्रमा है।

४. शब्द—यथार्थ वक्ता (आप्त) के वचन को शब्द प्रमाण कहा जाता है तथा उन आप्त-वचनों से उत्पन्न ज्ञान है—शाब्द प्रमा।

३. *प्रमेय-पदार्थ का विचार*

प्रमायां यद्धि प्रतिभासते तत्प्रमेयम्। तच्च द्वादशप्रकारकम्—आत्मशरीरेन्द्रि-यार्थबुद्धिमन:प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दु:खापवर्ग-भेदात्।

अनुवाद—प्रमा में जो प्रतिभासित होता है, वह प्रमेय है। वह बारह प्रकार का है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख, अपवर्ग।

विशेष—प्रमेय १२ प्रकार के हैं—

१. आत्मा—यह नित्य तथा विभु है। यह दो प्रकार का है—जीवात्मा तथा परमात्मा।

२. शरीर—आत्मा का अधिष्ठान शरीर है, जो पाञ्चभौतिक (पञ्चमहाभूतों से निर्मित) है।

३. इन्द्रिय—इन्द्रियाँ भोग का साधक है। ये दस हैं—५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ ज्ञानान्द्रिय। घ्राण, चक्षु, रसना, त्वचा तथा श्रोत्र—ये ५ ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा हाथ, पैर, मुख, मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय—ये ५ कर्मेन्द्रिय है।

४. अर्थ—इन्द्रियों के उपभोग्य विषयों को अर्थ कहते हैं।

५. बुद्धि—इसे ही ज्ञान भी कहते हैं। यह आत्मा का गुण है।

६. **मन**—यह सुखादि का साधन अन्तरिन्द्रिय है।

७. **प्रवृत्ति**—कर्म को ही प्रवृत्ति कहा जाता है। यह दो प्रकार की है—शुभ तथा अशुभ। इन दोनों के कायिक, मानसिक तथा वाचिक—ये ३-३ भेद हैं।

८. **दोष**—दोषों के कारण ही प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके तीन भेद हैं—राग, द्वेष तथा मोह।

९. **प्रेत्यभाव**—मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेना ही प्रेत्यभाव है।

१०. **फल**—प्रवृत्ति तथा दोषों से उत्पन्न होने वाला विषय फल है।

११. **दुःख**—प्रतिकूलवेदनीय को दुःख कहते हैं।

१२. **अपवर्ग**—इसे ही मोक्ष भी कहते हैं।

४. संशय, प्रयोजन और दृष्टान्त

अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः। स त्रिविधः-साधारणधर्मासाधारणधर्म-विप्रतिपत्तिलक्षणभेदात्।

यमधिकृत्य प्रवर्तन्ते पुरुषास्तत्प्रयोजनम्। तद् द्विविधम्-दृष्टादृष्टभेदात्। व्याप्तिसंवेदनभूमिर्दृष्टान्तः। स द्विविधः-साधर्म्यवैधर्म्यभेदात्।

अनुवाद—अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहा जाता है। यह तीन प्रकार का है—साधारणधर्मवाला, असाधारण धर्म वाला तथा विप्रतिपत्ति।

जिस कर्म के लिये पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, वह प्रयोजन है। यह दो प्रकार का है—दृष्ट तथा अदृष्ट।

व्याप्ति के ज्ञान का आधार है—दृष्टान्त। यह दो प्रकार का है—साधर्म्य तथा वैधर्म्य।

विशेष—संशय के तीन प्रकार हैं—१. दो वस्तुओं के साधारण धर्म के कारण उत्पन्न संशय। जैसे—'ऊँचा होना' इस साधारण धर्म के कारण स्थाणु तथा पुरुष में संशय होता है। २. किसी वस्तु के असाधारण धर्म के कारण उत्पन्न संशय। जैसे—पृथ्वी के असाधारण धर्म 'गन्ध' के कारण 'पृथ्वी नित्य है या अनित्य'—यह संशय होता है। ३. विप्रतिपत्ति का अर्थ है—विपरीत मत। विभिन्न दर्शनों में शब्द को लेकर भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई कहते हैं कि शब्द नित्य है, तो कोई कहते हैं कि शब्द अनित्य है।

प्रयोजन दो तरह का होता है—दृष्ट तथा अदृष्ट। जैसे—व्रीहि के अवघात का दृष्ट प्रयोजन है तुषविमोक अर्थात् धान को कूटने से उसका छिलका अलग हो जाता है। इसी प्रकार यागादि का अदृष्ट प्रयोजन है स्वर्गादि।

दृष्टान्त के भी दो प्रकार हैं। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः' इस अन्वय व्याप्ति का उदाहरण है—महानस। यह साधर्म्य दृष्टान्त है। इसी प्रकार 'यत्र-यत्र वह्निः नास्ति तत्र-तत्र धूमोऽपि नास्ति' इस व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण है। महानस (रसोई घर) यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

४ क. सिद्धान्त और अवयव

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्विधः-सर्वतन्त्रप्रति-तन्त्राधिकरणाभ्युपगमभेदात्।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशोऽवयवः। स पञ्चविधः-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपन-यनिगमनभेदात्।

अनुवाद—प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया गया अर्थ सिद्धान्त कहलाता है। वह चार प्रकार का है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युगपम।

परार्थानुमान वाक्य का एकभाग अवयव है। वह पाँच प्रकार का है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।

विशेष—सिद्धान्त के चार भेद हैं—

१. सर्वतन्त्र—वह सिद्धान्त, जो सभी शास्त्रों में मान्य है।

२. प्रतितन्त्र—वह सिद्धान्त, जो समान तन्त्रों (जैसे—न्याय वैशेषिक) में मान्य हो।

३. अधिकरण—वह सिद्धान्त जिसके सिद्ध होने पर अन्य सिद्धान्तों की सिद्धि सम्भव है। यह अन्य सिद्धान्तों का आधारभूत सिद्धान्त है।

४. अभ्युपगम—वह सिद्धान्त जो साक्षात् शब्दशः नहीं कहा गया हो, केवल अनुमान से ज्ञात होता हो, वह अभ्युपगम है। अनुमान के दो भेदों (स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान) में परार्थानुमान के अन्तर्गत पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है। ये पाँच अवयव है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन।

५. तर्क का स्वरूप और भेद

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। स चैकादशविधः। व्याघातात्माश्रये-तरेतराश्रय-चक्रकाश्रयानवस्थाप्रतिबन्धिकल्पनाकल्पनालाघवकल्पनागौरवोत्स-र्गापवादवैजात्यभेदात्।

अनुवाद—व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। यह ग्यारह प्रकार का है। व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धिकल्पना, कल्पनालाघव, कल्पनागौरव, उत्सर्ग, अपवाद तथा वैजात्य।

विशेष—जब अपने वचनों से अपनी ही बात विरुद्ध होती है, उसे व्याघात तर्क कहा जाता है। जैसे—मैं जन्म से मौनी हूँ—यह वचन बोलना। जब किसी सिद्धान्त का निर्णय उसी सिद्धान्त के आधार पर होता है, उसे आत्माश्रय तर्क कहते हैं। दो सिद्धान्तों के परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित होने पर इतरेतराश्रय होता है। जब एक सिद्धान्त दूसरे पर, दूसरा तीसरे पर और तीसरा पुनः पहले पर ही आश्रित हो, उसे चक्रक तर्क कहा जाता है। जब कल्पना का अन्त नहीं होता उसे अनवस्था कहा जा सकता है। प्रतिबन्धक

न होने पर भी प्रतिबन्धक की कल्पना करना है—प्रतिबन्धिकल्पना। कल्पना का लाघव तथा कल्पना का गौरव क्रमशः कल्पनालाघव व कल्पनागौरव है। सामान्य नियम उत्सर्ग है तथा विशेष नियम अपवाद है। विलक्षण (भिन्न-भिन्न) तर्कों को वैजात्य कहते हैं।

५ क. निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा

यथार्थानुभवपर्याया प्रमितिर्निर्णयः। स चतुर्विधः। साक्षात्कृत्यनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्त्वनिर्णयफलः कथाविशेषो वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीनः कथाविशेषो वितण्डा, कथा वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः।

अनुवाद—यथार्थ अनुभव का दूसरा पर्याय प्रमिति (प्रमा) ही निर्णय है। वह चार प्रकार का है—साक्षात्कृति (प्रत्यक्ष), अनुमिति, उपमिति, शाब्द। एक विशेष प्रकार की कथा वाद है, जिसका फल तत्त्व का निर्णय है। दोनों पक्ष (स्वपक्ष तथा प्रतिपक्ष) में युक्त विजयेच्छुक व्यक्ति की कथा जल है। अपने पक्ष की स्थापना न करने वाली विशेष कथा वितण्डा है। वादी तथा प्रतिवादी के पक्ष तथा प्रतिपक्ष का ग्रहण करने वाला वचन कथा है।

विशेष—प्रमा, यथार्थ अनुभव तथा निर्णय—ये तीनों परस्पर पर्यायवाची हैं। जिस कथा का फल तत्त्वनिर्णय होता है, उसे वाद कहते हैं। यहाँ कथा का तात्पर्य है—वचन।

५ ख. हेत्वाभास और छल

असाधको हेतुत्वेनाभिमतो हेत्वाभासः। स पञ्चविधः-सव्यभिचारविरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसमातीतकालभेदात्।

अनुवाद—जो हेतु के रूप में अभिमत हो, किन्तु साध्य को सिद्ध न कर सके, वह हेत्वाभास है। वह पाँच प्रकार का है—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, अतीतकाल।

विशेष—हेत्वाभास के पाँच प्रकार हैं—

१. **सव्यभिचार**—इसे ही अनैकान्तिक भी कहा जाता है। यह तीन प्रकार है—

१. साधारण—जो हेतु साध्याभाव में रहता है, वह साधारण अनैकान्तिक है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, प्रमेय होने के कारण'। यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु साध्य (वह्नि) के अभाव ह्रद में भी रहता है।

२. असाधारण—जो हेतु केवल पक्ष में रहता है, सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं, उसे असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है। जैसे—'शब्द नित्य है, शब्दत्व के कारण।' यहाँ 'शब्दत्व' हेतु केवल पक्ष 'शब्द' में ही रहता है।

३. अनुपसंहारी—अन्वय तथा व्यतिरेक दृष्टान्त से रहित हेतु अनुपसंहारी है। जैसे—'सब अनित्य है, प्रमेय होने के कारण।' यहाँ अन्वय या व्यतिरेक दृष्टान्त उपलब्ध न होने के कारण 'प्रमेयत्व' हेतु अनुपसंहारी है।

२. विरुद्ध—जो हेतु साध्याभाव में व्याप्त रहता है, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—'शब्द नित्य है जन्य होने से।' यहाँ जन्यत्व हेतु साध्य 'नित्यत्व' के अभाव 'अनित्यत्व' में व्याप्त है।

३. सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम)—जिस हेतु के साध्याभाव का साधक अन्य हेतु भी उपलब्ध रहता है, उसे सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है। जैसे—शब्द नित्य है, श्रावणत्व के कारण। यहाँ 'नित्यत्व' साध्य है। साध्याभाव 'अनित्यत्व' का साधक अन्य हेतु भी यहाँ विद्यमान है। जैसे—शब्द अनित्य है, जन्य होने के कारण।

४. असिद्ध—असिद्ध के तीन भेद हैं—

१. आश्रयासिद्ध—जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) ही नहीं होता, वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—गगनारविन्द सुगन्धित है अरविन्द (कमल) होने के कारण।

२. स्वरुपासिद्ध—जो हेतु साध्य में नहीं रहता, वह स्वरुपासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे—'शब्द गुण है चाक्षुष होने के कारण।' यहाँ 'चाक्षुषत्व' हेतु शब्द में नहीं रहता है।

३. व्याप्यत्वासिद्ध—सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। उपाधि का लक्षण है—जो साध्य का व्यापक हो, किन्तु साधन का व्यापक नहीं है, वह उपाधि है। जैसे पर्वतो धूमवान् वह्नेः।

पर्वत धूमवान् है, वह्नि के कारण। यहाँ 'वह्नि' हेतु सोपाधिक है और उपाधि है—आर्द्रेन्धन संयोग (गीले इंधन का संयोग) आर्द्रेन्धन संयोग साध्य का व्यापक तथा साधनाव्यापक है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग है—यह साध्य-व्यापकत्व हुआ। इसी प्रकार 'जहाँ-जहाँ वह्नि है वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है'—यह साधनाव्यापकत्व है।

५. बाधित—जिस हेतु का साध्याभाव अन्य प्रमाण से निश्चित है, वह बाधित कहलाता है। जैसे—अग्नि ठंडा है, द्रव्य होने के कारण। यहाँ ठंडेपन का अभाव उष्णत्व पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

शब्दवृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुश्छलम्। तत्त्रिविधम्। अभिधानतात्पर्योपचार-वृत्तिव्यत्ययभेदात्।

अनुवाद—शब्दवृत्ति की अदला-बदली के माध्यम से प्रतिषेध का कारण छल है। वह तीन प्रकार का है—अभिधान, तात्पर्य तथा उपचार वृत्ति के व्यत्यय (अदला-बदली) के कारण।

विशेष—जब अभिधा-तात्पर्य या उपचार (गौणी)। इन वृत्तियों की अदला-बदली करके किसी अर्थ का प्रतिषेध किया जाता है, उसे छल कहते हैं। तात्पर्य यह है

कि वादी प्रतिवादी को जिस वृत्ति के माध्यम से कोई बात कहता है, प्रतिवादी उस बात को किसी अन्य वृत्ति के द्वारा ही ग्रहण करता है।

जैसे वादी ने प्रतिवादी को कहा कि 'यह बालक गौ है।' अर्थात् यह बालक गौ की तरह मूर्ख है। यहाँ लक्षणा (उपचार) वृत्ति के माध्यम से वादी अपनी बात कह रहा है (इस पर यदि प्रतिवादी इसी वचन का अभिधेयार्थ ले ले और कहें कि यदि यह बालक गौ है तो इसकी सींग कहाँ है? तो यही छल हुआ।

६. जाति और उसके चौबीस भेद

स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः। सा चतुर्विंशतिधा। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाप-कर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय-प्रकरण-हेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्य-कार्य-समभेदात्।

अनुवाद—अपना ही विनाश करने वाले उत्तर को जाति कहा जाता है। यह चौबीस प्रकार की है—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, कार्यसम।

विशेष—वादी का खण्डन करने के लिये प्रतिवादी को जाति का आश्रय लेना पड़ता है। जाति के रूप भेद इस प्रकार हैं—

१. साधर्म्यसम—जब साधर्म्य के उदाहरण द्वारा वादी के वचन का खण्डन किया जाता है, उसे साधर्म्य सम कहते हैं। जैसे—वादी के अनुसार शब्द अनित्य है, जन्य होने से। जो-जो जन्य है, वह-वह अनित्य है जैसे घट। यह साधर्म्य उदाहरण है। इसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत कर प्रतिवादी वादी का विरोध करता है—शब्द नित्य है अमूर्त होने के कारण। जो-जो अमूर्त है, वह-वह नित्य है। जैसे—आकाश।

२. वैधर्म्यसम—जब वैधर्म्य के उदाहरण द्वारा वादी के वचन का खण्डन किया जाता है, उसे वैधर्म्य सम कहा जाता है। जैसे—वादी के अनुसार शब्द नित्य है, क्योंकि वह अमूर्त है, जो-जो नित्य नहीं है, वह-वह अमूर्त नहीं है जैसे घट। यह वैधर्म्य उदाहरण है। इस वैधर्म्य उदाहरण का विरोध प्रतिवादी ने किया है—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह जन्य है। जो-जो अनित्य नहीं, वह-वह जन्य नहीं है। जैसे—आकाश।

३. उत्कर्षसम—जब वादी के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण की अपेक्षा उत्कृष्ट विशेषणों वाले उदाहरण के माध्यम से प्रतिवादी वादी का खण्डन करे, तो वह उत्कर्षसम जाति कहलाती है। जैसे वादी के अनुसार—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह जन्य है जैसे घट। प्रतिवादी कहता है कि शब्द अनित्य तथा मूर्त है, क्योंकि वह जन्य है, अनित्यत्व मूर्त घट की तरह। यहाँ वादी के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण 'घट' में प्रतिवादी ने कुछ नये

विशेषण जोड़कर उसका खण्डन किया है। प्रतिवादी कहता है कि यदि घट अनित्य है, तो वह मूर्त भी है। यदि घट मूर्त नहीं, तो वह अनित्य भी नहीं है।

४. अपकर्षसम—उत्कर्ष सम का विपरीत है अपकर्षसम। वादी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में कुछ अपकर्ष करके प्रतिवादी वादी का खण्डन करे, वह अपकर्षसम जाति है।

५. वर्ण्यसम—जब वादी द्वारा प्रदर्शित उदाहरण के लिये प्रतिवादी यह कहे कि अभी उदाहरण में ही साध्य सिद्ध नहीं है। अतः पहले उदाहरण में साध्य को सिद्ध करना होगा, तो यह वर्ण्यसम जाति कहलाती है। जैसे वादी के अनुसार घट नित्य है जन्य होने से जैसे कि शब्द। यहाँ अभी शब्द में ही अनित्यत्व सिद्ध नहीं है, फिर शब्द को उदाहरण ही कैसे बनाया जा सकता है।

६. अवर्ण्यसम—जब प्रतिवादी यह कहे कि—वादी के उदाहरण में साध्य पहले से ही सिद्ध है, तो क्यों न पक्ष में भी साध्य को पहले से सिद्ध मान लिया जाये, तो इसे अवर्ण्यसम जाति कहा जाता है।

७. विकल्पसम—जब वादी का खण्डन करने के लिये प्रतिवादी पक्ष और दृष्टान्त में विकल्प उपस्थित करता है, उसे विकल्पसम जाति कहा जाता है।

८. साध्यसम—जब साध्य तथा दृष्टान्त दोनों को अपनी-अपनी सिद्धि के लिये एक-दूसरे के सिद्धि की अपेक्षा रहती है, उसे साध्य सम जाति कहा जाता है। जैसे वादी के अनुसार 'शब्द अनित्य है, कृतक होने से जैसे घट' प्रतिवादी के अनुसार 'घट अनित्य है, कृतक होने के कारण जैसे शब्द'। यहाँ शब्द तथा घट-इन दोनों को अपनी सिद्धि के लिये एक-दूसरे की सिद्धि की अपेक्षा है। अतः यह साध्यसम जाति है।

९. प्राप्तिसम—जब हेतु को साध्य तथा साध्य को हेतु बनाकर वादी का खण्डन किया जाता है, उसे प्राप्तिसम जाति कहा जाता है।

१०. अप्राप्तिसम—जब वादी प्रतिवादी का विरोध इस आधार पर करता है कि साध्य तथा हेतु का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इसे अप्राप्तिसम जाति कहा जाता है।

११. प्रसंगसम—साध्य को सिद्ध करने के लिये जिस साधन की आवश्यकता होती है, उस साधन को सिद्ध करने के लिये जब किसी अन्य साधन की आवश्यकता होती है, उस साधन के लिये पुनः अन्य साधन की आवश्यकता होती है—इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। यही प्रसंगसम जाति है।

१२. प्रतिदृष्टान्तसम—जब वादी के द्वारा दिये गये दृष्टान्त का विरोध करने के लिये प्रतिवादी अलग दृष्टान्त प्रस्तुत करता है, उसे प्रतिदृष्टान्तसम जाति कहा जाता है।

१३. अनुत्पत्तिसम—जब वादी शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये कृतकत्व (जन्यत्व) हेतु देता है, उस सयम प्रतिवादी यह कहकर वादी का विरोध करता है कि 'जन्यत्व' हेतु के द्वारा शब्द की अनित्यता तब तक सिद्ध नहीं की जा सकती, जब

तक शब्द की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि जब शब्द उत्पन्न हो जायेगा, तभी तो 'जन्यत्व' हेतु संगत होगा। यही अनुत्पत्ति सम जाति है।

१४. संशयसम—जब पक्ष में संदेह उत्पन्न करने वादी का खण्डन किया जाता है, उसे संशयसम जाति कहते हैं।

१५. प्रकरणसम—यदि वादी 'श्रवणीयत्व' हेतु देकर शब्द को 'नित्य' सिद्ध करता है, उसी समय प्रतिवादी कहता है कि 'श्रवणीयत्व' हेतु के द्वारा तो शब्द को अनित्य या नित्य दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है, फिर शब्द की नित्यता को ही क्यों सिद्ध किया जा रहा है? यह प्रकरण सम जाति है।

१६. हेतुसम—जब वादी शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये जन्यत्व हेतु देता है उस समय प्रतिवादी कहता है कि पहले जन्यत्व होता है या पहले अनित्यत्व अतः इन दोनों में से किसे साध्य बनाया जाये और किसे साधन? यह कहना कठिन है। यही है हेतु सम जाति।

१७. अर्थापत्तिसम—जब वादी शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये हेतु प्रस्तुत करता है तथा दृष्टान्त के रूप में घट को प्रस्तुत करता है। तब प्रतिवादी कहता है कि जब शब्द अनित्य है तो अर्थतः यह सिद्ध होता है कि शब्दातिरिक्त पदार्थ नित्य हैं, फिर घट को दृष्टान्त के रूप में रखना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि घट भी तो नित्य है। इसे ही अर्थापत्तिसम कहा जाता है।

१८. अविशेषसम—जब वादी शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये कृतकत्व हेतु देकर घट का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है, उस समय प्रतिवादी कहता है कि जिस तरह कृतकत्व के माध्यम से शब्द तथा घट में समता है, उसी तरह प्रमेयत्व के माध्यम से तो सभी पदार्थ समान हैं, फिर क्यों न सभी पदार्थों को अनित्य मान लिया जाये। यही है अविशेषसम जाति।

१९. उपपत्तिसम—जब साध्य तथा साध्याभाव दोनों के अलग-अलग हेतुओं से सिद्ध किया जाने लगे, तो उसे उपपत्तिसम जाति कहा जाता है।

२०. उपलब्धिसम—वादी के द्वारा उपस्थापित हेतु के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से भी साध्य की सिद्धि होती है, उसे उपलब्धिसम जाति कहते हैं।

२१. अनुपलब्धिसम—जब वादी किसी वस्तु की अनपुलब्धि (अप्रत्यक्षता) के कारण उस वस्तु का अभाव सिद्ध करता है, उस स्थिति में प्रतिवादी कहता है कि अनुपलब्धि से किसी वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इसे ही अनुपलब्धिसम जाति कहा जाता है।

२२. नित्यसम—वादी का खण्डन करने के लिये प्रतिवादी उससे पूछता है कि शब्द नित्य है या अनित्य। वादी कहता है कि शब्द अनित्य है। पुनः प्रतिवादी पूछता है कि शब्द का यह अनित्यत्व स्वयं अनित्य है या नित्य। यदि अनित्यत्व नित्य है, तो उस

नित्य अनित्यत्व के आधाररूप धर्मी शब्द को भी नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि अनित्य शब्द में नित्य धर्म नहीं रह सकता। फिर यदि अनित्यत्व को अनित्य कहें तब तो शब्द को नित्य ही मानना पड़ेगा। यही है नित्यसम जाति। इसका वर्णन पूर्व में हो चुका है।

२३. अनित्यसम—वादी का खण्डन करते हुए प्रतिवादी कहता है जैसे कृतकत्व हेतु के द्वारा घट को अनित्य सिद्ध किया जाता है तथा घट का उदाहरण देकर शब्द को भी अनित्य माना जाता है, उसी तरह प्रमेयत्व के साधर्म्य से सभी वस्तुओं को अनित्य क्यों नहीं मान लिया जाता।

२४.कार्यसम—वादी कहता है कि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न है अर्थात् प्रयत्न का कार्य है अत: शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि क्या शब्द की उत्पत्ति होने के पूर्व शब्द अपने कारण में विद्यमान रहता है या फिर कारण में अविद्यमान शब्द की उत्पत्ति होती है। यदि प्रथम पक्ष मानें तो शब्द नित्य है और यदि द्वितीय पक्ष मानें तो शब्द अनित्य है। अत: शब्द को नित्य का अनित्य कह पाना कठिन है।

इस प्रकार २४ तरह की जाति के माध्यम से वादी तथा प्रतिवादी एक-दूसरे का खण्डन करते हैं।

६. *निग्रहस्थान और उसके बाईस भेद*

पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानम्। तद् द्वाविंशतिप्रकारकम्। प्रतिज्ञाहानिप्रति-ज्ञान्तर-प्रतिज्ञाविरोध-प्रतिज्ञासंन्यास-हेत्वन्तरार्थान्तर-निरर्थकाविज्ञातार्थापार्थका-प्राप्तकाल-न्यूनाधिक-पुनुरुक्ताननुभाषणाज्ञानाप्रतिभा-विक्षेप-मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्यो-पेक्षण-निरनुयोज्यानुयोगापसिद्धान्त-हेत्वाभासभेदात्।

अत्र सर्वान्तर्गणिकस्तु विशेषस्तत्र शास्त्रे विस्पष्टोऽपि विस्तरभिया न प्रस्तूयते।

अनुवाद—पराजय के कारण को निग्रहस्थान कहा जाता है। यह २२ प्रकार का है। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास।

इन भेदों के अन्तर्गत विशेष विवरण न्याय शास्त्र में स्पष्ट किया गया है। यहाँ विस्तार के भय से उसको प्रस्तुत नहीं किया गया है।

विशेष—जब वादी या प्रतिवादी निग्रहस्थान में पड़ जाते हैं तो शास्त्रार्थ में उनकी पराजय हो जाती है। निग्रहस्थान के २२ भेदों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

१. प्रतिज्ञा हानि—अपनी ही प्रतिज्ञा का स्वयं खण्डन करना प्रतिज्ञा हानि कहलाता है।

२. प्रतिज्ञान्तर—अपनी प्रतिज्ञा का खण्डन कर दूसरी प्रतिज्ञा को मानना प्रतिज्ञान्तर है।

३. प्रतिज्ञाविरोध—जब प्रतिज्ञा तथा हेतु में परस्पर विरोध होता है, उसे प्रतिज्ञा विरोध कहा जाता है।

४. प्रतिज्ञासंन्यास—अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करना प्रतिज्ञासंन्यास है।

५. हेत्वन्तर—साध्य को सिद्ध करने के लिये कोई अन्य विशेष हेतु देना हेत्वन्तर है।

६. अर्थान्तर—प्रासंगिक विषय से भिन्न बात करना अर्थान्तर कहलाता है।

७. निरर्थक—निरर्थक शब्दों का प्रयोग करना निरर्थक निग्रहस्थान कहलाता है।

८. अविज्ञातार्थ—जब वादी के शब्दों का अर्थ किसी को ज्ञात न हो जाये, तो उसे अविज्ञातार्थ कहा जाता है।

९. अपार्थक—जब वादी असम्बद्ध तथा व्यर्थ की बातें कहने लगे, तो उसे अपार्थक कहा जाता है।

१०. अप्राप्तकाल—अपने वचनों को अनुचित क्रम से प्रस्तुत करना अप्राप्तकाल कहलाता है।

११. न्यून—प्रतिज्ञा आदि पञ्च अवयवों में किसी अवयव को प्रस्तुत न करना न्यून है।

१२. अधिक—एक से अधिक हेतुओं आदि का प्रयोग करना अधिक है।

१३. पुनरुक्त—एक ही बात को बार-बार कहना पुनरुक्त है।

१४. अननुभाषण—जब वादी या प्रतिवादी मौन हो जाता है उसे अननुभाषण कहते हैं।

१५. अज्ञान—जब वादी या प्रतिवादी की बात को मध्यस्थ नहीं समझ पाते हैं तो यह अज्ञान कहलाता है।

१६. अप्रतिभा—उत्तर न दे पाना अप्रतिभा कहलाता है।

१७. विक्षेप—जब वादी या प्रतिवादी में से कोई एक शास्त्रार्थ छोड़कर चल दे, तो वह विक्षेप कहलाता है।

१८. मतानुज्ञा—जब वादी अपने पक्ष पर आये दोष को प्रतिवादी पर थौंप देता है तथा अपने ऊपर आये दोष निराकरण नहीं कर पाता, तो यह मतानुज्ञा कहलाता है।

१९. पर्यनुयोज्योपेक्षण—प्रतिवादी की पराजय होने पर भी जब वादी जान नहीं पाता तो उसे पर्यनुयोज्योपेक्षण कहा जाता है।

२०. निरनुयोज्यानुयोग—प्रतिवादी की पराजय न होने पर भी उसे 'तुम पराजित हो गये' यह कहना निरनुयोज्यानुयोग है।

२१. अपसिद्धान्त—अपने सिद्धान्त से हटना अपसिद्धान्त कहलाता है।

२२. हेत्वाभास—जो हेतु न होकर भी हेतु जैसे लगे, वह हेत्वाभास है। इसका वर्णन पीछे हो चुका है।

यहाँ तक न्यायशास्त्रोक्त १६ पदार्थों का विवेचन पूरा हो चुका है।

७. न्यायशास्त्र का नामकरण

ननु प्रमाणादिपदार्थषोडशके प्रतिपाद्यमाने कथमिदं न्यायशास्त्रमिति व्यपदिश्यते ? सत्यम्। तथाऽप्यसाधारण्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन न्यायस्य परार्थानुमानापरपर्यायस्य सकलविद्याऽनुग्राहकतया सर्वकर्मसाधनतया प्रधानत्वेन तथा व्यपदेशो युज्यते।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि प्रमाण आदि १६ पदार्थों का प्रतिपादन करने पर इसे 'न्याय शास्त्र' इस नाम से क्यों कहा जाता है, तो (इसका समाधान है) ठीक है, फिर भी 'असाधारण गुण के कारण किसी वस्तु का नाम पड़ता है' इस न्याय से 'न्याय' शब्द के दूसरे पर्याय परार्थानुमान के समस्त विद्याओं के उपकारक होने से तथा सभी कर्मों का साधन होने से प्रधान रूप से वैसा व्यपदेश ठीक ही है।

विशेष—पीछे अनुमान के दो भेद बताये गये थे—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। परार्थानुमान को ही न्याय भी कहा जाता है। न्याय शास्त्र में परार्थानुमान का विशेष विचार तथा महत्त्व है। साथ ही परार्थानुमान समस्त विद्याओं का उपकारक भी है। परार्थानुमान का विशेष महत्त्व होने के कारण इस शास्त्र का 'न्यायशास्त्र' पड़ा है।

तथाभाणि सर्वज्ञे–'सोऽयं परमो न्यायो विप्रतिपन्नपुरुषं प्रति प्रतिपादकत्वात्। तथा प्रवृत्तिहेतुत्वाच्च' (न्या० सू० वार्तिक १/१/१) इति। पक्षिलस्वामिना च– 'सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना–

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता ॥

(न्या० सू० भाष्य १/१/१/) इति।

अनुवाद—जैसा कि सर्वज्ञ ने कहा है—विरोधी पुरुषों के लिये प्रतिपादक होने से तथा प्रवृत्ति का कारण होने से यह परम न्याय है। (न्या.सू. वार्तिक १/१/१) पक्षिल स्वामी ने कहा है—

यह आन्वीक्षिकी विद्या प्रमाण आदि पदार्थों से विभक्त होती है।

सभी विद्याओं के लिये दीपक के समान, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय इस न्याय विद्या की प्रारम्भ में परीक्षा की गयी है।

८. अपवर्ग के साधन—न्याय का द्वितीय सूत्र

ननु तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं भवतीत्युक्तम्। तत्र किं तत्त्वज्ञानादनन्तरमेव निःश्रेयसं संपद्यते? नेत्युच्यते। किन्तु तत्त्वज्ञानाद् 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १/१/२) इति।

तत्र मिथ्याज्ञानं नामानात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदनुकूलेषु रागः। तत्प्रतिकूलेषु द्वेषः। वस्तुतस्त्वात्मनः प्रतिकूलमनुकूलं वा न किंचिद्वस्त्वस्ति। परस्परानुबन्धित्वाच्च रागादीनां मूढो रज्यति, रक्तो मुह्यति, मूढः कुप्यति, कुपितो मुह्यतीति।

अनुवाद—यदि यह पूछा जाये कि तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है यह जो आपने कहा है, उसमें क्या तत्त्व ज्ञान के तुरन्त बाद निःश्रेयस होता है? तो इसका उत्तर है नहीं। अपितु तत्त्वज्ञान से दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर का नाश होने से उन उत्तरोत्तर के अव्यवहित पूर्व-पूर्व का नाश होता है जिससे अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त होता है।

उसमें मिथ्याज्ञान का तात्पर्य है—अनात्मा शरीर आदि में आत्मबुद्धि। देहादि के अनुकूल पदार्थों में राग होता है तथा देहादि के प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष होता है। वास्तव में तो आत्मा का प्रतिकूल या अनुकूल कुछ भी नहीं है। राग, द्वेष आदि के परस्पर सम्बन्धित होने के कारण मूर्ख व्यक्ति आसक्त होता है, आसक्त व्यक्ति मोहित होता है। मोहित व्यक्ति क्रोधित होता है तथा क्रोधित व्यक्ति मोहित होता है।

विशेष—मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म तथा जन्म से दुःख होता है। तत्त्व ज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्या ज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश तथा जन्म के नाश से दुःख का आत्यन्तिक नाश होता है। यह आत्यन्तिक दुःखनाश ही अपवर्ग (मोक्ष) है।

ततस्तैर्दोषैः प्रेरितः प्राणी प्रतिषिद्धानि शरीरेण हिंसास्तेयादीनि आचरति। वाचा अनृतादीनि। मनसा परद्रोहादीनि। सेयं पापरूपा प्रवृत्तिरधर्मः शरीरेण प्रशस्तानि दानपरपरित्राणादीनि। वाचा हितसत्यादीनि। मनसा अजिघांसादीनि। सेयं पुण्यरूपा प्रवृत्तिर्धर्मः। सेयमुभयी प्रवृत्तिः।

अनुवाद—फिर उन दोषों से प्रेरित प्राणी अपने शरीर से हिंसा, चोरी आदि प्रतिषिद्ध कर्मों को करता है। वाणी से झूठ आदि, मन से परद्रोह आदि (प्रतिषिद्ध कर्मों को करता है।) यह पापरूपा प्रवृत्ति ही अधर्म है। (जो प्राणी) अपने शरीर से दान, पर रक्षा आदि प्रशस्त कर्मों को करता है, वाणी से हितकारी सत्य वचन बोलता है, मन से हिंसा न करने की इच्छा आदि प्रशस्त कर्मों को करता है। यह पुण्यरूपा प्रवृत्ति ही धर्म है। यह दोनों प्रकार की (पाप रूपा तथा पुण्यरूपा) प्रवृत्ति है।

ततः स्वानुरूपं प्रशस्तं निन्दितं वा जन्म पुनः शरीरादेः प्रादुर्भावः। तस्मिन् सति प्रतिकूलवेदनीयतया बाधनात्मकं दुःखं भवति। न ह्यप्रवृत्तस्य दुःखं प्रत्यापद्यत इति कश्चित्प्रपद्यते। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता अविच्छेदेन प्रवर्तमानाः संसारशब्दार्थो घटीचक्रवन्निरवधिरनुवर्तते।

यदा कश्चित्पुरुषधौरेयः पुराकृतसुकृतपरिपाकवशादाचार्योपदेशेन सर्वमिदं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं च पश्यति, तदा तत्सर्वं हेयत्वेन बुध्यते। ततस्तन्निर्वर्तकमविद्यादि निवर्तयितुमिच्छति। तन्निवृत्त्युपायश्च तत्त्वज्ञानमिति।

अनुवाद—फिर अपने अनुरूप प्रशस्त या निन्दित जन्म होता है और पुनः शरीर आदि का प्रादुर्भाव होता है। उसके बाद प्रतिकूल अनुभव होने के कारण बाधा रूप दुःख प्राप्त होता है। अप्रवृत्त व्यक्ति को दुःख प्राप्त होता है—ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मानता। ये मिथ्या ज्ञान से लेकर दुःख तक समस्त विकार निरन्तर रूप से चलते हुए संसार को घटीचक्र (कुम्हार के चाक) की तरह लगातार चलाते रहते हैं।

जब कोई श्रेष्ठपुरुष पूर्वकृत पुण्य परिपाक के कारण आचार्य (गुरु) के उपदेश से इस समस्त संसार को दुःक्ष का आश्रय और दुःख से परिपूर्ण देखता है, तब इस सारे संसार को हेय के रूप से जानता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुष इस संसार के निवर्तक (उत्पादक कारण) अविद्या आदि को हटाना चाहता है। अविद्या की निवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान है।

कस्यच्चिच्चतसृभिर्विधाभिर्विभक्तं प्रमेयं भावयतः सम्यग्दर्शनपदवेदनीयतया तत्त्वज्ञानं जायते। तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति। मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयान्ति। दोषापाये प्रवृत्तिरपेति। प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति। जन्मापाये दुःखमत्यन्तं निवर्तते। सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम निवर्त्यसजातीयस्य पुनस्तत्रानुत्पाद इति। तथा च पारमर्षं सूत्रम्–दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (न्या० सू० १/१/२) इति।

अनुवाद—किसी व्यक्ति को चार विधाओं या प्रकारों (उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा, विभाग) में विभक्त प्रमेय की भावना करते हुए तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, इस तत्त्वज्ञान को ही सम्यक् दर्शन भी कहा जाता है। तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान के दूर होने पर दोष नष्ट होते हैं। दोषों के दूर होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है। प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म नष्ट होता है। जन्म के नष्ट होने पर पूर्ण रूप से दुःख नष्ट होता है। यह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही अपवर्ग है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का तात्पर्य है कि निवर्त्य दुःख के सजातीय दुःख का पुनः उत्पन्न न होना। जैसा कि परमर्षि गौतम का सूत्र है—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञान में उत्तरोत्तर के नष्ट होने पर अव्यवहित पूर्व-पूर्व का नाश होता है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

विशेष—पूर्व में भी यह बतलाया जा चुका है कि मिथ्याज्ञान से राग, द्वेष, मोह, कोप आदि दोष उत्पन्न होते है। इन दोषों के कारण पापरूपा प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के कारण

जीव जन्म प्राप्त करता है तथा जन्म के दुःख पाता है। तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर मिथ्याज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति नाश से जन्म का नाश तथा जन्मनाश से दुःख का आत्यन्तिक नाश होता है।

९. मोक्ष का स्वरूप–माध्यमिक मत

ननु दुःखात्यन्तोच्छेदोऽपवर्ग इत्येतदद्यापि कफोणिगुडायितं वर्तते। तत्सिद्धवत्कृत्य व्यवह्रियते इति चेत्–मैवम्। सर्वेषां मोक्षवादिनामपवर्गदशायामात्यन्तिकं दुःखनिवृत्तिरस्तीत्यस्यार्थस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तासिद्धतया घण्टापथत्वात्। तथा हि–आत्मोच्छेदो मोक्ष इति माध्यमिकमते दुःखोच्छेदोऽस्तीत्येतावत्तावदविवादम्।

अनुवाद—यदि कोई कहे कि दुःख का अत्यन्ताभाव अपवर्ग है—यह मत आज भी केहुनी में स्थित गुड़ की तरह है, तो इस मत को सिद्ध की तरह समझकर के व्यवहार किया जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है। सभी मोक्षवादियों को अपवर्ग की दशा में आत्यन्तिक दुःखाभाव होता है—यह बात सभी सिद्धान्तों में सिद्ध होने से राजमार्ग की तरह है। आत्मा का विनाश मोक्ष है—इस माध्यमिक मत में दुःख का नाश होता है, यह बात तो निर्विवाद ही है।

विशेष—पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे केहुनी में गुड़ नहीं होता, फिर भी कोई व्यक्ति केहुनी में गुड़ खोजे तो यह बेकार है, ठीक उसी तरह दुःखाभाव मोक्ष है यह कहना व्यर्थ है। इस सिद्धान्ती कहता है कि सभी मतों में दुःखाभाव को मोक्ष कहा गया है। माध्यमिक बौद्ध भी आत्मोच्छेद को मोक्ष मानते ही हैं।

अथ मन्येथाः–शरीरादिवदात्माऽपि दुःखहेतुत्वादुच्छेद्य इति तन्न संगच्छते। विकल्पानुपपत्तेः। किमात्मा ज्ञानसन्तानो विवक्षितस्तदतिरिक्तो वा? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः। कः खल्वनुकूलमाचरति प्रतिकूलमाचरेत्? द्वितीये तस्य नित्यत्वे निवृत्तिरशक्यविधानैव। अनित्यत्वे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। व्यवहारानुपपत्तिश्चाधिकं दूषणम्। न खलु कश्चित्प्रेक्षावानात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति सर्वतः प्रियतमस्यात्मनः समुच्छेदाय प्रयतते। सर्वो हि प्राणी सति धर्मिणि मुक्त इति व्यवहरति।

अनुवाद—(सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से कहता है कि) अब यदि तुम यह मानते हो कि शरीर आदि की तरह आत्मा भी दुःख का कारण है अतः आत्मा का भी विनाश होना चाहिये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस पर दो विकल्प लागू नहीं हो पाते। क्या आत्मा ज्ञान का प्रवाह है या उससे भिन्न है? पहला मत मानने पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रतिकूल आचरण कौन करेगा? (अर्थात् यदि पूर्वपक्षी पहला मत मानता है कि आत्मा ज्ञानप्रवाह है तो यह मत तो नैयायिकों के अनुकूल ही है फिर इस मत का खण्डन नैयायिक क्यों करेंगे) यदि दूसरा मत (आत्मा ज्ञान प्रवाह नहीं है) मानें तो फिर (वह आत्मा नित्य है या अनित्य) उस आत्मा को नित्य मानने पर

उसकी निवृत्ति का विधान असम्भव है। तथा आत्मा को अनित्य मानने पर उसकी मुक्ति के लिये प्रवृत्ति मानना ही अनुपपन्न है और लोक व्यवहार भी अनुपन्न है—यह और अधिक दोष है। अपनी कामना के लिये ही सब कुछ प्रिय होता है इसलिये कोई भी अबुद्धिमान् व्यक्ति अपने सबसे प्रियतम आत्मा के नाश के लिये प्रयास नहीं करता। सभी प्राणी धर्मी (आत्मा) के रहने पर ही मोक्ष हुआ—ऐसा व्यवहार करते हैं।

विशेष—आत्मा को अनित्य मानने पर जागतिक व्यवहार अनुपन्न हो जाता है। फिर प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं मुक्त हो जाऊँ' यह इच्छा आत्मा के रहते ही होती है। यदि आत्मा को अनित्य माना जाये, तो यह व्यवहार भी सम्भव नहीं है।

९ क. मोक्ष के विषय में विज्ञानवादियों का मत

ननु धर्मिनिवृत्तौ निर्मलज्ञानोदयो महोदय इति विज्ञानवादिवादे सामग्र्यभावः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्च। भावनाचतुष्टयं हि तस्य कारणमभीष्टम्। तच्च क्षणभङ्गपक्षे स्थिरैकाधारासम्भवात् लङ्घनाभ्यासादिवत् अनासादितप्रकर्षं न स्फुटमभिज्ञानमभिजनयितुं प्रभवति, सोपप्लवस्य ज्ञानसन्तानस्य बद्धत्वे निरुपप्लवस्य च मुक्तत्वे यो बद्धः स एव मुक्त इति सामानाधिकरण्यं न संगच्छते।

अनुवाद—यदि धर्मी (ज्ञानाश्रय=आत्मा) की निवृत्ति होने पर निर्मल ज्ञान का उदय ही महोदय (मोक्ष) है—इस विज्ञानवादी बौद्ध के मत को मानने पर (हमारी आपत्ति यह है कि) सामग्री का अभाव तथा सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति होती है। (ज्ञानोदय ही मोक्ष है—यह मत मानने पर पहला दोष यह है कि ज्ञान के उदय की सामग्री का अभाव तथा दूसरा दोष यह है कि जो बद्ध है वही मुक्त हुआ इस प्रकार से बन्धन तथा मोक्ष का सामानाधिकरण्य नहीं हो पा रहा है।) (यदि विज्ञानवादी कहे कि) चार प्रकार की भावना ज्ञानोदय का कारण मानी गयी है। क्षणभङ्गवाद मानने पर उस भावनाचतुष्टय को स्थिर आधार मिलना सम्भव नहीं है, अत: लङ्घन तथा अभ्यास की तरह यह भावनाचतुष्टय भी प्रकर्षता को प्राप्त न कर स्पष्ट रूप से ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं कर पाता। मलयुक्त ज्ञान प्रवाह को बद्ध मानने पर तथा मलरहित ज्ञानप्रवाह को मुक्त मानने पर, जो बद्ध है वही मुक्त है—इस प्रकार का समानाधिकरण्य भी नहीं लग पाता।

विशेष—चार भावनायें हैं—

१. सर्वं दु:खम्

२. सर्वं क्षणिकम्

३. सर्वं स्वलक्षणम्

४. सर्वं शून्यम्

जैसे लङ्घन (उपवास) तथा अभ्यास लगातार न किया जाये तो व्यर्थ है, उसी तरह भावना चतुष्टय का आधार ही जब स्थिर नहीं तो यह भावनाचतुष्टय भी स्थिर नहीं रह सकता। अत: अस्थिर भावना चतुष्टय से ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती है।

१०. जैनों के मत से मोक्ष का विचार

आवरणमुक्तिर्मुक्तिरिति जैनमताभिमतोऽपि मार्गो न निसर्गतो निरर्गलः। अङ्ग, भवान्पृष्टो व्याचष्टां किमावरणम्। धर्माधर्मभ्रान्तय इति चेत्–इष्टमेव। अथ देहमेवावरणम्। तथा च तन्निवृत्तौ पञ्जरान्मुक्तस्य शुकस्येवात्मनः सततोर्ध्वगमनं मुक्तिरिति चेत्–तदा वक्तव्यम्।

अनुवाद—आवरण की मुक्ति ही मुक्ति है—यह जैन सम्मत मार्ग भी स्वभाव से बन्धनरहित (खण्डन रहित) नहीं है। हम आप से (जैनों से) पूछते हैं, बतलाइये कि आवरण क्या है? यदि कहें कि धर्म तथा अधर्म विषयक भ्रान्ति (भ्रम) आवरण है, तो यह हमें इष्ट ही है। अब यदि कहें कि शरीर आवरण है और उस शरीर के निवृत्त होने पर पिञ्जरे से मुक्त तोते की तरह आत्मा का लगातार ऊपर जाना ही मुक्ति है, तो फिर यह बतलाइये कि—

किमयमात्मा मूर्तोऽमूर्तो वा? प्रथमे निरवयवः सावयवो वा? निरवयवत्वे निरवयवो मूर्तः परमाणुरिति परमाणुलक्षणापत्त्या परमाणुधर्मवदात्मधर्माणामतीन्द्रियत्वं प्रसजेत्। सावयवत्वे यत्सावयवं तदनित्यमिति प्रतिबन्धबलेनानित्यत्वापत्तौ कृतप्रणाशाकृताभ्यागमौ निष्प्रतिबन्धौ प्रसरेताम्।

अमूर्तत्वे गमनमनुपपन्नमेव। चलनात्मिकायाः क्रियाया मूर्तत्वप्रतिबन्धात्।

अनुवाद—क्या यह आत्मा मूर्त है या अमूर्त? प्रथम मत (आत्मा मूर्त है) मानने पर क्या यह निरवयव है या सावयव? यदि आत्मा को निरवयव कहा जाये, तो 'निरवयव तथा मूर्त परमाणु है' यह परमाणु का लक्षण आत्मा में चला जाता है फिर परमाणु के धर्मों को जैसे अतीन्द्रिय माना जाता है, वैसे ही आत्मा के धर्मों को भी अतीन्द्रिय माना जायेगा। यदि आत्मा को सावयव कहा जाये, तो 'जो सावयव होता है, वह अनित्य होता है' इस प्रकार से प्रतिबन्ध (व्याप्ति) होने के कारण आत्मा को अनित्य मानना पड़ता है तथा कृत प्रणाश और अकृताभ्यागम—ये दोनों दोण बिना रूकावट के आ जायेंगे।

आत्मा को अमूर्त मानने पर उसका गमन ही नहीं हो सकता। क्योंकि चलनात्मिका क्रिया तथा मूर्तत्व की व्याप्ति है।

विशेष—मूर्त वस्तु का ही गमन हो सकता है, अमूर्त वस्तु का नहीं।

११. चार्वाक और सांख्य-मत में मोक्ष

'पारतन्त्र्यं बन्धः, स्वातन्त्र्यं मोक्षः' इति चार्वाकपक्षेऽपि स्वातन्त्र्यं दुःखनिवृत्तिश्चेत्–अविवादः। ऐश्वर्यं चेत्–सातिशयतया सदृक्षतया च प्रेक्षावतां नाभिमतम्।

अनुवाद—'परतन्त्रता बन्धन है तथा स्वतन्त्रता मोक्ष है' इस चार्वाक मत में भी यदि स्वतन्त्रता को दुःख की निवृत्तिरूप माना जाये तो कोई विवाद नहीं है। यदि ऐश्वर्य को मोक्ष कहा जाये तो भी बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिये ऐश्वर्य अभिमत नहीं है क्योंकि ऐश्वर्य की अतिशयता या समानता सम्भव है।

विशेष—चूँकि ऐश्वर्य से भी अधिक सुख कया ऐश्वर्य के समान सुख सम्भव है। अत: ऐवश्र्य को मोक्ष्श नहीं कहा जा सकता है।

प्रकृतिपरुषान्यत्वख्यातौ प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मुक्तिरिति सांख्याख्यातेऽपि पक्षे दुःखोच्छेदोऽस्त्येव। विवेकज्ञानं पुरुषाश्रयं प्रकृत्याश्रयं वेत्येतावदवशिष्यते। तत्र पुरुषाश्रयमिति न श्लिष्यते। पुरुषस्य कौटस्थ्यावस्थान-निरोधापातात्। नापि प्रकृत्याश्रयः। अचेतनत्वात्तस्याः।

किं च प्रकृतिः प्रवृत्तिस्वभावा निवृत्तिस्वभावा वा? आद्येऽनिर्मोक्षः। स्वभावस्यानपायात्। द्वितीये संप्रति संसारोऽस्तमियात्।

अनुवाद—प्रकृति तथा पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर प्रकृति के शान्त होने पर पुरुष का स्वरूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति है—इस सांख्याभिमत पक्ष में भी दुःखनाश होता ही है। लेकिन एक ही प्रश्न अवषिष्ट रहता है कि विवेकज्ञान पुरुष पर आश्रित है या प्रकृति पर? विवेक ज्ञान पुरुषाश्रित है यह ठीक नहीं है। क्योंकि पुरुष तो कूटस्थ रूप में स्थित रहता है—(ऐसा सांख्य दार्शनिक मानते हैं) इस बात का खण्डन हो जायेगा। न तो विवेकज्ञान प्रकृत्ति पर आश्रित है, क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है।

फिर यह प्रश्न है कि क्या प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति है या नित्रृत्ति? यदि प्रथम (प्रकृति प्रवृत्ति स्वभावा है) पक्ष मानें, तो मोक्ष ही नहीं हो सकता, क्योंकि अपने स्वभाव को हटाया नहीं जा सकता। दूसरा पक्ष (प्रकृति निवृत्ति स्वभावा है) मानने पर संसार का ही अस्त माना पड़ेगा।

विशेष—प्रस्तुत परिच्छेद में दो विकल्प दिखाकर सांख्यमत का खण्डन किया गयाहै।

११ क. मीमांसा-मत से मुक्ति-विचार

नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति भट्टसर्वज्ञाद्यभिमतेऽपि दुःखनिवृत्ति-रभिमतैव। परं तु नित्यसुखं न प्रमाणपद्धतिमध्यास्ते। श्रुतिस्तत्र प्रमाणमिति चेत्—न। योग्यानुपलब्धिबाधिते तदनवकाशात्। अवकाशे वा ग्रावप्लवेऽपि तथाभाव-प्रसङ्गात्।

अनुवाद—'नित्य तथा निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है'—इस भट्टसर्वज्ञ के मत में भी दुःख की निवृत्ति अभिमत ही है। परन्तु नित्य सुख की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा नहीं की जा सकती है। यदि उस नित्य सुख में श्रुति को प्रमाण मानें तो भी ठीक नहीं है। योग्यानुपलब्धि के कारण नित्यसुख का ज्ञान बाधित है अतः श्रुतिप्रमाण

का अवकाश (अवसर) नहीं है। श्रुति का अवकाश मानने पर ग्रावप्लाव में प्रत्यक्ष मा… का प्रसङ्ग (आपत्ति) आता है।

विशेष—कुमारिल भट्ट को ही भट्टसर्वज्ञ भी कहा जाता है। योग्यानुपलब्धि… किसी वस्तु का अभाव सिद्ध होता है। जैसे घट में प्रत्यक्ष की योग्यता होने पर भी… घट की उपलब्धि न हो तो यह सिद्ध हो जाता है, यहाँ घट का अभाव है। इसी प्रक… योग्यानुपलब्धि के कारण नित्यसुख का भी अभाव सिद्ध होता है, फिर श्रुति प्रमाण… आवश्यकता नहीं है।

यदि योग्यानुपलब्धि से बाधित स्थलों में भी श्रुतिप्रमाण माना जाने लगे… 'ग्रावाण: प्लवन्ते' (पत्थर तैरते हैं) इस वेद वचनानुसार ग्रावप्लवन का भी प्रत्यक्ष मान… पड़ेगा। वस्तुत: मीमांसकों के अनुसार यह वचन अर्थवाद (प्रशंसा का निन्दा) है।

चूँकि योग्यानुपलब्धि को कारण ग्रावप्लवन का अभाव सिद्ध है। अत:, … वेदवचन के मुख्यार्थ का त्याग कर लक्ष्यार्थ स्वीकार किया जाता है। ग्रावप्लवन वा… मुख्यार्थ का बोधक नहीं है।

१२. नैयायिक-मत से मुक्ति-विचार

ननु सुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति पक्षं परित्यज्य दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरि… स्वीकारः क्षीरं विहायारोचकग्रस्तस्य सौवीररुचिमनुभावयतीति चेत्-तदेतन्नाटकपक्षपतितं त्वद्वच इत्युपेक्ष्यते। सुखस्य सातिशयतया सादृक्षतया बहुप्रत्यनीकान्ततया साधनप्रार्थनपरिक्लिष्टतया च दुःखाविनाभूतत्वेन विषानुषक्तमधुवद् दुःखपक्षनिक्षेपात्।

अनुवाद—यदि कोई कहे कि 'सुखाभिव्यक्ति मुक्ति है' इस पक्ष को छोड़कर 'दु:खनिवृत्ति ही मुक्ति है' यह मानना तो उसी तरह है, जैसे—अरोचकता (भोजन के प्रति अरुचि) से पीड़ित व्यक्ति को दूध (की रुचि उत्पन्न करना) छोड़कर कोई सौवीर (खट्टा-तीता रस) रस की रुचि उत्पन्न करे, तो (इसका उत्तर यह है कि) नाटकपक्ष में आया हुआ आपका यह वचन उपेक्षणीय है। सुख सातिशय है (अर्थात् सुखों में परस्पर तारतम्य है, एक सुख से अधिक अन्य सुख भी हो सकता है), अन्य सुख के समान है, बहुत से विघ्नों से ग्रस्त है, साधनों की इच्छा के कारण कठिन है तथा दु:ख के बिना सम्भव नहीं है इसलिये विषमिश्रित मधु के समान सुख भी दु:खपक्ष के अन्तर्गत ही चला जाता है।

विशेष—सिद्धान्ती का कहना है कि सुखाभिव्यक्ति को मुक्ति मानना ठीक नहीं है, बल्कि दु:ख निवृत्ति ही मुक्ति है। सुख में सातिशय, सादृश्य, साधन काठिन्य आदि अनेक दु:ख होने से वस्तुत: सुख भी दु:ख के ही अन्तर्गत आता है।

नन्वेकमनुसंधित्सतोऽपर प्रच्यवत इति न्यायेन दुःखवत्सुखममप्युच्छिद्यत इत्यकाम्योऽयं पक्ष इति चेत्—मैवं मंस्थाः। सुखसम्पादने दुःखसाधनबाहुल्यानुषङ्ग-नियमेन तप्तायःपिण्डे तपनीयबुद्ध्या प्रवर्तमानेन साम्यापातात्। तथा हि—न्यायोपार्जितेषु

विषयेषु कियन्तः सुखखद्योताः कियन्ति दुःखदुर्दिनानि। अन्यायोपार्जितेषु तु यद् भविष्यति तन्मनसाऽपि चिन्तयितुं न शक्यमिति।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि जब तक आप (सिद्धान्ती) एक विषय का अनुसंधान करते हैं, तभी दूसरा नष्ट हो जाता है—इस न्याय से दुःख के समान ही सुख भी खण्डित हो जाता है, अतः यह पक्ष स्वीकार्य नहीं है तो (इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि) ऐसा मत समझिये। जिस प्रकार लोहे के कार्य पिण्ड में कोई व्यक्ति सुवर्ण की बुद्धि से प्रवृत्त होता है, उसी तरह सुख की प्राप्ति में अनेक दुःखमय साधन भी नियमतः जुड़े रहते है। न्यायोपार्जित विषयों में कितने विषय जुगनू की तरह सुखकार हैं और कितने दुःखकार दुर्दिन हैं। फिर अन्यायोपार्जित विषयों में तो जो होगा, वह मन से भी सोच पाना सम्भव नहीं है।

विशेष—जब न्यायोपार्जित विषयों में भी बहुत से विषय दुःख कारक हैं और बहुत से केवल जुगूने की तरह क्षणिक सुख देते हैं। मेघों से आच्छादित दिन को दुर्दिन कहा जाता है। अन्यायोपार्जित विषय तो केवल दुःख ही प्रदान करते हैं।

एतत्स्वानुभवमप्रच्छादयन्तः सन्तो विदांकुर्वन्तु विदां वरा भवन्तः। तस्मात्परिशेषात् परमेश्वरानुग्रहवशात् श्रवणादिक्रमेण आत्मतत्त्वसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी निःश्रेयसमिति निरवद्यम्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) इस प्रकार विद्वानों में श्रेष्ठ आप लोग (पूर्वपक्षीगण) अपने अनुभव को न छिपाते हुए हमारी बातों को स्वीकार करें। इस प्रकार परिणामतः (यही सिद्धान्त है कि) परमेश्वर के अनुग्रह के कारण श्रवण आदि (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन) के क्रम से आत्मतत्व का साक्षात्कार करने वाले श्रेष्ठ पुरुष की आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही निःश्रेयस (मोक्ष) है—यह बात निर्दुष्ट है।

१३. ईश्वर की सत्ता के लिए-पूर्वपक्ष

नन्वीश्वरसद्भावे किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा। न तावदत्र प्रत्यक्षं क्रमते। रूपादिरहितत्वेनातीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नागमः। विकल्पासहत्वात्। किं नित्योऽवगमयति अनित्यो वा? आद्येऽपसिद्धान्तापातः। द्वितीये परस्पराश्रयापातः। उपमानादिकमशक्याशङ्कम्। नियतविषयत्वात्। तस्मादीश्वरः शशविषाणायत इति चेत्-

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है) ईश्वर के अस्तित्व में कौन सा प्रमाण है—प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द। प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता, क्यांकि ईश्वर रूपादि से रहित तथा अतीन्द्रिय है। न ही अनुमान प्रमाण ईश्वर का ज्ञान करा सकता है। क्योंकि ईश्वर से व्याप्त कोई लिङ्ग नहीं है। न ही आगम प्रमाण ईश्वर का ज्ञान कराता है, क्योंकि यह दो विकल्प सहन नहीं कर पाता। क्या नित्य आगम प्रमाण ईश्वर का ज्ञान कराता है या अनित्य? यदि प्रथम विकल्प (नित्य आगम ईश्वर का ज्ञान कराता है) मानें

तो अपसिद्धान्त आ जायेगा। क्योंकि न्यायमत में आगम=शब्द को अनित्य माना गया है। दूसरा पक्ष (अनित्य आगम प्रमाण ईश्वर का ज्ञान कराता है) मानने पर परस्पराश्रय दोष आता है। (आगम से ईश्वर का ज्ञान होता है तथा ईश्वर के द्वारा अनित्य आगम का प्रामाण्य मालूम पड़ता है—यही परस्पराश्रय दोष है। उपमानादि आदि पद से अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण का ग्रहण होता है। प्रमाण ईश्वर का ज्ञान करवायेगे—यह शंका भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इन प्रमाणों का विषय निश्चित है। अत: ईश्वर शशविषाण की तरह है (अर्थात् ईश्वर नहीं है) यदि यह कहें तो—

१३ क. नैयायिकों का उत्तर–ईश्वरसिद्धि

तदेतन्न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारमाविष्करोति। विवादास्पदं नगसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्कुम्भवत्। न चायमसिद्धो हेतुः। सावयवत्वेन तस्य सुसाधनत्वात्। ननु किमिदं सावयवत्वम्? अवयवसंयोगित्वमवयवसमवायित्वं वा? नाद्यः। गगनादौ व्यभिचारात्। न द्वितीयः तन्तुत्वादावनैकान्त्यात्।

अनुवाद—तो यह मत (पूर्वपक्षमत) चतुरचित्त वालों के मन में चमत्कार उत्पन्न नहीं करता है। विवादित पर्वत, समुद्र आदि सकर्तृक है कार्य होने से, घट की तरह (इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है) यहाँ हेतु असिद्ध नहीं है। सावयवत्व के द्वारा कार्यत्व की सिद्धि अच्छी तरह से होती है। (अर्थात् यत् सावयवं तत् कार्यम्' यह व्याप्ति देकर 'नगादिकं कार्यं सावयवत्वात'—यह अनुमान किया जाता है और कार्यत्व की सिद्धि होती है। अत: हेतु असिद्ध नहीं है) अब यह सावयवत्व क्या है? अवयवों का संयोग सम्बन्ध या अवयवों का समवाय सम्बन्ध। पहला मत सम्भव नहीं क्योंकि आकाशादि में व्यभिचार होता है। दूसरा मत भी सम्भव नहीं, क्योंकि तन्तुत्व आदि में व्यभिचार (अनैकान्तत्व या अनैकान्त्य) होता है।

विशेष—यदि अवयवों के साथ संयोग सम्बन्ध को सावयवत्व कहा जाये तो आकाश को सावयव कहना पड़ेगा, क्योंकि आकाश का घटादि के अवयवों के साथ संयोग सम्बन्ध रहता है। फिर यदि अवयवों के साथ सम्बन्ध को सावयवत्व माना जाये तो तन्तुत्व को सावयव कहना पड़ेगा, क्यांकि तन्तुत्व तन्तु अवयव में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अत: सावयव का यह दोनों ही लक्षण ठीक नहीं है।

तस्मादनुपपन्नमिति चेत्–मैवं वादीः समवेतद्रव्यत्वं सावयवत्वमिति निरुक्तेर्वक्तुं शक्यत्वात्। अवान्तरमहत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात्।

अनुवाद—अत: (पूर्वपक्षी कहता है कि) सावयवत्व ही अनुपपन्न है, तो (इस पर सिद्धान्ती कहता है) ऐसा मत कहो। समवेत द्रव्यत्व ही सावयवत्व है—यह कहना सम्भव है। या फिर अवान्तर महत्त्व से कार्यत्व का अनुमान करना आसान है।

विशेष—जो समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहने वाला) हो तथा द्रव्य हो, वह सावयव है। आकाश द्रव्य तो है परन्तु समवेत नहीं, तन्तुत्व समवेत है, परन्तु द्रव्य नहीं। अतः, सावयवत्व का समवेतद्रव्यत्व लक्षण करने पर गगन तथा तन्तुत्व में व्यभिचार नहीं होता है।

जैसे सावयवत्व से कार्यत्व की सिद्धि होती है, वैसे ही 'अवान्तर महत्त्व' से भी कार्यत्व की सिद्धि हो सकती है। 'यत् अवान्तरमहत्त्ववत् तत् कार्यम्' यह व्याप्ति है।

महत्व गुण दो प्रकार का है—

१. परम महत्त्व

२. अवान्तर महत्त्व

नापि विरुद्धो हेतुः। साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात्। नाप्यनैकान्तिकः। पक्षादन्यत्र वृत्तेरदर्शनात्। नापि कालात्ययापदिष्टः। बाधकानुपलम्भात्। नापि सत्प्रतिपक्षः। प्रतिभटादर्शनात्।

ननु नगादिकमकर्तृकं शरीराजन्यत्वाद् गगनवदिति चेत्–नैतत्परीक्षामपेक्ष्यते। न हि कठोरकण्ठीरवस्य कुरङ्गशावः प्रतिभटो भवति। अजन्यत्वस्यैव समर्थतया शरीरविशेषणवैयर्थ्यात्।

अनुवाद—(पूर्वोक्त कार्यत्व हेतु) विरुद्ध हेतु भी नहीं है। क्योंकि यह साध्यविरुद्ध को व्याप्त नहीं करता है। न ही (कार्यत्व) अनैकान्तिक हेतु है। क्योंकि यह पक्ष से भिन्न में नहीं रहता। न ही (यह कार्यत्व हेतु) कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। क्योंकि इसका कोई बाधक नहीं मिलता। न ही यह सत्प्रतिपक्ष हेतु है, क्योंकि इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी (साध्याभाव साधक) अन्य हेतु दिखलाई नहीं पड़ता।

यदि कोई कहे कि पर्वत आदि अकर्तृक हैं, (अर्थात् इनका कोई कर्ता नहीं है) शरीर से उत्पन्न न होने के कारण जैसे कि आकाश, तो यह कहना किसी परीक्षा के योग्य भी नहीं है। हिरन का शावक (बालक) किसी कठोर शेर का प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। 'अजन्यत्व' इतना हेतु ही पर्याप्त है उसमें 'शरीर' विशेषण व्यर्थ ही लगाया गया है।

विशेष—पूर्वोक्त अनुमान 'नगादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्' में 'कार्यत्व' हेतु किसी भी प्रकार के हेत्वाभास के अन्तर्गत नहीं आता है—इसी तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया गया है। हेत्वाभास पाँच है—

१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. सत्प्रतिपक्ष, ४. असिद्ध तथा ५. बाधित।

पूर्व में यह बतलाया गया था कि कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है। अब अन्य चारों हेत्वाभासों का भी खण्डन किया गया है।

विरुद्ध हेतु वह होता है जो साध्याभाव को व्याप्त करे। कार्यत्व ऐसा हेतु नहीं है। इसी प्रकार जो हेतु पक्ष से इतर में रहे वह सव्यभिचार होता है। कार्यत्व हेतु सव्यभिचार भी नहीं है। अन्य प्रमाणों से बाधित हेतु को कालात्ययापदिष्ट कहते हैं। कार्यत्व हेतु

कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। जिस हेतु के साध्याभाव को सिद्ध करने वाला अन्य हेतु विद्यमान रहता है, वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाता है। 'कार्यत्व' हेतु का प्रतिपक्षी कोई अन्य हेतु दिखलाई नहीं पड़ता। अतः यह सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है। इस प्रकार 'कार्यत्व' हेतु किसी भी प्रकार से हेत्वाभाव के अन्तर्गत नहीं आता है।

सिद्धान्ती द्वारा 'हेत्वाभास' का खण्डन करने के बाद भी पूर्वपक्षी ने 'कार्यत्व' का सत्प्रतिपक्ष हेतु प्रस्तुत किया है—

'पर्वतादि अकर्तृक है, शरीराजन्यत्व के कारण' इस पर सिद्धान्ती कहता है कि यह प्रतिपक्षता तो वैसे ही हुई जैसे किसी हिरन के बच्चे की सिंह से प्रतिस्पर्धा हो। फिर यहाँ जो 'सत्प्रतिपक्ष' हेतु प्रस्तुत किया गया—'शरीराजन्यत्व'। उसमें केवल 'जन्यत्व' रखना ही पर्याप्त है, शरीर यह विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता नहीं।

तर्ह्यजन्यत्वमेव साधनमिति चेत्–न असिद्धेः। नापि सोपाधिकत्वशङ्काकलङ्काङ्कुरः सम्भवी। अनुकूलतर्कसम्भवात्।

यद्ययमकर्तृकः स्यात्कार्यमपि न स्यात्। इह जगति नास्त्येव तत्कार्यं नाम यत्कारकचक्रमवधीर्यात्मानमासादयेदित्येतदविवादम्। तच्च सर्वकर्तृविशेषोपहितमर्यादम्।

अनुवाद—तो फिर 'अजन्यत्व' को ही साधन मान लें—यदि ऐसा कहा जाये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अजन्यत्व' सिद्ध ही नहीं है। न ही कार्यत्व हेतु में सोपाधिकत्व की शंका रूपी कलंक का अंकुर सम्भव है। क्योंकि अनुकूल तर्क सम्भव है।

यदि यह अकर्तृक होगा, तो यह कार्य भी नहीं होगा। इस संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो कारकचक्र की उपेक्षा करके अपने आप को स्थापित कर ले-इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी कार्य किसी न किसी कर्ता पर ही आश्रित हैं।

विशेष—पूर्वपक्षी ने 'कार्यत्व' हेतु के 'सोपाधिकत्व' की जो शंका की थी, उस पर सिद्धान्ती ने तर्क दिखलाकर पूर्वपक्षी खण्डन कर दिया। तर्क इस प्रकार है—यदि यह अकर्तृक होगा, तो कार्य भी नहीं होगा।

कारक चक्र का तात्पर्य है—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण—ये छह कारक। प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारक पर आधारित है। उसमें भी 'कर्ता' के बिना तो कोई कार्य सम्भव नहीं है।

१३ ख. कर्ता का लक्षण तथा ईश्वर का कर्तृत्व

कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम्। एवं च कर्तृव्यावृत्तेस्तदुपहितसमस्तकारकव्यावृत्तौ अकारणककार्योत्पादप्रसङ्ग इति स्थूलः प्रमादः। तथा निरटङ्कि शङ्करकिङ्करेण-

४. अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने।
साध्यव्यापकताभङ्गात्पक्षे नोपाधिसम्भवः ॥ इति।

अनुवाद—'कर्तृत्व' का लक्षण है—जो अन्य कारकों द्वारा प्रयुक्त न हो, लेकिन वह स्वयं समस्त कारकों को प्रयुक्त करे तथा वह (कर्तृत्व) ज्ञान, चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा) एवं प्रयत्न का आधार हो।

इस प्रकार कर्ता की व्यावृत्ति (त्याग) होने पर उस (कर्ता) पर आश्रित समस्त कारकों की व्यावृत्ति हो जाती है, फिर बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाता है—यह स्थूल (बड़ा) प्रमाद (असावधानी) है।

जैसा कि शङ्कर किंकर ने कहा है—अनुकूल तर्क के द्वारा हेतु के पुष्ट होने पर तथा साध्य की व्यापकता के नष्ट होने पर पक्ष में उपाधि की सम्भावना नहीं होती।

विशेष—कार्य को अकर्तृक कहने पर जब कर्ता की व्यावृत्ति हो जाती है तो समस्त कारकों की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि सभी कारक कर्ता पर ही आश्रित हैं।

साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक जो होता है, वह उपाधि है। अतः जब साध्य व्यापकता नहीं है, तो उपाधि की शंका भी व्यर्थ है।

यदीश्वरः कर्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यादित्यादिप्रतिकूलतर्कजातं जागर्तीति चेत्-ईश्वरसिद्ध्यसिद्धिभ्यां व्याघातः। तदुदितमुदयनेन-

४. आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादिनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥

(न्या० कु० ३/५) इति।

न च विशेषविरोधः शक्यशङ्कः। ज्ञातत्वाज्ञातत्वविकल्पपराहतत्वात्।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह तर्क कहे कि 'यदि ईश्वर कर्ता होगा, तो वह शरीरी भी होगा' इस प्रकार का प्रतिकूल तर्क उत्पन्न होता है, तो इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि ईश्वर की सिद्धि हो या असिद्धि—दोनों ही स्थिति में यह तर्क खण्डित होता है। जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है—

यदि आगम (शब्द) आदि को ईश्वरसिद्धि में प्रमाण मानें तो पूर्वपक्षी के बाधन (खण्डन) का निषेध हो जायेगा और यदि आगम के प्रमाणाभास मानें, तो आश्रयासिद्धि होती है।

ईश्वर को (सामान्य मानवों से) विशेष मानने पर (ईश्वर के कर्तृत्व का) विरोध होगा—यह शंका भी सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञातत्व तथा अज्ञातत्व—इन दोनों विकल्पों से यह शंका खण्डित हो जाती है।

विशेष—यदि शब्दादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि मान लें तब तो पूर्वपक्षी का तर्क स्वतः ही खण्डित हो जाता है और यदि शब्दादि प्रमाणों को प्रमाणाभास कहकर ईश्वर

को असिद्ध माना जाये तब पूर्वपक्षी के अनुमान मैं आश्रयसिद्धि दोष आता है। पूर्वपक्षी का अनुमान है—

'ईश्वर शरीरी है, कर्ता होने से।'

इस अनुमान में जब आश्रय (पक्ष) ही नहीं है। तो अनुमान कैसा। अतः आश्रय सिद्धि दोष आता है।

यदि कोई कहे कि सामान्य मानव तो कर्ता हो सकते हैं, परन्तु ईश्वर विशेष मानव है। अतः, वह कर्ता नहीं हो सकता—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि विशेष कर्ता (ईश्वर) या तो ज्ञात होगा या अज्ञात। यदि विशेष कर्ता ज्ञात है, तब तो उसके कर्तृत्व की शंका करना ही व्यर्थ है और यदि विशेष कर्ता अज्ञात है तो भी तर्क-वितर्क व्यर्थ है।

१४. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण–पूर्वपक्ष

स्यादेतत्। परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्तिः किमर्था? स्वार्था परार्था वा? आद्येऽपि, इष्टप्राप्त्यर्थाऽनिष्टपरिहारार्था वा? नाद्यः। अवाप्तसकलकामस्य तदनुपपत्तेः। अत एव न द्वितीयः। द्वितीये प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। कः खलु परार्थं प्रवर्तमानं प्रेक्षावानित्याचक्षीत?

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है) यह सम्भव है (अर्थात् सिद्धान्ती जो कह रहा है ईश्वर जगत्कर्ता है—यह बात हो सकती है। फिर भी हमारा प्रश्न है कि) परमेश्वर की जगत् के निर्माण में प्रवृति क्यों होती है? स्वार्थ के लिये या परोपकार के लिये? प्रथम मत स्वार्थ के लिये मानने पर पुनः दो प्रश्न हैं क्या परेश्वर की जगन्निर्माण प्रवृत्ति इष्ट प्राप्ति के लिये होती है या अनिष्ट के परिहार के लिये होती है? पहला मत इष्टप्राप्त्यर्थ प्रवृत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त कामनाओं से परिपूर्ण ईश्वर के लिये यह (इष्ट प्राप्ति) सम्भव नहीं है। इसीलिये दूसरा मत (अनिष्ट परिहार) भी सम्भव नहीं हैं (क्योंकि आप्तकाम ईश्वर अनिष्ट परिहार भी क्यों करेंगे) यदि दूसरा मत (परोपकार के लिये ईश्वर जगत् का निर्माण करते हैं) माना जाये, तो प्रवृत्ति ही अनुपपन्न है। दूसरे के लिये प्रवृत्त ईश्वर को कौन व्यक्ति बुद्धिमान् कहेगा?

अथ करुणया प्रवृत्युपत्तिरित्याचक्षीत कश्चित्, तं प्रत्याचक्षीत। तर्हि सर्वान् प्राणिनः सुखिन एव सृजेदीश्वरः। न दुःखशबलान्। करुणाविरोधात्। स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। तस्मादीश्वरस्य जगत्सर्जनं न युज्यते। तदुक्तं भट्टाचार्यैः–

६. प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्॥ इति।

अनुवाद—अब यदि कोई कहे (सिद्धान्ती) कि ईश्वर की जगन्निर्माण प्रवृति दयावश होती है, तो उससे (पूर्वपक्षी) कहते हैं कि फिर तो ईश्वर सभी प्राणियों को सुखी

ही बनाये, न कि दुःखग्रस्त। क्योंकि (दुःखी प्राणियों के निर्माण से तो) ईश्वर की दया का विरोध होगा। स्वार्थ की अपेक्षा न करके दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा ही कारुण्य (दया) कहलाता है। अतः ईश्वर की जगत्सृष्टि ठीक नहीं है। जैसा कि भट्टाचार्य ने कहा है—बिना प्रयोजन के तो मन्द व्यक्ति भी प्रवृत्त नहीं होता, फिर जगत् की सृष्टि करने वाला ईश्वर किस पदार्थ की सृष्टि नहीं करता (अर्थात् जगत्कर्ता ईश्वर सभी पदार्थों की सृष्टि करता है और (वह भी निष्प्रयोजन—यह मानना कठिन है)।

१५. ईश्वर के द्वारा संसार-निर्माण सिद्धान्त

अत्रोच्यते–नास्तिकशिरोमणे! तावदीर्ष्याकषायिते चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्। करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव। न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसङ्गः। सृज्यप्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाकविशेषाद् वैषम्योपपत्तेः। न च स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः। स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवस्तस्थे' (तै० सं० १/८/६) इत्यादिरागमस्तत्र प्रमाणम्।

अनुवाद—इस पर (सिद्धान्ती) कहते हैं—अरे नास्तिक शिरोमणि! पहले ईर्ष्या के कारण कलुषित अपनी आँखों को बन्द करके आप विचार करें। दया से तो प्रवृत्ति होती ही है। प्राकृतिक रूप से ही सुखमय सृष्टि करने का प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि सृज्य प्राणियों के पुण्य तथा पाप के फलविशेषानुसार प्राणियों में विषमता होती है। ईश्वर की स्वतन्त्रता का भङ्ग होता है—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये। अपना अंग स्वयं को बाधक नहीं होता इस न्याय से तो (ईश्वर की जगत्सृष्टि का) निर्वाह ही हो रहा है। 'रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं' (तै.सं. १/८/६) यह आगम भी उसमें प्रमाण है।

विशेष—सिद्धान्ती के अनुसार प्रत्येक प्राणी को अपने पुण्य या पाप का ही फल मिलता है। अतः, ईश्वर स्वभावतः सुखी प्राणियों को ही बनायेगा—यह बात संगत नहीं है।

यदि ईश्वर जीव के कर्मों के अनुसार उन्हें फल देता है, तब तो ईश्वर भी जीवकर्म के अधीन हो गया, स्वतंत्र नहीं। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि जीव कर्म भी तो ईश्वर की सृष्टि के अन्तर्गत एक पदार्थ है अतः ईश्वर का अंग ही है और अपना अंग अपना साधक होता है बाधक नहीं। अतः, जीवकर्म ईश्वर के स्वातन्त्र्य का बाधक नहीं है।

यद्येवं तर्हि परस्पराश्रयबाधव्याधिं समाधत्स्वेति चेत्–तस्यानुत्थानात्। किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा। नाद्यः। आगमस्येश्वराधीनोत्पतिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। नापि ज्ञप्तौ। परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञाप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्। नापि तदनित्यत्वज्ञप्तौ। आगमानित्यत्वस्य तीव्रादिधर्मोपेतत्वादिना सुगमत्त्वात्। यस्मान्निवर्तकधर्मानुष्ठानवशादीश्वरप्रसादसिद्धावभिमतेष्टसिद्धिरिति सर्वमवदातम्।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहेऽक्षपाददर्शनम्।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है कि) यदि ऐसा है, तो अन्योन्याश्रय दोषरूपी ग… का समाधान करिये। (पूर्वपक्षी ने पहले यह दोष दिखाया था कि अनित्य आगम का प्रामाण्य ईश्वर के अधीन है तथा ईश्वर का प्रामाण्य अनित्य आगम के अधीन है यह अन्योन्याश्रय दोष है) सिद्धान्ती कहते हैं कि यह दोष ही नहीं उठता। क्या ईश्वर तथा आगम की उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय दोष की शंका या उनके परस्पर ज्ञान में। (अर्थात् आगम ईश्वर से उत्पन्न है वह ईश्वर आगम से उत्पन्न है यह शंका है या आगम के ज्ञान के बिना ईश्वर का ज्ञान नहीं होता तथा ईश्वर ज्ञान के बिना आगम का ज्ञान नहीं होता—यह शंका है। पहला विकल्प सम्भव नहीं है। आगम की उत्पत्ति तो ईश्वर के अधीन मान सकते हैं, परन्तु ईश्वर की उत्पत्ति आगम से नहीं मान सकते, क्योंकि ईश्वर के नित्य होने से उनकी उत्पत्ति की बात उपपन्न नहीं होती। न ही ज्ञान के विषय में अन्योन्याश्रय होता है। परमेश्वर का ज्ञान तो आगम ज्ञान के अधीन है, परन्तु आगम का ज्ञान तो अन्य (गुरु आदि) प्रकार से भी हो जाता है। न ही आगम के अनित्यत्व ज्ञान में कोई शंका है, क्योंकि तीव्रादि धर्मों के कारण आगम अनित्य है यह बात स्पष्ट है। (अर्थात् आगम=शब्द कभी तीव्र होता है कभी कटु कभी दुःसह। इन सब धर्मों के कारण आगम अनित्य है यह सिद्ध होता है)। इसप्रकार संसार से निवृत्ति कराने वाले धर्मों के अनुष्ठान से जब ईश्वर की प्रसन्नता होती है, तभी अभिमत ईश्वर की सिद्धि होती है—यह सब स्पष्ट है।

॥ इति अक्षपाददर्शनम् ॥

अध्याय-१२
जैमिनिदर्शनम्

वेदोक्तकर्मसरणिः स तु यागरूपो
विध्यर्थवादयुगलं परिलम्बमानः।
धर्मो भवेत्किल ततो जननान्तरेषु
कर्मैव सर्वमिति जैमिनये नमोऽस्तु॥ –ऋषिः

१. मीमांसा-सूत्र की विषय-वस्तु

ननु धर्मानुष्ठानवशादभिमतधर्मसिद्धिरिति जेगीयते भवता। तत्र धर्मः किंलक्षणकः किंप्रमाणक इति चेत्–उच्यते। श्रूयतामवधानेन। अस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं प्राच्यां मीमांसायां प्रादर्शि जैमिनिना मुनिना। सा हि मीमांसा द्वादशलक्षणी।

अनुवाद—यदि आप यह कहते हैं कि धर्मानुष्ठान के कारण अभीष्ट धर्म की सिद्धि होती है तो उसमें धर्म क्या है? धर्म का क्या लक्षण है तथा क्या प्रमाण है? यदि यह कहते हैं, तो सावधानी के साथ सुनिये। इस प्रश्न का प्रत्युत्तर पूर्वमीमांसा में जैमिनि मुनि ने दिखलाया है। वह मीमांसा १२ अध्यायों की है।

तत्र प्रथमेऽध्याये विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतिनामधेयार्थकस्य शब्दराशेः प्रामाण्यम्। द्वितीये उपोद्घातकर्मभेदप्रमाणापवादप्रयोगभेदरूपोऽर्थः। तृतीये तत्र लिङ्गवाक्यादिविरोधप्रतिपत्तिकर्मानारभ्याधीतबहुप्रधानोपकारकप्रयाजयाजमानचिन्तनम्।

अनुवाद—उसमें प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति तथा नामधेय अर्थ के बतलाने वाले शब्दसमूह की प्रामाणिकता का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में उपोद्घात कर्मभेद के प्रमाण, उनका अपवाद तथा प्रयोगभेद रूप पदार्थ का विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में श्रुति, लिंग, वाक्यादि प्रमाण, विरोध, प्रतिपत्तिकर्म, अनारभ्याधीत, बहुप्रधानोपकारक प्रयाज आदि, यजमान के कर्मों का विचार किया गया है।

विशेष—मीमांसा दर्शन का प्रमुख आधार ग्रन्थ जैमिनि सूत्र है। इसमें १२ अध्याय हैं। जिसमें तीसरे, छठें तथा दसवें अध्याय में आठ-आठ पद हैं तथा शेष अध्यायों में चार-चार पाद हैं। प्रत्येक पाद के भीतर अनेक अधिकरण हैं। मीमांसा शास्त्र में कुल १२ अध्यायों में मिलाकर १००० अधिकरण हैं।

पहले अध्याय में धर्म के प्रमाणों पर विचार किया गया है। इसके चारों पा का विषय इस प्रकार है—

प्रथमपाद—धर्म में विधि का प्रामाण्य।

द्वितीयपाद—धर्म में अर्थवाद और मन्त्र का प्रामाण्य।

तृतीयपाद—धर्म में स्मृति का प्रामाण्य।

चतुर्थपाद—धर्म में नामधेय का प्रामाण्य।

दूसरे अध्याय के चारों पादों का विषय है।

प्रथमपाद—कर्म भेद की भूमिका

द्वितीयपाद—कर्म भेद (अमुक कर्म अमुक कर्म से भिन्न है) को बतलाने वाले ६ प्रमाणों का विचार। ये ६ प्रमाण हैं—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, नामधेय, गुण, प्रकरणान्तर। उदाहारणार्थ—समिधो यजति, तनूनपातं यजति—इन वाक्यों में 'यज्' धातु के अभ्यास (पुनरुक्ति) के कारण समिद् याग तथा तनूनपात् याग को भिन्न-भिन्न कर्म माना गया है।

तृतीयपाद—कर्मभेदक ६ प्रमाणों के अपवाद का विचार।

चतुर्थपाद—नित्य कर्म तथा काम्य कर्म के प्रयोग भिन्न-भिन्न हैं—यह विचार चतुर्थ पाद में हुआ है।

तृतीय अध्याय में आठ पाद हैं। इन पादों का विषय है—

प्रथमपाद—श्रुतिप्रमाण।

द्वितीयपाद—लिङ्ग प्रमाण।

तृतीयपाद—वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या।

चतुर्थपाद—श्रुतियों में परस्पर विरोध का विचार।

पंचमपाद—प्रतिपत्ति कर्म (यज्ञ में अवशिष्ट हवि आदि पदार्थों को किसी अन्य कर्म में समायोजित करना प्रतिपत्ति कर्म कहलाता है)

षष्ठपाद—बिना प्रकरण के पढ़े गये कर्मों पर विचार। इसे ही अनारभ्याधीत कहा जाता है।

सप्तमपाद—जो कर्म अनेक प्रधानों में उपकारक होते हैं, उन पर विचार किया गया है। जैसे—प्रयाजादि कर्म।

अष्टमपाद—यजमान के कर्म तथा अधिकार का विचार।

मीमांसा दर्शन में वेद के पाँच भाग किये गये हैं—१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध, ५. अर्थवाद।

विधि के भी चार भेद हैं—

१. उत्पत्ति विधि, २. विनियोग विधि, ३. अधिकार विधि, ४. प्रयोगविधि।

इसमें विनियोग विधि के अन्तर्गत प्रधान (अङ्गी) के साथ अङ्ग के विनियोगार्थ इन ६ प्रमाणों की सहकारिता होती है—

१. **श्रुतिप्रमाण**—निरपेक्ष वैदिक शब्द को श्रुति कहा जाता है। जैसे 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में तृतीया विभक्तिरूपा श्रुति के द्वारा दधि (दही) होम का अंग बनता है। इन श्रुत्यादि ४ प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तर-उत्तर प्रमाणों से प्रबल हैं। अत:श्रुति अपने उत्तरवर्ती प्रमाण लिङ्ग से प्रबल है।

२. **लिङ्ग प्रमाण**—शब्द में निहित अर्थ प्रकाशन के सामर्थ्य को लिंग कहा जाता है। जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इस मन्त्र का विनियोग कुश काटने के लिये किया जाता है, क्योंकि यहाँ 'दामि' (काटता हूँ) यह लिंग विद्यमान है।

३. **वाक्य प्रमाण**—अङ्ग तथा अङ्गी का समभिव्याहार (सहोच्चारण) ही वाक्य कहलाता है। जैसे—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति—न स पापं श्लोकं शृणोति' यहाँ 'पर्णमयत्व' तथा 'जुहूत्व' का एक ही वाक्य में समभिव्याहार है। अत: वाक्य प्रमाण से 'पर्णमयत्व' 'जुहू' का अङ्ग बनता है।

४. **प्रकरण प्रमाण**—अङ्ग को अङ्गी की आकांक्षा तथा अङ्गी को अङ्ग की आकांक्षा प्रकरण कहलाता है। जैसे प्रयाजादि कर्मों को दर्शपूर्णमास की आकांक्षा होती है तथा दर्शपूर्णमास को प्रयाजादि कर्मों की आकांक्षा होती है। इसी कारण प्रयाजादि कर्म दर्शपूर्णमास के अंग बनते हैं।

५. **स्थान प्रमाण**—एक ही देश को स्थान कहते हैं। जब अंग तथा अंगी एक ही देश में हो तो उनमें अंगागिभाव बन जाता है।

६. **समाख्या प्रमाण**—यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। जैसे—हौत्रम्, आध्वर्यवम् इत्यादि समाख्या है। इसका तात्पर्य है कि 'हौत्रम्' यह अधिकार शुरु करके जो भी कर्म बतलाये जाते हैं, वे सभी कर्म 'होता' के अंग हैं।

चतुर्थे प्रधानप्रयोजकत्वाप्रधानप्रयोजकत्वजुहूपर्णतादिफलराजसूयगत-जघन्याङ्गाक्षद्यूतादिचिन्ता। पञ्चमे श्रुत्यादिक्रम-तद्विशेषवृद्ध्यवर्धनप्राबल्यदौर्बल्यचिन्ता। षष्ठेऽधिकारितद्धर्मद्रव्यप्रतिनिध्यर्थलोपनप्रायश्चित्त-सत्रदेय-वह्निविचार:। सप्तमे प्रत्यक्षवचनातिदेशशेषनामलिङ्गातिदेशविचार:।

अनुवाद—चतुर्थ अध्याय में प्रधान प्रयोजकत्व, अप्रधानप्रयोजकत्व, जुहू के पर्णतादि का फल तथा राजसूय यज्ञ के जघन्य अङ्ग अक्ष, द्यूत आदि का विचार है। पंचम, अध्याय में श्रुत्यादि का क्रम, उनके विशेष का विचार, वृद्धि तथा अवृद्धि का विचार तथा प्राबल्य-दौर्बल्य का विचार है। षष्ठाध्याय में अधिकारी, उसके धर्म, द्रव्य के प्रतिनिधि, पदार्थ का लोप, प्रायश्चित्त, सत्र, देय तथा अग्नि का विचार है। सप्तमाध्याय में प्रत्यक्ष वचन से अतिदेश, शेषातिदेश, नामातिदेश तथा लिंगातिदेश का विचार हैं।

विशेष—चतुर्थ अध्याय में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव का विचार हैं। कहीं प्रधान प्रयोजक होता है तो कहीं अप्रधान प्रयोजक होता है। जैसे—एक वैदिक वाक्य है—'तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेवी आमिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्।' अर्थात् गर्मदूध में जब दही डालते हैं, तो दूध के फटने पर जो ठोस भाग बनता है—उसे आमिक्षा कहा जाता है और यह आमिक्षा विश्वेदेवों के लिये समर्पित की जाती है। इसी प्रकार उस फटे हुए दूध का जो द्रवभाग है, वह वाजिन कहलाता है इसे वाजिदेव के लिये समर्पित किया जाता है। यहाँ आभिक्षा प्रधान द्रव्य जो दध्यानयन (दही को दूध को डालना) का प्रयोजक है अर्थात् आभिक्षा के लिये ही दध्यानयन किया जाता है। यह विषय चतुर्थाध्याय प्रथमपाद का है। द्वितीय पाद में यह बतलाया गया है कि अप्रधान कर्म (वत्सापाकरण = वत्स को हटाना) शाखाच्छेद का प्रयोजक है अर्थात् वृक्ष की शाखा को इसलिये काटा जाता है, क्योंकि उसी शाखा से वत्स (बछड़े) को उसकी माता से दूर करना होता है। तृतीय पाद में यह बतलाया गया कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' यहाँ जुहू के पर्णमयत्व का कोई पृथक् फल नहीं है बल्कि प्रधान याग का फल ही पर्णमयत्व का भी फल है। चतुर्थ पाद में राजसूय याग के कुछ निन्दित अङ्ग जैसे द्यूत, (जुआं), अक्ष (पासा) आदि का विचार किया गया है।

पंचमाध्याय में प्रथमपाद में श्रुत्यादि के क्रम बोधक प्रमाणों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार विनियोग विधि में ६ विनिर्याजक प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार प्रयोगविधि में भी क्रमबोधक ६ प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है। ये ६ प्रमाण हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, प्रवृत्ति। पंचमाध्याय द्वितीय पाद में क्रम की विशेष बातों का वर्णन है। तृतीय पाद में यह वर्णन है कि पंच प्रयाजों को अग्नीषोमीय पशु याग में जब अनुष्ठित किया जाता है, तब वहाँ ग्यारह प्रयाजों का विधान होने के कारण ग्यारह संख्या का पूर्ण करने के लिये प्रयाजों की आवृत्ति करनी पड़ती हैं इसे ही वृद्धि कहा जाता है। कहीं कहीं किसी कर्म की आवृत्ति न करके संख्या को जब सीमित किया जाता है, उसे अवृद्धि कहते है। चतुर्थ पाद में पूर्वोक्त क्रम बोधक ६ प्रमाणों के प्राबल्य-दौर्बल्य का विचार है। इन प्रमाणों में भी पूर्व-पूर्व प्रमाण प्रबल तथा उत्तर-उत्तर प्रमाण दुर्बल है।

षष्ठाध्याय में ८ पाद हैं। प्रथम पाद में यागादि कर्मों के अधिकारी का विचार है तथा द्वितीय पाद में उस अधिकारी के धर्मों का विचार है। तृतीय पाद में यह विचार है मुख्य द्रव्य के न मिलने पर उसके प्रतिनिधि के रूप में क्या लिया जाए? चतुर्थ पाद में किसी पदार्थ के लोप हो जाने पर क्या किया जाये—यह विचार है। पंचम पाद में प्रायश्चित्तों का विचार, षष्ठपाद में सत्र (दीर्घकालिक याग) का विचार है। सप्तम पाद में देय तथा अदेय का विचार है तथा अष्टम पाद में अग्नि का विचार है।

सप्तमाध्याय में सामान्यातिदेश का विचार हुआ है। जब वेद के द्वारा सर्वाङ्गपूर्ण याग का उपदेश दिया जाता है तो ऐसे याग को प्रकृति कहा जाता हैं। जिन यागों को पूर्ण अंगों के साथ उपदिष्ट नहीं किया जाता, उन्हें विकृति कहा जाता है। विकृति याग में जो अंग उपदिष्ट नहीं होते, उन्हें वह प्रकृति याग (जहाँ समस्त अंगों का निर्देश है) से ग्रहण कर लेता है, इसे ही अतिदेश कहा जाता है। यह अतिदेश तीन प्रकार का होता है—

१. प्रत्यक्षवचनातिदेश, २. नामातिदेश, ३. अनुमितवचनातिदेश। लिंगातिदेश या अनुमितवचनातिदेश के भी तीन भेद हैं—

१. सादृश्यकल्पित वचनातिदेश

२. स्थानापत्तिकल्पित वचनातिदेश

३. आश्रयोपस्थितिकल्पित वचनातिदेश।

इन अतिदेशों में से सप्तमाध्याय के प्रथमपाद में प्रत्यक्षवचनातिदेश का विचार हुआ है। द्वितीयपाद में अवशिष्ट विचार करके फिर तृतीयपाद में नामातिदेश तथा चतुर्थपाद में लिंगातिदेश का विचार है।

अष्टमे स्पष्टास्पष्टप्रबललिङ्गातिदेशापवादविचारः। नवमे ऊहविचारारम्भसामोहमन्त्रोहतत्प्रसङ्गागतविचारः। दशमे बाधहेतुद्वारलोपविस्तारबाधकारणकार्यैकत्वसमुच्चयग्रहादिसामप्रकीर्णनञर्थविचारः। एकादशे तन्त्रोपोद्घाततन्त्रावापतन्त्रप्रपञ्चनावापप्रपञ्चनचिन्तनानि। द्वादशे प्रसङ्गतन्त्रिनिर्णयसमुच्चयविकल्पविचारः।

अनुवाद—अष्टमाध्याय में स्पष्टलिंग, अस्पष्ट लिंग तथा प्रबल लिंग से अतिदेश का विचार एवं अतिदेश के अपवाद का भी विचार हैं। नवमाध्याय में ऊह विचार का प्रारम्भ, सामोह, मन्त्रोह तथा मन्त्रोह के प्रसंग से आया हुआ विचार है। दशमाध्याय में बाध के हेतु द्वार लोप, उसके विस्तार, बाध के कारण कार्यैकत्व का विचार, समुच्चय, ग्रहादि का विचार, सामविचार, प्रकीर्ण विचार तथा नञर्थ का विचार है। एकादश अध्याय में क्रमश: तन्त्र का उपोद्घात (भूमि का), तन्त्र तथा आपाप, तन्त्र का विस्तार तथा आवाप के विस्तार का विचार है। द्वादशाध्याय में प्रसङ्ग, तन्त्री का निर्णय, समुच्चय तथा विकल्प का विचार है।

विशेष—अष्टमाध्याय में लिंगातिदेश (अनुमिवचनातिदेश) के प्रथम भेद सादृश्यकल्पित वचनातिदेश का वर्णन तीन पादों में है। जिसमें प्रथम पाद में स्पष्टलिंग से अतिदेश, द्वितीय पाद में अस्पष्ट लिंग से अतिदेश तथा तृतीय पाद में प्रबललिंग से अतिदेश का वर्णन है। चतुर्थ पाद में अतिदेश के अपवाद का विचार है। लिंगातिदेश के अन्य दोनों भेदों का वर्णन जै.सू. में नहीं है।

नवमाध्याय ऊहाध्याय है। जिसमें प्रथमपाद में ऊह-विचार की भूमिका, द्वितीय पाद में साम के ऊह का विचार, तृतीयपाद में मन्त्र-ऊह का विचार तथा चतुर्थ पाद में ऊह के प्रसङ्ग में आये हुए विचार हैं।

दशमाध्याय के आठों पादों में बाध का स्वरूप विस्तार के साथ वर्णित है। प्रथम पाद में बाध के कारण द्वारलोप का वर्णन है। जैसे—जिस स्थल पर वेदि नहीं बनानी होती है वहाँ वेदी निर्माण के लोप से वेदि को खोदने के कार्य का भी लोप हो जाता है। द्वितीय पाद में इसी का विस्तार है। तृतीय पाद में बाध के कारण, चतुर्थ पाद में समुच्चय, पंचम पाद में ग्रह (पात्रविशेष) का विचार, षष्ठ पाद में साम विचार, सप्तम पाद में प्रकीर्ण (छिटपुट) विचार तथा अष्टम पाद में नञ् के अर्थ का विचार है।

एकादशाध्याय में तन्त्र विचार है। जब एक ही कार्य से दो का एक साथ उपकार होता हो, तो उसे तन्त्र कहा जाता है। प्रथम पाद में तन्त्र की भूमिका, द्वितीय पाद में तन्त्र और आवाप का वर्णन, तृतीय पाद में तन्त्र का विस्तार तथा चतुर्थ पाद में आवाप के विस्तार का वर्णन है।

द्वादशाध्याय में प्रसंग का विचार है। इसमें प्रथम पाद में प्रसंग का प्रारम्भिक विचार है। द्वितीय पाद में तन्त्र (तन्त्र से जुड़ने वाला) का निर्णय है। तृतीय पाद तथा चतुर्थ पाद में क्रमशः समुच्चय तथा विकल्प का वर्णन है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि हैं। जैमिनि मुनि ने मीमांसा सूत्र (जैमिनिसूत्र) की रचना की। इसमें १२ अध्याय हैं।

मीमांसा सूत्र पर आचार्य शबरस्वामी ने शाबरभाष्य लिखा तथा शाबरभाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुपटीका ये तीन टीका ग्रन्थ लिखे। वस्तुतः श्लोकवार्तिक तथा तन्त्रवार्तिक टीका ग्रन्थ होने पर भी अपने आप में एक महनीय स्वतंत्र ग्रन्थ हैं। आचार्य प्रभाकर मिश्र ने भी शाबर भाष्य पर लघ्वी और बृहती ये दो टीकायें लिखीं। प्रभाकर मिश्र के शिष्य शालिकनाथ ने लघ्वी टीका पर दीपशिखा नामक टीका तथा प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ लिखा है।

मीमांसा दर्शन के अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं—पार्थसारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका, खण्डदेव के तीन ग्रन्थ—भाट्टतन्त्ररहस्य, भाट्टकौस्तुभ, भाट्टदीपिका, मण्डन मिश्र का विधिविवेक, आपदेव का मीमांसान्याय प्रकाश, लौगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह, नारायण भट्टद्वय का मानमेयोदय, कृष्णयज्वा की मीमांसा परिभाषा, माधवाचार्य की जैमिनीय न्यायमाला इत्यादि।

मीमांसा दर्शन में दो सम्प्रदाय प्रमुख हैं—भाट्टमत (कुमारिल भट्ट का मत) तथा गुरुमत (प्रभाकर मिश्र का मत)। इसके अतिरिक्त एक तीसरा मत भी है—मुरारि मिश्र का मत (मुरारेस्तृतीयः पन्थाः)। यह तीसरा मत अनुपलब्ध है।

वस्तुतः कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर मिश्र थे (लेकिन शिष्य की अलौकिक प्रतिभा को देखकर कुमारिल ने प्रभाकर को गुरुपद दे दिया और प्रभाकर मिश्र का मत गुरुमत कहलाया। इसकी कथा इस प्रकार है—एक बार कुमारिल भट्ट अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। ग्रन्थ में एक वाक्य आया—'अत्र तु नोक्तम् तत्रापि नोक्तम्। अतः, पौनरुक्त्यम्। कुमारिल भट्ट ने सोचा कि जो बात यहाँ भी नहीं कही गयी (अत्र तु न उक्तम्) और वहाँ भी नहीं कही गयी (तत्रापि न उक्तम्) तो फिर पुनरुक्ति कैसे हो गयी। शिष्य प्रभाकर ने इस शंका का समाधान किया कि जो बात यहाँ पर 'तु' शब्द के माध्यम से कही गयी है वही बात वहाँ पर 'अपि' शब्द के माध्यम से कही गयी है (अत्र तुना उक्तम्, तत्र अपिना उक्तम्) यह इस ग्रन्थ का आशय है। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष है। इसी पर प्रसन्न होकर कुमारिल भट्ट ने प्रभाकर मिश्र को गुरु का दर्जा दे दिया।

२. प्रथम सूत्र तथा अधिकरण का निरूपण

तत्राथातो धर्मजिज्ञासा (जै.सू. १/१/१) इति प्रथममधिकरणं पूर्वमीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवमाचक्षते परीक्षकाः। ते च पञ्चावयवा विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तसंगतिरूपाः।

अनुवाद—उसमें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै.सू. १.१.४) यह प्रथम अधिकरण पूर्वमीमांसा दर्शन का प्रारम्भ को सिद्ध करता है। परीक्षकों (विद्वानों) ने अधिकरण के पाँच अवयव कहे हैं। वे पाँच अवयव हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और संगति।

विशेष—मीमांसा दर्शन में कुल १००० अधिकरण हैं। अधिकरणों का निर्माण मीमांसासूत्रों के आधार पर हुआ है। किसी अधिकरण में एक सूत्र हैं तो किसी में अनेक सूत्र निबद्ध है।

अधिकरण में पाँच अवयव होते हैं—

१. विषय, २. संशय (विशय), ३. पूर्वपक्ष, ४. सिद्धान्त, ५. संगति।

प्रत्येक अधिकरण में उसका कोई विषय होता है। फिर उस विषय के सम्बन्ध में कुछ सन्देह उपस्थित होते हैं। सन्देह होने पर पूर्वपक्षी अपना पक्ष उपस्थापित करते हैं और फिर पूर्वपक्ष का खण्डन करके सिद्धान्ती अपना सिद्धान्त स्थापित करता है। संगति का विवरण प्रत्येक अधिकरण में उपलब्ध नहीं होता है। इस संगति का ऊह कर लिया जाता है। संगति का अर्थ है सम्बन्ध। इसे चार भेद हैं—

१. शास्त्र संगति—किसी अधिकरण का मीमांसा शास्त्र के साथ जो सम्बन्ध है, उसे शास्त्रसंगति कहते हैं।

२. अध्यायसंगति—किसी अधिकरण का अपने अध्याय (जिस अध्याय में वह अधिकरण है) के साथ सम्बन्ध अध्याय संगति कहलाता है।

३. पाद संगति—किसी अधिकरण का अपने पाद (जिस पाद में वह अधिकरण है) के साथ सम्बन्ध पाद संगति कहलाता है।

४. अधिकरण संगति (अवान्तर संगति)—प्रत्येक अधिकरण का उसके पूर्व तथा बाद के अधिकरण के साथ सम्बन्ध अधिकरण संगति कहलाता है।

३. भाट्टमत से अधिकरण का निरूपण

तत्राचार्यमतानुसारेणाधिकरणं निरूप्यते। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्येतद्वाक्यं विषयः। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (जै.सू. १/१/२) इति आरभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (जै.सू. १२/४/४७) इत्येतदन्तं जैमिनीयं धर्मशास्त्रमनारभ्यमारभ्यं वेति संदेहः। अध्ययनविधेरदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वाभ्याम्।

अनुवाद—उसमें आचार्य कुमारिल भट्ट के मतानुसार अधिकरण का निरूपण करते है। (प्रथम अधिकरण में) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। (स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिये) यह वाक्य ही विषय है। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (विधि ही जिसका स्वरूप तथा प्रमाण है तथा जो अर्थरूप है, वही धर्म है—जै.सू. १.१.२) यहाँ से प्रारम्भ करके 'अन्वाहार्ये च दर्शनात् (अन्वाहार्य में दिखलाई पड़ने से भी ब्राह्मणों का आर्त्विज्य सिद्ध होता है—जै.सू. १२.४.४७) यहाँ तक वर्णित जैमिनीय धर्मशास्त्र (मीमांसा शास्त्र) का प्रारम्भ करना चाहिये या नहीं—यह सन्देह होता है। क्योंकि अध्ययन विधि को अदृष्टार्थ माना जाये या दृष्टार्थ।

विशेष—स्वाध्याय का अर्थ है—स्व + अध्याय। स्व अर्थात् 'अपनी' और अध्याय अर्थात् 'वेदशाखा'। अध्ययन का अर्थ है—गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण। इस प्रकार अपनी वेदशाखा को गुरुमुख करने के लिये यह विधि आदेश देती है। किन्तु इस विधि के द्वारा विधेय अध्ययन का उद्देश्य यदि दृष्ट 'अर्थज्ञान' माना जाये, तो यह अर्थज्ञान बिना मीमांसाशास्त्र के सम्भव नहीं हैं। अत: वेद के अर्थ ज्ञान के लिये मीमांसाशास्त्र का भी अध्ययनारम्भ करना चाहिये। इसके विपरीत यदि अध्ययन का प्रयोजन अदृष्ट स्वर्गादि माना जाये, तो मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कहना है कि वेदाध्ययन अदृष्टार्थ है। अतः, मीमांसाशास्त्र के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है, जबकि सिद्धान्ती कहते हैं कि वेदाध्ययन दृष्टार्थ है। अतः मीमांसाशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये।

३ क. पूर्वपक्ष-शास्त्रारम्भ ठीक नहीं

तत्रानारभ्यमिति पूर्वः पक्षः। अध्ययनविधेरर्थावबोधलक्षणदृष्टफलकत्वानुपपत्तेः। अर्थावबोधार्थमध्ययनविधिरिति वदन् वादी प्रष्टव्यः-किमत्यन्तमप्राप्तमध्ययनं विधीयते किं वा पाक्षिकमवघातवन्नियम्यत इति?

अनुवाद—उसमें मीमांसाशास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिये—यह पूर्वपक्ष है। क्योंकि अध्ययन विधि का अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल मानने में अनुपपत्ति है। यदि वादी (सिद्धान्ती) कहता है कि अध्ययन विधि अर्थज्ञान के लिये है, तो उससे यह पूछना चाहिये कि क्या अत्यन्त अप्राप्त अध्ययन का विधान किया जाता है या फिर क्या पक्ष में अप्राप्त अध्ययन का अवघात के नियमन किया जाता है?

विशेष—यदि सिद्धान्ती यह कहता है कि अध्ययन का फल अर्थज्ञान है, तो फिर पूर्वपक्षी उससे दो प्रश्न करता है—

१. क्या अप्राप्त अध्ययन का विधान है?

२. क्या पक्ष में अप्राप्त अध्ययन का नियमन है?

यदि सिद्धान्ती प्रथम विकल्प मान ले, तो इसका तात्पर्य होगा कि अध्ययन विधि अपूर्व विधि है और यदि सिद्धान्ती द्वितीय विकल्प माने, तो इसका तात्पर्य होगा कि अध्ययन विधि नियमविधि है।

वस्तुत: विधि के तीन भेद हैं—

१. अपूर्व, २. नियम, ३. परिसंख्या

१. अपूर्वविधि—प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का विधान करने वाली विधि अपूर्व विधि है। जैसे यजेत स्वर्गकाम: ।

२. नियमविधि—जब कोई अर्थ एक पक्ष में अप्राप्त हो तो उसका विधान करना नियम कहलाता है। जैसे धान (चावल) के छिलके को अलग करने के दो उपाय हैं—नखों से छिलका निकालना या फिर कूटकर छिलका निकालना। यदि कोई व्यक्ति नख से छिलका निकालने लगे, तो उस स्थिति में 'कूटने' की अप्राप्ति हो जाती है और अप्राप्त कूटने (अवघात) का विधान करने वाली विधि है—'व्रीहीनवहन्ति' ।

इसी कारण 'व्रीहीनवहन्ति' वह नियमविधि कहलाती है।

३. परिसंख्याविधि—इतर की निवृत्ति कराने वाली विधि परिसंख्याविधि है। जैसे—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्य:' यह विधि पञ्च पञ्चनख जीवों के भक्षण का विधान नहीं करती, अपितु पाँच नखों से भिन्न जो जीव हैं, उनके भक्षण की निवृत्ति कराती है।

प्रकृत में इस तीसरी विधि की कोई चर्चा नहीं है। प्रकृत प्रसंग यह है कि सिद्धान्ती अध्ययन विधि को क्या मानता है—अपूर्वविधि या नियमविधि।

न तावदाद्य:। विवादस्पदं वेदाध्ययनमर्थावबोधहेतुरध्ययनत्वाद्, भारताध्ययनवत्–इत्यनुमानेन विध्यनपेक्षतया प्राप्तत्वात्। अस्तु तर्हि द्वितीयो यथा नखविदलनादिना तण्डुलनिष्पत्तिसम्भवात् पाक्षिकोऽवघातोऽवश्यं कर्तव्य इति विधिना नियम्यते, तथा लिखितपाठेनार्थज्ञानसम्भवात्पाक्षिकमध्ययनं विधिना नियम्यत इति चेत्।

अनुवाद—पहला विकल्प सम्भव नहीं है। विवादविषय वेदाध्ययन अर्थज्ञान हेतु है, अध्ययन होने के कारण, महाभारत के अध्ययन की तरह—इस अनुमान से विधि की अपेक्षा के बिना ही वेदाध्ययन प्राप्त होता है। ठीक है, तो फिर यदि दूसरा पक्ष माना जावे कि जिस प्रकार नख के द्वारा छीलने (विदलन) पर भी धान से चावल की निष्पत्ति सम्भव है, इसलिये (व्रीहीनवहन्ति' इस) विधि के द्वारा यह नियमन किया जाता है कि पक्ष में अप्राप्त अवघात ही अवश्य करना चाहिये, उसी प्रकार लिखित पाठ (हिन्दी-टीका आदि) के द्वारा अर्थ ज्ञान सम्भव होने पर पक्ष में अप्राप्त अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण) विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के द्वारा नियमित किया जाता है।

विशेष—सिद्धान्ती कहता है कि स्वाध्यायविधि को अपूर्व विधि तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण के द्वारा अध्ययन की प्राप्ति पहले से ही हो जाती है फिर भी स्वाध्याय विधि को 'व्रीहीनवहन्ति' की तरह नियमविधि तो माना ही जा सकता है। अर्थ ज्ञान के लिये दो उपाय हैं—लिखित पाठादि तथा अध्ययन। जब कोई व्यक्ति लिखित पाठादि के द्वारा अर्थ ज्ञान करने लगता है, तो उस समय अध्ययन अप्राप्त हो जाता है उस अप्राप्त अध्ययन का नियमन करने वाली विधि है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि।

नैतच्चतुरस्रम्। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यसम्भवात्। अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः पिष्टपुरोडाशादिकरणेऽवान्तरापूर्वद्वारा दर्शपूर्णमासौ परमापूर्वमुत्पादयतो नापरथा। अतोऽपूर्वमवघातस्य नियमहेतुः। प्रकृते लिखितपाठजन्येनाध्ययनजन्येन वाऽर्थावबोधेन क्रत्वनुष्ठानसिद्धेरध्ययनस्य नियमहेतुर्नास्त्येव। तस्मादर्थावबोध-हेतुविचारशास्त्रस्य वैधत्वं नास्तीति।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है कि) यह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैधर्म्य सम्भव है। अवघात से निष्पन्न चावलों से ही पिष्ट, पुरोडाश आदि बनाने पर अवान्तर अपूर्व के द्वारा दर्शपूर्णमास परमापूर्व को उत्पन्न करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। अतः, अपूर्व ही अवघात के नियम का कारण है। प्रकृत में लिखित पाठ (हिन्दी-टीका आदि) तथा अध्ययन दोनों से ही अर्थज्ञान हो सकता है और अर्थज्ञान से यज्ञानुष्ठान की सिद्धि होती है। अतः अध्ययन के नियम का कोई कारण नहीं है। इसलिये अर्थज्ञान के कारण विचारशास्त्र (मीमांसा शास्त्र) का भी वैधत्व नहीं है। अर्थात् मीमांसाशास्त्र विधिप्राप्त नहीं है।

विशेष—पूर्वपक्षी कहता है कि जो सिद्धान्ती ने अध्ययन विधि को 'व्रीहीनवहन्ति' के समान नियमविधि माना है यह ठीक नहीं है। क्योंकि दृष्टान्त के रूप में उपस्थित 'व्रीहीनवहन्ति' और दार्ष्टान्तिक के रूप में उपस्थित 'अध्ययन'—इन दोनों में

अन्तर है। अवघात करके ही तण्डुल की निष्पत्ति करनी चाहिये—इस नियम को मानने में तो अपूर्व कारण है। अपूर्व का अर्थ है—अदृष्ट फल। लेकिन अध्ययन से ही अर्थज्ञान सम्पादित करे, लिखित पाठादि के द्वारा नहीं—इस नियम को मानने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि किसी भी प्रकार से यदि वेद का अर्थज्ञान हो जाता है तो यज्ञानुष्ठान की सिद्धि आसानी से हो जाती है। अत: अध्ययन से ही अर्थ ज्ञान हो—यह नियम नहीं है—ऐसा पूर्वपक्ष का आशय है।

तर्हि श्रूयमाणस्य विधेः का गतिरिति चेत्–स्वर्गफलकोऽक्षरग्रहण-मात्रविधिरिति भवान्परितुष्यतु। विश्वजिन्न्यायेनाश्रुतस्यापि स्वर्गस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। यथा 'स स्वर्गः सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' (जै.सू. ४/३/१५) इति विश्वजिति अश्रुतमप्यधिकारिणं सम्पादयता, तद्विशेषणं स्वर्गः फलं युक्त्या निरणायि तद्वदध्ययनेऽप्यस्तु तदुक्तम्–

१. विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात्स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥

अनुवाद—यदि सिद्धान्ती कहे कि तो फिर इस विधि की क्या गति होगी, तो (पूर्वपक्षी कहता है कि) केवल वेद की अक्षर राशि का ग्रहण करने का उपदेश देने वाली इस विधि का फल स्वर्ग है—यह मानकर आप लोग (सिद्धान्ती) सन्तुष्ट हो जाइये। क्योंकि अश्रुत स्वर्ग की कल्पना विश्वजिन्न्याय से कर पाना सम्भव है। जिस प्रकार कि 'वह स्वर्ग सभी के प्रति अविशिष्ट (सामान्य) है, (जै.सू. ४.३.१५) इस न्याय से विश्वजित् याग में अधिकारी (फलभोक्ता) का श्रवण न होने पर उस अधिकारी का सम्पादन करने के लिये अधिकारी के विशेषण स्वर्गफल को युक्ति के द्वारा स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार अध्ययन में भी मान लिया जाये। जैसा कि कहा गया है—

स्वाध्याय विधि के बिना ही लिखित पाठादि के द्वारा अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल का लाभ हो जाने के कारण अर्थज्ञान के लिये स्वाध्याय विधि को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। विधि के सामर्थ्य से विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग फल की कल्पना कर लेनी चाहिये।

विशेष—पूर्वपक्षी के अनुसार स्वाध्याय विधि का फल विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग मान लेना चाहिये।

विश्वजित् न्याय के अनुसार जब किसी कर्म का कोई भी फल विधि के द्वारा नहीं बतलाया जाता है, तो उस कर्म का फल स्वर्ग मान लिया जाता है। 'विश्वजिता यजेत' इस विधि में कोई फल बतलाया नहीं गया था। अत: वहाँ 'स्वर्ग' फल मान लिया गया और इस न्याय का नाम 'विश्वजिता यजेत' वाक्य के कारण विश्वजिन्न्याय पड़ गया।

इस प्रकार अब स्वाध्याय विधि का फल अर्थज्ञान नहीं रहा अपितु 'स्वर्ग' हो गया।

एवं च सति वेदमधीत्य स्नायादिति स्मृतिरनुगृहीता भवति। अत्र हि वेदाध्ययनसमावर्तनयोरव्यवधानमवगम्यते। तावके मते त्वधीतेऽपि वेदे धर्मविचाराय गुरुकुले वस्तव्यम्। तथा सत्यव्यवधानं बाध्येत। तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वाभावात्पाठमात्रेण स्वर्गसिद्धेः समावर्तनशास्त्राच्च धर्मविचारशास्त्रमनारम्भणीयमिति पूर्वपक्षसंक्षेपः।

अनुवाद—इस प्रकार हमारे (पूर्वपक्षी) मत में 'वेदमधीत्य स्नायात्' (वेद पढ़ने के बाद समावर्तन का स्नान करे) यह स्मृति भी अनुकूल होती है। इस स्मृति में अध्ययन तथा समावर्तन का अव्यवधान (निरन्तरता) मालूम पड़ता है। तुम्हारे (सिद्धान्ती) मत में वेद पढ़ने के बाद धर्मविचार करने के लिये गुरुकुल में ही रहना पड़ेगा। ऐसा होने पर (गुरुगृह में रहने पर) अध्ययन और समावर्तन का अव्यवधान बाधित होगा। अतः विचारशास्त्र के वैध न होने से तथा वेदाध्ययन के पाठमात्र से स्वर्ग प्राप्त होने के कारण तथा समावर्तन शास्त्र के कारण धर्मविचार शास्त्र (मीमांसाशास्त्र) का प्रारम्भ नहीं करना चाहिये—यह पूर्वपक्ष का संक्षेप है।

विशेष—किसी स्मृति का वचन है—'वेदमधीत्य स्नायात्' अर्थात् वेदाध्ययन के बाद समावर्तन संस्कार करे। इस स्मृति वचन से ऐसा मालूम पड़ता है कि अध्ययन तथा समावर्तन का अव्यवधान है। फिर यदि सिद्धान्ती का मत माना जाए कि वेदाध्ययन का फल अर्थज्ञान है तो अर्थज्ञान के लिये मीमांसाशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है और मीमांसा शास्त्र पढ़ने के लिये वेदाध्ययन न करने के बाद भी गुरुगृह में ही रहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अध्ययन तथा समावर्तन का अव्यवधान बाधित होगा। अतः पूर्वपक्षी का मत यह है कि मीमांसा शास्त्र पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदाध्ययन का फल स्वर्ग है।

४. सिद्धान्तपक्ष-शास्त्रारम्भ करना सर्वथा उचित है

सिद्धान्तस्त्वन्यतः प्राप्तत्वादप्राप्तविधित्वं मास्तु। नियमविधित्वपक्षस्तु वज्रहस्तेनापि नापहस्तयितुं पार्यते। तथा हि-'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै.आ. २/१५) इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायां पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाभाव्यामभिधाभावनां प्रत्याययति। सा ह्यर्थभावना भाव्यमाकाङ्क्षति।

अनुवाद—सिद्धान्त यह है कि अन्य प्रकार से (अनुमान से) अध्ययन प्राप्त होने के कारण स्वाध्यायविधि को अपूर्वविधि नहीं माना जा सकता लेकिन नियमविधित्व के पक्ष को तो इन्द्र के द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकता है। जैसे कि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै.आ. २.१५) यहाँ तव्यप्रत्यय पुरुष प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना को साध्य बनाने वाली शाब्दी भावना का बोध कराता है, जिस शाब्दी भावना का दूसरा पयार्य प्रेरणा है। वह आर्थीभावना भी साध्य की आकांक्षा करती है।

विशेष—सिद्धान्ती का यह मत है कि स्वाध्याय विधि को अपूर्वविधि भले ही नहीं माना जा सकता है, लेकिन इसे नियमविधि तो मानना ही पड़ेगा। नियमविधि मानने पर जिस प्रकार 'व्रीहीनवहन्ति' में अपूर्व को अवघात का नियामक मानना पड़ता है, उसी तरह यहाँ अध्ययन विधि में भी यज्ञजन्य अपूर्व को ही नियामक माना जाता है। मीमांसा दर्शनानुसार भावना का लक्षण है—किसी वस्तु के उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजक निष्ठव्यापार। भावना दो प्रकार की है—शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। लिङ्, तव्य आदि प्रत्ययों से शाब्दी भावना का बोध होता है। इसे ही अभिधाभावना (प्रेरणा) भी कहा जाता है। शाब्दी भावना का साध्य है आर्थी भावना। आर्थी भावना का बोध आख्यात प्रत्यय (तिङन्त प्रत्यय) से होता है। आर्थी भावना का साध्य फल होता है। जैसे स्वाध्यायविधि में आर्थीभावना का साध्य है—अर्थज्ञान रूपफल। इसे ही आगे सिद्ध किया गया है—

न तावत्समानपदोपात्तमध्ययनं भाव्यत्वेन परिरमते। अध्ययनशब्दार्थस्य स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वस्य वाङ्मनसव्यापारस्य क्लेशार्थकस्य भाव्यत्वासम्भवात्। नापि समानवाक्योपात्तः स्वाध्यायः। स्वाध्यायशब्दार्थस्य वर्णराशेर्नित्यत्वेन विभुत्वेन चोत्पत्त्यादीनां चतुर्णां क्रियाफलानामसम्भवात्।

अनुवाद—समान पद में आया हुआ अध्ययन आर्थी भावना का साध्य (भाव्य) नहीं हो सकता। अध्ययन पद का अर्थ है—वाणी तथा मन का वह कष्टदायक व्यापार, जो स्वाधीन उच्चारण में समर्थ है, ऐसा अध्ययन आर्थीभावना का साध्य नहीं हो सकता। समान वाक्य में आया हुआ स्वाध्याय (अपनी शाखा) भी आर्थी भावना का साध्य नहीं हो सकता। वर्णराशि के नित्य तथा विभु होने के कारण स्वाध्याय पदार्थ में उत्पत्ति आदि चारों क्रिया फल का असम्भव है।

विशेष—स्वाध्याय विधि में आर्थी भावना का भाव्य (साध्य) न तो अध्ययन हो सकता है और न ही स्वाध्याय। अध्ययन आर्थी भावना का समान पदोपात्त है।

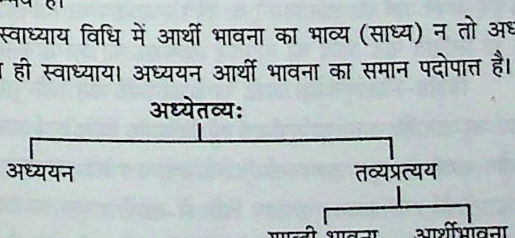

'अध्येतव्यः' इस पद में तव्य प्रत्यय से आर्थीभावना का बोध होता है तथा उसी पद में 'अध्ययन' भी है। लेकिन अध्ययन एक कष्टप्रद व्यापार है अतः वह साध्य नहीं हो सकता।

स्वाध्याय (अपनी वेद शाखा) आर्थी भावना का समान वाक्योपात्त है। स्वाध्याय विधि वाक्य में तव्य प्रत्यय से आर्थी भावना का बोध होता है तथा उसी वाक्य में भिन्न

पद में 'स्वाध्याय' भी आया हुआ है। स्वाध्याय शब्दरूप होने के कारण नित्य है इसलिये उसमें उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कार तथा विकार ये चारों क्रिया फल नहीं हो सकते। अतः वह भी साध्य नहीं बन सकता है।

क्रिया के चार फल होते हैं—

उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार तथा संस्कार।

'कुम्भं करोति' वाक्य में कुम्भ की उत्पत्ति होती है, जबकि 'ग्रामं गच्छति' में 'ग्राम' की प्राप्ति होती है। 'तण्डुलान् पचति' में पाक क्रिया से तण्डुल (चावल) में विकार होता है, जबकि 'माणवकं संस्करोति' वाक्य में माणवक पर संस्कार होता है। इस प्रकार क्रिया फल चार प्रकार के होने से कर्म भी चार प्रकार के होते हैं—उत्पाद्य, प्राप्य, विकार्य तथा संस्कार्य।

४ क. अध्ययन-विधि का लक्ष्य अर्थबोध ही है

तस्मात्सामर्थ्यप्राप्तोऽवबोधो भाव्यत्वेनावतिष्ठते। अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियत इति न्यायेन दर्शपूर्णमासादिविधयः स्वविषयावबोधमपेक्षमाणाः स्वार्थबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्याऽध्ययनसंस्कृतत्वं स्वाध्यायस्यावगमयति।

अनुवाद—अतः, सामर्थ्य से प्राप्त अर्थज्ञान ही अध्ययन के साध्य के रूप में स्थित होता है। धनवान् समर्थ तथा विद्वान् (वेद के अर्थ का ज्ञाता) पुरुष यज्ञ का अधिकारी होता है—इस न्याय से दर्शपूर्णमास आदि विधियाँ अपने विषय के अर्थ का ज्ञान अपेक्षित करते हुए अपने अर्थ का ज्ञान कराने के लिये स्वाध्याय का विनियोग करती हैं। अध्ययन विधि भी लिखित पाठ आदि को हटाकर स्वाध्याय का अध्ययन संस्कृतत्व बतलाती है।

विशेष—दर्शपूर्णमास आदि यागों का अधिकारी वही पुरुष होता है, जिसे वेद के अर्थ का ज्ञान हो। अतः दर्शपूर्णमास की विधायक विधि अर्थ ज्ञान की दृष्टि से वेद का विनियोग करती है। उधर अध्ययनविधि भी स्वाध्याय को अध्ययन से संस्कृत करने का ज्ञान कराती है। इसी कारण स्वाध्याय विधि में आर्थी भावना का साध्य अर्थज्ञान है और अर्थ ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही याग को करने का अधिकारी होता है।

तथा च यथा दर्शपूर्णमासादिजन्यं परमापूर्वमवघातादिजन्यस्यावान्तरापूर्वस्य कल्पकं तथा समस्तक्रतुजन्यमपूर्वजातं क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यमपूर्वं कल्पयिष्यति। नियमादृष्टानिष्टौ विधिश्रवणवैफल्यमापद्येत। न च विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनावकल्प्यते। अर्थावबोधे दृष्टे फले सति फलान्तरकल्पनाया अयोगात्। तदुक्तम्–

२. लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति॥ इति॥

अनुवाद—इसी तरह जिस प्रकार दर्शपूर्णमास से उत्पन्न परमापूर्व अवघात आदि से उत्पन्न अवान्तर अपूर्व का कल्पक है, उसी तरह समस्त क्रतुओं से उत्पन्न अपूर्व भी क्रतुज्ञान के साधन अध्ययन नियम से उत्पन्न अपूर्व की कल्पना करेगा। नियम जन्य अदृष्ट को न मानने पर विधि का श्रवण भी व्यर्थ मानना पड़ेगा। विश्वजिन्न्याय से भी फल की कल्पना करना सम्भव नहीं है। अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल के होने पर दूसरे फल की कल्पना करना भी ठीक नहीं है। जैसा कि कहा गया है—

दृष्ट फल होने पर अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जाती। अध्ययन विधि नियम के लिये है। अत: विधि का आनर्थक्य नहीं है।

विशेष—सिद्धान्ती का कहना है कि अध्ययनविधि को नियमविधि माना जाता है। अर्थज्ञान के लिये दो उपाय है—लिखित पाठ तथा अध्ययन (गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण) इसमें अध्ययन से अर्थज्ञान करने पर ही अपूर्व उत्पन्न होता है अन्य प्रकार से नहीं। अध्ययन से उत्पन्न जो अपूर्व है उससे ही यज्ञ जन्य अपूर्व उत्पन्न होता है। अत: यज्ञापूर्व के लिये अध्ययन से अर्थज्ञान करना आवश्यक है तथा अध्ययन से अर्थ ज्ञान करने के लिये मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। बिना मीमांसाशास्त्र के अर्थज्ञान नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जहाँ दृष्ट फल अर्थ ज्ञान सम्भव है, वहाँ विश्वजिन्न्याय से स्वर्गादि अदृष्ट फल की कल्पना करना भी ठीक नहीं है। अत: मीमांसा शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय विधि से ही प्राप्त होता है यही सिद्धान्तमत है।

४ ख. मीमांसा के विषय में अन्य शंका और उत्तर

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थावबोधानुदयेऽपि साङ्गवेदाध्यायिनः पुरुषस्यार्थावबोधसम्भवाद्विचारशास्त्रस्य वैफल्यमिति चेत्–तदसमञ्जसम्। बोधमात्रसम्भवेऽपि निर्णयस्य विचाराधीनत्वात्। तद्यथा–'अक्ता: शर्करा उपदधाति' (तै.ब्रा. ३/१२/५) इत्यत्र घृतेनैव न तैलादिना इत्ययं निर्णयो व्याकरणेन निगमेन निरुक्तेन वा न लभ्यते। विचारशास्त्रेण तु तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषवशादर्थनिर्णयो लभ्यते।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि केवल वेद का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को अर्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, बल्कि जो व्यक्ति अङ्गसहित वेद का अध्ययन करता है, उसे अर्थज्ञान उत्पन्न होता है अत: विचारशास्त्र का अध्ययन करना बेकार है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। केवल अर्थ ज्ञान होने पर भी अर्थ का निर्णय करना विचारशास्त्र के ही

अधीन है। जैसे—'भींगे हुये कंकड़ों को स्थापित करे' (तै.ब्रा. ३.१२.५) यहाँ 'कंकड़ों को घृत से ही भिंगोया जाये, तेल आदि से नहीं'—यह निर्णय व्याकरण, निगम या निरुक्त से नहीं होता। विचार शास्त्र (मीमांसाशास्त्र) के द्वारा 'घृत ही तेल है' इस वाक्यशेष (अर्थवाद) से अर्थ का निर्णय होता है।

विशेष—व्याकरण, निगम या निरुक्त आदि के द्वारा केवल शब्द के अर्थ का ज्ञान हो पाता है, लेकिन जहाँ अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह की स्थिति उत्पन्न होती है, वहाँ सांग वेद का अध्ययन होने के बाद भी अर्थ निर्णय के लिये मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। जैसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाक्य आता है कि भींगे हुए पत्थर के टुकड़ों (शर्करा = कंकड़) को स्थापित करे। यहाँ पर इस विधि का अर्थ करते समय यह सन्देह होता है कि किससे भींगे हुए कंकड़ों को स्थापित करे—जल से, घृत से या तेल से। ऐसी स्थिति में एक अर्थवाद वाक्य (वाक्य शेष या विधि शेष) दिखाई पड़ता है कि 'तेजो वै घृतम्' (घृत तेज रूप है) वहाँ घृत की जो प्रशंसा की गयी है, उसका कोई न कोई औचित्य होना चाहिये तो उसका औचित्य यही है कि शर्करा (कंकड़ो) को घृत से ही भिंगोना चाहिये क्योंकि घृत तेजरूप है जो कि अर्थवाद वाक्य से स्पष्ट है।

५. *सिद्धान्तपक्ष का उपसंहार और संगति का निरूपण*

तस्माद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वं सिद्धम्। न च वेदमधीत्य स्नायादिति शास्त्रं गुरुकुलनिवृत्तिपरं व्यवधानप्रतिबन्धकं बाध्येतेति मन्तव्यम्। 'स्नात्वा भुङ्क्ते' इतिवत् पूर्वापरीभावसमानकर्तृकत्वमात्रप्रतिपत्त्या अध्ययनसमावर्तनयोर्नैरन्तर्या-प्रतिपत्तेः। तस्माद्विधिसामर्थ्यादेवाधिकरणसहस्रात्मकं पूर्वमीमांसाशास्त्रमारम्भणीयम्।

इदं चाधिकरणं शास्त्रेणोपोद्घातत्वेन सम्बध्यते। तदाह-

चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते। इति।

अनुवाद—अतः विचार शास्त्र का वैधत्व सिद्ध है। यह भी नहीं समझना चाहिये कि वेदाध्ययन तथा समावर्तन के बीच मीमांसा पढ़ने से 'वेदमधीत्य स्नायात्' (वेद पढ़ने के बाद समावर्तन संस्कार करे) यह शास्त्र बाधित होगा, जो शास्त्र गुरुकुल से शिष्य को हटाता है तथा इन दोनों (वेदाध्ययन व समावर्तन) के व्यवधान का प्रतिबन्धक है अर्थात् इन दोनों का अव्यवधान बतलाता है। 'स्नात्वा भुंक्ते' (स्नान करके भोजन करता है) की तरह (क्त्वा प्रत्यय से) केवल पूर्वापरीभाव तथा समानकर्तृकत्व का ज्ञान होने से अध्ययन तथा समावर्तन के नैरन्तर्य (अव्यवधान) का ज्ञान नहीं होता। इसलिये विधि के सामर्थ्य से ही एक हजार अधिकरण वाले पूर्वमीमांसा शास्त्र का आरम्भ करना चाहिये।

यह अधिकरण (प्रथम अधिकरण) मीमांसा शास्त्र के उपोद्घात (भूमिका) के रूप में सम्बन्धित होता है। जैसा कि कहा गया है—

प्रकृतविषय की चिन्ता (विचार) को ही उपोद्घात (भूमिका) कहा जाता है।

विशेष—सिद्धान्ती (मीमांसक) का यह कहना है कि 'वेदमधीत्य स्नायात्' में जो 'क्त्वा' प्रत्यय (उपसर्गपूर्वक धातु होने से क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो गया है) है, उससे अव्यवधान का बोध नहीं होता, बल्कि केवल पूर्वापरीभाव तथा समानकर्तृकत्व का ही बोध होता है। अर्थात् वेदाध्ययन के बाद समावर्तन संस्कार करे यही बोध 'क्त्वा' प्रत्यय से होता है, तुरन्त बाद करे, यह बोध नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने वेदाध्ययन किया है, वही समावर्तन भी करें, यह समानकर्तृकत्व का बोध भी 'क्त्वा' प्रत्यय से होता है। अत: वेदाध्ययन तथा समावर्तन के बीच मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करने से कोई बाधा नहीं है। अत: कुमारिल भट्ट के अनुसार सिद्धान्त मत यह है कि वेदाध्ययन के बाद वेद के निर्णयात्मक अर्थ को जानने के लिये गुरुगृह में ही रहकर मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करे, फिर समावर्तन संस्कार करे।

अब आगे गुरुमत (प्रभाकर मिश्र का मत) का वर्णन किया गया है।

६. प्रभाकर के मत से उक्त अधिकरण का निरूपण

इदमेवाधिकरणं गुरुतमनुसृत्योपन्यस्यते। अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीतेत्यत्राध्यापनं नियोगविषय: प्रतिभासते। नियोगश्च नियोज्यमपेक्षते। कश्चात्र नियोज्य इति चेत्–आचार्यककाम एव। 'सम्मानन–' (पा.सू. १/३/३६) इत्यादिना पाणिन्यनुशासनेनाचार्यकि गम्यमाने नयतेर्धातोरात्मनेपदस्य विधानात्। उपनयने यो नियोज्य: स एवाध्यापनेऽपि। तयोरेकप्रयोजनत्वात्।

अनुवाद—अब इसी अधिकरण को गुरुमतानुसार वर्णित किया जा रहा है। 'आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन करे तथा उसे पढ़ावे' यहाँ अध्यापन ही नियोग (विधि) का विषय प्रतिभासित होता है। नियोग (विधि) भी किसी नियोज्य की अपेक्षा करता है। यदि यह प्रश्न हो कि इस विधि में नियोज्य कौन है, तो उत्तर है कि आचार्य बनने की कामना वाला व्यक्ति ही नियोज्य है। 'सम्मानन.....' (पा.सू. १.३.३६) इत्यादि पाणिनि के अनुशासन के द्वारा आचार्यकरण अर्थ में 'नी' धातु से आत्मनेपद का विधान होता है। उपनयन में जो व्यक्ति नियोज्य है, वही अध्यापन में भी नियोज्य है, क्योंकि उन दोनों का एक ही प्रयोजन है।

विशेष—जैसे भाट्टमत में अध्ययन विधि के द्वारा मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करना सिद्ध होता है, उसी तरह प्रभाकर मत में अध्यापन विधि (अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत) के द्वारा मीमांसाशास्त्र का अध्ययन सिद्ध होता है, क्योंकि अध्यापक तभी हो सकता है, जब छात्र अध्ययन करेगा और अध्ययन का प्रयोजन तो अर्थ ज्ञान है वह अर्थज्ञान बिना मीमांसा शास्त्र के सम्भव नहीं। अत: अध्यापन विधि के द्वारा ही मीमांसाशास्त्र

का अध्ययन भी प्राप्त होता है। अत: विचारशास्त्र (मीमांसाशास्त्र) वैध है। इस अध्या विधि का नियोज्य वह व्यक्ति है जो कि आचार्य बनना चाहता है। इसी का 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानप्रभृति विगणनव्ययेषु नियः' इस सूत्र आचार्यकरण अर्थ 'नी' धातु से आत्मने पद का विधान करता है। जो व्यक्ति शिष्य का उपनयन करता है वही उसको अध्यापन भी करता है इसी कारण उसे आचार्य कहा जाता है। आचार्य म ने भी कहा है—उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः। (साङ्गं च) सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते। मनु. २.१४०

आगे के ग्रन्थ में यही बात बतलायी जा रही है—

अत एवोक्तं मनुना मुनिना–

३. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

(मनु. २/१४०) **इति**

ततश्चाचार्यकर्तृकमध्यापनं माणवककर्तृकेनाध्ययनेन विना न सिध्यतीत्य- ध्यापनविधिप्रयुक्त्यैवाध्ययनानुष्ठानं सेत्स्यति। प्रयोज्यव्यापारमन्तरेण प्रयोजक- व्यापारस्यानिर्वाहात्।

अनुवाद—इसीलिये मनु ऋषि ने कहा है—जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे अंग तथा रहस्य के सहित वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहा जाता है।

(मनुस्मृति २.१४०)

इस प्रकार आचार्यकर्तृक अध्यापन शिष्यकर्तृक अध्ययन के बिना सिद्ध नहीं होता, इसलिये अध्यापन विधि के प्रयोग से ही अध्ययन का अनुष्ठान सिद्ध होता है। प्रयोज्य व्यापार (अध्ययन) के बिना प्रयोजक व्यापार (अध्यापन) का निर्वाह नहीं हो सकता।

विशेष—मनुस्मृति के उक्त श्लोक में 'साङ्गं च' के स्थान पर 'सकल्पम्' पाठभेद है। मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध तथा प्रामाणिक टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने 'सकल्प' पाठ को ही माना है। वेद के ६ अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्दस्। इन छः अगों तथा रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाना चाहिये। कल्प का अर्थ होता है—यज्ञविद्या। अत: पाठ भेद मानने पर अर्थ होगा—यज्ञविद्या तथा उपनिषदों के साथ वेद पढ़ाना चाहिये।

अध्यापन प्रयोजक व्यापार तथा अध्ययन प्रयोज्य व्यापार है।

तर्हि 'अध्येतव्यः' (त.आ. २/१५) इत्यस्य विधित्वं न सिध्यतीति चेत्– मा सैत्सीत्का नो हानिः? पृथगध्ययनविधेरभ्युपगमे प्रयोजनाभावात्। विधिवाक्यस्य

नित्यानुवादत्वेनाप्युपपत्तेः। तस्मादध्ययनविधिमुपजीव्य पूर्वमुपन्यस्तौ पूर्वोत्तरपक्षौ प्रकारान्तरेण प्रदर्शनीयौ।

विचारशास्त्रमवैधत्वेनानारब्धव्यमिति पूर्वपक्षः। वैधत्वेनारब्धव्यमिति राद्धान्तः।

अनुवाद—तो फिर यदि यह शंका हो कि 'अध्येतव्यः' (त.आ. २.१५) इस वाक्य का विधित्व सिद्ध नहीं होता। (प्राभाकर उत्तर देते हैं कि) विधित्व सिद्ध नहीं होता है तो इससे हमारी क्या हानि है? पृथक् रूप से अध्ययन विधि को मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। अध्ययन विधि वाक्य को नित्यानुवाद मान लेने से भी उसकी उपपत्ति हो जाती है। अतः अध्ययन विधि को आधार बनाकर जो पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष पूर्व में (भाट्ट मत में) प्रदर्शित किये गये थे, उन्हें अब अन्य प्रकार से (प्रभाकर मत से अध्यापन विधि को आधार बनाकर) प्रदर्शित करना चाहिये।

अवैध होने के विचार शास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिये—यह पूर्वपक्ष है तथा वैध होने से विचारशास्त्र का प्रारम्भ करना चाहिये—यह सिद्धान्त है।

विशेष—जब प्रभाकर मत में अध्यापन विधि को आधार बनाकर पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष को स्थापित किया गया है, तो यह जिज्ञासा होती है कि ऐसी स्थिति में अध्ययन विधि का क्या प्रयोजन होगा? वह तो व्यर्थ हो जायेगी। इस पर सिद्धान्ती प्राभाकर कहते हैं कि अध्ययन विधि को अज्ञातार्थज्ञापक विधि न मानकर उसे अनुवाद मान लिया जाता है अर्थात् अध्यापन विधि के द्वारा जो अध्ययन प्राप्त है, उसी का अनुवाद अध्ययन विधि करता है। अध्यापन विधि से प्राप्त अध्ययन का प्रयोजन भी अर्थज्ञान है। वह अर्थ ज्ञान बिना मीमांसाध्ययन के सम्भव नहीं अतः मीमांसाध्ययन भी अध्यापन विधि से ही प्राप्त होता है। इसलिये मीमांसाध्ययन वैध है।

६ क. प्रभाकरके मत से पूर्वपक्ष

तत्र वैधत्वं वदता वदितव्यं–किमध्यापनविधिर्माणवकस्यार्थावबोधमपि प्रयुङ्क्ते, किं वा पाठमात्रम्? नाद्यः, विनाप्यर्थावबोधेनाध्यापनसिद्धेः। न द्वितीयः। पाठमात्रे विचारस्य विषयप्रयोजनयोरसम्भवात्। आपाततः प्रतिभासः सन्दिग्धोऽर्थो विचारशास्त्रस्य विषयो भवति।

अनुवाद—उसमें विचार शास्त्र को वैध मानने वालों (प्राभाकर मतावलम्बियों) से यह कहना चाहिये कि अध्यापन विधि शिष्य को अर्थ ज्ञान भी कराती है या फिर अध्यापन विधि केवल पाठ मात्र ही कराती है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञान के बिना भी अध्यापन तो सिद्ध ही है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल पाठ

करने से विचार शास्त्र का विषय तथा प्रयोजन दोनों ही असम्भव हैं। आपाततः प्रतीत होने वाला तथा सन्दिग्ध अर्थ विचार शास्त्र का विषय होता है।

विशेष—पूर्वपक्षी प्रभाकरमतावम्बियों से दो प्रश्न करता है—१. अध्यापन विधि का प्रयोजन क्या अर्थ ज्ञान है? २. या अध्यापन विधि केवल मूल पाठ मात्र कराकर चरितार्थ हो जाती है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर पूर्वपक्षी यह देता है कि अध्यापन विधि का प्रयोजन अर्थ ज्ञान मानना ठीक नहीं, क्योंकि बिना अर्थ ज्ञान के भी अध्यापन तो सिद्ध ही है। अब यदि दूसरा मत मानें कि अध्यापन विधि केवल मूलपाठ मात्र ही कराकर चरितार्थ हो जाती है फिर तो विचार शास्त्र (मीमांसाशास्त्र) की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि विचार शास्त्र तो अर्धज्ञानोपयोगी शास्त्र है। अतः विचार शास्त्र का विषय तथा प्रयोजन (अर्थ ज्ञान) दोनों ही अपने आप हट जाता है।

तथा सति यत्रार्थावगतिरेव नास्ति तत्र सन्देहस्य का कथा? विचारफलस्य निर्णयस्य प्रत्याशा दूरत एव। तथा च यदसन्दिग्धमप्रयोजनं, न च तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः। यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्पष्टालोकमध्यमध्यासीनो घट इति न्यायेन विषयप्रयोजनयोरसम्भवेन विचारशास्त्रमनारभ्यमिति पूर्वः पक्षः।

अनुवाद—ऐसी स्थिति में जहाँ अर्थ ज्ञान ही नहीं होता, वहाँ सन्देह की बात ही क्या है? फिर विचार के फल 'निर्णय' की आशा करना ही दूर है। इसी प्रकार जो विषय असन्दिग्ध है, तथा जो प्रयोजन रहित, उसे जानने की इच्छा बुद्धिमान् लोग नहीं करते। जिस प्रकार मनःसंयुक्त इन्द्रिय से सन्निकृष्ट तथा स्पष्ट प्रकाश में स्थित घट होता है उसी न्याय से विषय तथा प्रयोजन के सम्भव न होने से विचारशास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिये। यह पूर्वपक्ष है।

विशेष—जो विषय असन्दिग्ध है तथा जिस विषय कोई प्रयोजन नहीं है, बुद्धिमान् व्यक्ति उस विषय को जानने का प्रयास नहीं करते। जैसे स्पष्ट प्रकाश में स्थित घट का प्रत्यक्ष होने पर उस घट को जानने का कोई भी व्यक्ति प्रयास नहीं करता, क्योंकि घट तो प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार जब वेद के अर्थ का ज्ञान अपेक्षित ही नहीं है, तो फिर उस अर्थज्ञान के लिये मीमांसा शास्त्र को पढ़ने की क्या आवश्यकता है? यह पूर्वपक्षी का आशय है।

६ ख. प्रभाकर-मत से सिद्धान्तपक्ष

अध्यापनविधिनाऽर्थावबोधो मा प्रयोजि। तथापि साङ्गवेदाध्यायिनो गृहीतपदपदार्थसंगतिकस्य पुरुषस्य पौरुषेयेष्विव प्रबन्धेष्वाम्नायेऽप्यर्थावबोधः प्राप्नोत्येव। ननु यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यत्र प्रतीयमानोऽप्यर्थो न विवक्ष्यते।

'मास्य गृहे भुङ्क्था:' इति भोजनप्रतिषेधस्य मातृवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्। तथाम्नायार्थस्याविवक्षायां विषयाद्यभावदोषः प्राचीनः प्रादुःष्यात् इति चेत्–मैवं वोचः। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यसम्भवात्।

अनुवाद—भले ही अध्यापन विधि अर्थज्ञान को प्रयुक्त न करे, फिर भी साङ्गवेद का अध्ययन करने वाले तथा पद-पदार्थ की संगति को ग्रहण करने वाले पुरुष को पौरुषेय ग्रन्थों की तरह ही वेद में भी अर्थज्ञान प्राप्त होता ही है। यदि (पूर्वपक्षी) यह कहे कि जिस प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व' (विष खा लो) इस वाक्य में प्रतीयमान अर्थ विवक्षित नहीं है बल्कि 'मास्य गृहे भुङ्क्था:' (इस शत्रु के यहाँ भोजन मत करो) यह भोजन का निषेध ही माता के वचन का तात्पर्य है। उसी प्रकार वेद के अर्थ की विवक्षा न होने पर तो जैसे पहले विषय आदि के अभाव का दोष आया था, वही दोष पुनः आ जायेगा। (इस पर सिद्धान्ती प्रभाकर कहते हैं कि) ऐसा मत कहिये। क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है।

विशेष—कोई माता पुत्र को कहती है—'विष खा लो, लेकिन इस शत्रु के घर पर भोजन मत करो।' यहाँ पर 'विष खा लो' इस वचन का शाब्दिक अर्थ (अभिधेयार्थ) विवक्षित नहीं है, बल्कि इसका व्यङ्ग्यार्थ है—विष मत खाओ। पूर्वपक्षी का कहना है कि इसी तरह वेद में भी अर्थ विवक्षित नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि यह उदाहरण देकर वेद का अविवक्षितार्थत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दृष्टान्त (उदाहरण) तथा दार्ष्टान्तिक (जिसके लिये उदाहरण दिया गया) दोनों में अन्तर है। इस अन्तर का स्पष्टीकरण आगे के परिच्छेद में किया गया है।

विषभोजनवाक्यस्याप्तप्रणीतत्वेन मुख्यार्थपरिग्रहे बाधः स्यादिति विवक्षा नाश्रीयते। अपौरुषेये तु वेदे प्रतीयमानोऽर्थः कुतो न विवक्ष्यते। विवक्षिते च वेदार्थे यत्र यत्र पुरुषस्य सन्देहः स सर्वोऽपि विचारशास्त्रस्य विषयो भविष्यति। तन्निर्णयश्च प्रयोजनम्। तस्मादध्यापनविधिप्रयुक्तेनाध्ययनेनावगम्यमानस्यार्थस्य विचारार्हत्वाद्विचारशास्त्रस्य वैधत्वेन विचारशास्त्रमारम्भणीयमिति राद्धान्तसंग्रहः।

अनुवाद—विष भोजन का वचन आप्त व्यक्ति के द्वारा कहा गया है, इसलिये उसका मुख्य अर्थ लेने में बाधा होगी, इसी कारण वहाँ मुख्यार्थ की विवक्षा नहीं की गयी। लेकिन अपौरुषय वेद में प्रतीत होने वाले अर्थ की विवक्षा क्यों नहीं की जा सकती। फिर पदार्थ को विवक्षित मानने पर जहाँ-जहाँ पुरुष को सन्देह होगा, वह सब विचार शास्त्र का विषय होगा और उसका निर्णय ही प्रयोजन है। अतः अध्यापन विधि से प्रयुक्त अध्ययन से प्रतीत होने वाला अर्थ विचारयोग्य है। अतः विचारशास्त्र वैध है। इसलिये विचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये—यह सिद्धान्त है।

विशेष—जैस 'विषं भुङ्क्ष्व' यह वाक्य पौरुषेय है। अत: वहाँ वक्ता का तात्पर्य देखकर मुख्यार्थ का त्याग किया गया। उस प्रकार वेद में मुख्यार्थ का त्याग सम्भव नहीं, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय है। अत: वेदार्थ निर्णय ही मीमांसाशास्त्र का प्रयोजन है। अतएव विचार शास्त्र का प्रारम्भ होना चाहिये यही प्राभाकर मत का सिद्धान्त है।

७. वेदों को पौरुषेय माननेवाले पूर्वपक्ष का निरूपण

स्यादेतत्। वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। अथ मन्येथा: 'अपौरुषेया वेदा: सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवत्' इति। तदेतन्मन्दम्। विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभि: प्रलये सम्प्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किं च किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरणगोचरकर्तृकत्वं वा? न प्रथम: कल्प:। परमेश्वरस्य कर्तु: प्रमितेरभ्युपगमात्।

अनुवाद—यह हो सकता है, किन्तु वेद का अपौरुषेयत्व किसे कहा जा रहा है? क्योंकि अपौरुषेयत्व के प्रतिपादक प्रमाण का अभाव है। अब माना जाये कि 'वेद अपौरुषेय हैं, सम्प्रदाय (परम्परा) का विच्छेद न होते हुए कर्ता का स्मरण न होने से, आत्मा की तरह'। तो यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु के विशेषण की सिद्धि नहीं हो पाती। वेद को पौरुषेय मानने वालों के पक्ष में प्रलयकाल में सम्प्रदाय (परम्परा) का विच्छेद माना जाता है। फिर यह 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' (कर्ता का स्मरण न होना) क्या है—अप्रमीयमाण कर्तृकत्व (कर्ता का प्रमा विषय न होना) या फिर 'अस्मरण गोचरकर्तृकत्व' (कर्ता का स्मरण न होना)। पहला पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि परमेश्वर के कर्तृत्व की प्रमा (प्रमिति = यथार्थ ज्ञान) उपलब्ध होती है।

विशेष—मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। एतदर्थ मीमांसाकों ने अनुमान प्रयोग किया है—'वेद अपौरुषेय है, सम्प्रदाय का विच्छेद न होते हुए भी कर्ता का स्मरण न होने से, जैसे कि आत्मा।'

पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ अस्मर्यमाणकर्तृकत्व यह जो विशेषण हेतु में दिया गया है, वह ठीक नहीं है।

पूर्वपक्षी कहता है कि अस्मर्यमाणकर्तृकत्व का दो अर्थ हो सकता है—१. अप्रमीयमाणकर्तृकत्व, २. अस्मर्यमाणकर्तृकत्व। 'ईश्वर वेदकर्ता हैं'—यह ज्ञान (प्रमा) हो रहा है। अत: प्रथम पक्ष ठीक नहीं है।

द्वितीय पक्ष का खण्डन आगे के परिच्छेद में किया गया है—

न द्वितीय:। विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा? नाद्य:। 'यो धर्मशीलो जितमानरोष:' इत्यादिषु मुक्तकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीय: सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसम्भवाच्च। वेदवाक्यानि

पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासादिवाक्यात्। वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि, प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति।

अनुवाद—दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह दो विकल्प सहन नहीं कर पाता। जैसे कि—क्या एक व्यक्ति के द्वारा कर्ता का स्मरण नहीं होता—यह माना जाता है या फिर सभी व्यक्तियों के द्वारा कर्ता का स्मरण नहीं होता—यह माना जाता है। पहला विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि (पहला विकल्प मानने पर) 'यो धर्मशीलो जितमानरोषः' (जो धर्मशील है तथा मान और क्रोध को जीता हुआ है) इत्यादि मुक्तक वचनों में व्यभिचार होता है। दूसरा विकल्प (सभी व्यक्तियों के द्वारा कर्ता का स्मरण नहीं होता) भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी लोग वेदकर्ता का स्मरण नहीं करते-यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान सकता। और वेदों को पौरुषेय मानने में प्रमाण सम्भव है। 'वेदवाक्य पौरुषय हैं, वाक्यहोने से, कालिदासादि के वाक्य के समान' (यह प्रथम अनुमान था, दूसरा 'अनुमान है)' वेदवाक्य आप्त के द्वारा प्रणीत है, प्रमाण होते हुए वाक्य होने के कारण, मनु आदि के वचनों की तरह।'

विशेष—'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' में पूर्वपक्षी ने दो विकल्प उपस्थापित करके सिद्धान्ती का खण्डन किया गया है। मुक्तक वाक्यों का कर्ता कोई न कोई तो होता ही है, लेकिन उस कर्ता का स्मरण सभी लोगों को नहीं रहता, कोई-कोई व्यक्ति ही मुक्त श्लोकों के कर्ता को जानता है।

वेद वाक्यों को पौरुषेय सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी ने दो अनुमान प्रयोग दिखलाये हैं, जिनका खण्डन सिद्धान्ती के द्वारा आगे किया जायेगा।

ननु-

४. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥

(श्लोक. वा. ७/३६६)

इत्यनुमानं प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत्–तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे।

५. भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा ॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्।

अनुवाद—यदि (सिद्धान्ती) यह कहे कि—वेद का सम्पूर्ण अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययन की अपेक्षा रखता है, सामान्य वेदाध्ययन होने के कारण जैसे आजकल का अध्ययन। (श्लोक. वा. ७.३६६)

यह अनुमान पूर्वपक्षी के साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, तो सिद्धान्ती का यह कहना भी प्रमाणकोटि के अन्तर्गत नहीं है।

महाभारत का सम्पूर्ण अध्ययन गुरु के द्वारा अध्ययन की अपेक्षा रखता है, सामान्य महाभारत का अध्ययन होने के कारण, जिस प्रकार आधुनिक अध्ययन।

इस हेत्वाभास की तरह ही सिद्धान्ती का अनुमान है।

विशेष—पूर्वपक्षी ने वेदों को पौरुषेय सिद्ध करने के लिये जो अनुमान दिया था, उसका विरोधी अनुमान सिद्धान्ती ने प्रदर्शित किया। सिद्धान्ती ने वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये प्रतिसाधन अनुमान रखा—वेदाध्यन, गुरु के द्वारा अध्ययन पूर्वक होता है, सामान्य वेदाध्ययन होने के कारण।

पूर्वपक्षी ने इस अनुमान का खण्डन करने के लिये महाभारत को भी अपौरुषेय सिद्ध करते हुए हेत्वाभास उपस्थित किया है। पूर्वपक्षी का कहना है कि सिद्धान्ती का अनुमान प्रयोग भी हेत्वाभास ही है।

ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते–

को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्।'

इत्यादाविति चेत्–तदसारम्।

–'ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।

(ऋ. १०/९०/९)

इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकताप्रतिपादनात्।

अनुवाद—यदि (सिद्धान्ती) यह कहे कि महाभारत का कर्ता व्यास है—इस बात का स्मरण होता है—'भगवान् पुण्डरीकाक्ष के अतिरिक्त अन्य कौन महाभारत का कर्ता होगा'

इत्यादि। (इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि) यह असार (व्यर्थ) है।

उस विराट् पुरुष से ऋचायें तथा सामवेद उत्पन्न हुएस, उसी से छन्द उपन्न हुए तथा उसी विराट् पुरुष से यजुष् उत्पन्न हुए।

(ऋ. १०/९०/९)

इस पुरुषसूक्त में वेद की कर्तृता का प्रतिपादन है।

विशेष—वेद व्यास भगवान् पुण्डरीकाक्ष (नारायण) के अवतार थे।

७ क. पौरुषेयसिद्धि का दूसरा रूप

किं चानित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद्। घटवत्। नन्विदमनुमानं स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्–तदतिफल्गु। लूनपुनर्जातकेशकुन्दादा... प्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वेन बाधकत्वाभावात्।

अनुवाद—(अब नैयायिकों की ओर से पूर्वपक्ष प्रस्तुत हो रहा है—) और फिर 'शब्द अनित्य है, सामान्यवान् होते हुए हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण, जैसे घट (इस अनुमान से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध हो रहा है, फिर शब्द अपौरुषेय कैसे होगा?) यदि सिद्धान्ती कहे कि 'यही वह गकार है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण से पूर्वपक्षी का अनुमान बाधित है, तो सिद्धान्ती का यह कहना व्यर्थ है। जैसे काटे हुए केश या कुन्द पुण्य पुन: उत्पन्न होते हैं, उसी तरह प्रत्यभिज्ञा एक जैसे पदार्थों को विषय बनाती है। अत: प्रत्यभिज्ञा पूर्वपक्षी के अनुमान को बाधित नहीं कर सकती है।

विशेष—पूर्वपक्षी नैयायिकों ने शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रयोग उपस्थित किया है। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा यह अनुमान बाधित हो जाता है। किन्तु पूर्वपक्षी का कहना है कि सिद्धान्ती की प्रत्यभिज्ञा केवल एक जैसे पदार्थों को विषय करते है। जैसे काटे हुए केश की जगह पुन: केश उगने पर यह भ्रम होता है कि यही वह केश है। किन्तु वस्तुत: बाद में उगा हुआ केश तो भिन्न है। अत: प्रत्यभिज्ञा समान पदार्थों को विषय करती है, उन्हीं पदार्थों को नहीं। इस कारण प्रत्यभिज्ञा पूर्वपक्षी के अनुमान को बाधित नहीं कर सकती।

नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासम्भवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्य स्यादिति चेत्–न तद्भद्रम्। स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसम्भवात्। तस्माद्वेदस्यापौरुषेयत्ववाचोयुक्तिर्न युक्तेति चेत्।

अनुवाद—यदि सिद्धान्ती पूछे कि अशरीरी परमेश्वर के पास तालु आदि उच्चारण स्थान न होने से उनके लिये वर्णोच्चारण असम्भव है, तो फिर वेद ईश्वररचित कैसे होगा, तो पूर्वपक्षी कहता है कि यह ठीक नहीं है। ईश्वर स्वभावत: भले ही अशरीर है, लेकिन भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये वह लीलारूप धारण करता है। अत: वेद को अपौरुषेय मानने का वचन ठीक नहीं है।

विशेष—पूर्वपक्षी के अनुसार निर्गुण 'निराकार ईश्वर माया का आश्रय लेकर सगुण, साकार रूप धारण करता है। अब आगे सिद्धान्तमत बतलाया जा रहा है।

८. वेद अपौरुषेय हैं–सिद्धान्त-पक्ष

तत्र समाधानमभिधीयते। किमिदं पौरुषेयत्वं सिसाधयिषितम्? पुरुषादुत्पन्नत्वमात्रं यथास्मदादिभिरहरहरुच्चार्यमाणस्य वेदस्य? प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय रचितत्वं वा यथास्मदादिभिरेव निबध्यमानस्य प्रबन्धस्य? प्रथमे न विप्रतिपत्तिः।

अनुवाद—अब सिद्धान्ती के द्वारा इस पूर्वपक्ष का समाधान बतलाया जा रहा है। यह पौरुषेयत्व क्या है, जिसे पूर्वपक्षी सिद्ध करना चाहता है? क्या केवल पुरुष उत्पन्न

होना ही पौरुषेयत्व है, जिस तरह कि हम लोगों के द्वारा दिनोदिन वेद का उच्चारण होता है या फिर अन्य प्रमाणों से विषय संग्रह करके उसके प्रकाशन के लिये ग्रन्थ रचना करना पौरुषेयत्व है, जैसे कि हम लोगों के द्वारा लिखे जाने वाले प्रबन्ध आदि का पौरुषेयत्व होता है। प्रथम मत मानने पर कोई विरोध नहीं है।

विशेष—सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के समक्ष दो विकल्प उपस्थापित करके पौरुषेयत्व का खण्डन किया है। प्रथम विकल्प है—हम लोगों के द्वारा शब्द का उच्चारण करना पौरुषेयत्व है, तो यह मानने में तो कोई दोष ही नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती मीमांसक भी तो यही मानते हैं कि ईश्वर ने वेद का उच्चारण किया, निर्माण नहीं।

दूसरा विकल्प है—प्रमाणान्तर से विषय को जानकर ग्रन्थ रचना करना। द्वितीय विकल्प में सिद्धान्ती ने पुनः दो विकल्प उपस्थापित करके इसका खण्डन किया है—

द्वितीये किमनुमानबलात्तत्साधनमागमबलाद्वा? नाद्यः। मालतीमाधवादिवाक्येषु सव्यभिचारत्वात्। अथ प्रमाणत्वे सतीति विशिष्यत इति चेत्-तदपि न विपश्चितो मनसि वैशद्यमापद्यते। प्रमाणान्तरागोचरार्थप्रतिपादकं हि वाक्यं वेदवाक्यम्, तत्प्रमाणान्तरगोचरार्थप्रतिपादकमिति साध्यमाने मम माता वन्ध्येतिवद् व्याघातापातात्।

अनुवाद—यदि द्वितीय पक्ष (प्रमाणान्तर से विषय को जानकर ग्रन्थ की रचना करना) माना जाये तो क्या पौरुषेयत्व की सिद्धि अनुमान बल से होगी या शब्द प्रमाण (आगम) के बल से? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि मालतीमाधव आदि के वाक्यों में व्यभिचार होगा (क्योंकि मालतीमाधव की कथा कल्पना पर आधारित है, अतः प्रमाणान्तर से विषय को जानकर ग्रन्थ रचना करना ही पौरुषेयत्व हो, तो मालती माधव ग्रन्थ, जो कि भवभूति द्वारा रचित है, को भी अपौरुषेय मानना पड़ेगा) यदि 'हेतु' में 'प्रमाणत्वे सति' (प्रमाण होने पर) यह विशेषण लगा दें, तो यह भी विद्वानों के मन में सन्तुष्टि प्रदान नहीं करता। (यह अनुमान किया गया कि 'वेदवाक्यम् अपौरुषेयम् प्रमाणत्वे सति प्रमाणान्तरेण अर्थमुपलभ्य रचितत्वाभावात्' यहाँ हेतु में 'प्रमाणत्वे सति' विशेषण लगाया गया है यह विशेषण लगाना ही वदतो व्याघात है। एक ओर तो वेद को प्रमाणान्तर से अज्ञात विषय को बतलाने वाला कहा जा रहा है और दूसरी ओर प्रमाणत्वे सति कहकर उसे प्रमाणान्तर से ज्ञात बतलाया जा रहा है। वेद वाक्य प्रमाणान्तर से अज्ञात विषय को बतलाता है। अतः उसे प्रमाणान्तर से ज्ञात विषय का प्रतिपादक सिद्ध करना 'मेरी मां वन्ध्या है' की तरह विरुद्ध है।

८ क. पौरुषेयत्व का दूसरे प्रकार से खण्डन

किं च परमेश्वरस्य लीलाविग्रहपरिग्रहाभ्युपगमेऽप्यतीन्द्रियार्थदर्शनं न संजाघटीति। देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्रहणोपायाभावात्। न च तच्चक्षुरादिकमेव तादृक्प्रतीतिजननक्षममिति मन्तव्यम्। दृष्टानुसारेणैव कल्पनाया आश्रयणीयत्वात्। तदुक्तं गुरुभिः सर्वज्ञनिराकरणवेलायाम्–

६. **यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।**
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥ इति।

अनुवाद—और फिर लीला के द्वारा परमेश्वर रूप धारण करते हैं—यह मानने पर परमात्मा द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन भी नहीं घट पाता है, क्योंकि जो विषय देश, काल तथा स्वभाव से परे है अर्थात् इन्द्रिय से असम्बद्ध है, उसके ग्रहण का उपाय ईश्वर के पास भी नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर की चक्षु आदि इन्द्रियों से उन इन्द्रियासम्बद्ध पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। क्योंकि दृष्टानुसारिणी कल्पना का ही आश्रय लेना चाहिये। जैसा कि सर्वज्ञ का खण्डन करते समय प्रभाकर गुरु ने कहा है—

जहाँ भी अर्थ का अतिशय देखा जाता है, वह अपने स्वार्थ उल्लंघन करके नहीं होता। दूर तथा सूक्ष्म विषयों का दर्शन तो सम्भव है, परन्तु रूप का कान से ग्रहण सम्भव नहीं है।

विशेष—मीमांसकों का यह मानना है कि ईश्वर को देश, काल तथा स्वभाव से विप्रकृष्ट (परे) होने वाले पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। किसी भी वस्तु की कल्पना दृष्ट विषय के अनुसार ही की जाती है। स्वार्थ का उल्लंघन करके अतिशय की कल्पना नहीं की जा सकती है।

अत एव नागमबलात्तत्साधनम्। यथा 'तेन प्रोक्तम्' (पा.सू. ४/३/४१०१) इति पाणिन्यनुशासने जाग्रत्यपि काठक-कालाप-तैत्तिरीयमित्यादि-समाख्याध्ययनसम्प्रदायप्रवर्तकविषयत्वेनोपपद्यते, तद्वदत्रापि सम्प्रदायप्रवर्तकविषय-त्वेनाप्युपपद्यते।

अनुवाद—इसलिये 'प्रमाणान्तर से विषय को जानकर आगम (शब्द) प्रमाण से भी नहीं हो सकती है। जिस प्रकार 'तेन प्रोक्तम्' (पा.सू. ४.३.१०१) इस पाणिनीय सूत्र के होन पर भी काठक, कालाप, तैत्तिरीय इत्यादि समाख्या को अध्ययन सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी ईश्वर को वेद सम्प्रदाय के प्रवर्तक (उपदेशक) के रूप में माना जा सकता है।

विशेष—सिद्धान्ती (मीमांसक) का कहना है कि आगम प्रमाण से भी वेदों का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। पाणिनि का सूत्र है—'तेन प्रोक्तम्' अर्थात् उसके

द्वारा बतलाया गया इस अर्थ में काठक आदि शब्दों से अण् आदि प्रत्यय होते हैं। किन्तु 'उसके द्वारा प्रवर्तित' इस अर्थ में भी काठकम् कालापम् इत्यादि शब्द बनते हैं। अतः ईश्वर को वेद का प्रवर्तक (उपदेशक) मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

९. शब्दानित्यत्व का खण्डन

न चानुमानबलाच्छब्दस्यानित्यत्वसिद्धिः। प्रत्यभिज्ञाविरोधात्। न चासत्यप्येकत्वे सामान्यनिबन्धनं तदिति साम्प्रतम्। सामान्यनिबन्धनत्वमस्य बलवद्बाधकोपनिपातादास्थीयते क्वचिद् व्यभिचारदर्शनाद्वा। तत्र क्वचिद् व्यभिचारदर्शनं तदुत्प्रेक्षायामुक्तं स्वतः प्रामाण्यवादिभिः—

७. उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति॥ इति।

अनुवाद—अनुमान के द्वारा भी शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का विरोध होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वर्णों के एक न होने पर भी उनमें समानता की प्रतीति होती है। वर्णों में समानता की प्रतीति मानने का कारण बलवान् बाधक या कहीं कहीं व्यभिचार के दर्शन से ऐसा माना जाता है। कहीं-कहीं व्यभिचार दिखाई देने पर उसकी उत्प्रेक्षा करते हुए स्वतः प्रामाण्य वादियों ने कहा है—

जो व्यक्ति अपनी मूर्खता के कारण अज्ञात बाधा की सम्भावना करता है, वह संशयात्मा व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

विशेष—सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी ने जो यह बतलाया था कि एक बार केशों के काटने पर पुनः उस स्थान पर जो केश उगते हैं, उनमें भ्रम वश प्रत्यभिज्ञा होती है। लेकिन केवल इस बाधक के कारण वर्णों को भी एक न मानना उचित नहीं है।

स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसकों को कहा जाता है। उन्होंने इस बाधक को मानने की कड़ी निन्दा की है। इस प्रकार बाधक के अभाव से प्रत्यभिज्ञा बाधित नहीं होती और 'ये वहीं गकार आदि वर्ण हैं' इस प्रत्यभिज्ञा के कारण वर्णों की नित्यता सिद्ध होती है।

नन्विदं प्रत्यभिज्ञानं गत्वादिजातिविषयं न गादिव्यक्तिविषयम्। तासां प्रतिपुरुषं भेदोपलम्भात्। अन्यथा 'सोमशर्माऽधीते' इति विभागो न स्यादिति चेत्—तदपि शोभां न बिभर्ति। गादिव्यक्तिभेदे प्रमाणाभावेन गत्वादिजातिविषयकल्पनायां प्रमाणाभावात्। यथा गोत्वमजानत एकमेव भिन्नदेशपरिमाणसंस्थानव्यक्त्युपधानवशाद्भिन्नदेशमिव महदिव दीर्घमिव वामनमिव प्रथते तथागव्यक्तिमजानत एकापि व्यञ्जकभेदात् तत्तद्धर्मानुबन्धिनी प्रतिभासते।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी (नैयायिक) यह कहे कि यह प्रत्यभिज्ञा गत्व आदि जाति से सम्बन्धित है, न कि 'ग' आदि वर्ण व्यक्ति से। प्रत्येक पुरुष के उच्चारण के कारण 'ग' व्यक्ति का भी भेद हो जाता है। अन्यथा 'सोम शर्मा पढ़ता है' यहाँ सोमशर्मा के उच्चारण का अन्य लोगों के साथ भेद नहीं हो पायेगा। (इस पर सिद्धान्ती कहता है कि) यह कहना भी ठीक नहीं है। गकार आदि व्यक्तियों के भेद में कोई प्रमाण न होने से 'गत्व' आदि जाति की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है! जिस प्रकार गोत्व जाति को न जानने वाले पुरुष को भिन्न-भिन्न देश, आकार तथा संस्थान वाले व्यक्ति के कारण एक ही गोत्व जाति भिन्न-भिन्न देश में रहने वाली, प्रतीत होती है या फिर छोटी, बड़ी, लम्बी तथा बौनी प्रतीत होती है उसी तरह 'ग' व्यक्ति को न जानने वाले पुरुष को एक ही 'गकार' व्यक्ति व्यञ्जकों के भेद के कारण उस-उस धर्म से युक्त प्रतीत होता है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि गत्व आदि जाति तो एक है लेकिन गकार आदि व्यक्ति में भेद है। इसी कारण 'त एवेमे गकारादयो वर्णाः' (वही यह गकार आदि वर्ण हैं) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि गकार आदि वर्ण एक ही होते, तो 'सोम शर्मा पढ़ता है अन्य लोग नहीं पढ़ते' इस प्रकार का भेद ही नहीं बन पाता।

इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि जिस प्रकार गोत्व जाति एक ही है, लेकिन जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि गोत्व एक है, वह अलग-अलग स्थानों में गौओं को देखकर यह समझता है कि गोत्व भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर है। छोटी या बड़ी 'गौ' को देखकर गोत्व को भी कभी छोटा या बड़ा समझता है। उसी तरह गकार आदि वर्ण व्यक्ति भी एक ही हैं, लेकिन जो यह नहीं जानता कि गकार एक ही है वह व्यञ्जक (उच्चारण करने वालों) के भेद से गकार आदि वर्णों को भी अलग-अलग समझता है।

एतेन विरुद्धधर्माध्यासाद् भेदसिद्धिरिति प्रत्युक्तम्। तत्र किं स्वाभाविको विरुद्धधर्माध्यासो भेदसाधकत्वेनाभिमतः प्रातीतिको वा? प्रथमेऽसिद्धिः। अपरथा स्वाभाविकभेदाभ्युपगमे 'दशगकारानुदचारयच्चैत्रः' इति प्रतिपत्तिः स्यान्न तु दशकृत्वो गकार इति।

अनुवाद—इस प्रकार जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि विरुद्ध धर्मों के आरोप से भेद की सिद्धि होती है। उसका खण्डन किया गया है। उसमें भी विरुद्ध धर्म का आरोप क्या स्वाभाविक होता है या फिर केवल भेद साधक के रूप में प्रतीत होता है? यदि प्रथम मत (विरुद्ध धर्म का आरोप स्वाभाविक हैं) यह मानें तो इसकी सिद्धि ही नहीं होती। अन्यथा स्वाभाविक भेद मानने पर 'चैत्र ने दस गकारों का उच्चारण किया' यह कहना पड़ेगा न कि 'चैत्र ने दस बार गकार का उच्चारण किया'।

विशेष—यदि गकार का अन्य गकार से स्वाभाविक भेद माना जाये तो यह कहा जायेगा कि 'चैत्र ने दस गकारों का उच्चारण किया' जबकि ऐसा प्रयोग नहीं होता, बल्कि प्रयोग तो ऐसा होता है कि 'चैत्र ने दस बार गकार का उच्चारण किया'। इससे यही सिद्ध होता है कि गकार तो एक ही है उसका उच्चारण दस बार हुआ।

द्वितीये तु न स्वाभाविकभेदसिद्धिः। न हि परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्यं विहन्यते। मा भून्नभसोऽपि कुम्भाद्युपाधिभेदात्स्वाभाविको भेदः। तत्र व्यावृत्तव्यहारो नादनिदानः। तदुक्तमाचार्यैः–

८. प्रयोजनं तु यज्जातेस्तद्वर्णादिव लप्स्यते।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा॥

तथा च–

९. प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते॥ इति।

अनुवाद—यदि दूसरा मत (विरुद्ध धर्म का आरोप होना प्रतीति मात्र है) माना जाये तो स्वाभाविक भेद की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरी उपाधियों के भेद के कारण स्वाभाविक एकता को समाप्त नहीं किया जा सकता। भले कि आकाश में घट आदि उपाधि के भेद से स्वाभाविक भेद नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ भेद का व्यवहार नाद के कारण होता है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

जो जाति का प्रयोजन है, वह वर्णों से ही प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति का प्रयोजन बाद से प्राप्त हो जाता है। अतः, गत्वादि की बुद्धि व्यर्थ है।

और—जब शब्द में निर्बाध प्रत्यभिज्ञा होती है, तब वह प्रत्यभिज्ञा ही समस्त अनित्यत्वानुमानों को बाधित करती है।

विशेष—आकाश तो एक ही है, किन्तु घट, मठ आदि उपाधियों के कारण आकाश में घटाकाश, मठाकाश आदि भेद होते हैं। उपाधि-भेद से आकाश की स्वाभाविक एकता (एकत्व) को दूर नहीं किया जा सकता है। जब स्वाभाविक एकत्व को दूर ही नहीं किया जा सकता, तो फिर स्वाभाविक भेद की सिद्धि कैसे होगी। अतः अनेक गकारों के स्वाभाविक भेद को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धान्ती का यह मानना है कि गकार तो एक ही है, केवल नाद (व्यंजक ध्वनि) के कारण उसमें भेद का व्यवहार होता है। (इस प्रकार 'त एवेमे गकारादयो वर्णाः' इस प्रत्यभिज्ञा के कारण शब्द की अनित्यता का खण्डन हो जाता है।

१०. वेद की प्रामाणिकता-निष्कर्ष

एतेनेदमपास्तं यदवादि वागीश्वरेण मानमनोहरे–'अनित्यः शब्दः, इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्वाच्चक्षूरूपवदिति'। शब्दद्रव्यत्ववादिनं प्रत्यसिद्धेः। ध्वन्यंशे

सिद्धसाधनत्वाच्च। अश्रावणत्वोपाधिबाधितत्वाच्च। उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्य-भावस्य प्रत्यक्षतां महता प्रबन्धेन प्रतिपादयन्निवृत्तः कोलाहलः,उत्पन्नः शब्द इति व्यवहाराचरणे कारणं प्रत्यक्षं शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म।

अनुवाद—इस सिद्धान्तमत से वह बात खण्डित हो गयी, जो वागीश्वर ने - मानमनोहर' ग्रन्थ में कहा था—शब्द अनित्य है, इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य विशेष गुण होने के कारण, चक्षुग्राह्यरूप की तरह। शब्द को द्रव्य मानने वालों (मीमांसकों) के प्रति यह अनुमान असिद्ध हो जाता है तथा शब्द ध्वनि रूप मानने वालों के लिये इस अनुमान से सिद्ध साधन दोष आता है। साथ ही यह अनुमान 'अश्रावणत्व' उपाधि से बाधित हो जाता है। उदयनाचार्य ने शब्द के आश्रय 'आकाश' का प्रत्यक्ष न होने पर भी अभाव की प्रत्यक्षता को बड़े प्रयत्न से प्रतिपादित किया है तथा 'कोलाहल समाप्त हो गया,' 'शब्द उत्पन्न हुआ' इस व्यवहार के आचरण का कारण प्रत्यक्ष को माना है जो कि शब्द की अनित्यता का प्रमाण है।

विशेष—इस प्रकार शब्द की अनित्यता का साधक अनुमान खण्डित हो जाता है। साथ ही उक्त अनुमान में 'अश्रावणत्व' उपाधि भी है। इसके विपरीत उदयनाचार्य ने शब्द की अनित्यता (नित्यत्वाभाव) को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया है, क्योंकि उदयनाचार्य के अनुसार अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

सोऽपि विरुद्धधर्मसंसर्गस्यौपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तरक्तबलिवेताल-समः। यो हि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्तः, सोऽपि ध्वनिसंस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमात्प्रतिक्षिप्तः। यत्तु युगपदिन्द्रियसम्बन्धित्वेन प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यत्वाभावानुमानं तदात्मन्यैकान्तिकमित्यलमतिकलहेन। ततश्च वेदस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तशङ्काकलङ्काङ्कुरत्वेन स्वतः सिद्धं धर्मे प्रामाण्यमिति सुस्थितम्।

अनुवाद—शब्द में विरुद्ध धर्मों के संसर्ग की उपाधि के प्रतिपादन के न्याय से वह उदयनाचार्य भी रक्तबलि प्राप्त करने वाले वेताल की तरह ही हैं। जो 'न्यायभूषण' ग्रन्थ के रचयिता ने कहा है कि शब्द को नित्य मानने पर शब्द की सदा उपलब्धि ही रहेगी या फिर सदा शब्द की अनुपलब्धि ही रहेगी, यह मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि ध्वनि के संस्कार से संस्कृत शब्द की उपलब्धि होती है। जो लोग यह कहते हैं कि (शब्द को व्यापक मानने पर) सभी शब्दों का सम्बन्ध एक साथ श्रोत्रेन्द्रिय से होने के कारण संस्कारक और संस्कार्य के अभाव का अनुमान होता है, वह अनुमान आत्मा में अनैकान्तिक (व्यभिचार से युक्त) है। इसलिये अत्यधिक कलह करना बेकार है। इस प्रकार

वेद के अपौरुषेय होने से समस्त सन्देह रूपी कलंकों का अंकुर समाप्त हो जाने से धर्म में स्वत: सिद्ध प्रामाण्य सुस्थित हो जाता हैं।

विशेष—इस प्रकार मानमनोहरकार वागीश्वर, न्यायकुसुमांजतिकार उदयनाचार्य तथा न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ आदि सभी पूर्वपक्षियों का मत खण्डित हो जाने से शब्द की नित्यता तथा वेदों का अपौरुषेदेयत्व सिद्ध हो जाता है।

(प्रामाण्यवाद का निरूपण)

स्यादेतत्।

१०. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः॥

११. प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥

इति वादिविवाददर्शनात्कथंकारं स्वतः धर्मे प्रामाण्यमिति सिद्धवत्कृत्य स्वीक्रियते?

अनुवाद—ठीक है। ऐसा ही हो।

सांख्य दार्शनिकों ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य-दोनों को स्वत: माना है। नैयायिकों ने इन दोनों (प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य) को परत: माना है। बौद्धों ने अप्रामाण्य को स्वत: तथा प्रामाण्य को परत: कहा है। वेदवादी (मीमांसक) ने प्रमाण्य को स्वत: तथा अप्रामाण्य को परत: माना है।

इस प्रकार वादियों में विवाद दिखाई देने से धर्म में स्वत: प्रामाण्य को कैसे सिद्ध माना जा सकता है?

विशेष—जिस सामग्री से किसी पदार्थ के ज्ञान का ग्रहण होता है, उसी सामग्री से यदि ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का भी ग्रहण हो, तो उसे स्वत: प्रामाण्य या स्वत: अप्रामाण्य कहा जाता है तथा यदि ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण हो तो उसे परत: प्रामाण्य या परत: अप्रामाण्य कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में चार मत प्रसिद्ध हैं—

१. सांख्य—प्रामाण्य स्वत:, अप्रामाण्य स्वत:

२. न्याय—प्रामाण्य परत:, अप्रामाण्य परत:

३. बौद्ध—प्रामाण्य परत:, अप्रामाण्य स्वत:

४. मीमांसक—प्रामाण्य स्वत:, अप्रामाण्य परत:

सांख्य दार्शनिक सत्कार्यवादी हैं। अत: उनके अनुसार ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य दोनों पहले से ही स्थित रहता है। ज्ञान के होती ही उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है।

नैयायिकों के अनुसार ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय (इदम् अहं जानामि) से होता है तथा उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान या प्रवृत्तिवैफल्यमूलक अनुमान से होता है।

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि कोई भी ज्ञान प्रथमदृष्टया अप्रमाण ही है। बाद में यदि प्रामाण्य के कारण दिखें तो उसे प्रमाण कहा जाता है, अन्यथा अप्रमाण ही रहता है।

मीमांसकों का मत बौद्धों से ठीक विपरीत है। उनका मानना है कि ज्ञान स्वतः प्रमाण ही है। यदि उसमें दोष का कारण दिखाई दे, तो बाद में उस ज्ञान को अप्रमाण कहा जाता है अन्यथा वह ज्ञान प्रमाण ही रहता है।

११ क. स्वतःप्रामाण्य का अर्थ–

किं च किमिदं स्वतः प्रामाण्यं नाम? किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म? आहोस्वित् स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम्? किमुत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम्? उताहो ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यज्ञानविशेषाश्रितत्वम्? किं वा ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्र-जन्यज्ञानविशेषाश्रितत्वम्?

अनुवाद—यह स्वतः प्रामाण्य क्या है? क्या प्रामाण्य का अपने आप जन्म ही स्वतः प्रामाण्य है? या फिर अपने आश्रय ज्ञान से उत्पन्न होना स्वतःप्रामाण्य है? या अपने आश्रय ज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होना स्वतः प्रामाण्य है? या फिर ज्ञान सामान्य की सामग्री से उत्पन्न ज्ञान विशेष का आश्रय होना स्वतः प्रामाण्य है? या ज्ञान सामान्य की सामग्री मात्र से उत्पन्न ज्ञान विशेष का आश्रय होना स्वतःप्रामाण्य है।

तत्राद्यः सावद्यः। कार्यकारणभावस्य भेदसमानाधिकरणत्वेन एकस्मिन्न-सम्भवात्। नापि द्वितीयः। गुणस्य सतो ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रति समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातात्।

अनुवाद—उसमें पहला विकल्प (प्रामाण्य का अपने आप जन्म स्वतः प्रामाण्य है) दोषपूर्ण हैं, क्योंकि कार्य तथा कारण में भेद आवश्यक है, कार्यत्व तथा कारणत्व दोनों का एक जगह रहना असम्भव है। (तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य अपना कारण स्वयं नहीं हो सकता। प्रामाण्य स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य-दोनों नहीं बन सकता) दूसरा विकल्प (अपने आश्रय ज्ञान से उत्पन्न होना स्वतः प्रामाण्य है) भी सम्भव नहीं है। क्योकि ज्ञान तो गुण है, लेकिन प्रामाण्य को उत्पन्न करने के प्रति उसे समवायिकारण के रूप में द्रव्य मानना पड़ेगा।

नापि तृतीयः, प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे वा जन्मायोगात्। स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्योपाधिः। न च

तस्योत्पत्तिसम्भवः। अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। अत एव न जातेरपि जनिर्युज्यते।

अनुवाद—तीसरा विकल्प (अपने आश्रय ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना स्वतः प्रामाण्य है) भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रामाण्य को उपाधि मानें या जाति-दोनों ही स्थिति में प्रामाण्य का जन्म नहीं हो सकता। यथार्थानुभव रूप ज्ञान स्मृति से भिन्न है। अतः उस ज्ञान में प्रामाण्य रूप उपाधि का तात्पर्य है—बाध का अत्यन्ताभाव। लेकिन इस बाधात्यन्ताभाव रूप प्रामाण्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि अत्यन्तभाव को नित्य माना जाता है। इसलिये जाति की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

विशेष—प्रामाण्य को यदि जाति रूप मानें तो जाति के नित्य होने के कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि प्रामाण्य को बाधात्यन्ताभावरूप उपाधि मानें, तो भी उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य है।

ज्ञान के दो भेद हैं—

ज्ञान—१. अनुभव—यथार्थ, अयथार्थ

२. स्मृति—यथार्था, अयमार्था

नापि चतुर्थः। ज्ञानंविशेषो ह्यप्रमा। विशेषसामग्र्यां च सामान्यसामग्री अनुप्रविशति शिंशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री। अपरथा तस्याकस्मिकत्वं प्रसज्येत। तस्मात्परतस्त्वेन स्वीकृताप्रामाण्यं विज्ञानसामान्यसामग्रीजन्याश्रितमित्यतिव्याप्ति-रापद्येत।

अनुवाद—चतुर्थ विकल्प (ज्ञान सामान्य की सामग्री से उत्पन्न ज्ञान विशेष का आश्रय होना स्वतः प्रामाण्य है) भी सम्भव नहीं है। अप्रमा भी ज्ञान विशेष ही है। ज्ञान की सामान्य सामग्री ज्ञान की विशेष सामग्री में अन्तर्भूत हो जाती है, जिस प्रकार वृक्ष की सामग्री शिरूपा की सामग्री में अनुप्रविष्ट हो जाती है। अन्यथा शिंरूपावृक्ष की उत्पत्ति को आकस्मिक मानना पड़ेगा। इसलिये परतस्त्वेन स्वीकृत अप्रामाण्य भी विज्ञान सामान्य की सामग्री से उत्पन्न ज्ञान पर आश्रित ही होगा। इसलिये अतिव्याप्ति आयेगी।

विशेष—ज्ञान सामान्य की कारण सामग्री ही ज्ञानविशेष की सामग्री का भी कारण होती है जैसे कि वृक्षसामान्य की कारण सामग्री वृक्ष विशेष 'शिंशपा' का भी कारण होती है। इसलिये ज्ञान सामान्य की सामग्री जैसे ज्ञान विशेष 'प्रामाण्य' का कारण बनेगी, वैसे ही ज्ञानविशेष 'अप्रामाण्य' (अयथार्थ ज्ञान) का भी कारण बनती है। अतः ज्ञान सामान्य सामग्री जन्य ज्ञानविशेषाश्रयत्व को स्वतःप्रामाण्य का लक्षण मानने में अतिव्याप्ति दोष आता है।

पञ्चमविकल्पं विकल्पयामः। किं दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं, किं वा दोषाभावासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम्? नाद्यः। दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव परतः प्रामाण्यवादिभिरुररीकरणात्।

अनुवाद—पांचवें विकल्प में भी हम दो विकल्प करते हैं। ज्ञान सामान्य की सामग्री मात्र से उत्पन्न होना क्या है? क्या दोषाभाव के साथ ज्ञानसामग्री से उत्पन्न होना ही ज्ञानसामग्री मात्र से जन्यत्व है या फिर दोषाभाव से रहित होकर ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना ज्ञान सामग्री मात्रजन्यत्व है? पहला विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि दोषाभाव से युक्त ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना ही परम:प्रामाण्य वादियों ने स्वीकार किया है।

विशेष—यदि 'ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्व' का परिष्कार 'दोषाभाव के साथ ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना' माना जाये तो यह तो परत: प्रामाण्यवादियों का ही समर्थ न होगा। दूसरा पक्ष 'दोषाभाव से रहित ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना' यह परिष्कार मानने पर अधोलिखित दोष होगा—

नापि द्वितीयः। दोषाभावसहकृतत्वेन सामग्र्यां सहकृतत्वे सिद्धेऽनन्यथा-सिद्धावन्वयव्यतिरेकसिद्धतया दोषाभावस्य कारणताया वज्रलेपायमानत्वात्। अभावः कारणमेव न भवतीति चेत्तदा वक्तव्यमभावस्य कार्यत्वमस्ति न वा? यदि नास्ति तदा घटप्रध्वंसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यताप्रसंगः। अथास्ति, किमपराद्धं कारणत्वेनेति सेयमुभयतस्पाशा रज्जुः।

अनुवाद—दूसरा पक्ष (दोषाभाव से रहित ज्ञान सामग्री से उत्पन्न होना ज्ञान सामग्री मात्र जन्यत्व है) भी ठीक नहीं है। दोषाभाव से युक्त सामग्री से ज्ञान विशेष की उत्पत्ति में दोषाभाव की सहकारिता सिद्ध हो जाती है। अत: दोषाभाव के बिना ज्ञान सामग्री से ज्ञान विशेष की उत्पत्ति अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध नहीं होती। इसलिये दोषाभाव को कारण मानना वज्रलेप की तरह है। लेकिर अभाव तो कारण बन ही नहीं सकता यदि ऐसा कहा जाये कि तो यह पूछा जा रहा है कि अभाव कार्य है या नहीं? यदि अभाव कार्य नहीं है, तो घट के प्रध्वंस (घटाभाव) की अनुपपत्ति है अत: घट को नित्य मानना पड़ेगा। यदि अभाव कार्य है, तो फिर उसको कारण मानने में क्या अपराध है? इस तरह दोनों प्रकार से पाशारज्जु है।

विशेष—यदि अभाव को कार्य न माना जाये, तो घटाभाव की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी और घट को नित्य मानना पड़ेगा। और यदि अभाव को कार्य माना जाये, तो उसे कारण मानने में भी कोई दोष नहीं होना चाहिये।

तदुदितमुदयनेन–

भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मतः।

(न्या.कु. १/१०) इति

तथा च प्रयोगः–विमतं प्रामाण्यं ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनं, कार्यत्वे सति तद्विशेषाश्रितत्वादप्रामाण्यवत्। प्रामाण्यं परतो ज्ञायते अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वादप्रामाण्यवत्। तस्मादुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च परतस्त्वे प्रमाणसम्भवात्स्वतः सिद्धः प्रामाण्यमित्येतत्पूतिकूष्माण्डायत इति चेत्–

अनुवाद—जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है—जिस प्रकार भाव पदार्थ कार्य की तरह कारण भी होता है, उसी तरह अभाव पदार्थ भी कार्य की तरह ही कारण भी होता है।

जैसा कि प्रयोग है—

विवादित प्रामाण्य ज्ञान के कारण से भिन्न कारण के अधीन है, कार्य होते हुए ज्ञान विशेष पर आश्रित होने के कारण, जैसे अप्रामाण्य। प्रामाण्य का ज्ञान परत: होता है, क्योंकि अनभ्यास दशा में (प्रथम ज्ञान के समय) विषय के प्रति सन्देह रहता है, जैसे कि अप्रामाण्य। अत: ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों के विषय में प्रामाण्य को परत: मानना सम्भव है। इसलिये स्वत: प्रामाण्य को मानना पके हुए कोहड़े की तरह है।

विशेष—न्याय दर्शन के आचार्य उदयनाचार्य ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को परत: माना है। उनका मानना है कि ज्ञान का ग्रहण तथा प्रामाण्य । अप्रामाण्य का ग्रहण भिन्न-भिन्न कारणों से होता है।

१२. स्वत:प्रामाण्य की सिद्धि–शंका-समाधान

तदेतदाकाशमुष्टिहननायते। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति निरुक्तिसम्भवात्। अस्ति चात्रानुमानम्–विमा प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तजन्या न भवति। अप्रमात्वानधिकरणत्वात्। घटादिप्रमावत्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती के अनुसार) यह सब आकाश में मुक्का चलाने की तरह है। विज्ञान की सामग्री से उत्पन्न होते हुए उससे अतिरिक्त हेतु से उत्पन्न न होना ही प्रमा का स्वतस्त्व है—यह निरुक्ति सम्भव है। इसमें यह अनुमान भी दिया जा सकता है—विवादित प्रमा विज्ञानसामग्री से उत्पन्न होते हुए उससे अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न नहीं होती है, अप्रमात्व का अधिकरण न होने से, जैसे-घट आदि की प्रमा।

विशेष—सिद्धान्ती मीमांसक ने 'स्वतस्त्व' का लक्षण देकर स्वत:प्रामाण्य को सिद्ध किया है। ज्ञान की सामग्री से अतिरिक्त सामग्री से उत्पन्न न होना ही स्वतस्त्व है।

यह लक्षण प्रामाण्य में तो घटता है लेकिन अप्रामाण्य में नहीं घटता। अतः प्रामाण्य स्वतः है, लेकिन अप्रामाण्य परतः है।

न चौदयनमनुमानं परतस्त्वसाधकमिति शङ्कनीयम्। प्रमा दोषव्यतिरिक्त-ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रहग्रस्तत्वात्। ज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसम्भवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च। ननु दोषस्याप्रमाहेतुत्वेन तदभावस्य प्रमां प्रति हेतुत्वं दुर्निवारमिति चेन्न। दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनान्यथासिद्धत्वात्।

अनुवाद—उदयनाचार्य द्वारा किया गया अनुमान परतस्त्व को सिद्ध करता है—यह शंका भी नहीं करनी चाहिये। प्रमा दोषरहित ज्ञान हेतु से भिन्न हेतु से उत्पन्न नहीं होती है, ज्ञान होने से अप्रमा की तरह—इस प्रकार उदयन का अनुमान प्रतिसाधन हेतु के ग्रह से ग्रस्त है। ज्ञान सामग्री मात्र से प्रमा की उत्पत्ति सम्भव है। अतः, उससे अतिरिक्त गुण या दोषाभाव को कारण मानने की कल्पना में कल्पनागौरव दोष का प्रसंग आता है। यदि कोई यह कहे कि दोष तो अप्रमा का कारण है, तो फिर दोषाभाव को प्रमा का कारण मानना अनिवार्य है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। दोषाभाव अप्रमा का केवल प्रतिबन्धक है, (अप्रभा का कारण नहीं) बल्कि दोषाभाव अप्रमा के प्रति अन्यथासिद्ध है।

विशेष—उदयनाचार्य ने जो अनुमान किया था प्रामाण्य ज्ञानकारण से भिन्न कारण के अधीन है कार्य होते हुए ज्ञान विशेष पर आश्रित होने के कारण।

इसी का प्रतिपक्षी अनुमान सिद्धान्ती ने दिखलाया है कि—

प्रमा दोषरहित ज्ञान हेतु से भिन्न हेतु से जन्य नहीं होती, ज्ञान होने के कारण, अप्रमा की तरह।

१२. तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः ।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ इति॥

अनुवाद—इसलिये, गुणों के द्वारा दोषाभाव होता है तथा दोषाभाव से दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों (दोष ज्ञान जन्य अप्रामाण्य तथा विपर्यय ज्ञान जन्य अप्रामाण्य) की सत्ता नहीं रहती। इसलिये उत्सर्ग (प्रामाण्य) अनिवारित ही रहता है।

विशेष—प्रामाण्य तो स्वतः ही है, लेकिन जब कारण दोष दिखलाई पड़ते हैं तो प्रामाण्य को त्याग कर अप्रामाण्य का ग्रहण परतः होता है। अन्यथा दोषाभाव होने पर पूर्व स्वीकृत प्रामाण्य वैसे ही अनिवारित (अनपोदित) रहता है।

१२ क. ज्ञप्ति-विषयक स्वतःप्रामाण्य की सिद्धि

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव जायते। न च संशयानुदयप्रसङ्गो बाधक इति युक्तं वक्तुम्। सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादि-

समवधानात्तदुपत्तेः। किं च तावकमनुमानं स्वतः प्रमाणं न वा? आद्येऽनैकान्तिकता। द्वितीये तस्यापि परतःप्रामाण्यमेवं तस्य, तस्यापीत्यनवस्था दुरवस्था स्यात्।

अनुवाद—इसी प्रकार प्रमा की ज्ञप्ति (प्रामाण्य) भी ज्ञान के ज्ञापक सामग्री से ही उत्पन्न होती है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि संशय का उत्पन्न न होना बाधक बनेगा। संशय उस जगह होता है, जहाँ ज्ञान के अनेक कारण होते हैं तथा साथ ही साथ प्रतिबन्धक दोष आदि भी विद्यमान रहते हैं और फिर आपका (उदयनाचार्य का) अनुमान स्वतः प्रमाण है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष (अनुमान स्वतः प्रमाण है) मानते हैं, तो व्यभिचार दोष होगा (क्योंकि आप तो परतः प्रामाण्य मानते हैं) दूसरा पक्ष (अनुमान स्वतः प्रमाण नहीं है) मानने पर उस अनुमान का परतः प्रामाण्य मानना होगा, फिर उस परतः प्रामाण्य की सिद्धि के लिये पुनः उसका परतः प्रामाण्य मानना होगा। इस प्रकार अन्तहीन अनवस्था होगी।

१३. प्रामाण्य का उपयोग प्रवृत्ति में नहीं होता—उदयन

यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरप्रवृत्तेः प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वाभावमापादयता प्रण्यगादि—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते। तत्प्राचुर्यं चेच्छाप्राचुर्यम्। इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्। तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम्। सोऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षम्। प्रामाण्यग्रहणं तु न क्वचिदुपयुज्यते' इति।

अनुवाद—जो यहाँ पर न्यायकुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने तुरन्त होने वाली प्रचुर प्रवृत्ति को प्रामाण्य निश्चय के अधीन न रहने की बात का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा रखती है और प्रवृत्ति की प्रचुरता इच्छा की प्रचुरता की अपेक्षा रखती है। इच्छा इष्टसाधनता ज्ञान की अपेक्षा रखती है। यह ज्ञान भी इष्टजातीयत्व लिंग के अनुभव की अपेक्षा रखता है। वह अनुभव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की अपेक्षा करता है। अतः प्रामाण्य ग्रहण कहीं भी उपयुक्त नहीं होता है।

विशेष—इस परिच्छेद में उदयनाचार्य के पूर्वपक्ष का सम्यक् वर्णन किया गया है। उदयनाचार्य प्रामाण्य को परतः मानते हैं। उनका कहना है कि प्रामाण्यनिश्चय होने के पूर्व ही व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति प्रामाण्य निश्चय के अधीन नहीं है। प्रवृत्ति इच्छा के अधीन है, इच्छा इष्टसाधनताज्ञान के अधीन है। वह तल्लिंगक अनुभव के अधीन है तथा अनुभव इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अधीन है।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष—अनुभव—इष्टसाधनता ज्ञान—इच्छा—प्रवृत्ति

इस क्रम में प्रामाण्य निश्चय का स्थान नहीं है।

१३ क. इसका खण्डन

तदपि तस्करस्य पुरस्तात्कुक्षौ सुवर्णमुपेत्य सर्वाङ्गोद्घाटनमिव प्रतिभाति। यतः समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छां जनयतीत्यत्रैव स्फुट

एव प्रामाण्यग्रहणस्योपयोगः। किं च क्वचिदपि चेन्निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः संशयादुपपद्येत, तर्हि सर्वत्र तथाभावसम्भवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थकः स्यात्।

अनुवाद—(अब मीमांसक मत से इसका खण्डन हो रहा है) यह मन उसी तरह है कि जैसे कोई चोर सामने ही कोख में सुवर्ण को छिपकर फिर अपने शरीर के सभी अंगों को खोलकर दिखा दे कि कि मेरे पास सुवर्ण नहीं है। इसलिये इष्टसाधनता का ज्ञान ही प्रमाण के रूप में स्वीकृत होकर इच्छा को उत्पन्न करता है। यहीं पर प्रामाण्य ग्रहण का उपयोग स्पष्ट है और फिर यदि कहीं भी सन्देह से ही नि:सन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है, तो फिर हर जगह वैसा ही सम्भव है। फिर प्रामाण्य का निश्चय निरर्थक होगा।

तथोक्तम्–अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति। यदि सत्त्वं सुलभं भवेत्तदा प्रामाण्यं दत्तजलाञ्जलिकं भवेदित्यलमतिप्रपञ्चेन। यस्मादुक्तम्–

१३. तस्मात्सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ इति।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—

अनिश्चित वस्तु की सत्ता ही दुर्लभ होती है। यदि अनिश्चित वस्तु की सत्ता सुलभ हो, तो प्रामाण्य को जलाञ्जलि देने होगी—इस प्रकार से अधिक विस्तार करने का कोई लाभ नहीं है। क्योंकि कहा गया है—

इसलिये बोधक के रूप में प्राप्त ज्ञान का प्रामाण्य दो कारणों से दूर होता है—विषय का अन्यथात्व तथा अप्रामाण्य के कारण दोष ज्ञान का होना।

विशेष—पूर्वपक्षी ने जो कहा कि प्रामाण्य निश्चय होने के पूर्व ही सन्दिग्ध दशा में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है। इस पर सिद्धान्ती उनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि सन्देह के द्वारा नि:सन्दिग्ध प्रवृत्ति कैसे सम्भव है? अनिश्चित वस्तु की सत्ता को मानना ही कठिन है और यदि अनिश्चित वस्तु की सत्ता मान ली जाये, तो फिर प्रामाण्य की बात ही समाप्त हो जाती है अत: निष्कर्ष यही है कि प्रामाण्य स्वत: तथा अप्रामाण्य परत: है। एक बार प्रामाण्य स्वीकृत होने पर यदि विषय का वैपरीत्य या दोष ज्ञान हो तो स्वीकृत प्रामाण्य को छोड़कर अप्रामाण्य का स्वीकार होता है अन्यथा इन दोनों (विषयवैपरीत्य तथा दोष ज्ञान) के अभाव पूर्व स्वीकृत प्रामाण्य ही स्थिर रहता है।

१४. मीमांसा-दर्शन का उपसंहार

तस्माद्धर्मे स्वत:सिद्धप्रमाणभावे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिविध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मके वेदे 'यजेत' इत्यत्र तप्रत्ययः प्रकृत्यर्थोपरक्तां भावनामभिधत्ते- इति सिद्धे व्युत्पत्तिमभ्युपगच्छतामभिहितान्वयवादिनां भट्टाचार्याणां

सिद्धान्तः। यागविषयो नियोग इति कार्ये व्युत्पत्तिमनुसरतामन्विताभिधानवादिनां प्रभाकरगुरुणां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम्।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे जैमिनिदर्शनम्।।

अनुवाद—इस प्रकार धर्म में प्रामाण्य के स्वतः सिद्ध होने पर 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (ज्योतिष्टोम याग के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करे) इत्यादि विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय वाले वेद में 'यजेत' इस पद में 'त' प्रत्यय प्रकृति 'यज्' (याग) से सम्बन्धित भावना को बतलाता है—यह भाट्ट विद्वानों का सिद्धान्त है, जो भाट्ट विद्वान् सिद्ध पदार्थ में व्युत्पत्ति मानने के कारण अभिहितान्वयवादी है। याग का विषय नियोग है—इस प्रकार कार्य में व्युत्पत्ति मानने वाले अन्विताभिधानवादी प्रभाकर गुरु का सिद्धान्त है। इस प्रकार सब स्पष्ट है।

विशेष—मीमांसकों में दो मत है—

१. अभिहितान्वयवाद—यह मत भाट्ट मीमांसकों का है। भाट्ट मीमांसक सिद्ध पदार्थ में व्युत्पत्ति मानते है। उनका मानना है कि किसी भी वाक्य का अर्थ करते समय पहले प्रत्येक पद का अर्थ अभिहित होता है। उसके बाद उन्हीं पदार्थों के द्वारा लक्षणावृत्ति के माध्यम से वाक्यार्थ का बोध होता है।

२. अन्विताभिधानवाद—यह मत प्रभाकर का है। प्रभाकर कार्य में व्युत्पति मानते है। उनके अनुसार प्रत्येक पद से अभिधा के द्वारा अन्वित अर्थ का ही बोध होता है। इसे ही वाक्यार्थ कहते हैं। इस मत में लक्षणा की आवश्यकता नहीं है।

वेद के ५ भाग हैं—

विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद। निषेध का अन्तर्भाव विधि में ही हो जाता है।

॥ इति जैमिनिदर्शनम् ॥

अध्याय-१३
पाणिनि-दर्शनम्

स्फोटात्मकं प्रणववैकृतिरूपमेत -
त्तत्त्वं समादिशति यच्च जगद्विवर्तम् ।
शब्दार्थबन्धमखिलं किल यद्विधत्ते
वन्दे तदेव पथि पाणिनिशब्दशास्त्रम् ॥-ऋषिः

(१. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन)

नन्वयं प्रकृतिभागोऽयं प्रत्ययभाग इति प्रकृतिप्रत्ययविभागः कथमवगम्यत इति चेत्–पीतपातञ्जलजलानामेतच्चोद्यं चमत्कारं न करोति। व्याकरणशास्त्रस्य प्रकृतिप्रत्ययविभागप्रतिपादनपरतायाः प्रसिद्धत्वात् ।

अनुवाद—जो यह कहा जाता है कि 'यह प्रकृतिभाग है' और 'यह प्रत्ययभाग है' तो यहाँ प्रकृति-प्रत्यय का विभाग कैसे मालूम पड़ता है—यदि कोई ऐसा कहे, तो (उसका उत्तर है कि) आचार्य पतञ्जलि के जल (जलरूपीमत) को पीनें वाले लोगों को यह प्रश्न चमत्कार उत्पन्न नहीं करता है। व्याकरणशास्त्र ने प्रकृति तथा प्रत्यय के विभाग का प्रतिपादन किया है यह बात प्रसिद्ध है।

विशेष—आचार्य पतञ्जलि रचित महाभाष्य समुद्र समान है। उसके जल का जिन लोगों ने सम्यक् रूप से पान किया है, वे ही महान् वैयाकरण हैं। व्याकरण शास्त्र में प्रत्येक पद के प्रकृति तथा प्रत्यय का विभाग बतलाया गया है।

(२. 'अथ शब्दानुशासनम्' का अर्थ)

तथा हि पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्येदमादिमं वाक्यम्–'अथ शब्दानुशासनम्' (पात० म०भा० १।१।१) इति। अस्यार्थः–अथेत्ययम् शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। अधिकारः प्रस्तावः। प्रारम्भ इति यावत्। शब्दानुशासनशब्देन च पाणिनिप्रणीतं व्याकरणशास्त्रं विवक्ष्यते। शब्दानुशासन-मित्येतावत्यभिधीयमाने सन्देहः स्यात्। किं शब्दानुशासनं प्रस्तूयते न वेति। तथा मा प्रसाङ्क्षीदित्यथशब्दं प्रायुङ्क्त।

अनुवाद—जैसा कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का प्रथम वाक्य है—अब शब्दों का अनुशासन प्रारम्भ होता है (पातञ्जलमहाभाष्य १.१.१)। इसका अर्थ है—'अथ' यह शब्द अधिकार के लिये प्रयुक्त होता है। अधिकार का अर्थ है—प्रस्ताव। अर्थात् प्रारम्भ। शब्दानुशासन शब्द से पाणिनिप्रणीत व्याकरण शास्त्र विवक्षित होता है।

'शब्दानुशासन' शब्द कहने मात्र से यह सन्देह होता है कि शब्दानुशासन प्रस्तुत हो रहा है या नहीं। यह सन्देह न हो, इसलिए 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विशेष—'महाभाष्य' का प्रारम्भिक वाक्य है—'अथ शब्दानुशासनम्'। यहाँ 'अथ' शब्द से 'शब्दानुशासन की प्रस्तुति हो रही है या नहीं' इस संदेह का निराकरण होकर यह बात दृढ़ होती है कि शब्दानुशासन की प्रस्तुति हो रही है।

अथ शब्दप्रयोगबलेनार्थान्तरव्युदासेन प्रस्तूयत इत्यस्याभिधीयमानत्वात्। अनेन हि वैदिकाः शब्दाः 'शं नो देवीरभिष्टये' (अथर्व सं. १/१, ऋ.सं. १०/९/४) इत्यादयस्तदुपकारिणो लौकिकाः शब्दाः 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिः' इत्यादयश्चानुशिष्यन्ते, व्युत्पाद्य संस्क्रियन्ते प्रकृतिप्रत्ययविभागवत्तया बोध्यन्त इति शब्दानुशासनम्।

अनुवाद—'अथ' शब्द के प्रयोग के बल से अन्य अर्थों का निराकरण करके 'शब्दानुशासन प्रस्तुत हो रहा है' इसका अभिधान होता है। (अर्थात् प्रस्तुति से भिन्न अर्थों जैसे स्तुति, वर्णन आदि का निराकरण 'अथ' शब्द के द्वारा हो जाता है।) इस कारण 'शं नो देवीरभिष्टये' (दैवी जल हमारा कल्याण करे और हमारी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये हो) इत्यादि वैदिक शब्दों का तथा उनके उपकारी 'गौ', 'पुरुष', 'हस्ती' तथा 'शकुनि' इत्यादि लौकिक शब्दों का भी अनुशासन होता है अर्थात् व्युत्पत्ति करके उन शब्दों का संस्कार होता है और प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके उन शब्दों के अर्थ का बोध कराया जाता है—यही शब्दानुशासन है।

(२. क. 'शब्दानुशासन' पर विचार-विमर्श)

अत्र केचित्पर्यनुयुञ्जते–अनुशासिक्रियायाः सकर्मकत्वात्कर्मभूतस्य शब्दस्य कर्तृभूतस्याचार्यस्य प्राप्तौ सत्याम् 'उभय-प्राप्तौ कर्मणि' (पा.सू. २/३/६६) इत्यनुशासनबलात् कर्मण्येषा षष्ठी विधातव्या। तथा च 'कर्मणि च' (पा.सू. २/२/१४) इति समासप्रतिषेधसम्भवाच्छब्दानुशासनशब्दो न प्रमाणपथमवतरतीति।

अनुवाद—यहाँ कुछ लोग प्रश्न करते हैं—अनुशासन क्रिया सकर्मक है। अतः अनुशासन क्रिया के कर्मभूत शब्द में तथा कर्तृभूत आचार्य में दोनों में षष्ठी की प्राप्ति होने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (कर्ता तथा कर्म दोनों में षष्ठी की प्राप्ति होने पर कर्म में षष्ठी होती है—पा.सू. २.३.६६) सूत्र से कर्म में ही षष्ठी होनी चाहिये। इस प्रकार 'कर्मणि च' (पा.सू. २.२.१४) सूत्र से समास का निषेध होने से 'शब्दानुशासन' शब्द प्रामाणिक नहीं है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहने का आशय यह है कि जब किसी क्रिया के कर्म तथा कर्ता दोनों में षष्ठी की प्राप्ति होती है, तो केवल कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं और ऐसी स्थिति में कर्म का समास भी नहीं होता है।

जैसे प्रकृत में 'आचार्यस्य शब्दस्य अनुशासनम्' इस प्रयोग में केवल कर्म 'शब्द' में षष्ठी हुई कर्ता में नहीं। अत:—'आचार्येण शब्दस्यानुशासनम्' यह प्रयोग होना चाहिये।' शब्दस्य अनुशासनम् में समास का निषेध है।

अत्रायं समाधिरभिधीयते-यस्मिन्कृत्प्रत्यये कर्तृकर्मणोरुभयोः प्राप्तिरस्ति, तत्र कर्मण्येव षष्ठीविभक्तिर्भवति न कर्तरीति बहुव्रीहिविज्ञानबलान्नियम्यते। तद् यथा-आश्चर्यो गवां दोहोऽशिक्षितेन गोपालकेनेति। शब्दानुशासनमित्यत्र तु शब्दानामनुशासनं नार्थानामित्येतावतो विवक्षितस्यार्थस्याचार्यस्य कर्तुरुपादानेन विनापि सुप्रतिपादत्वादाचार्योपादानमकिंचित्करम्।

अनुवाद—इस सम्बन्ध में यह समाधान बतलाया जा रहा है। जिस कृत्प्रत्यय के करने पर कर्ता तथा कर्म दोनों की प्राप्ति होती है, वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है, कर्ता में नहीं—यह बात बहुव्रीहि समास के ज्ञान के बल से निश्चित होती है। जैसे—आश्चर्य है—अशिक्षित गोपाल के द्वारा गायों का दोहन। 'शब्दानुशासन यहाँ पर शब्दों का अनुशासन होता है न कि अर्थों का यही अर्थ विवक्षित है। इसलिये कर्ता 'आचार्य' का उपादान न करने पर भी अर्थ तो स्पष्ट ही है। अत:, आचार्य का ग्रहण करना व्यर्थ है।

विशेष—'उभयप्राप्तौ' में बहुव्रीहि समास का विग्रह करने पर यह अर्थ ज्ञात होता है—

'उभयो: कर्तृकर्मणो: प्राप्ति: यस्मिन् कृत्प्रत्यये स: उभयप्राप्ति: तस्मिन्'।

अर्थात् जिस कृत् प्रत्यय में कर्ता तथा कर्म—दोनों ही हैं, वहाँ केवल कर्म में ही षष्ठी होती है। जैसे—

गवां दोह: गोपालकेन—यहाँ 'गो' कर्म है तथा 'गोपालक' कर्ता। इसलिये केवल कर्म में ही षष्ठी हुई है। इस नियम की दृष्टि से 'शब्दानाम् अनुशासनम्' शब्दानुशासनम्—यहाँ कृत् प्रत्यय के योग में केवल कर्म की ही प्राप्ति होती है, कर्ता की नहीं। अत: जब कर्ता की प्राप्ति ही नहीं तो यहाँ 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' से षष्ठी हुई ही नहीं और न ही षष्ठी समास का निषेध 'कर्मणि च' सूत्र से सम्भव है। अत: यहाँ 'कर्तृकर्मणो: कृति' सूत्र से षष्ठी हुई है।

तस्मादुभयप्राप्तेरभावादुभयप्राप्तौ कर्मणीत्येषा षष्ठी न भवति। किन्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा.सू. २/३/६५) इति कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठीविभक्तिर्भवतीति कृद्योगलक्षणा षष्ठी भविष्यति। तथा च इध्मप्रव्रश्चन-पलाशशातनादिवत्समासो भविष्यति।

अनुवाद—इसलिये उभय प्राप्ति के न होने से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्र से यह षष्ठी नहीं होती है, किन्तु कर्तृकर्मणो: कृति (कृत् प्रत्यय के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी हो—पा.सू. २.३.६५) इस सूत्र से कृत् प्रत्यय के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी

विभक्ति होती है, इस प्रकार कृद्योगक षष्ठी होगी। ऐसा होने पर इध्मप्रव्रश्चन, पलाशशातन आदि की तरह समास हो जायेगा।

विशेष—जैसे इध्मस्य प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः या फिर पलाशस्य शातनम् पलाशशातनम्—यह षष्ठी समास होता है, उसी तरह शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासनम्—यह षष्ठी समास हो जाता है।

कर्तर्य्यपि षष्ठी भवतीति केचित् ब्रुवते। अत एवोक्तं काशिकावृत्तौ (२/३/६६, पृ. १२२) केचिदविशेषेणैव विभाषामिच्छन्ति, शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वेति।

अथवा शेषलक्षणेयं षष्ठी। तत्र किमपि चोद्यं नावरतरत्येव। यद्येवं तर्हि शेषलक्षणायाः षष्ठ्याः सर्वत्र सुवचत्वात् षष्ठीसमासप्रतिषेधसूत्राणामानर्थक्यं प्राप्नुयाविति चेत्–सत्यम्। तेषां स्वरचिन्तायामुपयोगो वाक्यपदीये हरिणा प्रादर्शि।

अनुवाद—कुछ लोग कहते हैं कि कर्ता में भी षष्ठी होती है। इसीलिये काशिकावृत्ति (२.३.६६ पृ. १२२) में कहा गया है—कुछ लोग यहाँ सामान्य रूप से विकल्प मानते हैं। शब्दों का अनुशासन, आचार्य के द्वारा (आचार्येण) या आचार्य का (आचार्यस्य)।

या फिर यह षष्ठी शेष षष्ठी है। ऐसा मानने पर कुछ भी प्रश्न नहीं उठता है। यदि ऐसा है तो फिर शेषा षष्ठी सर्वत्र सम्भव है तो फिर षष्ठी समास को निषेधक सूत्रों का आनर्थक्य होगा। (इसका उत्तर है) सच है। उन सूत्रों का उपयोग स्वर विचार में वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने दिखलाया है।

विशेष—कुछ लोग कर्ता 'आचार्य' में षष्ठी मान लेते हैं। काशिकाकार ने 'आचार्य में विकल्प से षष्ठी या तृतीया मानी है।

'शेषे' सूत्र से स्वस्वामीभाव आदि सम्बन्धों की विवक्षा करने पर षष्ठी होती है। यदि यहाँ पर 'शेषे' सूत्र से षष्ठी मानी जाये, तो यह सारा विवाद ही समाप्त हो जायेगा। ऐसी स्थिति में समास निषेधक सूत्रों की गति स्वर प्रक्रिया में लगानी पड़ती है।

तदाह महोपाध्यायवर्धमानः–

१. लौकिकव्यवहारेषु यथेष्टं चेष्टताम् जनः।
वैदिकेषु तु मार्गेषु विशेषोक्तिः प्रवर्तताम्॥

२. इति पाणिनिसूत्राणामर्थवत्त्वमसौ यतः।
जनिकर्तुरिति ब्रूते तत्प्रयोजक इत्यपि॥ इति।

तथा च शब्दानुशासनापरनामधेयम् व्याकरणशास्त्रमारब्धं वेदितव्यमिति वाक्यार्थः सम्पद्यते।

अनुवाद—यही बात महान् उपाध्याय वर्धमान ने कही है—लौकिक व्यवहार में सभी लोगों को यथेष्ट आचरण ही करना चाहिये। लेकिन वैदिक मार्गों में विशेष वचन होना चाहिये।

यही पाणिनीय सूत्रों की अर्थवत्ता है। क्योंकि पाणिनि 'जनिकर्तुः' तथा 'तत्प्रयोजक' का प्रयोग किया है।

इस प्रकार 'शब्दानुशासन' जिसका दूसरा नाम है, उस व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ हुआ है—यह समझना चाहिये, यही वाक्यार्थ निश्चित होता है।

विशेष—पाणिनि के सूत्रों का प्रयोजन लोक व्यवहार के साथ ही साथ वैदिक स्वरों का निर्धारण भी है। यही पाणिनीय सूत्रों की सार्थकता है।

(३. शब्दानुशासन से प्रयोजन की सिद्धि)

तस्यार्थस्य झटिति प्रतिपत्तये 'अथ व्याकरणम्' इत्येवाभिधीयताम्। अथ शब्दानुशासनमित्यधिकाक्षरं मुधाभिधीयत इति। मैवम्। शब्दानुशासन-मित्यन्वर्थसमाख्योपादाने तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानसिद्धेः। अन्यथा प्रयोजनानभिधाने व्याकरणाध्ययनेऽध्येतॄणां प्रवृत्तिरेव न प्रसजेत्।

अनुवाद—इस 'व्याकरण' अर्थ की शीघ्र प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिये 'अथ व्याकरणम्' यही कहना चाहिये। 'अथ शब्दानुशासनम्' यह अधिक अक्षर व्यर्थ में ही कहा जा रहा है। (सिद्धान्ती कहता है) ऐसा नहीं है। 'शब्दानुशासन' इस सार्थक समाख्या (यौगिक शब्द) के कहने पर यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि व्याकरण का एक प्रयोजन यह भी है—व्याकरण की वेदाङ्गता का प्रतिपादन। अन्यथा प्रयोजन में न कहने पर व्याकरण के अध्ययन में अध्येताओं की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

विशेष—वेद के छः अंगों में एक 'व्याकरण' है तथा वेद के स्वरों की रक्षा करने के माध्यम से वेद की रक्षा करना भी व्याकरण का एक प्रयोजन है। यही बात प्रदर्शित करने के लिये 'अथ व्याकरणम्' के स्थान पर 'अथ शब्दानुशासनम्' कहा गया है। 'शब्दानुशासन' शब्द का योगच्छेद करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

ननु 'निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यः' इत्यध्येतव्यविधानादेव प्रवृत्तिः सेत्स्यति इति चेत्–मैवम्। तथा विधानेऽपि तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादक-प्रयोजनानभिधाने तेषां प्रवृत्तेरनुपपत्तेः। तथा हि–पुरा किल वेदमधीत्याध्येतारस्त्वरितं वक्तारो भवन्ति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि 'बिना किसी कारण के धर्म तथा षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिये' इस अध्ययन के विधान से ही व्याकरण में प्रवृत्ति होगी, तो यह भी ठीक नहीं है। इस प्रकार का विधान होने पर भी जब तक व्याकरण का वेदाङ्गत्व प्रतिपादक प्रयोजन नहीं कहा जाता है, तब तक व्याकरण में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे कि कहा गया है—प्राचीन काल में वेद को पढ़कर पढ़ने वाले लोग तुरन्त ही वक्ता (उपदेशक) हो जाते थे।

वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।

तस्मादनर्थकं व्याकरणमिति। तस्माद्वेदाङ्गत्वं मन्यमानास्तदध्ययने प्रवृत्तिमकार्षुः। ततश्च इदानींतनानामपि तत्र प्रवृत्तिर्न सिध्येत्। सा मा प्रसाङ्क्षीदिति तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकं प्रयोजनमन्वाख्येयमेव।

अनुवाद—वेद से हमारे वैदिक शब्द सिद्ध हो गये तथा लोक से लौकिक शब्द सिद्ध हो गये। अत: व्याकरण निरर्थक है। इसलिये वेदांगत्व मानकर उस (व्याकरण) के अध्ययन में प्रवृत्ति होती थी। तो फिर आजकल के लोगों की भी उस व्याकरण में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। ऐसा न हो इसलिये व्याकरण के वेदांगत्व प्रतिपादक प्रयोजन का व्याख्यान करना चाहिये।

विशेष—व्याकरण शास्त्र वेद का अंग है, यह जानने पर ही व्याकरण के अध्ययन में प्रवृत्ति होती है।

यद्यन्वाख्यातेऽपि प्रयोजने न प्रवर्तेरंस्तर्हि लौकिशब्दसंस्कारज्ञानरहितास्ते याज्ञे कर्मणि प्रत्यवायभाजो भवेयुः। धर्माद्धीयेरन्। अत एव याज्ञिकाः पठन्ति–आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् (पात.म.भा. पस्पशा.) इति।

अनुवाद—यदि व्याकरण का प्रयोजन बतला देने पर भी लोगों की व्याकरण में प्रवृत्ति नहीं होती है, तो लौकिक शब्दों के संस्कार ज्ञान से रहित वे लोग याज्ञिक कर्मों में प्रत्यवाय के भावी बनते हैं, तथा धर्म से च्युत होते हैं। इसीलिये याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—आहिताग्नि व्यक्ति अपशब्द का प्रयोग करके प्रायश्चित्त के लिये सारस्वती दृष्टि करते हैं। (पातञ्जलमहाभाष्य पस्पशाह्निक)

अतस्तदीयवेदाङ्गत्वप्रतिपादकप्रयोजनान्वाख्यानार्थमथ शब्दानुशासनमित्येव कथ्यते, नाथ व्याकरणमिति। भवति च शब्दसंस्कारो व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनम्। तस्माच्छब्दानुशिष्टिः संस्कारपदवेदनीया शब्दानुशासनस्य प्रयोजनम्।

अनुवाद—इसलिये उस व्याकरण के वेदाङ्गत्व प्रतिपादन का प्रयोजन बतलाने के लिये ही 'अथ शब्दानुशासनम्' यह कहा गया है, न कि 'अथ व्याकरणम्'। शब्दसंस्कार भी व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन है। अत: शब्दानुशासन, जो कि संस्कार पद से जाना जाता है, वही शब्दानुशासन का प्रयोजन है।

(४. व्याकरणशास्त्र की विधि–प्रतिपदपाठ नही)

नन्वेवमप्यभिमतं प्रयोजनं न लभ्यते। तदुपायाभावात्। अथ प्रतिपदपाठ एवाभ्युपाय इति मन्येथास्तर्हि स ह्यनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठो भवेत्। शब्दापशब्दभेदेनानन्त्याच्छब्दानाम्। एवं हि समाम्नायते–बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदपाठविहितानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम।

बृहस्पतिश्च प्रवक्ता। इन्द्रोऽध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। न च पारावाप्तिरभूत्। किमुताद्य यश्चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। अधीतिबोधाचरण-प्रचारणश्चतुर्भिर्ह्युपायैर्विद्योपयुक्ता भवति। तत्राध्ययनकालेनैव सर्वमायुरुपयुक्तं स्यात्।

अनुवाद—किन्तु ऐसा होने पर भी अभीष्ट प्रयोजन प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उस प्रयोजन की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। यदि पूर्ववक्षी यह माने कि प्रत्येक पद का पाठ करना ही शुद्ध शब्द के ज्ञान का उपाय है, तो प्रत्येक पद का पाठ भी शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं हैं। क्योंकि शुद्ध शब्द तथा अपशब्द (अशुद्ध शब्द) के भेद से शब्द तो अनन्त हैं। यह कहा जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र को देव गणना से हजार वर्ष तक प्रत्येक पद पाठ से बतलाये गये शब्दों या शब्द परायण बतलाया, किन्तु उसका अन्त नहीं कर पाये। बृहस्पति वक्ता थे और इन्द्र शिष्य। देव गणना से हजार वर्ष का अध्ययन काल था। फिर भी पार (अन्त) नहीं मिल पाया। तो फिर आज की बात ही क्या ? जो लम्बे समय तक जीवित रहता है, वह भी सौ वर्ष तक जीवित रहता है। अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार—इन चार उपायों से विद्या उपयोगी बनती है। (प्रतिपद पाठ करने पर तो) अध्ययन काल में ही सारी आयु का उपयोग हो जायेगा।

तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठेति प्रयोजनं सिध्येदिति चेत्–मैवम्। शब्दप्रतिपत्तेः प्रतिपदपाठसाध्यत्वानङ्गीकारात्। प्रकृत्यादिविभाग-कल्पनावत्सु लक्ष्येषु सामान्यविशेषरूपाणां लक्षणानां पर्जन्यवत्सकृदेव प्रवृत्तौ बहूनां शब्दानामनुशासनोपलम्भाच्च।

अनुवाद—इसलिये प्रत्येक पद का पाठ करना भी शब्दों के ज्ञान का उपाय नहीं है, इसलिये व्याकरण शास्त्र का प्रयोजन नहीं मिलता। तो यह कहना भी ठीक नहीं है। शब्द के ज्ञान में 'प्रत्येक पद का पाठ करना' साध्य नहीं माना गया है। प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि विभाग की कल्पना जिन लक्ष्यों (शब्दों) में भी गयी है, उन लक्ष्यों में सामान्य तथा विशेषरूपी लक्षण मेघ की तरह एक बार ही प्रवृत्त होते हैं और उससे ही अनेक शब्दों का अनुशासन हो जाता है।

विशेष—सिद्धान्त के पक्ष से समाधान यह है कि भले ही प्रत्येक पद का पाठ करने से शब्दों का ज्ञान नहीं हो पाता, लेकिन पाणिनि के सूत्र इस प्रकार से रचित हैं, जो सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार के हैं तथा सभी शब्दों में पाणिनीय सूत्रों की प्रवृत्ति एक साथ होती है, जिस प्रकार आकाश से बरसने वाले जल की प्रवृत्ति एक साथ सभी जगहों पर होती है। अतः एक सूत्र से अनेक शब्दों का अनुशासन हो जाता है।

तथा हि। 'कर्मण्यण्' (पा.सू. ३/२/१) इत्येकेन सामान्यरूपेण लक्षणेन कर्मोपपदाद्धातुमात्रादण्प्रत्यये कृते, 'कुम्भकारः' 'काण्डलावः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते। एवम्, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा.सू. ३/२/१८)

इत्येकेन विशेषलक्षणेनाकारान्ताद्धातोः कप्रत्यये कृते, 'धान्यदः' 'धनदः' इत्यादीनां बहूनां शब्दानामनुशासनमुपलभ्यते। बृहस्पतिरिन्द्रायेति प्रतिपदपाठस्याशक्यत्व-प्रतिपादनपरोऽर्थवादः।

अनुवाद—जैसे कि—'कर्मण्यण्' (कर्म के उपपद रहते हुए अण् प्रत्यय हो पा.सू. ३.२.१) इस एक सामान्य सूत्र से कर्म के उपपद रहते हुए सभी धातुओं से 'अण्' प्रत्यय होता है और 'कुम्भकार:', 'काण्डलाव:' इत्यादि बहुत से शब्दों का अनुशासन हो जाता है। इसी प्रकार 'आतोऽनुपसर्गे क:' (आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो, कर्म के उपपद रहते हुए तथा उपसर्ग के न होने पर—पा.सू. ३.२.१८) इस एक विशेष सूत्र से आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय करने पर 'धान्यद' 'धनद' इत्यादि बहुत से शब्दों का अनुशासन हो जाता है। 'बृहस्पति: इन्द्राय' इत्यादि वचन अर्थवाद है, जो प्रतिपद पाठ को असम्भव बतलाता है।

(५. व्याकरण के अन्य प्रयोजन)

नन्वन्येष्वप्यङ्गेषु सत्सु किमित्येतदेवाद्रियते? उच्यते–प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति। तदुक्तम्–

३. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहुर्व्याकरणं बुधाः।।

(वा.प. १/११) इति

तस्माद् व्याकरणशास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात्प्रयोजनम्। पारम्पर्येण तु वेदरक्षादीनि। अत एवोक्तं भगवता भाष्यकारेण–रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् (पा.म.भा. पस्पशा) इति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाए कि अन्य अंगों के होने पर भी इस व्याकरण का ही इतना आदर क्यों किया जाता है, तो कहते हैं (सिद्धान्ती वैयाकरण उत्तर देते हैं)—यहाँ वेदांगों में व्याकरण प्रधान हैं और प्रधान अंग में किया गया प्रयास सफल होता है। जैसा कि कहा गया है—

व्याकरणशास्त्र उस परब्रह्म के निकट है तथा तपस्या में उत्तम तप है। विद्वानों ने वेदों का पहला अंग व्याकरण कहा है।

इसलिये व्याकरण शास्त्र का साक्षात् प्रयोजन शब्दानुशासन होता है, तथा परम्परा से वेदरक्षा आदि। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है—

रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये ५ व्याकरण के प्रयोजन हैं। (पा.म. भा. पस्पशाह्निक)

विशेष—पातञ्जल महाभाष्य में व्याकरण के ५ प्रमुख प्रयोजन बतलाये गये हैं—

१. रक्षा—वैदिक स्वर तथा वैदिक पदों की रक्षा व्याकरण के द्वारा ही होती है।

२. ऊह—वैदिक मन्त्रों में अनेक स्थलों पर व्याकरण की सहायता लेकर ऊह करना पड़ता है। ऊह का लक्षण है—

'मन्त्रसामसंस्काराणां द्वारान्तरसम्बन्धनिमित्तोऽन्यथाभाव ऊहः'

जैसे—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र के अनुसार सूर्यदेवता को आहुति देने के लिये 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' यह ऊह करना पड़ता है।

३. आगम—'ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगम वचन के अनुसार ब्राह्मण को षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिये तथा वेद के षड् अंगों में एक प्रमुख अंग व्याकरण भी है।

४. लघु—व्याकरण के द्वारा बड़े शब्दों को भी छोटे (लघु) में कह दिया जाता है। जैसे 'पितरौ' कहने से 'माता न पिता च' का बोध होता है।

५. असन्देह—सन्देह का निवारण भी व्याकरण का एक प्रयोजन है। जैसे 'स्थूलपृषती' पद में बहुव्रीहि समास होगा या कर्मधारय—यह सन्देह व्याकरण के द्वारा ही दूर होता है।

(५. क. व्याकरण से अभ्युदय की प्राप्ति)

साधुशब्दप्रयोगवशादभ्युदयोऽपि भवति। तथा च कथितं कात्यायनेन- शास्त्रपूर्वकि प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। अन्यैरप्युक्तम्-एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवतीति। तथा-

४. नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः।
अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कामितभाषिणः॥

अनुवाद—साधु शब्द का प्रयोग करने से अभ्युदय होता है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—शास्त्रपूर्वक प्रयोग करने से अभ्युदय होता है, जैसा कि वेद के द्वारा (अभ्युदय होता है)। अन्य लोगों ने भी कहा है—एक भी शब्द अच्छी प्रकार से ज्ञात होने पर तथा अच्छी प्रकार से प्रयोग करने पर स्वर्ग लोक में समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है। जैसे कि—

वाणी रूपी रथ को अच्छी प्रकार से बद्ध तथा सुसज्जित रखने से लोग इष्टसुख देने वाले स्वर्ग लोक में जाते हैं तथा जो लोग 'चिक्क' इत्यादि अपशब्दों का प्रयोग करते हैं, वे पैदल ही परलोक जाते हैं)।

नन्वचेतनस्य शब्दस्य कथमीदृशं सामर्थ्यमुपपद्यत इति चेत्-मैवं मन्येथाः। महता देवेन साम्यश्रवणात्। तदाह श्रुतिः-

५. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

(ऋ०सं. ४/५८/३) इति

अनुवाद—यदि यह प्रश्न किया जाये कि अचेतन शब्द में ऐसा सामर्थ्य कैसे प्राप्त हो जाता है, तो ऐसा मत समझिये, क्योंकि महान् देव (ईश्वर) से इस शब्द की समानता वेदों में सुनी गयी है। जैसा कि श्रुति ने कहा है—

इस शब्द रूपी वृष के चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर तथा सात हाथ हैं। यह तीन जगह से बंधा हुआ वृष रूपी शब्द ध्वनि करता है तथा यह महान् देव मनुष्यों में प्रवेश करता है। (ऋ.सं. ४.५८.३)

विशेष—'चत्वारि शृंग....' मन्त्र एक रूपक है तथा इस मन्त्र का प्रयोग अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थ में किया गया है। यह मन्त्र अग्निदेव के स्वरूप का भी वर्णन करता है। प्रस्तुत प्रसंग में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस मन्त्र को शब्द के स्वरूप का प्रतिपादक बतलाया है। आगे के परिच्छेद में यही बात बतलायी गयी है—

व्याचकार च भाष्यकारः-चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि, नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। त्रयो अस्य पादा लडादिविषयास्त्रयो भूतभविष्यद्वर्तमानकालाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदात्। सप्त हस्तासो अस्य, तिङा सह सप्त सुब्विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु उरसि कण्ठे शिरसि च बद्धः। वृषभ इति प्रसिद्धवृषभत्वेन रूपणं क्रियते। वर्षणात्। वर्षणं च ज्ञानपूर्वकानुष्ठानेन फलप्रदत्वम्। रोरवीति शब्दं करोति। रौतिः शब्दकर्मा।

इह शब्दशब्देन प्रपञ्चो विवक्षितः। महो देवो मर्त्यां आविवेश। महान् देवः शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेशेति। महता देवेन परेण ब्रह्मणा साम्यमुक्तं स्यात् (महाभाष्यम्, पृ० ३) इति।

अनुवाद—महाभाष्यकार ने व्याख्या की है—नाम, अख्यात, उपसर्ग तथा निपात—ये चार प्रकार के पद ही चार सींग हैं। लट् आदि लकारों के तीन विषय भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल इसके तीन पैर हैं। शब्द के दो रूप नित्य तथा कार्य (अनित्य) इसके दो सिर हैं। नित्यरूप शब्द व्यङ्ग्य है तथा अनित्य रूप शब्द (वैखरी) व्यञ्जक है। तिङ् सहित सात सुप् आदि विभक्तियाँ इसके सात हाथ हैं। यह तीन स्थानों पर बंधा हुआ है—हृदय में, कण्ठ में तथा सिर में। 'वृषभ' इस शब्द से संसार में प्रसिद्ध वृषभ के साथ इसका रूपक किया जाता है, क्योंकि यह वर्षण करता है। वर्षण का तात्पर्य है—ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान करने पर फल प्रदान करना। 'रोरवीति' का अर्थ है—शब्द करता है। 'रौति' धातु शब्दार्थक है।

'इह' शब्द से यह संसार विवक्षित है। महान् देव मनुष्यों में प्रवेश करता है। अर्थात् महान् देव जो शब्द वह मर्त्य अर्थात् मरणधर्म वाले मनुष्यों में प्रवेश करता है। महान् देव से परम ब्रह्म की समानता बतलायी गयी है। (महाभाष्य पृ. ३)

(६. शब्द ही ब्रह्म है)

जगन्निदानं स्फोटख्यो निरवयवो नित्यः शब्दो ब्रह्मैवेति हरिणाभाणि ब्रह्मकाण्डे–

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

(वाक्यप० १/१) इति।

अनुवाद—वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में भर्तृहरि ने कहा है कि जगत् का कारण स्फोट नामक निरवयव नित्य शब्द ब्रह्म ही है।

आदि तथा अन्त से रहित अक्षर शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है तथा वही विभिन्न पदार्थों के रूप में परिवर्तित होता है, जिससे संसार की प्रक्रिया चलती है। (वाक्यपदीय १.१.)

(६. क पद-भेद की संख्या)

ननु नामाख्यातभेदेन पदद्वैविध्यप्रतीतेः कथं चातुर्विध्यमुक्तमिति चेत्– मैवम्। प्रकारान्तरस्य प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तं प्रकीर्णके–

७. द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥ इति॥

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि नाम तथा आख्यात के भेद से पद के दो भेद हैं—यह प्रतीति होती है, तो फिर पद के चार भेद कैसे बतलाये गये, तो यह कहना ठीक नहीं है। शब्द के दो भेद तथा चार भेद—ये दोनों प्रकार प्रसिद्ध हैं। जैसा कि प्रकीर्णक में कहा गया है—

प्रकृति तथा प्रत्यय की तरह ही वाक्य से पद को अलग करके कुछ लोगों ने पद के दो भेद माने हैं, तो कुछ ने चार या पाँच भेद भी माने हैं।

विशेष—भर्तृहरि के द्वारा रचित 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में तीन काण्ड है—१. ब्रह्मकाण्ड, २. वाक्यकाण्ड, ३. प्रकीर्णकाण्ड। इनमें से प्रकीर्ण काण्ड से उपर्युक्त कारिका उद्धृत है। यास्क तथा अन्य आचार्यों ने पद के चार भेद किये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात। कुछ लोगों ने इसमें कर्म प्रवचनीय को जोड़कर पाँच पद माना है। कुछ विद्वानों ने नाम (सुबन्त) तथा आख्यात (तिङन्त) ये दो पद ही माने हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पदों के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

कर्मप्रवचनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वमिति हेलाराजो व्याख्यातवान्। कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतव इति सम्बन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषद्योतनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीत्यभिसन्धाय पदचातुर्विध्यं भाष्यकारेणोक्तं युक्तमिति विवेक्तव्यम्।

अनुवाद—हेलाराज ने यह व्याख्या की है, कि पाँचवे कर्मप्रवचनीय को लेकर पद के पाँच प्रकार होते हैं। किसी विशेष क्रिया से उत्पन्न सम्बन्ध के अवच्छेदक हेतुओं को कर्मप्रवचनीय कहा जाता है—इस विशेष सम्बन्ध के प्रकाशन के माध्यम से विशेष क्रिया को प्रकाशित करने के कारण कर्मप्रवचनीय का अन्तर्भाव उपसर्गों में होता है—यह बतलाकर भाष्यकार ने पद के चार प्रकार बतलाये हैं—यह बात युक्तियुक्त है ऐसी विवेचना करनी चाहिये।

(७. स्फोट–नैयायिकों की शंका और उसका समाधान)

ननु भवता स्फोटात्मा नित्यः शब्द इति निजागद्यते। तत्र मृष्यामहे। तत्र प्रमाणाभावादिति केचित्। अत्रोच्यते। प्रत्यक्षमेवात्र प्रमाणम्। गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपदावगतेः सर्वजनीनत्वात्। न ह्यसति बाधके पदानुभवः शक्यो मिथ्येति वक्तुम्। पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि स्फोटरूप शब्द नित्य है, तो हम लोग ऐसा नहीं मानते। कुछ लोग कहते हैं कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। 'गौ' यह एक पद है यहाँ अनेक वर्णों के अतिरिक्त एक पद का ज्ञान सार्वजनिक है। बिना बाधक के पद का अनुभव मिथ्या होना सम्भव है, यह नहीं कहा जा सकता है। पदार्थ प्रतीति के अन्यथानुपपत्ति से स्फोट को समझना चाहिये।

विशेष—वैयाकरणों के मतानुसार शब्द नित्य है तथा इस नित्य शब्द को ही स्फोट कहा जाता है। नित्य शब्द को अभिव्यंजित करने वाली जो ध्वनि है, वह अनित्य अवश्य है। नित्य शब्द को ही परावाणी भी कहा जाता है।

न च वर्णेभ्य एव तत्प्रत्ययः प्रादुर्भवतीति परीक्षाक्षमम् विकल्पासहत्वात्। किं वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थप्रत्ययं जनयन्ति? नाद्यः। वर्णानां क्षणिकानां समूहासम्भवात्। नान्त्यः। व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासम्भवात्। न च व्याससमासाभ्यामन्यः प्रकारः समस्तीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थप्रतिपत्तिः स स्फोटः। वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदन्ति।

अनुवाद—वर्णों से ही उस अर्थ का ज्ञान होता है—यह कहना भी परीक्षा के योग्य नहीं है। क्योंकि यह दो विकल्पों को सहन नहीं कर पाता। क्या वर्ण मिलकर अर्थ का ज्ञान कराते हैं या भिन्न-भिन्न होकर अर्थ का ज्ञान कराते हैं। पहला विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि क्षणिक वर्णों का समूह होना सम्भव नहीं है। अन्तिम विकल्प भी ठीक नहीं है। भिन्न-भिन्न वर्णों से भी अर्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं है। व्यास तथा समास—इन दोनों से भिन्न अन्य कोई प्रकार भी नहीं है। इसलिये वर्णों के वाचकत्व की अनुपपत्ति होने से जिसके कारण अर्थ का ज्ञान होता है, वही स्फोट है। वर्णों से भिन्न वर्णों से अभिव्यक्त

होने वाला तथा अर्थ की प्रतीति कराने वाला नित्य शब्द ही स्फोट है—ऐसा शब्द के जानकार लोग कहते हैं।

अत एव स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोटो वर्णाभिव्यङ्ग्यः, स्फुटति स्फुटीभवत्यस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यायक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहुः। तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलिना महाभाष्ये–'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः' (महाभा० पृ० १) इति।

अनुवाद—इसलिये वर्णों के द्वारा जो स्फुटित हो या व्यंजित हो, वह स्फोट है, यह वर्णों से अभिव्यक्त होता है। स्फुटति का अर्थ है स्फुटी भवति, जिससे अर्थ स्पष्ट होता है, वह स्फोट अर्थ का ज्ञापक है। इस प्रकार स्फोट शब्द का दोनों अर्थ बतलाया गया है। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—'गौः' यह कहने पर कौन सा शब्द है ? जिसके उच्चारण करने पर सास्ना, पूंछ, ककुद, खुर, विषाण आदि का ज्ञान होता है, वह शब्द है। (महाभा. पृ. १)

विवृतं च कैयटेन–'वैयाकरणाः वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गादित्यादिना तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितव्यः' इत्यन्तेन प्रबन्धेन।

अनुवाद—कैयट ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है—

वैयाकरण लोग वर्ण से भिन्न पद की वाचकता मानते हैं। वर्णों को वाचक मानने पर द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ हो जायेगा। उन वर्णों से अतिरिक्त नाद के अभिव्यंग्य, वाचक स्फोट का वर्णन वाक्यपदीय में विस्तार से किया गया है।

(७ क. स्फोट पर अन्य शंका–मीमांसक)

ननु स्फोटस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वं न घटते। विकल्पासहत्वात्। किमभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययत्यनभिव्यक्तो वा? न चरमः। सर्वदार्थप्रत्ययलक्षणकार्योत्पादप्रसङ्गात्। स्फोटस्य नित्यत्वाभ्युपगमेन निरपेक्षस्य हेतोः सदा सत्त्वेन कार्यस्य विलम्बायोगात्।

अनुवाद—यदि (मीमांसक) यह कहें कि स्फोट के द्वारा अर्थ ज्ञान कराना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह दो विकल्प नहीं सह पाता है। क्या अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का ज्ञान कराता है या फिर अनभिव्यक्त स्फोट? दूसरा विकल्प (अनभिव्यक्त स्फोट अर्थज्ञान कराता है) संभव नहीं है। (यदि दूसरा विकल्प मानें) तो हमेशा अर्थज्ञान रूप कार्य का उत्पादन होने लगेगा। स्फोट को नित्य मानने के कारण निरपेक्ष हेतु (स्फोट) के सदैव स्थित रहने से कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होगा।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थं प्रत्याययतीति कक्षीक्रियते, तथाऽप्यभिव्यञ्जयन्तो वर्णाः किं प्रत्येकमभिव्यञ्जयति सम्भूय वा? पक्षद्वयेऽपि वर्णानां वाचकत्वपक्षे भवता ये दोषा भाषितास्त एव स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्षे व्यावर्तनीयाः। तदुक्तं भट्टाचार्यैर्मीमांसाश्लोकवार्तिके-

८. यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयागेन नैकेनापि विमुच्यते ॥ इति।

अनुवाद—यदि इस दोष के दूर करने की इच्छा से यह माना जाये कि अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का ज्ञान कराता है, फिर भी क्या जब वर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, तो क्या प्रत्येक वर्ण अर्थ के अभिव्यक्त करता है तथा सभी वर्ण मिलकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यदि दोनों ही पक्ष माने जायें, तो आप लोगों (वैयाकरणों) ने वर्णों को वाचक मानने पर जो-जो दोष दिखलाये थे, स्फोट को अभिव्यंजक माने पर वही सारे दोष दिखलाई देंगे। यही बात मीमांसा श्लोक वार्तिक में भाट्टाचार्यों ने कही है—

जिनका (वैयाकरणों का) यह मत है कि स्फोट वर्णों से अभिव्यक्त होता है तथा अवयवों से रहित है, वे वैयाकरण एक प्रश्न से भी मुक्त नहीं हो सकते हैं अर्थात् एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे सकते हैं।

विशेष—वैयाकरण स्फोट को वर्ण से भिन्न मानते हैं, जबकि मीमांसक स्फोट को वर्णरूप मानते हैं। मीमांसकों के अनुसार वर्ण रूप शब्द ही नित्य है और वही स्फोट है।

विभक्त्यन्तेष्वेव वर्णेषु 'सुप्तिङन्तं पदम् (पा.सू. १/४/१४) इति पाणिनिना, 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (न्या.सू. २/२/६०) इति गौतमेन च पदसंज्ञाया विहितत्वात्संकेतग्रहणानुग्रहवशाद्वर्णेष्वेव पदबुद्धिर्भविष्यति। तर्हि सर इत्येतस्मिन्पदे यावन्तो वर्णास्तावन्त एव रस इत्यत्रापि। एवं 'वनं नवं' 'नदी दीना' 'रामो मारो' 'राजा जारे'त्यादिष्वर्थभेदप्रतीतिर्न स्यादिति चेत्–न। क्रमभेदेन भेदसम्भवात्।

अनुवाद—विभक्त्यन्त वर्णों में ही पाणिनि ने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (सुबन्त तथा तिङन्त को पद कहते हैं—पा.सू. १.४.१४) तथा गौतम ने 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (विभक्त्यन्त वर्णों को पद कहा जाता है—मा.सू. २.२.६) इस प्रकार से पद का विधान किया है, इसलिये संकेत ग्रह करके अनुग्रह (सहायक सम्बन्ध) के कारण वर्णों में ही पदबुद्धि होगी। तो फिर 'सर' (सरोवर) यहाँ जितने वर्ण हैं उतने ही 'रस' यहाँ भी है। इसी तरह वनम्, नवम्, नदी, दीन, रामो, मारो, राजा, जारा इत्यादि शब्दों में अर्थ-भेद की प्रतीति नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि क्रम-भेद से अर्थभेद सम्भव है।

विशेष—

सरः = सरोवर	रसः = रस
वनम् = जंगल	नवम् = नवीन
नदी = नदी	दीन = दुःखी
रामो = राम	मारो = कामदेव
राजा = राजा	जार = उपपति

यहाँ वर्ण भेद नहीं है, फिर भी क्रमभेद के कारण अर्थभेद है।

तदुक्तं तौताततैः-

९. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपत्तये।
वर्णाः प्रज्ञातसमार्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥ इति।

तस्माद्यश्चोभयोः समो दोषो न तेनैकश्चोद्यो भवतीति न्यायाद्वर्णानामेव वाचकत्वोपपत्तौ नातिरिक्तस्फोटकल्पनावकल्पत इति चेत्।

अनुवाद—यही बात तौतातितों (मीमांसकों) ने कही है—जिस प्रकार के जितने वर्णों का सामर्थ्य जिस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ज्ञात होता है, वे उसी प्रकार अर्थ का ज्ञान कराते हैं।

इसलिये जब दोनों मत में (वैयाकरण तथा मीमांसक मत में) समान दोष है, तो किसी एक का खण्डन करना ठीक नहीं है—इस न्याय से वर्ण को ही वाचक मानने पर वर्ण से भिन्न स्फोट की कल्पना ठीक नहीं है।

(८. मीमांसकों की शंका का उत्तर-स्फोटसिद्धि)

तदेतत्काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पानुपपत्तेः। किं वर्णमात्रं पदप्रत्ययावलम्बनं वर्णसमूहो वा? नाद्यः। परस्परविलक्षणवर्णमालायामभिन्नं निमित्तं पुष्पेषु विना सूत्रं मालाप्रत्ययवदित्येकं पदमिति प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः। नापि द्वितीयः। उच्चरितप्रध्वस्तानां वर्णानां समूहभावासम्भवात्।

अनुवाद—(वैयाकरणों का उत्तर यह है कि मीमांसकों का) यह मत काश-कुश को सहारा लेने की तरह है, क्योंकि इसमें दोनों विकल्पों की अनुपपत्ति है। क्या केवल एक वर्ण पदज्ञान कराता है यह वर्णों का समूह पदज्ञान कराता है। पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विलक्षण वर्णमाला में 'यह एक पद है' इस प्रकार का ज्ञान किसी अभिन्न निमित्त के बिना नहीं हो सकता है, जिस प्रकार बिना सूत्र (धागे) के विलक्षण पुष्पों में 'यह एक माला है' ऐसा ज्ञान नहीं होता। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। उच्चारण होने के बाद नष्ट वर्णों का समूह बनना ही सम्भव नहीं है।

तत्र हि समूहव्यपदेशो ये पदार्था एकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततया बहवोऽनुभूयन्ते। यथैकस्मिन्प्रदेशे सहावस्थिततयानुभूयमानेषु धवखदिरपलाशादिषु

समूहव्यपदेशो यथा वा गजनरतुरगादिषु। न च ते वर्णास्तथानुभूयन्ते। उत्पन्न-प्रध्वस्तत्वात्। अभिव्यक्तिपक्षेऽपि क्रमेणैवाभिव्यक्तिः। समूहासम्भवात्।

अनुवाद—जिन अनेक पदार्थों का अनुभव एक ही स्थान पर स्थित होने के रूप में होता है, उसे समूह कहा जाता है। जैसे कि एक ही प्रदेश में एक साथ स्थित के रूप में अनुभूत होने वाले, घव, खदिर, पलाश आदि में समूह व्यवहार होता है या फिर जैसे हाथी, मनुष्य, घोड़े आदि में। वर्णों का इस प्रकार से समूह के रूप में अनुभव नहीं होता, क्योंकि वर्णो की उत्पत्ति होने के बाद उनका विनाश हो जाता है। अभिव्यक्ति पक्ष मानने पर स्फोट की अभिव्यक्ति क्रम से ही होती है, क्योंकि वर्णों का समूह सम्भव नहीं है।

विशेष—जिस प्रकार एक ही स्थान पर स्थित अनेक पेड़ों में समूह का व्यवहार होता है, उस तरह वर्णों में नहीं होता। अतः वर्णों का समूह सम्भव नहीं है। अतः वर्णों के समूह से पदज्ञान नहीं हो सकता है।

नापि वर्णेषु काल्पनिकः समूहः कल्पनीयः। परस्पराश्रयप्रसङ्गात् एकार्थप्रत्यायकत्वसिद्धौ तदुपाधिना वर्णेषु पदत्वप्रतीतिस्तत्सिद्धावेकार्थप्रत्याय-कत्वसिद्धिरिति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वासम्भवात्स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

अनुवाद—न ही वर्णों में काल्पनिक समूह की कल्पना करनी चाहिये। परस्पर आश्रय के प्रसंग से एक अर्थ के ज्ञान की सिद्धि होने पर उसी उपाधि से वर्णों में पदत्व की प्रतीति होती है। उसकी सिद्धि होने पर एक अर्थ के ज्ञान की सिद्धि होती है। इसलिये वर्णों का वाचकत्व सम्भव न होने से स्फोट मानना चाहिये।

(८. क. स्फोट पर अन्य आपत्तियाँ और समाधान)

ननु स्फोटव्यञ्जकतापक्षेऽपि प्रागुक्तविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातायित-मिति चेत्–तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणम्। वैषम्यसम्भवात्। तथा हि–अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति। उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमम्। यथा स्वाध्यायः सकृत्पठ्यमानो नावधार्यति। अभ्यासेन तु स्फुटावसायः। यथा वा रजतत्वं प्रथमप्रतीतौ स्फुटं न चकास्ति। चरमे चेतसि यथावदभिव्यज्यते।

अनुवाद—यदि (पूर्व पक्षी मीमांसक की ओर से) यह कहा जाये कि स्फोट का व्यञ्जकता पक्ष मानने पर भी पहले कहे हुए विकल्प के कारण चुंगी घर पर सुबह-सुबह पहुँचने जैसी स्थिति हो जाये, तो सिद्धान्ती वैयाकरण कहते हैं कि यह भी केवल मनोराज्य का विस्तार मात्र ही है, क्योंकि दोनों में विषमता सम्भव है। क्योंकि अभिव्यञ्जक ध्वनि सर्वप्रथम अस्पष्ट रूप से स्फोट को ही अभिव्यक्त करती है तथा धीरे-धीरे अभिव्यञ्जक के क्रम से वह और स्पष्ट, स्पष्टतर तथा स्पष्टतम होती जाती है। जिस प्रकार स्वाध्याय एक बार पढ़ने पर स्थिर नहीं होता, लेकिन अभ्यास करने पर उसका स्पष्ट निश्चय होता है। या जिस प्रकार रजतत्व प्रथमप्रीति में स्पष्ट प्रकाशित नहीं होता तथा बाद में यथावत् रूप से चित्र में अभिव्यक्त होता है।

विशेष—कोई व्यक्ति चुंगीकर देने से बचने के लिये रातभर घूमता है लेकिन सुबह होने पर दुर्दैववश चुंगीघर उसके सामने ही पड़ जाये, तो यही 'घट्ट कुटी प्रभातायित' कहा जाता है। वैयाकरण लोग वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस पक्ष में मीमांसकों ने जो शंका की है उसका उत्तर सिद्धान्ती (वैयाकरण) ने दिया है कि पूर्वपक्षी की शंका केवल मन का विचार मात्र है। स्फोट का अभिव्यक्ति पक्ष ही ठीक है।

१०. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

(वाक्यप. १/८४)

इति प्रामाणिकोक्तेः। तस्मादस्माच्छब्दादर्थं प्रतिपद्यामह इति व्यवहार-वशाद्वर्णानामर्थवाचकत्वानुपपत्तेः। प्रथमे काण्डे तत्रभवद्भिर्भर्तृहरिभिरभिहितत्वान्निरवयवमर्थप्रत्यायकं शब्दतत्त्वं स्फोटाख्यमभ्युपगन्तव्यमिति। एतत्सर्वं परमार्थसंविल्लक्षणसत्ता जातिरेव सर्वेषां शब्दानामर्थ इति प्रतिपादनपरे जातिसमुद्देशे प्रतिपादितम्।

अनुवाद—नादों के द्वारा अन्तिम ध्वनि के साथ उस बुद्धि में शब्द का निर्धारण होता है, जिस बुद्धि में बीज की स्थापना हो चुकी है तथा जो बुद्धि आवृत्ति के कारण परिपक्व हो चुकी है। (वाक्यपदीय-१.८४) यह प्रामाणिक लोगों की उक्ति है।

इसलिये व्यवहार ऐसा ही होता है कि 'इस शब्द से हमें अर्थ का ज्ञान होता है' अत: वर्णों का अर्थवाचकत्व अनुपपन्न है।

प्रथम काण्ड में आदरणीय भर्तृहरि के द्वारा वर्णित किये जाने के कारण हमें यह मानना चाहिये कि अर्थ को बतलाने वाला तथा निरवयव शब्द तत्त्व ही स्फोट है। परमात्मा की ज्ञानरूपी सत्ता जो कि 'जाति' है, वही इन सभी शब्दों का अर्थ है—यह बात जाति समुद्देश प्रकरण (वाक्यपदीय तृतीय काण्ड का एक प्रकरण) में प्रतिपादन के अवसर पर बतलायी गयी है।

विशेष—'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में भी यह बात सिद्ध की गयी है कि अर्थवाचकत्व शब्द में ही है, वर्ण में नहीं। वह शब्द तत्त्व ही स्फोट कहलाता है। स्फोट को जाति, कहा जाता है।

(९. सत्ता ही शब्दों का अर्थ है–पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष)

यदि सत्तैव सर्वेषां शब्दानामर्थस्तर्हि सर्वेषां शब्दानां पर्यायता स्यात्। तथा च क्वचिदपि युगपत्त्रिचतुरपदप्रयोगायोग इति महच्चातुर्यमायुष्मतः। तदुक्तम्–

११. पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते।
पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः॥ इति।

तस्मादयं पक्षो न क्षोदक्षम इति चेत्।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहता है कि) यदि सभी शब्दों का अर्थ सत्ता ही है, तो फिर सभी शब्दों को एक दूसरे का पर्याय माना जाये। फिर तो कभी भी एक साथ तीन-

चार पदों का प्रयोग ही नहीं हो पायेगा, यह तो आप की (सिद्धान्ती वैयाकरण की) महान् चतुरता है। जैसा कि कहा गया है—

पर्यायों का प्रयोग एक साथ नहीं होता है। क्योंकि सभी शब्द एक-एक करके ही अर्थ का बोध कराते हैं, न कि एक साथ मिलाकर।

अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

तदेतद्गगनरोमन्यकल्पम्। नीललोहितपीताद्युपरञ्जकद्रव्यभेदेन स्फटिकमणेरिव सम्बन्धिभेदात्सत्तायास्तदात्मना भेदेन प्रतिपत्तिसिद्धौ, गोसत्ताविरूपगोत्वादिभेदनिबन्धनव्यवहारवैलक्षण्योपपत्तेः। तथा चाप्तवाक्यम्—

१२. स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक्पृथक्।
नीललोहितपीताद्यस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥ इति।

अनुवाद—(सिद्धान्ती वैयाकरण कहते हैं) यह सब मत आकाश की जुगाली करने की तरह (मिथ्या) है। जिस प्रकार नीला, लाल, पीले आदि उपरञ्जक (रंगने वाले) द्रव्यों के भेद से स्फटिक मणि के रंग में भी भेद हो जाता है, उसी तरह सम्बन्धी के भेद के कारण ही सत्ता में रहने वाले भेद से सत्ता की सिद्धि होती है और गो सत्ता रूपी गोत्व आदि के भेद के कारण होने वाले व्यवहार-भेद की उपपत्ति हो जाती है। (जैसा कि आप्तवचन है—

स्फटिक एक स्वच्छ द्रव्य है, लेकिन वह अलग-अलग रूप से नीले, लाल तथा पीले आदि वर्णों के संयोग से उस-उस वर्ण को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—जैसे गाय आदि पशु भोजन को चराकर मुख में ही एक ओर दबा देते हैं और कुछ समय बाद फिर से उसी चबाये हुए भोजन को चवाते हैं। इसे ही जुगाली (रोमन्थ) कहा जाता है। सिद्धान्ती कहता है कि इसी प्रकार जाति को शब्दार्थ मानना भी आकाश की जुगाली करने की तरह है।

जैसे एक ही स्फटिक उपरञ्जक द्रव्य के रंगों के भेद से भिन्न-भिन्न रंग का प्रतीत होता है, उसी तरह एक ही सत्ता सम्बन्धियों के अनेक होने से भिन्न-भिन्न रूप में व्यवहृत होती है।

तथा हरिणाप्युक्तम्—

१३. सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥

(वाक्य. ३/१/३३)

१४. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या स महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥

(वाक्यप. ३/१/३४) इति।

अनुवाद—सम्बन्धी (घट, पट आदि) के भेद से गौ आदि में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाली सत्ता ही जाति कहलाती है तथा उसी में सभी शब्द व्यवस्थित हैं। (वाक्यपदीय

३.९.३३) उसी सत्ता को प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ कहा जाता है। वह नित्य तथा महान् आत्मा है। उसे ही 'त्व', 'तल्' आदि प्रत्ययों से कहा जाता है।

विशेष—सत्ता को ही जाति कहा जाता है। वही प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ कहलाता है। घट में 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय लगाकर 'घटत्व' या 'घटता' शब्द बनता है। इसे ही जाति कहा जाता है।

आश्रयभूतैः सम्बन्धिभिर्भिद्यमाना कल्पितभेदा गवाश्वादिषु सत्तैव महासामान्यमेव जातिः। गोत्वादिकमपरं सामान्यं परमार्थतस्ततो भिन्नं न भवति। गोसत्तैव गोत्वं, नापरमन्वयि प्रतिभासते। एवमश्वसत्ताऽश्वत्वमित्यादि वाच्यम्। एवं च तस्यामेव गवादिभेदभिन्नायां सत्तायां जातौ सर्वे गोशब्दादयो वाचकत्वेन व्यवस्थिताः।

अनुवाद—अपने आश्रयभूत सम्बन्धियों के कारण भिन्न होने वाली तथा कल्पित भेदवाली एवं गो, अश्व आदि में रहने वाली सत्ता ही जाति है। उसे ही महा सामान्य कहा जाता है। गोत्व आदि ऊपर सामान्य वास्तव में वास्तव में महासमान से भिन्न नहीं है। गो सत्ता ही गोत्व है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्धी नहीं है। इसी प्रकार अश्व सत्ता को ही अश्वत्व कहना चाहिये। इस प्रकार उसी गो आदि भेद से भिन्न प्रतीत होने वाली सत्ता अर्थात् जाति में सभी गो आदि शब्द वाचक के रूप में व्यवस्थित हैं।

प्रातिपदिकार्थश्च सत्तेति प्रसिद्धम्। भाववचनो धातुरिति पक्षे भावः सत्तैवेति धात्वर्थः सत्ता भवत्येव। क्रियावचनो धातुरिति पक्षेऽपि 'जातिमन्ये क्रियामाहु-रनेकव्यक्तिवर्तिनीम्' इति क्रियासमुद्देशे (वा.प. ३/८) क्रियाया जातिरूपत्वप्रति-पादनाद्धात्वर्थः सत्ता भवत्येव।

अनुवाद—प्रातिपादिक के अर्थ को सत्ता कहा जाता है—यह बात प्रसिद्ध है। जो भाव का वाचक हो, वह धातु है—इस पक्ष को मानने पर भाव को ही सत्ता कहा जाता है, इसलिये धात्वर्थ ही सत्ता होता है। जो क्रिया का वाचक है, वह धातु है—इस पक्ष को मानने पर भी क्रिया का जाति के रूप में प्रतिपादन हुआ है। 'कुछ लोगों ने अनेक व्यक्तियों में रहने वाली क्रिया को जाति कहा है' (वाक्यपदीय ३.८) इसलिये धात्वर्थ को सत्ता कहते हैं—यह सिद्ध है।

विशेष—धातु का अर्थ भाव किया जाये या क्रिया। दोनों ही स्थिति में यह बात सिद्ध होती है कि धात्वर्थ सत्ता है।

'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा.सू. ५/१/११९) इति भावार्थे त्वतलादीनां विधानासत्तावाचित्वं युक्तम्। सा च सत्ता उदयव्ययवैधुर्यान्नित्या। सर्वस्य प्रपञ्चस्य

तद्विवर्ततया देशतः कालतो वस्तुश्च परिच्छेदराहित्यात्सा सत्ता महानात्मेति व्यपदिश्यत इति कारिकाद्वयार्थः।

अनुवाद—'किसी पदार्थ के भाव अर्थ में 'त्व' तथा 'तल्' प्रत्यय होते हैं (पा.सू. ५.१.११९)' इस सूत्र से 'भाव' अर्थ में त्व तथा तल् आदि प्रत्ययों का विधान होने से प्रत्ययों का सत्तावाचित्व कहना ठीक है। वह सत्ता उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने के कारण नित्य है। यह सारा प्रपञ्च (संसार) उस सत्ता का ही विवर्त है। इसी कारण देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद से रहित होने के कारण उस सत्ता को ही महान् आत्मा कहा जाता है—यही इन दोनों कारिकाओं का अर्थ है।

विशेष—आचार्य पाणिनि ने 'भाव' अर्थ में 'त्व' तथा 'तत्' प्रत्ययों का विधान किया है तथा भाव को ही सत्ता कहा जाता है। वाक्यपदीयकार ने सत्ता को ही 'जाति' कहा है। सत्ता का ही दूसरा नाम 'आत्मा' है।

(१०. द्रव्य को पदार्थ मानने वालों का विचार)

द्रव्यपदार्थवादिनोऽपि नये संविल्लक्षणं तत्त्वमेव सर्वशब्दार्थ इति सम्बन्धसमुद्देशे समर्थितम्–

१५. सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥

(वा.प. ३/१/२)

अनुवाद—द्रव्य को पदार्थ मानने वालें लोगों के अनुसार सभी शब्दों का अर्थ नहीं तत्त्व है, जो संवित् रूप है—ऐसा सम्बन्धसमुद्देश्य में कहा गया है।

सत्य वस्तु का निश्चय उसी आकार के असत्य पदार्थों के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार असत्य उपाधि वाले शब्दों से सत्य का ही अभिधान होता है।

विशेष—जो लोग व्यक्ति में शक्ति मानते हैं, अर्थात् व्यक्ति को ही पदार्थ कहते हैं, उन्हें द्रव्यपदार्थ वादी कहा जाता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को सिंह का ज्ञान कराने के लिये उसे पहले सिंह की मूर्ति या चित्र आदि दिखलाकर (समझाया जाता है, उसी तरह असत्य उपाधि के द्वारा सत्य वस्तु का निर्देश कराया जाता है।)

१६. अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा।
गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥

भाष्यकारेणापि 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्येतद्वार्तिकव्याख्यानावसरे द्रव्यं हि नित्यमित्यनेन ग्रन्थेनासत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यं सर्वशब्दार्थ इति निरूपितम्।

अनुवाद—जिस प्रकार अध्रुव (अनित्य) निमित्त से देवदत्त के घर का ग्रहण होता है, लेकिन गृहशब्द से शुद्ध गृह का ही ग्रहण होता है।

भाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर यह कहा है कि द्रव्य तो नित्य है तथा असत्य उपाधि से अवच्छिन्न जो ब्रह्म तत्त्व है, वही द्रव्य शब्द का अर्थ है—यही सब शब्दों का अर्थ हैं।

विशेष—कोई अनजान व्यक्ति किसी जानकार व्यक्ति से पूछता है कि देवदत्त का घर कौन सा है ? इस पर वह जानकार व्यक्ति बतलाता है कि जिस घर पर कबूतर बैठा है, वही देवदत्त का घर है। यहाँ 'कबूतर का बैठना' तो अध्रुव (अनित्य) है लेकिन उस अध्रुव से ध्रुव (घर) का ज्ञान (ग्रहण) होता है।

महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने भी 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्तिक की व्याख्या करते समय द्रव्य को नित्य माना है। उन्होंने ब्रह्म को ही शब्दार्थ माना है तथा उसे द्रव्य कहकर नित्य स्वीकार किया है।

(११. जाति और व्यक्ति को पदार्थ माननेवालों के विचार)

जातिशब्दार्थवाचिनो वाजप्यायनस्य मते गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतजातिमभिदधति। तस्यामवगाह्यमानायां तत्सम्बन्धाद् द्रव्यमवगम्यते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तत्सम्बन्धात्प्रत्ययः। द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात्।

अनुवाद—जाति को शब्दार्थ मानने वाले वाजप्यायन के मत में गो आदि शब्द भिन्न-भिन्न द्रव्यों में समवेत रहने वाली जाति को बतलाते हैं। जाति में अवगाहन करने के बाद उसी के सम्बन्ध से द्रव्य का ज्ञान होता है। शुक्ल आदि गुण में समवेत जाति का ही अभिधान करते हैं। गुण के साथ जाति (शुक्लत्व आदि) का सम्बन्ध होने से गुण का ज्ञान होता है। द्रव्य की प्रतीति (ज्ञान) भी सम्बन्धी के सम्बन्ध से होती है।

विशेष—जो लोग जाति को पदार्थ मानते हैं, उनके अनुसार गो का अर्थ गोत्व है तथा शुक्ल का अर्थ शुक्लत्व।

संज्ञाशब्दानामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाच्छैशवकौमारयौवनाद्यवस्थादिभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययबलात्सिद्धा देवदत्तत्वादिजातिरभ्युपगन्तव्या। क्रियास्वपि जातिरालक्ष्यते। सैव धातुवाच्या। पचतीत्यादावनुवृत्तप्रत्ययस्य प्रादुर्भावात्।

अनुवाद—संज्ञा शब्दों की उत्पत्ति से लेकर विनाश पर्वत शैशव, कौमार तथा युवावस्था आदि भेद होने पर भी 'यह वही देवदत्त है'—इस प्रकार के अभेद ज्ञान के कारण देवदत्तत्व आदि जाति सिद्ध होती है—यह मानना चाहिये। क्रिया में भी जाति का ही ज्ञान होता है तथा वही धातु का अर्थ है। 'पचति' आदि क्रियाओं में भी अनुवृत्त ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

द्रव्यपदार्थवादिव्याडिनये शब्दस्य व्यक्तिरेवाभिधेयतया प्रतिभासते। जातिस्तूपलक्षणतयेति नानन्त्यादिदोषावकाशः।

अनुवाद—द्रव्य को पदार्थ मानने वाले व्यादि के सिद्धान्त में शब्द का अभिधेयार्थ व्यक्ति ही प्रतिभासित होता है। जाति तो केवल उपलक्षण (संकेत) के रूप में प्रातिभासित होती है इसलिये आनन्त्य आदि दोषों का अवसर नहीं है।

(१२. पाणिनि के मत से पदार्थ–जाति-व्यक्ति दोनों है)

पाणिन्याचार्यस्योभयं सम्मतम्। यतो जातिपदार्थमभ्युपगम्य 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा.सू. १/२/५८) इत्यादिव्यवहारः। द्रव्यपदार्थमङ्गीकृत्य 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा.सू. १/२/६४) इत्यादिः। व्याकरणस्य सर्वपार्षदत्वान्मतद्वयाभ्युपगमे न कश्चिद्विरोधः। तस्माददद्वयं सत्यं परं ब्रह्म तत्त्वं सर्वशब्दार्थ इति स्थितम्।

अनुवाद—आचार्य पाणिनि को यह दोनों ही सम्मत है। (अर्थात् पाणिनि जाति तथा व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानते हैं) क्योंकि जाति को पदार्थ मानने पर 'जाति का बोध होने पर एकवचन के स्थान पर बहुवचन हो, विकल्प से '(पा.सू. १.२.५८) इत्यादि व्यवहार होता है। द्रव्य को पदार्थ मानने पर 'समान विभक्ति में समान रूप वाले शब्दों का एक ही रूप रेखा रहती है' (पा.सू. १.२.६४) इत्यादि व्यवहार होता है व्याकरण का उपयोग सभी पार्षदों (मतों) में समान होने से दोनों मतों को मानने में कोई विरोध नहीं है। अत: अद्वय सत्यरूपी परब्रह्म ही सब शब्दों का अर्थ है—यह सिद्ध होता है।

विशेष—पाणिनि के अनुसार जाति तथा व्यक्ति दोनों ही पदार्थ हैं। पाणिनि के सूत्रों में दोनों मतों के पोषक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

अत: व्याकरणमत यही है कि जातिपक्ष तथा व्यक्तिपक्ष-दोनों पक्षों में सभी शब्दों का अर्थ ब्रह्म ही है।

तदुक्तम् (वा.प. ३/३/८७)–

१७. तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते॥ इति।

सत्यस्वरूपमपि हरिणोक्तं सम्बन्धसमुद्देशे (७२)–

१८. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाविकल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः॥ इति।

द्रव्यसमुद्देशेऽपि (वा.प. ३/२/१५)–

१९. विकारापगमे सत्यं सुवर्णः कुण्डले यथा।
विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम्॥ इति।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—इसलिये शक्ति का विभाग करने से जो यह सम्पूर्ण, सत्‌रूप तथा एक-अर्थ वाला सत्य ब्रह्म है वह शब्द के वाच्यत्व होने पर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। (वाक्यपदीय ३.३.८७)

भर्तृहरि ने सम्बन्ध समुद्देश में अर्थ के सत्यरूप का वर्णन किया है—७२

जहाँ दृष्टा, दृश्य तथा दर्शन—ये तीनों ही अकल्पित रहते हैं, वेदान्त के ज्ञाता लोगों ने उसी अर्थ को सत्य कहा है।

(वाक्यपदीय ३.२.१५) द्रव्यसमुद्देश्य में भी कहा गया है—

जिस प्रकार विकार को हटाने पर कुण्डल में सुवर्ण ही सत्य है, उसमें जो विकार कहा हटना है, उसे परा प्रकृति कहा जाता है।

(१३. अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि)

अभ्युपगताद्वितीयत्वनिर्वाहाय वाच्यवाचकयोरविभागः प्रदर्शितः (वा.प. ३/२/१६)–

२०. वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक्कतः।
अपृथक्त्वेऽपि सम्बन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥ इति।

तत्तदुपाधिपरिकल्पितभेदबहुलतया व्यवहारस्याविद्यामात्रकल्पितत्वेन प्रतिनियताकारोपधीयमानरूपभेदं ब्रह्मतत्त्वं सर्वशब्दविषयः। अभेदे च पारमार्थिके संवृतिवशाद् व्यवहारदशायां स्वप्नावस्थावदुच्चावचः प्रपञ्चो विवर्तत इति कारिकार्थः।

अनुवाद—स्वीकार किये गये अद्वितीयत्व के निर्वाह के लिये वाच्य तथा वाचक का अविभाग दिखलाया गया है (वाक्यपदीय ३.२.१६)

वह ब्रह्मसत्ता सभी शब्दों का वाच्यार्थ है तथा वह स्फोट शब्द से अलग नहीं है। पृथक् न होने पर भी शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध जीवात्मा तथा परमात्मा की तरह है।

उस उपाधि के द्वारा कल्पित भेद के बहुत होने के कारण व्यवहार की कल्पना केवल अविद्या के द्वारा ही हुई है। प्रत्येक वस्तु में निश्चित आकार के अनुसार रूपभेद का आरोप होता है। अत: ब्रह्मतत्त्व ही सभी शब्दों का अर्थ है। अभेद के पारमार्थिक होने के कारण संवृत्ति (कल्पना) के कारण व्यवहार दशा में इस समस्त ऊँच-नीच जगत् का उसी प्रकार से विवर्त (भ्रम) होता है, जिस प्रकार स्वप्न में विवर्त होता है।

तदाहुर्वेदान्तवादनिपुणाः–

२१. यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः।
एवं जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥ इति।

तदित्थं कूटस्थे परस्मिन्ब्रह्मणि सच्चिदानन्दरूपे प्रत्यगभिन्नेऽवगतेऽनाद्यविद्यानिवृतौ तादृग्ब्रह्मात्मनावस्थानलक्षणं निःश्रेयसं सेत्स्यति।

अनुवाद—यही बात वेदान्त मत के कुशल लोगों ने बतलायी है—

जिस प्रकार स्वप्नावस्था कर यह प्रपञ्च मेरे अन्दर माया के विलास के कारण होता है, उसी तरह जागृत अवस्था का प्रपञ्च भी मेरे अन्दर माया के विलास के कारण ही है।

तो इस कूटस्थ सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म जो कि प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) से अभिन्न है, उसका ज्ञान होने पर अनादि अविद्या की निवृत्ति होती है तथा उस ब्रह्म के रूप में स्थित होने वाले मोक्ष (निःश्रेयस) की प्राप्ति होती है।

(१४. व्याकरण से मोक्ष प्राप्ति)

'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (महाभारत, शा.पं. अ. २७०) इत्यभियुक्तोक्तेः। तथा च शब्दानुशासनशास्त्रस्य निःश्रेयससाधनत्वं सिद्धम्। तदुक्तम्–

२२. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते॥
(वाक्यपदीयम् १/१४) इति।

तथा–

२३. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥
(वाक्य. १/१६) इति।

तस्माद् व्याकरणशास्त्रं परमपुरुषार्थसाधनतयाऽध्येतव्यमिति सिद्धम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शनम्

अनुवाद—विद्वानों ने ऐसा कहा है कि 'शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है' (महाभारत शान्ति पर्व अध्याय-२७०)। इस प्रकार शब्दानुशासन शास्त्र (व्याकरणशास्त्र) भी मोक्ष का साधन है—यह बात सिद्ध होती है। जैसा कि कहा गया है—

यह व्याकरण शास्त्र मोक्ष का द्वार है तथा वाणी के मल को दूर करने वाला है। यह सभी विद्याओं में पवित्र है तथा इसे सभी विद्याओं का अधिष्ठान कहा गया है। (वाक्यपदीय-१.१४)

जैसा कि—सिद्धि के सोपान खण्डों में यह पहला सोपान (पद) है। मोक्ष प्राप्त करने वालों के लिये यह सरल (सीधा) राजमार्ग है।

इसलिये परमपुरुषार्थ का साधन होने से व्याकरणशास्त्र पढ़ना ही चाहिये—यह बात सिद्ध होती है।

॥ इति पाणिनिदर्शनम् ॥

अध्याय-१४
साङ्ख्यदर्शनम्

तत्त्वद्वयं स पुरुषः प्रकृतिर्द्वितीया
धत्ते गुणानपि च सत्त्वरजस्तमांसि।
सर्वं जगच्चलति तत्परिणामरूपं
तत्सांख्यकारमिह तं कपिलं नमामि॥ ऋषिः।

(१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व)

अथ सांख्यैराख्याते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्त-वादः आदरणीयो भवेत्। एष हि तेषामाघोषः। संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विद्याः सम्भाव्यन्ते। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिद्विकृतिप्रकृतिश्च, कश्चिद्विकृतिरेव, कश्चिदनुभय इति।

अनुवाद—सांख्य दार्शनिकों की यह घोषणा है कि सांख्यों के द्वारा बतलाये गये परिणामवाद के होने पर विवर्तवाद कैसे स्वीकार्य होगा, क्योंकि परिणामवाद विवर्तवाद का विरोधी है। सांख्यशास्त्र में संक्षेप में चार प्रकार हो सकते हैं। कोई पदार्थ प्रकृति है, कोई प्रकृति तथा विकृति दोनों है, कोई केवल विकृति है तो कोई न तो प्रकृति है और न हो विकृति।

विशेष—प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इसे ही कारणतावाद कहा जाता है। यह कारणतावाद दो प्रकार है—असत्कार्यवाद तथा सत्कार्यवाद। असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में छिपा हुआ नहीं रहता है, जबकि सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में छिपा रहता है। सत्कार्यवाद के भी दो भेद हैं—परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणाम-वाद यह मानता है कि कारण ही कार्य के रूप परिणत होता है जैसे दूध ही दही के रूप में परिवर्तित होता है। यह मत सांख्य दार्शनिकों का है। परिणामवाद को ही विकारवाद कहा जाता है। जबकि अद्वैत वेदान्ती विवर्तवाद मानते हैं। उनका कहना है कि कारण से उत्पन्न कार्य एक अल्प रूपान्तर ही है। जैसे रस्सी का विवर्त सांप है। रस्सी अपने वास्तविक रूप को बिना छोड़े ही सांप के रूप में भासित होती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार चार तरह के पदार्थ हैं। इन सभी पदार्थों का विवेचन आगे के ग्रन्थ में किया जायेगा।

(२. प्रकृति का अर्थ)

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यस्य कस्यचिद् विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्। तदुक्तं–'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सा.का. ३) इति। मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।

महदादेः कलापस्यासौ मूलं न त्वस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति। अनवस्थापातात्। न च बीजाङ्कुरवदनवस्थादोषो न भवतीति वाच्यम्। प्रमाणाभावादिति भावः।

अनुवाद—(इन चार पदार्थों में) प्रधान पद से बोधित होने वाली मूल प्रकृति को ही केवल प्रकृति कहा जाता है। यह किसी अन्य की विकृति नहीं है। 'जो प्रकृष्ट रूप से कार्य करे, वह प्रकृति है' इस व्युत्पत्ति से सत्त्व, रज तथा तम-इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का बोध होता है। (सत्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है) जैसा कि कहा गया है—मूल प्रकृति अविकृति है (सां.का.३)। मूल है जो प्रकृति, वह मूलप्रकृति है।

महद् आदि कार्य कलाप का मूल यह प्रकृति है। इस प्रकृति का दूसरा कोई अन्यमूल नहीं है। अन्यथा अनवस्था आ जायेगी। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि बीजाङ्कुर के समान अनवस्था दोष नहीं होता, क्योंकि (अनवस्था दोष न मानने में) कोई प्रमाण नहीं है।

विशेष—प्रकृति का ही दूसरा नाम प्रधान है। सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण बिल्कुल समान परिणाम में रहते हैं। जब इन गुणों में किसी प्रकार का क्षोभ (खलबली) होता है तो सृष्टि प्रारम्भ होती है—

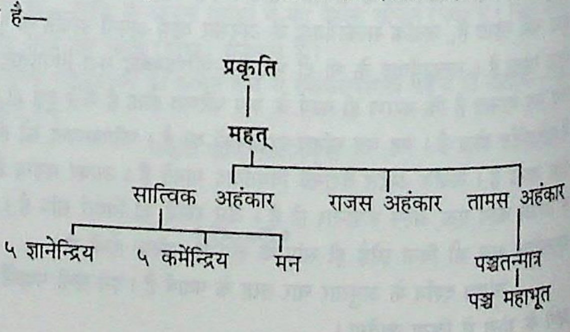

यही बात सांख्य कारिका में कही गयी है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकाद् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥
मूलप्रकृतिः अविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

सांख्यदर्शन में चार प्रकार के पदार्थ माने गये हैं—

१. प्रकृति—मूल प्रकृति
२. प्रकृति विकृति—महत्, अहंकार, पञ्च तन्मात्र
३. विकृति—५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन, पञ्च महाभूत
४. न प्रकृति न विकृति—पुरुष

(३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व)

विकृतयश्च प्रकृतयश्च महदहंकारतन्मात्राणि। तदप्युक्तं 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सा.का. ३) इति। अस्यार्थः-प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि। तत्रान्तःकरणादिपदवेदनीयं महत्तत्त्वमहकारस्य प्रकृतिः। मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः।

एवमहंकारतत्त्वमभिमानापरनामधेयं महतो विकृतिः। प्रकृतिश्च तदेवाहंकारतत्त्वं तामसं सत्पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानम्। तदेवं सात्त्विकं सत्प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च। रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणत्वमस्तीति न वैयर्थ्यम्।

अनुवाद—महत्, अहंकार तथा पञ्चमन्मात्र प्रकृति एवं विकृति दोनों है। यह भी कहा गया है—'महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति तथा विकृति दोनों हैं (सां.का. ३) इसका अर्थ है—जो प्रकृति भी है तथा विकृति भी है वे महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति विकृति दोनो हैं। उसमें अन्तःकरण आदि पदों से बोधनीय होने वाला महत् तत्त्व अहंकार की प्रकृति है तथा मूल प्रकृति की विकृति है।

इसी प्रकार अहंकार तत्व, जिसका दूसरा नाम अभिमान है, वह महत् की विकृति है तथा वही अहंतत्त्व तमोगुण प्रधान होने पर 'सूक्ष्म' नामक पञ्चतन्मात्रों की प्रकृति है। वही अहंकार सत्त्वगुणप्रधान होने पर ग्यारह इन्द्रियों की प्रकृति है। अर्थात् आंख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की, वाणी, हाथ, पैर, मलेन्द्रिय तथा मूत्रेन्द्रिय इन पाँच कर्मेन्द्रियों की एवं उभयात्मक मन की (प्रकृति सात्विक अहंकार है)।

दोनों ओर अर्थात् सत्त्व प्रधान पदार्थ तथा तमः प्रधान पदार्थ इन दोनों में क्रिया उत्पन्न करने के माध्यम से रजोगुण की भी कारणता है। अतः उसका वैयर्थ्य (निरर्थकता) नहीं है।

विशेष—महत् (बुद्धितत्त्व), अहंकार तथा मन ये तीनों अन्तःकरण कहलाते हैं। मन संकल्प तथा विकल्प करता है। अहंकार अभिमान करने वाला है तथा बुद्धितत्त्व निश्चय करता है। मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों है, क्योंकि मन से सुख दुःखादि का ज्ञान होता है तथा मन कर्म भी करता है।

तदुक्तमीश्वरकृष्णेन–

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकरणगणस्तन्मात्रापञ्चकं चैव॥
२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥
३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्र-घ्राणरसनत्वागाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥
४. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं चसाधर्म्यात्॥

(सां.का. २४-२७) इति।

विवृतं च तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः।

अनुवाद—जैसा कि ईश्वर कृष्ण ने कहा है—अभिमान को ही अहंकार कहा जाता है। उससे दो प्रकार की सृष्टि होती है—ग्यारह इन्द्रियों का समूह तथा पञ्च तन्मात्राएँ।

सात्त्विक अहंकार से ग्यारह सात्त्विक इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है तथा तामस अहंकार से तामस पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है और राजस अहंकार से दोनों की प्रवृत्ति होती है।

आंख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाणी, हाथ, पैर, मलेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

मन उभयात्मक है, जो कि संकल्पविकल्पात्मक है तथा इन्द्रियों के साधर्म्य के कारण मन को भी इन्द्रिय कहा जाता है। (सां.का. २४-२७) आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में इसकी व्याख्या की है।

विशेष—आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा है, जो सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को साररूप में प्रकट करने वाला ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ पर आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या लिखी है। सांख्यदर्शन के अन्य

प्रमुख ग्रन्थ हैं—आचार्य कपिल रचित सांख्य सूत्र, आचार्य वार्षगण्य रचित षष्टितन्त्र, विज्ञानभिक्षु द्वारा सांख्यसूत्र पर सांख्यसारविवेक, भावागणेश का सांख्यसूत्र, सांख्यपरिभाषा तथा सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—ये तीन ग्रन्थ।

(४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व)

केवला विकृतिस्तु वियदादीनि पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि च। तदुक्तं–'षोडशकस्तु विकारः' (सां.का. ३) इति। षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव, न प्रकृतिरित्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतम्। गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः।

अनुवाद—आकाश आदि पञ्च महाभूतों तथा ग्यारह इन्द्रियों को केवल विकृति कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—'सोलह पदार्थ केवल विकार है' (सां.का. ३)। सोलह संख्या से आवच्छिन्न सोलह पदार्थों का समूह केवल विकृति है, प्रकृति नहीं। यद्यपि पृथ्वी आदि पदार्थ गौ, घट आदि की प्रकृति हैं फिर भी वे गौ, घट आदि पृथ्वी आदि से भिन्न पदार्थ नहीं हैं इसलिये पृथ्वी आदि को प्रकृति नहीं कहा जा सकता। यहाँ प्रकृति का तात्पर्य है—अन्य पदार्थ का उपादान बनना। गौ, घट आदि में भी स्थूलता तथा इन्द्रियाग्राह्यत्व ये दोनों पृथ्वी के समान ही है। अत: उनको पृथ्वी से भिन्न पदार्थ नहीं माना जाता।

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्चमहाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। तदुक्तम्–

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥

(सां.का. २२) इति।

अनुवाद—उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्रों से, जिनमें क्रमशः पूर्व-पूर्व के सूक्ष्मभूत मिले रहते हैं, उनसे क्रमशः, एक दो तीन चार तथा पाँच गुण वाले आकाश आदि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय की सृष्टि तो पहले ही बतलायी गयी है। जैसाकि कहा गया है—

प्रकृति से महान् महान् से अहंकार तथा अहंकार से भी सोलह पदार्थों की उत्पत्ति होती है। उन सोलह पदार्थों में भी पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

विशेष—शब्द तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है तथा आकाश में एक शब्दगुण रहता है। शब्द सहित स्पर्श तन्मात्र से शब्द, स्पर्श गुण वाले वायु की उत्पत्ति

होती है। शब्द-स्पर्श सहित रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण वाले तेज की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, सहित रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुण वाले जल की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस सहित गन्ध तन्मात्र से इन पाँचों गुणों वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

(५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व)

अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तं-'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां.का. ३) इति। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः।

अनुवाद—पुरुष प्रकृति तथा विकृति-इन दोनों से भिन्न है। जैसा कि कहा गया है—पुरुष न तो प्रकृति है और न ही विकृति। (सां.का. ३) पुरुष कूटस्थ, नित्य तथा अपरिणामी है, वह न तो किसी की प्रकृति है और न ही किसी की विकृति।

विशेष—पुरुष प्रकृति-विकृति इन दोनों से परे है। जब पुरुष का प्रकृति से संयोग होता है, तब प्रकृति में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होती है, तथा महत् आदि के क्रम से सृष्टि होती है।

(६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा)

एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम्। तदप्युक्तम्-

६. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥

(सां.का. ४) इति।

अनुवाद—इन पचीस तत्त्वों को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण माने गये हैं। जैसा कि कहा गया है—

सभी प्रमाणों का तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण तीन प्रमाण ही माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्त वचन, क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती हैं।

विशेष—सांख्य दर्शन में तीन प्रमाण ही माना गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन (शब्द)। सांख्यकारिका में इन प्रमाणों का लक्षण बतलाया गया है—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

१. प्रत्यक्ष (दृष्ट)—प्रत्येक विषय से सम्बन्धित इन्द्रिय में जो अध्यवसाय है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इस अध्यवसाय (बुद्धि का निश्चयात्मक ज्ञान) से उत्पन्न पौरुषेय बोध ही प्रमा कहलाता है।

२. अनुमान—व्याप्य-व्यापक ज्ञान से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न जो वह्न्यादिज्ञान है वह अनुमान प्रमाण है। उस अनुमान प्रमाण का पुरुष के साथ जो सम्बन्ध होता है अर्थात् पौरुषेय बोध होता है, वह अनुमिति प्रमा है।

अनुमान के भेद

- वीत
  - पूर्ववत्
  - सामान्यतो दृष्ट
- अवीत
  - शेषवत्

३. शब्द—आप्त व्यक्ति या वेदादि शास्त्रों का वचन शब्दप्रमाण है। इससे उत्पन्न शाब्दबोध को ही शाब्दप्रमा कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त जो अन्य प्रमाण अन्यान्य दर्शनों में माने गये हैं—उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव तथा ऐतिह्य—इनका अन्तर्भाव सांख्योक्त तीनों प्रमाणों में ही हो जाता है।

(७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत)

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसदिति। सांख्या पुनः सतःसज्जायत इति।

अनुवाद—यहाँ कार्यकारणभाव के विषय में चार प्रकार की विप्रतिपत्ति होती है। बौद्ध लोग कहते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। नैयायिक लोग कहते हैं कि सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। वेदान्ती मानते हैं कि सत् (ब्रह्म) से विवर्तरूपी कार्यसमूह की उत्पत्ति होती है तथा यह कार्य वस्तुतः सत् नहीं है। सांख्य लोग मानते हैं कि सत् से सत् उत्पन्न होता है।

विशेष—कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में चार दार्शनिकों का मत महत्त्वपूर्ण है—

१. बौद्धमत—बौद्ध दार्शनिकों को यह मत है कि असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। उनका यह मानना है कि कारण के नष्ट हो जाने के बाद ही कार्य की उत्पत्ति हो पाती है। जैसे बीजनाश के बाद ही अंकुर की उत्पत्ति होती है। बौद्धों के अनुसार सत् का तात्पर्य है क्षणिक।

२. न्याय वैशेषिकमत—इस मत के अनुसार सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। इसके अनुसार परमाणु में द्व्यणुक आदि पदार्थ पहले से विद्यमान नहीं हैं। अतः पहले से अविद्यमान अर्थात् असत् द्व्यणुक आदि पदार्थों की उत्पत्ति सत् 'परमाणु' से होती है।

३. अद्वैतमत—इस मत के अनुसार सत् ब्रह्म का विवर्त यह सम्पूर्ण जगत् है तथा यह जगत् वस्तुतः उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार रस्सी में भ्रमवश प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या होता है। जगत् की सत्ता पारमार्थिक नहीं बल्कि प्रातिभासिक अथवा व्यावहारिक है।

४. सांख्यमत—सांख्यमत के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में छिपा हुआ (या अव्यक्त) रहता है तथा कारण व्यापार होने के पश्चात् वह कार्य कारण से व्यक्त हो जाता है। इसे ही सत्कार्यवाद कहा जाता है।

(७. क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खण्डन)

तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरुपाख्यस्य शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः। तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तिश्च।

अनुवाद—उसमें असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है—यह प्रामाणिक पक्ष नहीं है। असत् पदार्थ शशविषाण की तरह अवर्णनीय है, अतः वह कारण नहीं हो सकता। तुच्छ (स्वरूप हीन) तथा अतुच्छ (स्वरूपवान्) पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

विशेष—प्रथममत (असत् से सत् की उत्पत्ति) बौद्धों का है, जिसका खण्डन यहाँ किया गया है। असत् पदार्थ तुच्छ (स्वरूपहीन) है तथा सत् पदार्थ अतुच्छ (स्वरूपवान्) है। इन दोनों का सम्बन्ध कथमपि सम्भव नहीं है।

नापि सतोऽसज्जायते। कारकव्यापारात्प्रागसतः शशविषाणवत्सत्ता-सम्बन्धलक्षणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्तुं पार्यते। ननु सत्वासत्त्वे घटस्य धर्माविति चेत्–तदचारु। असति धर्मिणि तद्धर्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्मिणः सत्त्वापत्तेः।

अनुवाद—सत् से असत् की उत्पत्ति होती है—यह मत भी ठीक नहीं है। कारक व्यापार से पूर्व शशविषाण की तरह असत् पदार्थ से सत्ता का सम्बन्ध होना अनुपपन्न है। अत्यन्त निपुण व्यक्ति भी नीले पदार्थ को पीला नहीं बना सकता। यदि यह कहा जाये कि सत्त्व तथा असत्त्व घट का धर्म है तो यह भी ठीक नहीं है। धर्मी के न रहने पर भी असत् उसका (धर्मी का) धर्म है—यह कहना सम्भव नहीं है, इसलिये धर्मी को सत् मानना पड़ेगा।

विशेष—यदि कार्य को असत् कहें तो कारक व्यापार से पूर्व असत् 'कार्य' का सत् 'कारण' के साथ सम्बन्ध ही नहीं बन सकता। यदि सत् या असत् को घट आदि

धर्मी का धर्म माना जाये तो यह भी सम्भव नहीं है। घट की उत्पत्ति के पूर्व 'असत्' घट का धर्म है—यह कहना असम्भव है और यदि ऐसा कहें तो घट को भी सत् मानना पड़ेगा।

(८. सत्कार्यवाद की सिद्धि)

तस्मात्कारकव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदेव। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः कारणे किमपि निदर्शनं न दृश्यते। किं च कार्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकमसम्बद्धं वा। प्रथमे कार्यस्य सत्त्वमायातम्। सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्वं कार्यजातं सर्वस्माज्जायते। असम्बद्धत्वाविशेषात्।

अनुवाद—इसलिये कारकव्यापार से पहले भी कार्य सत् ही है। पहले से कारण विद्यमान सत् कार्य की ही अभिव्यक्ति सम्भव है। जिस प्रकार पेरने से तिलों से तेल की तथा दुहने पर गाय से दूध की अभिव्यक्ति होती है। असत् कार्य की कारण से उत्पत्ति होती हो, ऐसा कोई उदाहरण दिखलाई नहीं पड़ता। फिर क्या कारण कार्य से सम्बद्ध होकर कार्य को उत्पन्न करता है या असम्बद्ध होकर? प्रथम पक्ष मानने पर तो कार्य को सत् कहना पड़ेगा। दो सत् पदार्थों का ही सम्बन्ध होता है—यह नियम है। दूसरा पक्ष मानने पर सब कार्य सभी कारणों उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि असम्बद्धता तो—सभी कारण तथा कार्य में सामान्य रूप से रहती है।

विशेष—सांख्य दर्शन का यह सिद्धान्त है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अव्यक्त रहता है अर्थात् छिपा हुआ रहता है तथा कारकव्यापार के होने पर कार्य व्यक्त हो जाता है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को कारण से सम्बद्ध माना जाये तो कार्य को सत् कहना पड़ेगा और यदि कार्य को कारण से असम्बद्ध माना जाये, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाएगा—यह मानना पड़ेगा। क्योंकि असम्बद्धता तो एक सामान्य धर्म है जो सभी कार्य-कारण में रहता है।

तदाख्यायि सांख्याचार्यैः-

७. असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥इति।

अनुवाद—जैसा कि सांख्याचार्यों ने कहा है—

कार्य को असत् मानने पर सत्व से सम्बन्धित कारणों के साथ कार्य का सम्बन्ध नहीं होगा। तथा असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर कोई व्यवस्था नहीं बन पायेगी।

अथैवमुच्यते-'असम्बद्धमपि तत्तदेव जनयति यत्र यच्छक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनेनोन्नेयेति।' तन्न सङ्गच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे

सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात्। कार्यकारणयोरभेदाच्च कारणात्पृथक्कार्यस्य सत्त्वं न भवति।

अनुवाद—अब यदि यह कहा जाये कि "असम्बद्ध कार्य को भी वही कारण उत्पन्न करता है जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ है और कार्य को देखकर शक्ति का अनुमान करना चाहिये"—तो यह कहना ठीक नहीं हैं। तिलों में तेल को उत्पन्न करने की शक्ति है—यहाँ पर तेल को कारण (तिल) में असत् मानने पर (पूर्वोक्त) सम्बद्धत्व तथा असम्बद्धत्व का विकल्प प्रस्तुत करने से उस शक्ति का निरूपण असम्भव हो जायेगा और कार्य तथा कारण का अभेद मानने पर कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं होती।

विशेष—कार्य को असत् मानने पर पूर्वोक्त परिच्छेद में प्रस्तुत विकल्प उपस्थित करके पूर्वपक्षी (नैयायिक) का खण्डन सांख्याचार्यों ने किया है। पूर्व में यह कहा गया था कि कार्य को कारण से सम्बद्ध मानें तो सत्कार्यवाद मानना ही पड़ेगा और यदि कार्य को कारण से असम्बद्ध मानें तो किसी भी कारण से कोई भीं कार्य होने लगेगा। अतः कार्य को सत् मानना होगा तथा कारण में यदि कार्यजनक शक्ति की कल्पना करते हैं तो भी इन दोनों विकल्पों (सम्बद्धत्व तथा असम्बद्धत्व) को उपस्थापित करके कार्य को सत् ही कहना पड़ेगा।

पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते। तद्धर्मत्वात्। न यदेवं, न तदेवं यथा गोरश्वः। तद्धर्मश्च पटः। तस्मान्नार्थान्तरम्। तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्यं कुर्युरिति चेन्न। संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः। यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति, एवं कारणस्य तन्त्वादेः पटादयो विशेषाः निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते। निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते।

अनुवाद—पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है, क्योंकि पट तन्तुओं का धर्म ही है। जो ऐसा नहीं है, (अर्थात् जो किसी वस्तु से अभिन्न नहीं है) वह उसका धर्म भी नहीं है। जैसे—गाय, घोड़ा। तन्तुओं का धर्म पट है। अतः पट अर्थान्तर नहीं है। (अर्थात् पट तन्तु से भिन्न नहीं है।) तो फिर यह संदेह उठता है कि प्रत्येक तन्तु ही (पट की तरह) प्रावरण, का काम (चीजों को ढकने का काम) करे। यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि संस्थान के भेद के कारण जो तन्तु पटरूप को प्राप्त हो जोते हैं, उनके द्वारा प्रावरण रूप कार्य कर पाना सम्भव है। जिस प्रकार कछुए के अंग कछुए के शरीर में ही प्रवेश करके छुप जाते हैं तथा पुनः बाहर निकल जाते हैं और

प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार कारण तन्तु आदि से पट आदि कार्य विशेष निकलते हैं, प्रकट होते हैं या उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जाता है। और कारण में कार्य के प्रविष्ट होने पर "कार्य विनष्ट होता है" ऐसा कहा जाता है।

विशेष—सांख्यमत है कि अवयव से अवयवी की पृथक् सत्ता नहीं है, केवल दोनों में अवस्था का अन्तर हैं जब तन्तुओं में संस्थान (आकार) का भेद आता है, तब वही तन्तु पट का रूप धारण करते हैं और प्रावरण का कार्य करते हैं। वस्तुतः पट तन्तुओं का धर्म है, न कि अर्थान्तर। कारण से कार्य का आविर्भाव होता है तथा पुनः कारण में कार्य का तिरोभाव भी हो जाता है।

न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्-
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गी. २/१६) इति।
ततश्च कार्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्-

८. **असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।**
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥
(सां.का. ९) इति।

अनुवाद—इसी प्रकार असत् वस्तु की उत्पत्ति एवं सत् का विनाश भी नहीं होता। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

असत् वस्तु का भाव नहीं होता तथा सत् वस्तु का अभाव नहीं होता है।
—गीता २.१६.

फिर कार्य के द्वारा अनुमान करके उस कार्य के मूल कारण प्रधान या प्रकृति की सिद्धि होती है। जैसा कि कहा गया है—

असत् वस्तु की उत्पत्ति न होने से, उपादान का ग्रहण होने से, सभी कारणों से सभी कार्य न होने के कारण, शक्त कारण से ही शक्य कार्य के होने से तथा कार्य के कारण रूप होने से सत्कार्यवाद मानना चाहिये।

विशेष—सत्कार्यवाद मानने के पांच हेतु माने गये हैं—

१. जो वस्तु जिस कारण में नहीं है उसे उस कारण से उत्पन्न नहीं किया जा सकता है।

२. किसी कार्य विशेष के निर्माण के लिये कारण विशेष का ही ग्रहण किया जाता है। जैसे घर के निर्माण के लिये मिट्टी का ही उपादान (ग्रहण) किया जाता है।

३. सभी कारणों से सब कार्य उत्पन्न नहीं हो पाते।

४. जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में शक्त (समर्थ) हैं, उसी कारण से वह कार्य उत्पन्न हो सकता है।

५. कार्य वस्तुत: कारणरूप ही है। अर्थात् कार्य तथा कारण में अभेद है। अत: सत्कार्यवाद मानना पड़ता है।

(८. क. विवर्तवाद का खण्डन)

नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः। बाधानुपलम्भात्। अधिष्ठानारोप्ययोश्चिज्जडयोः कलधौतशक्त्यादिवत्सारूप्याभावेनारोपासम्भवाच्च।

अनुवाद—न ही यह कहा जा सकता है कि सत् ब्रह्मतत्त्व का विवर्त यह प्रपञ्च है। क्योंकि संसार के मिथ्यात्व का बाध उपलब्ध नहीं होता। चेतन (ब्रह्म) तथा जड़ (संसार) जो क्रमश: अधिष्ठान तथा आरोप्य है, उनमें चांदी तथा सीपी की समानता नहीं हो सकती। अत: ब्रह्म में संसार का आरोप सम्भव नहीं है।

विशेष—जिस प्रकार सीपी में चांदी का भ्रम हो जाता है, उस प्रकार से ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि चांदी तथा सीपी का रूप एक जैसा है अत: उसमें भ्रम हो सकता है। परन्तु जड़ जगत् तथा चेतन ब्रह्म में अत्यन्त असमानता है। अत: ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति असम्भव है।

(९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि)

ततश्च सुखदु:खमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः–विमतं भावजातं सुखदु:खमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात्। यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं, तस्मात्तथेति।

अनुवाद—फिर सुख, दु:ख तथा मोहरूप इस संसार का कारण भी वैसा ही मानना चाहिये। जैसा कि प्रयोग होता है। यह विवादास्पद (विमत) सम्पूर्ण भाव अर्थात् संसार सुख, दु:ख तथा मोह से युक्त है। जो जिससे सम्बन्धित होता है, वह उसी प्रकार के कारण वाला होता है। जैसे रुचक (स्वर्णपात्र) आदि सुवर्ण से युक्त हैं अत: उसका कारण सुवर्ण है। उसी प्रकार यह संसार (भावजात) भी है। इसलिये यह संसार वैसा है (अर्थात् सुखदु:खमोहात्मक रूप जो प्रकृति है, वह इस जगत् का कारण है)।

विशेष—यहाँ पञ्चावयव अनुमान प्रयोग है—

प्रतिज्ञा—संसार का कारण सुखदु:खमोहात्मक प्रकृति है।

हेतु—क्योंकि संसार भी स्वयं सुखदु:खमोहात्मक है।

उदाहरण—जो जिससे सम्बन्धित होता है, उसका कारण भी वैसा ही होता है।

उपनय—यह संसार भी सुखदु:ख तथा मोह से सम्बन्धित (सुखदु:खमोहात्मक) है।

निगमन—अत: इस संसार का कारण सुखदु:खमोहात्मक प्रकृति है।

तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मकता तद्रजः, या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारणसिद्धिः। तथा हि–प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा मैत्रदारेषु सत्यवत्यां मैत्रस्य सुखमाविरस्ति। तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात्। तत्सपत्नीनां दुःखम्। ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात्। तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति। तं प्रति तमोगुणसमुद्भवात्।

अनुवाद—उस जगत् के कारण (प्रकृति) में जो सुखात्मकता है वह सत्त्वगुण है, जो दु:खात्मकता है, वह रजोगुण है और जो मोहात्मकता है, वह तमोगुण है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक कारण की सिद्धि होती है। जैसे कि—सभी पदार्थों का अनुभव त्रिगुणात्मक रूप में होता है। जिस प्रकार मैत्र की पत्नियों में सत्यवती मैत्र को सुख देती है, क्योंकि मैत्र के प्रति उसका सत्त्वगुण उत्पन्न होता है। अपनी सपत्नियों को दु:ख देती है, क्योंकि उनके प्रति सत्यवती का रजोगुण उत्पन्न होता है। सत्यवती को प्राप्त न कर पाने वाले चैत्र को वही सत्यवती मोह देती है, क्योंकि चैत्र के प्रति उसका तमोगुण उत्पन्न होता है।

विशेष—जिस प्रकार एक ही सत्यवती अपने पति को सुख, सौतों को दु:ख तथा चैत्र को मोह देती है उसी प्रकार एक ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति से लोगों को सुख, दु:ख तथा मोह प्राप्त होता है। प्रकृति से उत्पन्न संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अत: संसार के पदार्थों से सुख, दु:ख तथा मोह—तीनों प्राप्त होता है।

एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति। परैरपह्रियमाणं दुःखं-करोति। उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते। उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः। मुह वैचित्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः। उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्। तस्मात्सर्वभावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते।

अनुवाद—इसी प्रकार घट आदि अन्य पदार्थ भी प्राप्त होने पर सुख देते हैं, दूसरों के द्वारा छीन लिये जानें पर दु:ख देते हैं तथा तटस्थ व्यक्ति के लिये उपेक्षा के विषय (उपेक्षणीय) के रूप में उपस्थित होते हैं। उपेक्षा विषय का अर्थ है—मोह। मुह् वैचित्ये (चित्त से रहित होना) इस धातु से मोह शब्द बनता है। क्योंकि उपेक्षणीय पदार्थ में चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता। इसलिये सभी भाव पदार्थ सुखदु:ख मोहात्मक हैं तथा त्रिगुणात्मक प्रधान कारण (प्रकृति) से उत्पन्न हैं—ऐसा समझ में आता है।

विशेष—जिस पदार्थ की उपेक्षा की जाती है, उस पदार्थ के साथ चित्त का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी दृष्टि से वैचित्य अर्थ में उन पदार्थों के प्रति मोह शब्द का प्रयोग किया गया है।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते–

९. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।। (श्वे. ४/५) इति।

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दाः रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्यात् रजःसत्वतमोगुणत्रयप्रतिपादनपराः।

अनुवाद—इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—

जो प्रकृति समान रूपवाली बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है, जो लाल, सफेद तथा काले वर्ण वाली है, एक तथा अजन्मा है, उस प्रकृति का सेवन करते हुए एक अजन्मा पुरुष (जीवात्मा) उसके पीछे-पीछे चलता है तथा दूसरा अजन्मा पुरुष (परमात्मा) उसका उपभोग करके उसे त्याग देता है।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.५)

यहाँ लाल, सफेद तथा काला शब्द रञ्जकत्व, प्रकाशक तथा आवरकत्व करने के कारण क्रमश: रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण का प्रतिपादन करता है।

विशेष—प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्व, रज तथा तम। सत्त्वगुण का रंग सफेद, रजोगुण का रंग लाल तथा तमोगुण का रंग काला है। जीवात्मा उस प्रकृति के अधीन उसका अनुगमन करता है तथा परमात्मा (पुरुष) उससे मुक्त रहता है। सत्वगुण प्रकाश करने वाला है, जबकि रजोगुण चञ्चलता उत्पन्न करता है और विविध कार्यों में लोगों को प्रवृत्त करता है। इसलिये रजोगुण को रञ्जक कहा जाता है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढ़क देता है, उसी प्रकार तमोगुण लोगों की बुद्धि को ढ़का देता है।

सांख्कारिका में कहा गया है—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।

(१०. प्रधान की निरपेक्षता)

नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्ये न व्याप्रियते। अतः केनचिच्चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेत्–तदसंगतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि अचेतन प्रकृति चेतन की बिना सहायता लिये महत् आदि कार्यों का उत्पन्न नहीं करती। इसलिये प्रकृति का अधिष्ठाता अवश्य ही

कोई चेतन होना चाहिये। इसलिये सर्वदर्शी परमेश्वर को स्वीकार करना चाहिये—तो यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति भी किसी न किसी के कारण हो सकती है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता जो चेतन है वही परमेश्वर है—यह मानना चाहिये। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती सांख्य दार्शिनक कहते है कि किसी विशेष प्रयोजन के लिये अचेतन वस्तु की प्रवृत्रि भी संभव है। जैसे बछड़े के शारीरिक विकास के लिये दुग्ध की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।

दृष्टं चाचेतनं चेतनानाधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविद्धृयर्थ-मचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। तदुक्तम्-

१०. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥

(सां.का. ५७) इति।

अनुवाद—अचेतन वस्तु भी चेतन की सहायता बिना लिये व्यक्ति के कार्य के लिये प्रवृत्त होता है—यह बात देखी जाती है। जिस प्रकार बछड़े की वृद्धि के लिये अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है और जिस प्रकार अचेतन जल लोकोपकार के लिये प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगी। जैसा कि कहा गया है—

जिस प्रकार अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की प्रवृत्ति बछड़े की वृद्धि के लिये होती है, उसी प्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष के लिये होती है।

(सां का. ५७)

विशेष—प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिये ही होती है। पुरुष का मोक्ष तभी होता है, जब वह अपने आप को प्रकृति से पृथक् समझ लेता है। पुरुष को यह मोक्ष प्राप्त हो एतदर्थ ही अचेतन प्रकृति अपना कार्य करती है।

(१०. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है)

यस्तु 'परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः' इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्त्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुपत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः। द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः। करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति।

अनुवाद—परमेश्वर का अस्त्विव मानने वाले लोग जो यह घोषणा करते हैं कि "परमेश्वर दयावश संसार को प्रवृत्त करते हैं" उनका यह मानना गर्भस्त्राव की तरह ही नष्ट

हो गया है। क्योंकि दो विकल्पों की अनुपपत्ति है। वह परमात्मा क्या सृष्टि के पूर्व प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद? पहला विकल्प (सृष्टि के पहले परमात्मा प्रवृत्त होता है) मानने पर परमात्मा के द्वारा जीवों के दुःख को दूर करने की इच्छा ही नहीं बन पाती, क्योंकि जब जीवों को शरीर ही प्राप्त नहीं है, तो फिर दुःख की उत्पत्ति ही नहीं होगी। दूसरा विकल्प (परमात्मा सृष्टि के बाद प्रवृत्त होते हैं) मानने पर परस्पराश्रय दोष है। दया के द्वारा सृष्टि होती है तथा सृष्टि के द्वारा दया। (इस प्रकार परस्पराश्रय दोष आ जाता है)।

(११. प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध)

तस्मादचेतनास्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः। यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य सन्निधानेन व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य सन्निधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते। प्रकृतिपुरुषसम्बन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः। प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते। पुरुषेऽपि भेदाग्रहाद् बुद्धिच्छायापत्त्या तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते। तत्प्रकृतिपुरुषनिबन्धनं न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते।

अनुवाद—इसलिये चेतन पर अनाश्रित तथा अचेतन प्रकृति का जो परिणाम महत् आदि के रूप में होता है, वह प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के कारण होता है तथा पुरुषार्थ (पुरुष के प्रयोजन=मोक्ष) के लिये प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार निष्क्रिय अयस्कान्त (चुम्बक) के सन्निधान से लोहे में व्यापार (क्रिया) उत्पन्न होता है, उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष के सन्निधान से प्रकृति में व्यापार होता है। जिस प्रकार लंगड़े तथा अन्धे व्यक्ति का सम्बन्ध एक-दूसरे की अपेक्षा से होता है, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष का भी सम्बन्ध एक-दूसरे की अपेक्षा के कारण होता है। प्रकृति भोग्य है, इसलिये उसे भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रहती है। जब पुरुष प्रकृति से अपने भेद को ग्रहण नहीं कर पाता है, तब वह पुरुष बुद्धि की छाया पड़ने के कारण बुद्धि में आये हुए दुःखत्रय को दूर करते हुए कैवल्य (मोक्ष) की अपेक्षा करता है। यह मोक्ष प्रकृति तथा पुरुष निर्भर करता है तथा उनके बिना नहीं हो सकता। इसलिये मोक्ष के लिये पुरुष प्रकृति की अपेक्षा करता है।

विशेष—एकबार एक गांव में आग लग गई, जिसमें एक अन्धा और लंगड़ा व्यक्ति फंस गया। संयोग से उन दोनों की आपस में भेंट हुई। लंगड़ा व्यक्ति अन्धे पर बैठ गया और आग से बाहर जाने का रास्ता बताने लगा। अन्धा लंगड़े को अपने ऊपर बैठाकर उसके बताये रास्ते से सुरक्षित बाहर आ गया।

इसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष का संयोग भी एक-दूसरे की अपेक्षा से है। पुरुष मोक्ष चाहता है तथा प्रकृति भोग। प्रकृति अचेतन, जड़ तथा कर्त्री है एवं पुरुष अकर्ता व चेतन है। लेकिन इन दोनों का संयोग होने पर पुरुष स्वयं को कर्ता समझने लगता है तथा प्रकृति स्वयं को चेतन मानने लगती है। जब पुरुष स्वयं का प्रकृति से भिन्न समझ जाता है, वही पुरुष का कैवल्य (मोक्ष) है।

यथा खलु कौचित्पङ्गवन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात्परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात्संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। ततः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति, पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढः। तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनसर्गः। यथोक्तम्–

११. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सम्बन्धस्तत्कृतः सर्गः॥

(सां.का. २१) इति।

अनुवाद—जिस प्रकार कोई लंगड़े तथा अन्धे व्यक्ति रास्ते में किसी झुण्ड के साथ जाते हुए दैववश किसी उपद्रव के कारण अपने-अपने झुण्ड से बिछुड़ जायें और धीरे-धीरे इधर-उधर भटकते हुए भयभीत होवें फिर दैववश एक दूसरे से मिल जायें। उसमें लंगड़ा व्यक्ति अन्धे के कांधे पर बैठ जाता है फिर लंगड़े व्यक्ति के द्वारा दिखलाये गये मार्ग से अन्धा व्यक्ति अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है और (अन्धे व्यक्ति के) कांधे पर बैठा हुआ लंगड़ा भी (अभीष्ट जगह पर पहुंच जाता है)। फिर एक-दूसरे की अपेक्षा रखने वाले प्रकृति तथा पुरुष के कारण सृष्टि होती है। जैसा कि कहा गया है—

प्रकृति अपने दर्शन के लिये पुरुष की अपेक्षा करती है तथा पुरुष अपने मोक्ष के लिये प्रकृति की अपेक्षा करता है। अन्धे तथा लंगड़े व्यक्ति की तरह प्रकृति तथा पुरुष का संयोग होता है तथा उसी संयोग से सृष्टि होती है।

—(सां.का. २१)

विशेष—प्रकृति का पुरुष के बिना कोई प्रयोजन नहीं है। वह अपने दर्शन के लिये पुरुष संयोग की अपेक्षा करती है तथा पुरुष को भी अपनी मुक्ति (कैवल्य) के लिये प्रकृति की अपेक्षा होती है।

(१२. प्रकृति की निवृत्ति-प्रलय)

ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः। निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेत्–उच्यते। यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्तारं नोपैति, यथा वा कृतप्रयोजना नर्तकी निवर्तते तथा प्रकृतिरपि। यथोक्तम्–

१२. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥

(सां.का. ५९) इति

एतच्च निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्तककपिलादिमतानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि प्रकृति की प्रवृत्ति तो पुरुष के प्रयोजन के लिये है, तो फिर प्रकृति की निवृत्ति कैसे होगी तो (यह ठीक नहीं है, सुनिये) कहते हैं—(उत्तर देते हैं—) जिस प्रकार कोई दुराचारिणी स्त्री पति के द्वारा अपना दोष देख लिए जाने पर पुनः पति के पास लौटकर नहीं जाती या फिर जिस प्रकार प्रयोजन हो जाने पर नर्तकी लौट जाती है उसी प्रकार प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर प्रकृति भी लौट जाती है। जैसा कि कहा गया है—

जिस प्रकार दर्शक वर्ग को नृत्य दिखलाकर नर्तकी अपने नृत्य से विरत हो जाती है, उसी प्रकार पुरुष को अपना स्वरुप दिखलाकर प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।

(सां.का.५९)

निरीश्वर सांख्यशास्त्र के प्रवर्तन आचार्य कपिल के मत को मानने वाले लोगों का यह मत प्रतिपादित किया गया है।

विशेष—पुरुष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है तथा अपना कार्य हो जाने पर प्रकृति स्वतः ही निवृत्त हो जाती है।

॥ इति सांख्यदर्शनम् ॥

अध्याय-१५
अथ पातञ्जलदर्शनम्

चित्तस्य वृत्तिमनुरुध्य सुसाधनाभि -
र्जीवः समाधिमधिगच्छति यन्मतेन।
योगास्तथा वसुमिता अधियोगशास्त्रं
येनाश्रिता मम पतञ्जलये नमोऽस्मै॥ ऋषिः

(१. योगसूत्र की विषय-वस्तु)

साम्प्रतं सेश्वरसांख्यप्रवर्तकपतञ्जलिप्रभृतिमुनिमतमनुवर्तमानानां मतमुपन्यस्यते। तत्र सांख्यप्रवचनापरनामधेयं योगशास्त्रं पतञ्जलिप्रणीतं पादचतुष्टयात्मकम्। तत्र प्रथमे पादे 'अथ योगानुशासनम्' (यो.सू. १/१) इति योगशास्त्रप्रतिज्ञां विधाय 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो.सू. १/२) इत्यादिना योगलक्षणमभिधाय समाधिं सप्रपञ्चं निरदिक्षद्भगवान्पतञ्जलिः।

अनुवाद—अब सेश्वर सांख्य दर्शन के प्रवर्तक पतञ्जलि इत्यादि मुनियों के मत को मानने वाले लोगों का मत प्रतिपादित किया जा रहा है। उसमें आचार्य पतञ्जलि के द्वारा प्रणीत योगशास्त्र, जिसका दूसरा नाम सांख्य प्रवचन भी है, में चार पाद हैं। उसमें प्रथम पाद में "अथ योगानुशासनम्" (यो.सू.१.१.) इस प्रकार से योगशास्त्र की प्रतिज्ञा बतलाकर 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (सो.सू. १.२) इत्यादि के द्वारा योगलक्षण बतलाने के बाद भगवान् पतञ्जलि ने विस्तार पूर्वक समाधि का वर्णन किया है।

विशेष—योग दर्शन को सेश्वर सांख्य दर्शन तथा सांख्य प्रवचन भी कहा जाता है। इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य पतञ्जलि, हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि मुनिगण हैं।

आचार्य कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन तथा पतञ्जलि प्रणीत योगदर्शन—इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानता है जबकि योग-दर्शन ईश्वर की सत्ता को माना गया हैं।

योग दर्शन में चार पाद हैं। प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। प्रथमपाद का पहला सूत्र है—अब योगानुशासनम्। अर्थात् अब योगशास्त्र का अनुशासन प्रारम्भ हो रहा है। द्वितीय सूत्र में योग का लक्षण बतलाया गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग के आठ अंग हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। वस्तुतः इन आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि ही योग कहलाता है।

द्वितीये 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगाः' (पा०यो०सू०२/१) इत्यादिना व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगं यमादीनि च पञ्च बहिरङ्गानि साधनानि तृतीये 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (पात. यो. सू. ३/१) इत्यादिना धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संयमपदवाच्यं तदवान्तरफलं विभूतिजातम्।

अनुवाद—द्वितीय पाद में 'तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग है' (पात.यो.सू. २.१) इत्यादि के द्वारा व्युत्थितचित्त वाले योगी के लिये क्रियायोग तथा योग के यम आदि पाँच बहिरंग साधन बतलाये गये हैं। तृतीयपाद में 'चित्त का किसी विशेष स्थान में बन्धन ही धारणा है' (पात.यो.सू. ३.१) इत्यादि के द्वारा धारणा, ध्यान तथा समाधि इन योग के अंतरंग साधनों का वर्णन है, इन्हीं का दूसरा नाम संयम है। इन योगांगों का अवान्तरफल विभूतियाँ हैं।

विशेष—योग के आठ अंगों में प्रथम पाँच अंग बहिरंग हैं तथा अन्तिम तीन अंग अन्तरंग हैं। इन्हीं अन्तरंगों का संक्षिप्त नाम है—संयम। (त्रममेकत्र संयमः) आगे के परिच्छेदों में इन सभी योगांगों का विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

इनके अतिरिक्त क्रियायोग के अन्तर्गत तीन वस्तुएँ आती हैं—१. तपस्या, २. स्वाध्याय तथा ३. ईश्वरप्रणिधान।

१. तपस्या—गुरुसेक, मौन, सत्यभाषण, द्वन्द्वों को सहन करना, मिताहार आदि तपस्या के अन्तर्गत आते हैं।

२. स्वाध्याय—वेद तथा शास्त्रों का अर्थानुसंधानपूर्वक पारायण स्वाध्याय कहलाता है।

३. ईश्वर प्रणिधान—अपने समस्त कर्मों के ईश्वर में समर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। क्रियायोग का आचरण करने से योग में आने वाले क्लेशों का निवारण होता है।

योग सूत्र के चार पादों में क्रमशः चार विषयों का निरूपण है—समाधि, साधन, विभूति, कैवल्य। इसी कारण इन चारों पादों के क्रमशः चार नाम हैं—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद, कैवल्यपाद।

चतुर्थे 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (पात.यो.सू. ४/१) इत्यादिना सिद्धिपञ्चकप्रपञ्चनपुरस्सरं परमं प्रयोजनं कैवल्यम्। प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव सम्मतानि। षड्विंशस्तु परमेश्वरः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसम्प्रदायप्रवर्तकः संसाराङ्गारे तप्यमानानां प्राणभृतामनुग्राहकश्च।

अनुवाद—चतुर्थ पाद में 'जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या तथा समाधि से सिद्धियाँ होती हैं' (पात.यो. सू. ४.१) इत्यादि के द्वारा पाँचों सिद्धियों का वर्णन करते हुए परम प्रयोजन कैवल्य का निरूपण किया गया है। प्रधान आदि पच्चीस तत्त्व, जो पहले सांख्य दर्शन में बतलाये गये हैं, वही योगदर्शन में भी स्वीकृत हैं। क्लेश, कर्म, विपाक

तथा आशय से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ही परमेश्वर जो कि छब्बीसवाँ तत्त्व है। वह अपनी इच्छा से निर्माणकाय का आश्रय लेकर लौकिक तथा वैदिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक होता है तथा संसाररूपी अंगार में जल रहे जीवों पर अनुग्रह करता है।

विशेष—चतुर्थ पाद कैवल्यपाद है। आचार्य पतञ्जलि ने कैवल्य का वर्णन करने के पूर्व पाँच सिद्धियों का वर्णन किया है। पाँच प्रकार से प्राप्त होने के कारण सिद्धि के भी पाँच प्रकार हो जाते हैं। सांख्य दर्शन में २५ तत्त्व माने गये है, जबकि योगदर्शन में ईश्वर को लेकर २६ तत्त्व माने गये हैं। ईश्वर का लक्षण है—क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ही ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये ५ क्लेश हैं। कर्म के दो प्रकार हैं—विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म। कर्म के फल को विपाक कहा जाता है। ईश्वर अपनी इच्छा से अनेक शरीरों का निर्माण कर सकता है, इसे ही निर्माण काय कहा जाता है।

(२. मोक्ष के विषय में शंका और उसका समाधान)

ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य तस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कक्षीक्रियत इति चेत्-उच्यते। तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं बुद्ध्यात्मना परिणतमिति सत्त्वे परितप्यमाने तदारोपवशेन तदभेदावगाहिपुरुषोऽपि तप्यत इत्युच्यते। तदुक्तमाचार्यैः-

१. सत्त्वं तप्यं बुद्धिभावेन वृत्तं
भावो ये वा राजसास्तापकास्ते।
तप्याभेदग्राहिणी तामसी या
वृत्तिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा।। इति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि पुष्कर पत्र के समान निर्लेप इस जीव को ताप कैसे हो सकता है, जिसके कारण परमेश्वर को अनुग्राहक के रूप में स्वीकार किया जाता है तो इसका देते हैं—तप्त करने वाले रजोगुण के कारण बुद्धि के रूप में परिणत सत्त्व ही तपता है तथा सत्त्व के तप्त होने पर उसके आरोप के कारण सत्त्व से अभेद रखने वाला पुरुष भी तप्त होता है—ऐसा कहा जाता है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

बुद्धि के रूप में विराजमान सत्त्व ही तप्त होता है। जो रजोगुणी भाव हैं, वही तापक होते हैं। तप्य के साथ अभेद को ग्रहण करने वाली जो तामसी मनोवृत्ति है, उसी के कारण ऐसा कहा जाता है कि आत्मा तप्य है।

विशेष—जिस प्रकार कमल का पत्ता पानी में रहकर भी उसके स्पर्श से रहित रहता है, उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति से निर्लिप्त है, तथापि भ्रमवश यह प्रतीति होती है कि पुरुष को संताप हो रहा है। वस्तुतः सत्त्व रूप बुद्धि, जो कि प्रकृति का प्रथम कार्य है, उसे ही संताप होता है तथा उसे तपाने वाला है—रजोगुण। लेकिन बुद्धि का पुरुष

के साथ ऐसा अन्योन्य सम्बन्ध है कि तमोगुण के कारण पुरुष ऐसा समझता है कि मुझे ही संताप हो रहा है।

पञ्चशिखेनाप्युक्तम्–अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपततीति। भोक्तृशक्तिरिति चिच्छक्तिरुच्यते। सा चात्मैव। परिणामिन्यर्थे बुद्धितत्त्वे प्रतिसंक्रान्तेव प्रतिबिम्बितेव तद्वृत्तिमनुपततीति बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सा चिच्छक्तिर्बुद्धिच्छायापत्त्या बुद्धिवृत्त्यनुकारवतीति भावः।

अनुवाद—पञ्चशिख ने भी कहा है—भोक्ता की शक्ति अपरिणामिनी है अर्थात् उसका परिणाम नहीं होता है। तथा इसका प्रतिसंक्रमण (अन्यत्रगमन) भी नहीं होता। (वह भोक्तृशक्ति) परिणत होने वाले विषय में मानो प्रतिसंक्रान्त होकर उसी की वृत्ति को प्राप्त करती है। भोक्तृशक्ति को ही चित् शक्ति कहा जाता है। वह चित् शक्ति आत्मा ही है। परिणामीविषय 'बुद्धि तत्त्व' में मानो प्रतिसंक्रान्त होकर अर्थात् मानो प्रतिबिम्बित होकर वह चित् शक्ति उसी बुद्धि की वृत्ति को प्राप्त करती है। अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर वह चित् शक्ति बुद्धि की छाया के कारण बुद्धि वृत्ति के आकार को प्राप्त करती है यह तात्पर्य है।

विशेष—पुरुष प्रकृति से सदैव निर्लिप्त ही रहता है। यह पुरुष ही चित्शक्ति या भोक्तृशक्ति है। प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है। बुद्धि में जब पुरुष की छाया पड़ती है तथा पुरुष में बुद्धि की छाया पड़ती है तो भ्रमवश पुरुष के धर्म बुद्धि मे तथा बुद्धि के धर्म पुरुष में प्रतीत होते हैं। जैसे बुद्धि कर्त्री है, तथा पुरुष चेतन। लेकिन परस्पर प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरुष में कर्तृत्व की प्रतीति तथा बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होती है। यही है पुरुष का बुद्ध्याकार को प्राप्त करना।

तथा शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासत इति। इत्थं तप्यमानस्य पुरुषस्यादर-नैरन्तर्य-दीर्घकालानुबन्धि-यम-नियमाद्यष्टाङ्गयोगानुष्ठानेन परमेश्वरप्रणिधानेन च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवाय जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशाः समूलकाषं कविता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयः समूलघातं हताः भवन्ति। ततश्च पुरुषस्य निर्लेपस्य कैवल्येनावस्थानं कैवल्यमिति सिद्धम्।

अनुवाद—इस प्रकार पुरुष शुद्ध होने पर भी बुद्धि गत प्रत्यय (ज्ञान) का अनुकरण करता है तथा उसका अनुकरण करते हुए यद्यपि पुरुष बुद्धिरूप नहीं है, फिर भी वह बुद्धिरूप प्रतिभासित होता है। इस प्रकार सन्तप्त हो रहे पुरुष को आदरपूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक यम, नियम आदि अष्टांग योग का अनुष्ठान करने से तथा ईश्वर की भक्ति से बुद्धि (सत्त्व) तथा पुरुष का भेद ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे समस्त विघ्न दूर होते हैं तथा अविद्या आदि पञ्च क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं। कुशल तथा अकुशल कर्माशय भी समूह नष्ट हो जाते हैं। उसके बाद निर्लेप पुरुष कैवल्य (केवलभाव) में स्थित रहता है—इस प्रकार कैवल्य सिद्ध होता है।

विशेष—सत्त्व (बुद्धि) तथा पुरुष की अन्यथाख्याति (भेदज्ञान) होने पर कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् जब पुरुष यह जान लेता है कि मैं बुद्धि से भिन्न हूँ, तब वह केवल भाव में स्थित हो जाता है। यही है—कैवल्य। पुण्य कर्म से कुशल कर्माशय तथा पापकर्म से अकुशल कर्माशय का निर्माण होता है।

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या-'अथ' शब्द का अर्थ)

तत्र 'अथ योगानुशासनम्' (पा.यो.सू. १/१) इति प्रथमसूत्रेण प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गविषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिरूपमनुबन्धचतुष्टयं प्रतिपाद्यते।

अत्राथशब्दोऽधिकारार्थः स्वीक्रियते। अथशब्दास्यानेकार्थत्वे सम्भवति कथमारम्भार्थत्वपक्षे पक्षपातः सम्भवेत्? अथशब्दस्य मङ्गलाद्यनेकार्थत्वं नामलिङ्गानुशासनेनानुशिष्टं-'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ।' (अमरको. ३/३/२४६) इति। अत्र प्रश्नकात्स्न्र्ययोरसम्भवेऽपि आनन्तर्यमङ्गलपूर्वप्रकृतापेक्षारम्भलक्षणानां चतुर्णामिर्थानां सम्भवादारम्भार्थत्वानुपपत्तिरिति चेत्-

अनुवाद—उसमें 'अथ योगानुशासनम्' (अब योगशास्त्र का अनुशासन प्रारम्भ हो रहा है—पा.यो.सू. १.१) इस प्रथम सूत्र के द्वारा बुद्धिमान् लोगों की प्रवृत्ति के अंग के रूप में विषय, प्रयोजन, सम्वन्ध तथा अधिकारी—इन अनुबन्धचतुष्टय का प्रतिपादन हो रहा है।

यहाँ 'अथ' शब्द अधिकार (प्रारम्भ) के अर्थ में स्वीकार किया गया है। 'अथ' शब्द के अनेक अर्थ सम्भव होने पर भी 'आरम्भ' अर्थ के पक्ष में पक्षपात कैसे होगार 'अथ' शब्द के मंगल आदि अनेक अर्थ हैं—यह बात नामलिङ्गानुशासन (अमरकोश) में बतलायी गयी है—'अथो' तथा 'अथ' इन दोनों शब्दों के पाँच अर्थ हैं—मंगल, अनन्तर, आरम्भ (अधिकार), प्रश्न तथा पूर्णता (अमरकोश-३.३.२४६)। यहाँ 'अथ' शब्द का 'प्रश्न' तथा 'पूर्णता' अर्थ सम्भव नहीं है, फिर भी आनन्तर्य, मंगल, पूर्वप्रकृत की अपेक्षा तथा आरम्भ—ये चार अर्थ सम्भव हैं, इसलिये 'अथ' शब्द का केलव 'आरम्भ' अर्थ मानना ठीक नहीं है—यह पूर्वपक्ष हुआ।

विशेष—योगसूत्र के प्रथमसूत्र के माध्यम से चार अनुबन्धों का प्रतिपादन किया गया है—

१. अधिकार—योगशास्त्र को जानने का अधिकारी।

२. विषय—योगशास्त्र का विषय।

३. सम्बन्ध—योगशास्त्र तथा उसके विषय का परस्पर सम्बन्ध।

४. प्रयोजन—योगशास्त्र का उद्देश्य।

अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश का दूसरा नाम लिंगानुशासन है। अमरकोश में 'अथ' शब्द के पाँच अर्थ बतलाये गये हैं। इस पर पूर्वपक्षी का यह कहना है कि इन

पाँचों अर्थों में 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार या आरम्भ ही क्यों माना गया, अन्य अर्थों की अपेक्षा क्यों नहीं की गयी ?

मैवं मंस्थाः। विकल्पासहत्वात्। आनन्तर्यमथशब्दार्थ इति पक्षे यत्कुतश्चिदानन्तर्यं पूर्ववृत्तशमाद्यसाधारणात्कारणादानन्तर्यं वा? न प्रथमः। 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गी. ३/५) इति न्यायेन सर्वो जन्तुरवश्यं किंचित्कृत्वा किंचित्करोत्येवेति तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्ततया तदर्थाथ-शब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः।

न चरमः। शमाद्यनन्तरं योगस्य प्रवृत्तावपि तस्यानुशासनप्रवृत्त्यनुबन्ध-त्वेनोपात्ततया शब्दतः प्राधान्याभावात्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) ऐसा नहीं मानना चाहिये। 'अथ' शब्द का अर्थ 'आनन्तर्य' मानने पर कौन सा अर्थ होगा—'जिस किसी पदार्थ के बाद' या फिर 'पहले किये गये शम आदि असाधरण कारणों के बाद'। पहला विकल्प ठीक नहीं है। 'कोई व्यक्ति किसी क्षण भी बिना कर्म करते हुए नहीं रहता' (गीता ३.५) इस न्याय से सारे जीव अवश्य ही कुछ करने के बाद ही कुछ करते हैं इसलिये यदि अथ शब्द का अर्थ 'जिस किसी पदार्थ के बाद' यह नहीं मानते हैं, तो भी (उक्त न्याय से) यह अर्थ प्राप्त ही है, फिर तो अथ शब्द का प्रयोग ही व्यर्थ होने लगेगा।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। शम आदि के बाद योग की प्रवृत्ति होने पर भी अनुशासन की प्रवृत्ति के गौण अर्थ (अनुबन्ध) के रूप में योग का ग्रहण किया गया है क्योंकि शब्दतः योग की प्रधानता नहीं हैं।

विशेष—यदि 'अथ योगानुशासनम्' यहाँ अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य (बाद में) मान लें तो दो विकल्प उपस्थित होते हैं—

१. किसी भी कार्य के बाद

२. शम आदि के बाद

शमादि ६ साधन हैं—

शम = मन का संयम

दम = इन्द्रियों का संयम

उपरति = इन्द्रियों का संयम

तितिक्षा = द्वन्द्वों को सहन करना

श्रद्धा = विश्वास

समाधान = समाधि

यदि प्रथम विकल्प मानें तब तो सूत्र में 'अथ' शब्द रखना ही व्यर्थ है, क्योंकि किसी न किसी कार्य के बाद ही योगानुशासन होगा।

यदि दूसरा विकल्प मानें तो 'अथ' शब्द के अर्थ का सम्बन्ध 'योग' शब्द के अर्थ से नहीं हो पायेगा। 'योगानुशासन' यहाँ 'योगस्य अनुशासनम् योगानुशासनम्' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास है। तत्पुरुष समास में उत्तर पदार्थ प्रधान होता है तथा पूर्वपदार्थ गौण रहता है। 'अथ' पदार्थ का अन्वय प्रधान पदार्थ 'अनुशासन' के साथ ही हो सकता है, गौण पदार्थ योग के साथ नहीं।

न च शब्दतः प्रधानभूतस्यानुशासनस्य शमाद्यानन्तर्यमथशब्दार्थः किं न स्यादिति वदितव्यम्। अनुशासनमिति हि शास्त्रमाह। अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलसहितो योगो येन तदनुशासनमिति व्युत्पत्तेः।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी को) यह नहीं कहना चाहिये कि 'अथ' शब्द का अर्थ यह मान लें कि जो शब्द की दृष्टि से प्रधानभूत अनुशासन है, वह शमादि के बाद होगा। (सिद्धान्ती कहते हैं कि) अनुशासन शब्द का अर्थ है—शास्त्र। जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय तथा फल के सहित योग का अनुशासन होता है अर्थात् व्याख्या होती है, यह अनुशासन शब्द की व्युत्पत्ति है।

विशेष—पूर्वपक्षी का यह कहना है कि यदि अथ शब्द के अर्थ 'शमाद्यानन्तर्य' का सम्बन्ध यदि योग से नहीं हो सकता है, क्योंकि योग गौण पदार्थ है तो फिर प्रधान पदार्थ अनुशासन के साथ शमाद्यानन्तर्य का सम्बन्ध हो। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अनुशासन तो तत्त्वज्ञान का वर्णन करने की इच्छा होने के बाद होता है। अतः 'शमाद्यानन्तर्य' के साथ अनुशासन का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

अनुशासनस्य च तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तरभावित्वेन शमदमाद्यानन्तर्य-नियमाभावात्। जिज्ञासाज्ञानयोस्तु शमाद्यानन्तर्यमाम्नायते-'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ. उ. ४/४/२३) इत्यादिना। नापि तत्त्वज्ञानचिख्यापयिषानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्य सम्भवेऽपि श्रोतृप्रतिपत्ति-प्रवृत्त्योरनुपयोगेनानभिधेयत्वात्।

अनुवाद—तत्त्वज्ञान का वर्णन करने की इच्छा के बाद ही अनुशासन होता है, इसलिये शमदमादि के बाद ही अनुशासन हो, इसका कोई नियम नहीं है। जिज्ञासा तथा ज्ञान शमादि के बाद होता है—यह बात वेदों में कही गयी है—इसलिये शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु तथा एकाग्र होकर आत्मा में ही परमात्मा को देखे। (बृ.उप. ४.४.२३) 'तत्त्वज्ञान को कहने की इच्छा के बाद' यह अथ शब्द का अर्थ नहीं है। यह अर्थ सम्भव होने पर भी इस अर्थ का श्रोताओं के ज्ञान तथा प्रवृत्ति में कोई उपयोग न होने के कारण इस अर्थ को अभिधेय नहीं माना जाता।

विशेष—जब तत्त्व ज्ञान को कहने की इच्छा होती है, तभी अनुशासन (शास्त्रोपदेश) किया जाता है। अतः शमादि के बाद अनुशासन नहीं हो, बल्कि शमादि के बाद शास्त्र को जानने की इच्छा (जिज्ञासा) तथा शास्त्र ज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि

कोई कहे कि 'अथ' शब्द का अर्थ भले ही शमाद्यानन्तर्य नहीं हो, लेकिन 'तत्त्व ज्ञान को कहने की इच्छा के बाद' यह 'अथ' शब्द का अर्थ मान लिया जाये। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि तत्त्व ज्ञान को कहने की इच्छा के बाद श्रोता का ज्ञान या फिर श्रोता की प्रवृत्ति—इन दोनों में से कुछ भी नहीं होता है। इसलिये अथ शब्द का अर्थ 'तत्त्वज्ञान को कहने की इच्छा के बाद' यह नहीं है।

तवापि निःश्रेयसहेतुतया योगानुशासनं प्रमितं न वा? आद्ये तदभावेऽपि उपादेयत्वं भवेत्। द्वितीये तद्भावेऽपि हेयत्वं स्यात्। प्रमितं चास्य निःश्रेयसनिदानत्वम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन दवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। (का. २/१२) इति श्रुतेः।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि। (गी. २/५३) इति स्मृतेश्च।

अनुवाद—(सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से पूछता है कि) आपलोग निःश्रेयस के कारण के रूप में योगानुशासन को स्वीकार करते हैं या नहीं ? प्रथम विकल्प (योगानुशासन निःश्रेयस का कारण है) मानने पर उसके (अर्थात् तत्त्वज्ञान को कहने की इच्छा के) न होने पर भी योगानुशासन उपादेय होगा। दूसरा विकल्प ((योगानुशासन निःश्रेयस का कारण नहीं है) मानने पर उसके (अर्थात् तत्त्वज्ञान को कहने की इच्छा के) होने पर भी योगनुशासन् को हेय (त्याज्य) माना जायेगा और योगानुशासन निःश्रेयस का कारण है—यह बात सिद्ध हो चुकी है।

'अध्यात्मयोग की प्राप्ति होने से परमात्मा का साक्षात्कार करके धीर व्यक्ति हर्ष तथा शोक दोनों को छोड़ देता है। (काठकोपनिषद् २.१२) इस श्रुति प्रमाण से तथा 'जब तुम्हारी बुद्धि समाधि में अचल हो जायेगी, तब तुम योग को प्राप्त करोगे (गीता २.५३)' इस स्मृति प्रमाण से भी (यह सिद्ध है कि योगानुशासन निःश्रेयस का कारण है)

विशेष—यदि पूर्वपक्षी यह मानता है कि तत्वज्ञान को कहने की इच्छा होने के पश्चात् योगानुशासन किया जाता है, तो इस पर सिद्धान्ती कहते हैं योगानुशासन को निःश्रेयस का कारण मानें या न मानें—दोनों ही स्थिति में 'अथ' शब्द का अर्थ 'तत्वज्ञान को कहने की इच्छा के बाद' यह नहीं किया जा सकता है। भले ही योगानुशासन तत्त्व ज्ञान को कहने की इच्छा के बाद ही होता है, लेकिन उसे अथ शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रोता का ज्ञान या प्रवृत्ति दोनों ही तत्त्व ज्ञान को कहने की इच्छा के बाद नहीं होता है।

अत एव शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनोपयोगाद्यानन्तर्यं पराकृतम्। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू. १/१/१) इत्यत्र तु ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वेनाधिकारार्थत्वं परित्यज्य साधनचतुष्टयसम्पत्तिविशिष्टाधिकारिसमर्पणाय शमदमादिवाक्यविहि-ताच्छमादेरानन्तर्यमथशब्दार्थ इति शंकराचार्यैर्निरटङ्कि।

अनुवाद—इसीलिये शिष्य का प्रश्न, तपस्या, रसायन का उपयोग आदि को बाद योगानुशासन होगा—यह मत भी खण्डित किया गया। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १.१.१) यहाँ पर चूंकि ब्रह्मजिज्ञासा का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता है, इसलिये 'अथ' शब्द का 'अधिकार' अर्थ छोड़ा गया तथा साधनचतुष्टय सम्पत्ति से विशिष्ट अधिकारी को लाने की लिये 'अथ' शब्द का अर्थ शमदमादि वाक्य से विहित 'शमाद्यानन्तर्य' माना गया ऐसा श्रीशंकराचार्य ने बतलाया है।

विशेष—'अथ योगानुशासनम्' यहाँ कथमपि 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य नहीं है, अपितु 'अधिकार' (आरम्भ) है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह ब्रह्मसूत्र का पहला सूत्र है। यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ माना गया है—शम दम आदि के बाद। पूर्व के परिच्छेद में बृहदारण्यकोपनिषद् का एक वाक्य आया था—'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृहदा. ४.४.२३) यही है शमादि वाक्य।

साधन चतुष्टय हैं—

१. नित्य तथा अनित्य वस्तुओं में भेद ज्ञान

२. ऐहिक तथा आमुष्मिक सुखभोग से विरक्ति।

३. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान की प्राप्ति।

४. मोक्ष माने की इच्छा।

(३. क. 'अथ' शब्द मङ्गल का द्योतक भी नहीं)

अथ मा नाम भूदानन्तर्यार्थोऽशब्दः। मङ्गलार्थः किं न स्यात्? न स्यात् मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अगर्हिताभीष्टावाप्तिमङ्गलम्। अभीष्टं च सुखावाप्तिदुःखपरिहाररूपतयेष्टम्। योगानुशासनस्य च सुखदुःखनिवृत्योरन्यतर-त्वाभावान्न मङ्गलता। तथा च योगानुशासनं मङ्गलमिति न सम्पनीपद्यते।

अनुवाद—ठीक है। 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य न हो, फिर भी 'अथ' शब्द का अर्थ 'मंगल' क्यों नहीं होगा ? (सिद्धान्ती कहते हैं कि 'अथ' शब्द का अर्थ 'मंगल') नहीं हो सकता है। क्योंकि वाक्यार्थ में मंगल का समन्वय नहीं हो पाता है। अनिन्द्य तथा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति ही मंगल है। सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के रूप में जो इष्ट है वही अभीष्ट है। सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति इन दोनों में से योगानुशासन कुछ भी नहीं है, इसलिये योगानुशासन की मंगलता नहीं है। इस प्रकार योगानुशासन मंगल है—यह बात सिद्ध नहीं होती है।

मृदङ्गध्वेरिवाथशब्दश्रवणस्य कार्यतया मङ्गलस्य वाच्यत्वलक्ष्यत्वयोरसम्भ-वाच्च। यथार्थिकार्थो वाक्यार्थे न निविशते तथा कार्यमपि न निविशेत। अपदार्थ-त्वाविशेषात्। पदार्थ एव वाक्यार्थे समन्वीयते। अन्यथा शब्दप्रमाणकानां शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यत इति मुद्राभङ्गः कृतो भवेत्।

अनुवाद—जिस प्रकार मृंदग की ध्वनि का कार्य है—मंगल, उसी प्रकार अथ शब्द के श्रवण का कार्य भी मंगल है, इसलिये 'मंगल' अर्थ को वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ मानना असम्भव है। जिस प्रकार आर्थिक अर्थ (अर्थापत्ति प्रमाण से प्राप्त अर्थ) का निवेश वाक्यार्थ में नहीं होता, उसी प्रकार कार्य का निवेश भी वाक्यार्थ में नहीं होता है। क्योंकि कार्य भी आर्थिक अर्थ की तरह ही अपदार्थ है। वाक्यार्थ में पदार्थ का ही समन्वय होता है। अन्यथा शब्दप्रमाण मानने वालों (वैयाकरणों) को शाब्दी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती है' यह नियम तोड़ना पड़ेगा।

विशेष—'अथ' शब्द का कार्य है—मंगल करना। अत: 'मंगल' अथ शब्द का न तो वाच्यार्थ है और न ही लक्ष्यार्थ। वाक्यार्थ में उसी पदार्थ का अन्वय होता है जो या तो वाच्यार्थ हो या फिर लक्ष्यार्थ। फिर 'मंगल' तो अथ का अर्थ ही नहीं इसलिये उसका वाक्यार्थ में अन्वय नहीं हो सकता।

'देवदत्त मोटा होने पर भी दिन में भोजन नहीं करता' इस वाक्य को सुनने पर यह बात: अर्थत: निकलती है कि 'देवदत्त रात में भोजन करता है।' यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञात तो होती हैं किन्तु यह वाक्यार्थ नहीं है, बल्कि आर्थिक अर्थ है, अर्थात् वाक्यार्थ से प्राप्त अर्थ है। इसलिये जिस प्रकार आर्थिक अर्थ का वाक्यार्थ में समन्वय नहीं होता, उसी प्रकार कार्य भी वाक्यार्थ में समन्वित नहीं होता है। वाक्यार्थ में शाब्दी अर्थ (पदार्थ) की ही आकांक्षा होती है, अशाब्द (आर्थिक) अर्थ की नहीं—यह वैयाकरणों का नियम है।

ननु प्रारिप्सितप्रबन्धपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहप्रशमनाय शिष्टाचारपरिपालनाय च शास्त्रारम्भे मङ्गलाचरणमनुष्ठेयम्। 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, आयुष्मत्पुरुषकाणि वीरपुरुषकाणि च भवन्ति' (पात. भाष्य. आह्नि. ३) इत्यभियुक्तोक्तेः। भवति च मङ्गलार्थोऽथशब्दः-

२. ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

इतिस्मृतिसम्भवात्। तथा च 'वृद्धिरादैच्' (पा.सू. १/१/१) इत्यादौ वृद्ध्यादिशब्दवदथशब्दो मङ्गलार्थः स्यादिति चेत्।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि प्रारम्भ होने वाले ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नसमूह का नाश करने के लिये तथा शिष्टाचार का पालन करने के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये। क्योंकि शिष्ट लोगों का यह कहना है कि 'जिन शास्त्रों के प्रारम्भ में, मध्य में तथा अन्त में मंगलाचरण किया जाता है, उनको पढ़ने वाले लोग दीर्घायु तथा वीर होते है'। (पातमहा. ३१.३) 'अथ' शब्द का अर्थ मंगल ही होता है—'ओंकार' तथा 'अथ' ये दोनों शब्द प्राचीन काल में ब्रह्मा जी के कण्ठ से बाहर निकले इसलिये ये दोनों मांगलिक है।

यह स्मृति में कहा गया है। इसी तरह 'आत् और ऐच् की वृद्धि संज्ञा होती है' (पा.सू. १.१.१) इत्यादि में वृद्धि आदि शब्दों की तरह 'अथ' शब्द भी मंगलार्थक होना चाहिये।

विशेष—पूर्वपक्षी का यह कहना है कि 'अथ' शब्द का अर्थ मंगल है। इस मत का खण्डन आगे के परिच्छेद में सिद्धान्ती ने किया है।

मैवं भाषिष्ठाः। अर्थान्तराभिधानाय प्रयुक्तस्याथशब्दस्य वीणावेण्वादिध्वनिवत् श्रवणमात्रेण मङ्गलफलत्वोपपत्तेः। अथार्थान्तरारम्भवाक्यार्थधीफलकस्याथशब्दस्य कथमन्यफलकतेति चेन्न। अन्यार्थं नीयमानोदकुम्भोपलम्भवत्तत्सम्भवात्। न च स्मृतिव्याकोपः। माङ्गलिकाविति मङ्गलप्रयोजनत्वविवक्षया प्रवृत्तेः।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) ऐसा मत कहिये। अर्थान्तर का अभिधान करने के लिये प्रयुक्त 'अथ' शब्द का श्रवण करने मात्र से मङ्गल फल की प्राप्ति होती है, जिस प्रकार अर्थान्तराभिधायक वीणा, वेणु आदि की ध्वनि के श्रवण मात्र से मंगल होता है। पूर्वपक्षी की शंका है कि जब 'अथ' शब्द से अन्य अर्थ का प्रारम्भ करने वाले वाक्यार्थ का बोध होता है, तो फिर 'अथ' शब्द का अन्य फल (मंगल) कैसे हो सकता है ? तो सिद्धान्ती कहते हैं कि ये मत ठीक नहीं है। अन्य व्यक्ति के लिये नीयमान जलकुम्भ की तरह ही ऐसा हो सकता है। स्मृति का विरोध भी नहीं है। 'मांगलिकौ' का अर्थ है—'मंगल प्रयोजन वाले'—इसी विवक्षा से स्मृति की प्रवृत्ति हुई है।

विशेष—वीणा, वेणु, मृदंग आदि वाद्यों का प्रयोग किसी अन्य उद्देश्य से होने पर भी उनके श्रवण मात्र से मंगल फल होता है। इसी प्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द भी आरम्भ अर्थ का बोधक है तथापि ग्रन्थारम्भ में अथ शब्द के श्रवण से मंगल भी होता है। जिस प्रकार कोई स्त्री अपने घर के उपयोग के लिये जल कलश भरकर ले जाती है, लेकिन यात्रारम्भ करने वाले व्यक्ति के लिये उस कलश का दर्शन करने से मंगल होता है। इसलिये अथ शब्द मंगलवाचक नहीं है।

स्मृति में 'मांगालिकौ' का अर्थ यह नहीं है कि 'अथ' शब्द मंगल अर्थ का बोधक है, बल्कि 'मांगलिकौ' का अर्थ है कि 'अथ' शब्द का प्रयोजन मंगल है।

(४. 'अथ' का आरम्भ या अधिकार)

नापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दः। फलत आनन्तर्याव्यतिरेकेण प्रागुक्तदूषणानुषङ्गात्। किमयमथशब्दोऽधिकारार्थोऽथानन्तर्यार्थ इत्यादिविमर्शवाक्ये पक्षान्तरोपन्यासे तत्सम्भवेऽपि प्रकृते तदसम्भवाच्च।

अनुवाद—'अथ' शब्द का पूर्व प्रस्तुत वस्तु से सम्बन्ध भी नहीं है। इसलिये 'अथ' शब्द को पूर्व प्रकृत से सम्बन्धित मानने पर भी फलतः यह अर्थ (पूर्व प्रकृत सम्बन्ध) आनन्तर्य से भिन्न नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त दोष ही आते हैं। 'क्या यह 'अथ' शब्द 'अधिकार' अर्थ का बोधक है या 'आनन्तर्य' अर्थ का बोधक 'इस

प्रकार के विचार वाक्य में दूसरे पक्ष (आनन्तर्य अर्थ) को मानने पर यह पूर्व प्रकृत सम्बन्ध मानना सम्भव है—लेकिन प्रस्तुत अर्थ (अधिकार-अर्थ) मानने पर (पूर्वप्रकृतसम्बन्ध मानना) सम्भव नहीं है।

तस्मात्पारिशेष्यादधिकारपदवेदनीयप्रारम्भार्थोऽथशब्द इति विशेषो भाष्यते। यथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिः' इत्यत्राथशब्द ऋतुविशेषप्रारम्भार्थः परिगृहीतः, यथा च 'अथ शब्दानुशासनम्' (पास.भा. १/१) इत्यत्राथशब्दो व्याकरणशास्त्राधिकारार्थस्तद्वत्।

अनुवाद—इसलिये परिशेषत: 'अथ' शब्द का अर्थ है—अधिकार पद से बोध्य प्रारम्भ। यही विशेष भाष्यकार (व्यास) ने बतलाया है। जिस प्रकार 'अब यह ज्योति है, यह विश्वज्योति है' यहाँ 'अथ' शब्द से 'यज्ञ विशेष का प्रारम्भ' यह अर्थ लिया गया है तथा जिस प्रकार 'अब शब्दानुशासन प्रारम्भ हो रहा है' (पातञ्जल महाभाष्य १.१) यहाँ 'अथ' शब्द से व्याकरण शास्त्र का प्रारम्भ लिया गया है, उसी प्रकार 'अथ योगानुशासनम्' में अथ शब्द प्रारम्भार्थक है।

तदभाषि व्यासभाष्ये योगसूत्रविवरणपरे अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते इति। तद् व्याचख्यौ वाचस्पतिः। तदित्थम्–अमुष्याथशब्दस्याधिकारार्थत्वपक्षे शास्त्रेण प्रस्तूयमानस्य योगस्योपवर्तनात्समस्तशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्यस्य सुखावबोधप्रवृत्तिर्भवतीत्यथशब्दस्याधिकारार्थत्वमुपपन्नम्।

अनुवाद—यही बात योगसूत्र के व्याख्यान के अवसर पर व्यासभाष्य में कही गयी है कि 'अथ' शब्द का प्रयोग 'अधिकार' अर्थ में किया गया है। वही बात आचार्य वाचस्पति ने कही है। इस योगशास्त्र में 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक मानने पर शास्त्र के द्वारा प्रस्तुत योग की प्रवृत्ति सम्भव है। इसलिये समस्त शास्त्रों के तात्पर्यार्थ की व्याख्या करने से शिष्यों की प्रवृत्ति आसानी से होती है। इस प्रकार 'अथ' शब्द का अधिकार्थत्व सिद्ध है।

ननु 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतञ्जलिः कथं योगस्य शासितेति–अद्धा। अत एव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्ग्राह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिन्धुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। यदायमथशब्दोऽधिकारार्थस्तदैवं वाक्यार्थः सम्पद्यते–योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यमिति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि 'योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, अन्य कोई पुरातन नहीं' इस याज्ञवल्य स्मृति के अनुसार योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, तो फिर पतञ्जलि योग के वक्ता कैसे होंगे ? (सिद्धान्ती कहते हैं) ठीक है। इसीलिये जहाँ तहाँ पुराण आदि में योग वर्णन के बिखरे होने के कारण उसको दुर्गाह्य समझकर कृपासिन्धु शेषावतार भगवान् पतञ्जलि ने सार लिखने की इच्छा से विशेष रूप से अनुशासन प्रारम्भ

किया है, न कि साक्षात् शासन। जब यह 'अथ' शब्द अधिकारार्थक माना जाता है, तभी वाक्यार्थ सम्पादित होता है—योगानुशासन शास्त्र को प्रारम्भ हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

विशेष—योग के सर्वप्राचीन वक्ता हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा हैं। इसके अतिरिक्त पुराणों में अनेक स्थलों पर योग का प्रतिपादन हुआ है। इसीलिये पतञ्जलि ने अपने पूर्व आचार्यों के मतानुसार योग का पुनः उपदेश दिया है। इसीलिये इसे अनुशासन (पुनः उपदेश) कहा गया है, न कि शासन (उपदेश)।

(५. योग के चार अनुबन्ध)

तत्र शास्त्रे व्युत्पाद्यमानतया योगः ससाधनः सफलो विषयः। तद्व्युत्पादनमवान्तरफलम्। व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं परमप्रयोजनम्। शास्त्रयोगयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः। योगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावलक्षणः। स च श्रुत्यादिप्रसिद्ध इति प्रागेवावादिषम्। मोक्षमपेक्षमाणा एवाधिकारिण इत्यर्थसिद्धम्।

अनुवाद—शास्त्र में व्युत्पादित होने के कारण साधन तथा फल के सहित योग इस शास्त्र का विषय है। योग का व्युत्पादन करना शास्त्र का अवान्तर फल है। शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित योग का परमप्रयोजन कैवल्य (मोक्ष) है। शास्त्र तथा योग का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। योग तथा कैवल्य का साध्यसाधनत्व सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध श्रुति आदि में प्रसिद्ध है यह बात मैं पहले ही बोल चुका हूँ। मोक्ष की इच्छा करने वाले लोग इस शास्त्र के अधिकारी हैं यह बात अर्थतः सिद्ध है।

विशेष—प्रारम्भ में यह बतलाया गया था कि योगसूत्र के प्रथमसूत्र की व्याख्या के माध्यम से योगशास्त्र के अनुबन्धचतुष्टय का वर्णन किया गया है। उसी का विस्तार इस परिच्छेद में किया गया है—

१. अधिकारी—मोक्षेच्छु व्यक्ति योगशास्त्र का अधिकारी है।

२. विषय—साधन तथा फल से युक्त योग।

३. सम्बन्ध—योग शास्त्र तथा उसके विषय 'योग' का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

४. प्रयोजन—कैवल्य।

न च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र.सू. १/१/१) इत्यादावधिकारिणोऽर्थतः, सिद्धिराशङ्कनीया। तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानप्रणाडिकयाऽधिकारिसमर्पणसिद्धौ आर्थिकत्वशङ्कानुदयात्। अत एवोक्तं-श्रुतिप्राप्ते प्रकरणादीनामनवकाश इति। अस्यार्थः-यत्र हि श्रुत्यर्थो न लभ्यते तत्रैव प्रकरणादयोऽर्थं समर्पयन्ति नेतरत्र। यत्र तु शब्दादेवार्थस्योपलम्भस्तत्र नेतरस्य सम्भवः।

अनुवाद—ऐसी शंकार नहीं करनी चाहिये कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १.१.१) इत्यादि में अधिकारी की सिद्धि अर्थत: हो जाती है। वहाँ 'अथ' शब्द से 'आनन्तर्य' का अभिधान करने के माध्यम से अधिकारी का बोध होता है, इसलिये 'अधिकारी' अर्थ को अर्थत: मानने की शंका का उदय नहीं होता। इसीलिये कहा गया है—जब श्रुति से अर्थ की प्राप्ति होती है, तब प्रकरण आदि प्रमाणों का अवकाश नहीं होता। इसका अर्थ है—जहाँ श्रुति के अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, वहीं प्रकरण आदि से अर्थ की प्राप्ति होती है, अन्यत्र नहीं। जहाँ शब्द से ही अर्थ की प्राप्ति होती है, वहाँ दूसरे साधन की सम्भावना नहीं होती।

विशेष—जिस प्रकार 'अथ योगानुशासनम्' में अथ शब्द से अर्थत: अधिकारी की सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में भी 'अथ' शब्द से 'अधिकारी' अर्थ को अर्थत: प्राप्त मान लिया जाये। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—इन छ: प्रमाणों से अर्थ की प्राप्ति होती है। जहाँ इन प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाण प्रबल हैं तथा उत्तरोत्तर प्रमाण दुर्बल हैं। इसलिये जब श्रुति प्रमाण से अर्थ की प्राप्ति होती है, तब प्रकरण प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में श्रुति से ही अधिकारी की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये प्रकरण की वहाँ आवश्यकता नहीं है। 'अथ योगानुशासनम्' में चूँकि 'अथ' शब्द का अर्थ 'अधिकार' है, इसलिये अधिकार से ही अधिकारी की सिद्धि अर्थत: हो जाती है, परन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य है, न कि अधिकार। इसलिये वहाँ अधिकारी का बोध अर्थत: नहीं होता, बल्कि श्रुति प्रमाण से अधिकारी का ज्ञान होता है। अधिकारी का ज्ञान कराने वाली श्रुति है—'शान्तो दान्त: उपरतस्तितिक्षु: समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.२३)

शीघ्रबोधिन्या श्रुत्या विनियोगस्य बोधनेन निराकाङ्क्षतयेतरेषामनवकाशात्। किं च श्रुत्या बोधितेऽर्थे तद्विरुद्धार्थं प्रकरणादि समर्पयति, अविरुद्धं वा? न प्रथम:। विरुद्धार्थबोधकस्य तस्य बाधितत्वात्। न चरम:। वैयर्थ्यात्। तदाह- 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै.सू. ३/३/१४) इति।

अनुवाद—शीघ्र ज्ञान कराने वाली श्रुति से विनियोग का ज्ञान हो जाने पर प्रकरणादि अन्य प्रमाणों की आकांक्षा नही रहती इसलिये प्रकरण आदि का कोई अवकाश नहीं है। फिर यह प्रश्न है कि श्रुति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होने पर प्रकरण प्रमाण से श्रुति विरुद्ध अर्थ का ज्ञान होता है या श्रुति से अविरुद्ध अर्थ का ज्ञान होता है ? प्रथम विकल्प (प्रकरण से श्रुतिविरुद्ध अर्थ का ज्ञान होता है) सम्भव नहीं है। क्योंकि श्रुति विरुद्ध अर्थ का बोधक प्रकरण प्रमाण बाधित हो जायेगा। दूसरा विकल्प (प्रकरण प्रमाण से श्रुति-अविरुद्ध अर्थ का ज्ञान होता है) भी ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुति-अविरुद्ध अर्थ बतलाना

व्यर्थ है। जैसा कि कहा गया है—'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या— इन छः प्रमाणों का समवाय होने पर बाद का प्रमाण दुर्बल है—क्योंकि बाद के प्रमाण अर्थ से दूर हैं।' (जै.सू. ३.३.१४)

विशेष—श्रुति आदि छः प्रमाणों में बाद-बाद के प्रमाण पूर्व-पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे अर्थ से दूर होते जाते हैं। इसी कारण इन छः प्रमाणों में श्रुति सर्वाधिक प्रबल है तथा समाख्या सर्वाधिक दुर्बल।

३. बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा।
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥ इति च।

तस्माद्विषयादिमत्त्वात् ब्रह्मविचारकशास्त्रवद्योगानुशासनमारम्भणीयमिति स्थितम्।

अनुवाद—श्रुति केवल बाधक ही बनती है तथा समाख्या प्रमाण केवल बाधित ही होता है। श्रुति तथा समाख्या के बीच के प्रमाणों (लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान) की बाध्यता तब होती है तब कोई बाधक प्रमाण आ जाता है।

इसलिए विषय आदि चारों अनुबन्ध होने के कारण ब्रह्मविचारशास्त्र की तरह ही योगानुशासन का भी प्रारम्भ होना चहिये—यह सिद्ध है।

(६. योग और शास्त्र में सम्बन्ध)

ननु व्युत्पाद्यमानतया योग एवात्र प्रस्तुतो न शास्त्रमिति चेत्–सत्यम्। प्रतिपाद्यतया योगः प्राधान्येन प्रस्तुतः स च तद्विषयेण शास्त्रेण प्रतिपाद्यत इति तत्प्रतिपादने करणं शास्त्रम्। करणगोचरश्च कर्तृव्यापारो न कर्मगोचरतामाचरति।

अनुवाद—यदि यह पूछा जायें कि व्युत्पादित करने की दृष्टि से यहाँ योग ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये न कि शास्त्र, तो इसका उत्तर है कि सच है। प्रतिपाद्य तो योग ही है, इसलिये प्रधान रूप से वही प्रस्तुत है, फिर भी वह योग योगविषयक शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित होता है, इसलिये योग के प्रतिपादन में शास्त्र ही करण है। कर्ता के व्यापार का ज्ञान करण से ही होता है, न कि कर्म से—यह साधारण नियम है।

यथा छेत्तुर्देवदत्तस्य व्यापारभूतमुद्यमननिपातादिकर्मकरणभूतपरशुगोचरं न कर्मभूतवृक्षादिगोचरम्। तथा च वक्तुः पतञ्जलेः प्रवचनव्यापारापेक्षया योगविषयस्याधिकृतता करणस्य शब्रस्य अभिधानव्यापारापेक्षया तु योगस्यैवेति विभागः। ततश्च योगशास्त्रस्यारम्भः सम्भावनां भजते।

अनुवाद—जैसे पेड़ को काटने वाले देवदत्त का व्यापार भूत जो उद्यमन निपातन कर्म है, (कुल्हाडी को उठाना तथा पटकना) वह करणभूत परशु में दिखलाई पड़ता है, न कि कर्मभूत वृक्षादि में। उसी प्रकार योगशास्त्र के वक्ता आचार्य पतञ्जलि के प्रवचनरूपी व्यापार की अपेक्षा होने पर योग विषय को अधिकृत किया जाता है तथा करण

रूप शस्त्र के अभिधान-व्यापार की अपेक्षा होने पर योग को अधिकृत किया जाता है। ... योगशास्त्र का आरम्भ करने की सम्भावना होती है।

(७. योग का लक्षण और समाधि)

अत्र चानुशासनीयो योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इत्युच्यते। ननु युजिर्योग इ... संयोगार्थतया परिपठिताद् युजेर्निष्पन्नो योगशब्दः संयोगवचन एव स्यान्न ... निरोधवचनः। अत एवोक्तं याज्ञवल्क्येन–

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः। इति।

अनुवाद—यहाँ जिस योग का अनुशासन करना है, वह चित्तवृत्ति निरोध ... है—यह कहा जा रहा है। यदि यह कहा जाये कि 'युजि=योग' इस प्रकार से संयोग अ... में पढ़े गये युज् धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द 'संयोग' अर्थ को बतलाता है न कि नि... अर्थ को। इसीलिये याज्ञवल्क्य ने कहा है—

जीवात्मा तथा परमात्मा का संयोग ही योग है।

तदेतद्वार्तम्। जीवपरयोः संयोगे कारणस्यान्तरकर्मादेरसम्भवात्, अजसंयोगस्य कणभक्षाक्षचरणादिभिः प्रतिक्षेपाच्च। मीमांसकमतानुसारे... तदङ्गीकारेऽपि नित्यसिद्धस्य तस्य साध्यत्वाभावेन शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च। धातूनामने... कार्थत्वेन युजेः समाध्यर्थत्वोपपत्तेश्च। तदुक्तम्–

४. निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥ इति।

अनुवाद—तो (सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह कहना व्यर्थ है। जीवात्मा त... परमात्मा के संयोग में कारण के अन्तर कर्म का होना असम्भव है। कणाद तथा गौ... ने नित्यवस्तुओं का संयोग स्वीकार नहीं किया है। मीमांसकों के मतानुसार नित्यसं... मानने पर भी नित्यसिद्ध संयोग को साध्य नहीं बनाया जा सकता, इसीलिये योगशा... विफल हो जायेगा। धातु अनेकार्थक होते हैं, इसलिये युज् धातु का अर्थ 'समाधि' भी मा... जा सकता है। जैसा कि कहा गया है—

निपात, उपसर्ग तथा धातु—ये तीनों अनेकार्थक कहे गये हैं तथा उनका पा... ही इस बात का निदर्शन (प्रमाण) है।

विशेष—पूर्वपक्षी का मानना है कि 'योग' शब्द का अर्थ 'संयोग' नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों नित्य हैं। इसी प्रकार जब दो वस्तुओं का संयोग होता है, तो उन दोनों संयोगी पदार्थों में से किसी एक में कर्म होना आवश्यक है, तभी तो संयोग हो सकता है, लेकिन जीवात्मा तथा परमात्मा में कर्म होना असम्भव है।

मीमांसकों के अनुसार नित्य वस्तुओं का संयोग भी नित्य होता है। इस दृष्टि से यदि जीव परमात्मा का नित्य संयोग माना जाये, तो फिर योगशास्त्र की कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी।

इस पर सिद्धान्ती (पातञ्जल मत) का कहना है कि योग शब्द भले ही 'युज्' धातु से बना है, लेकिन योगदर्शन में योग शब्द का अर्थ संयोग नहीं है। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। इसलिये युज् धातु का एक अर्थ 'समाधि' भी है। इस प्रकार योग का अर्थ है—समाधि।

अत एव केचन युजिं समाधावपि पठन्ति-'युज समाधौ' (पा. धातुपाठ, दि. ७१, आत्मने.) इति। नापि याज्ञवल्क्यवचनव्याकोपः। तत्रस्थस्यापि योगशब्दस्य सामध्यर्थत्वात्।

५. समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिः प्रत्यगात्मना॥

इति तेनोक्तत्वाच्च। तदुक्तं भगवता व्यासेन (योग भा. १/१) योगः समाधिरिति।

अनुवाद—इसीलिये कुछ लोग युज् धातु का पाठ 'समाधि' अर्थ में भी करते हैं—युज् समाधौ (पाणिनीय धातु पाठ दि.७१ आत्मनेपदी) ऐसा मानने पर याज्ञवल्क्य के वचन का विरोध नहीं है। याज्ञवल्क्य के वचनानुसार 'योग' शब्द का अर्थ समाधि ही है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने ही कहा है—

जीवात्मा तथा परमात्मा की समानावस्था 'समाधि' है। जब जीवात्मा की स्थिति ब्रह्म में ही होती है, उसे समाधि कहते है।

यही बात भगवान् व्यास (योगसूत्र व्यासभाष्य १.१) ने कही है कि योग समाधि है।

(७. क. योग का अर्थ समाधि-वापत्ति)

नन्वेवमष्टाङ्गयोगे चरमस्याङ्गस्य समाधित्वमुक्तं पतञ्जलिना (पात. यो.सू. २/२९)-यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि योगस्य' इति। न चाङ्गी एवाङ्गतां गन्तुमुत्सहते। उपकार्योपकारकभावस्य दर्शपूर्णमासप्रयाजादौ भिन्नायतनत्वेनात्यन्तभेदात्। अतः समाधिरपि न योगशब्दार्थो युज्यत इति चेत्।

अनुवाद—यदि कोई (पूर्वपक्षी) यह कहे कि पतञ्जलि ने अष्टांग योग में अन्तिम अंग को 'समाधि' कहा है—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—ये योग के आठ अंग हैं। (पातञ्जलयोग सूत्र २.२९) इस प्रकार अंगी अंग नहीं बन सकता। (जिस प्रकार) दर्शपूर्णमास तथा प्रयाज में उपकार्यत्व तथा उपकारकत्व भिन्न-भिन्न स्थानों में होने से उन दोनों में (दर्शपूर्णमास तथा प्रयाज में) अत्यन्त भेद है। (उसी प्रकार अङ्गी 'योग' तथा अङ्ग 'समाधि' में भी अत्यन्त भेद होना चाहिये) इसलिये योग शब्द का अर्थ 'समाधि' मानना ठीक नहीं है। तो यह (पूर्ववक्षी का मत) उचित नहीं है।

विशेष—पूर्वपक्ष का यह आशय है कि अंग तथा अंगी में अत्यन्त भेद है। जिस प्रकार दर्शपूर्णमास तथा प्रयाज में अत्यन्त भेद है उसी प्रकार योग तथा उसके अंग 'समाधि' में भी भेद होगा। फिर योग को समाधि नहीं कहा जा सकता।

तन्न युज्यते। व्युत्पत्तिमात्राभिधित्सया 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'। (पात. यो. सू. ३/३) इति निरूपितचरमाङ्गवाचकेन समाधिशब्देनाङ्गिनं योगस्वरुपभेदविवक्षया व्यपदेशोपपत्तेः। न च व्युत्पत्तिबलादेव सर्वत्र शब्दः प्रवर्तते तथात्वे गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तेस्तिष्ठन्गौर्न स्यात्। गच्छन्देवदत्तश्च गौः स्यात्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहता है) यह ठीक नहीं है। "उसी ध्यान में जब केवल अर्थ मात्र की प्रतीति रहती है तथा जब वह स्वरुप से शून्य हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं" (पातञ्जल योगसूत्र ३.३) इस सूत्र में केवल व्युत्पत्ति बतलाने के लिये के के निर्दिष्ट अन्तिम अंग के वाचक 'समाधि' शब्द के साथ अङ्गी 'योग' का अभेद बतलाने की इच्छा से इस प्रकार का व्यपदेश (कथन) हुआ है। केवल व्युत्पत्ति के बल से ही हर जगह शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि ऐसा मानें तो "गच्छति इति गौः" (जो चले वह गौ है) इस व्युत्पत्ति से गौ के बैठने पर उसे 'गौ' नहीं कहना पड़ेगा तथा देवदत्त के चलने पर देवदत्त को गौ कहना पड़ेगा।

विशेष—अष्टांग योग में अन्तिम अंग समाधि है तथा वह समाधि ही योग है लेकिन यहाँ जो समाधि तथा योग का एकीभाव बतलाया गया है, वह केवल उनके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ के कारण है और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को लेकर सर्वत्र समाधि और योग को एकार्थक नहीं माना जायेगा, केवल उक्त विशेष स्थल पर ये दोनों एकार्थक हैं।

(७ ख. योग का व्यावहारिक अर्थ–चितवृत्तिनिरोध)

प्रवृत्तिनिमित्तं च प्रागुक्तमेव–चित्तवृत्तिनिरोध इति। तदुक्तं–'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पात. यो.सू. १/२) इति।

ननु वृत्तीनां निरोधश्चेद्योगोऽभिमतस्तासां ज्ञानत्वेनात्माश्रयतया तन्निरोधोऽपि प्रध्वंसपदवेदनीयस्तदाश्रयो भवेत्। प्रागभावप्रध्वंसयोः प्रतियोगिसमानाश्रयत्वनियमात्। ततश्च–'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनात्मनः कौटस्थ्यं विहन्येतेति चेत्।

अनुवाद—योग का प्रवृत्ति निमित्त तो पहले ही बतलाया गया है कि चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है। जैसा कि कहा गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है—पातञ्जलयोगसूत्र १.२.)

यदि कोई (पूर्वपक्षी) यह कहे कि यदि वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है, तो फिर वृत्तियां तो ज्ञानरुप हैं और आत्मा पर आश्रित रहती हैं, इसलिये उन वृत्तियों का निरोध जिसको 'प्रध्वंस' नाम से भी जाना जाता है, वह (निरोध) भी आत्मा पर आश्रित हो जायेगा। क्योंकि प्रागभाव तथा प्रध्वंस—ये दोनों प्रतियोगी के आश्रय पर ही रहते हैं—

यह नियम है। फिर तो ''धर्म के आने या जाने से धर्मी भी विकृत होता है'' इस न्याय से आत्मा की कूटस्थता भी समाप्त हो जायेगी।

विशेष—पूर्वपक्षी का आशय यह है कि आत्मा पर ज्ञान रूप वृत्तियाँ आश्रित रहती हैं और उन वृत्तियों को निरोध या अनिरोध से आत्मा में भी विकार मानना पड़ेगा।

वृत्तियां पांच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा समृति।

'उपयन्नधर्मो....' इत्यादि वाक्य सिद्धान्त बिन्दु (मधुसूदन सरस्वतीकृत) की टीका रत्नावली (ब्रह्मानन्द सरस्वतीकृत) से उद्धृत किया गया है।

तदपि न घटते। निरोधप्रतियोगिभूतानां प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा-स्मृतिस्वरूपाणां वृत्तीनामन्तःकरणाद्यपरपर्यायचित्तधर्मत्वाङ्गीकारात्। कूटस्थनित्या चिच्छक्तिरपरिणामिनी विज्ञानधर्माश्रयो भवितुं नार्हत्येव।

न च चितिशक्तेरपरिणामित्वमसिद्धमिति मन्तव्यम्। 'चितिशक्तिरपरिणामिनी सदा ज्ञातृत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा चित्तादि' इत्याद्यनुमानसम्भवात्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह भी ठीक नहीं है। चित्तवृत्ति-निरोध (प्रध्वंस) के प्रतियोगीभूत प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति वृत्तियों को चित्त का ही धर्म माना गया है, जिस चित्त का दूसरा पर्याय अन्तःकरण आदि माना गया है। कूटस्थ, नित्य तथा अपरिणामिनी चित् शक्ति विज्ञानधर्म का आश्रय नहीं हो सकती है।

चित् शक्ति (या चितिशक्ति) अपरिणामिनी नहीं है—यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि 'चितिशक्ति अपरिणामिनी है, सदा ज्ञात होने के कारण, जो अपरिणामिनी नहीं है, वह सदा ज्ञात नहीं होता है। जैसे—चित्त आदि यह अनुमान सम्भव है।

विशेष—न्याय दर्शन तथा पातञ्जल दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों में अन्तर है। न्याय दर्शन में ज्ञान या बुद्धि को आत्मा (चित् शक्ति) का गुण माना गया है, जबकि पातञ्जल दर्शन में पुरुष को चित् शक्ति माना गया है तथा बुद्धि प्रकृति का विकार है।

चित्तवृत्तियाँ चित्त का ही धर्म हैं न कि वे बुद्धिरूप हैं। इसी प्रकार पातञ्जल योगदर्शनानुसार पुरुष या चित् शक्ति अपरिणामिनी है अर्थात् उसमें कोई विकार या परिणाम नहीं होता है, इसलिये चित् शक्ति ज्ञान (बुद्धि) का आश्रय नहीं हो सकती। न्याय दर्शन में ज्ञान तथा बुद्धि को एक ही माना गया है, जबकि पातञ्जल दर्शन में ये दोनों अलग-अलग माने गये हैं।

चित् शक्ति को अपरिणामिनी मानने के लिये अनुमान किया गया है—

प्रतिज्ञा—चित् शक्ति अपरिणामिनी है।

हेतु—क्योंकि वह सदा ज्ञात होती है।

उदाहरण—जो अपरिणामिनी नहीं है, वह सदा ज्ञात नहीं होता है। जैसे—चित्त।

उपनय—उसी प्रकार चित् शक्ति भी सदा ज्ञात होती है।

निगमन—अतः वह अपरिणामिनी है।

तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत। चिद्रूपस्य पुरुषस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेनावस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं सत्त्वं तस्यापि सदैव स्थितत्वात्। येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तस्य दृश्यस्य सदैव चिच्छायापत्त्या भानोपपत्त्या पुरुषस्य निःसङ्गत्वं सम्भवति।

अनुवाद—इसी तरह यदि यह पुरुष परिणामी होता, तो वे चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात नहीं होतीं, क्योंकि परिणाम तो कभी-कभी होते हैं। चिद् रूप पुरुष सदा अधिष्ठाता के रूप स्थित रहता है, इसलिये उस पुरुष के अन्तरंग में जो निर्मल सत्त्व है, वह सदा स्थित रहता है। जिस-जिस अर्थ से चित्त उपरक्त (संलग्न) होता है, उस उस दृश्य अर्थ की चित् शक्ति पर छाया पड़ने से (परिणामित्व की) प्रतीति की उपपत्ति सिद्ध हो जाती है, इसलिये पुरुष का निःसङ्गत्व सम्भव है।

विशेष—चिद् रूप पुरुष तो स्फटिक की तरह निर्मल तथा निःसङ्ग है, लेकिन दृश्य पदार्थ की छाया पुरुष पर पड़ती है, जिसके कारण पुरुष सगुण तथा परिणामी प्रतीत होता है। वस्तुतः पुरुष परिणामी नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता चित्त वृत्तियों का ज्ञान हमेशा नहीं हो जाता, जबकि चित्तवृत्तियों का तो सदा ज्ञान होता रहता है।

ततश्च सिद्धं तस्य सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वशङ्कावतरति। चित्तं पुनर्येन विषयेणोपरक्तं भवति स विषयो ज्ञातः, येनोपरक्तं न भवति तदज्ञातमिति वस्तुनोऽयस्कान्तमणिकल्पस्य ज्ञानाज्ञानकारणभूतोपरागधर्मित्वादयः सधर्मकं चित्तं परिणामीत्युच्यते।

अनुवाद—इस प्रकार सिद्ध है कि पुरुष (चित् शक्ति) का सदा ज्ञातृत्व रहता है। कभी भी पुरुष के परिणामित्व की शंका नहीं होती है। चित्त जिस विषय के साथ सम्बद्ध होता है, वह विषय ज्ञात होता है तथा जिस विषय के साथ सम्बद्ध नहीं होता, वह विषय अज्ञात रहता है। इसलिये अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के समान जो वस्तुएँ हैं, उस वस्तु के कारण ज्ञान के कारणभूत उपराग तथा अज्ञान के कारण भूत अनुपराग आदि धर्म होते हैं, इसलिये सधर्मक चित्त के परिणामी कहा जाता है।

विशेष—वस्तुतः पुरुष परिणामी नहीं होता, बल्कि चित्त परिगामी होता है। चित्त का जिस विषय के साथ उपराग (आसक्ति) होता है, उससे वह (चित्त) सम्बद्ध होता है तथा जिस विषय के साथ चित्त का अनुपराग होता है, उसके साथ चित्त का सम्बन्ध नहीं होता।

(८. चित्त और विषयों का सम्बन्ध)

ननु चित्तस्येन्द्रियाणां चाहंकारिकाणां सर्वगतत्वात् सर्वविषयैरस्ति सदा सम्बन्धः। तथा च सर्वेषां सर्वदा सर्वत्र ज्ञानं प्रसज्येतेति चेत्—न। सर्वगतत्वेऽपि चित्तं यत्र शरीरे वृत्तिमत् तेन शरीरेण सह सम्बन्धो येषां विषयाणां, तेष्वेवास्य

ज्ञानं भवति, नेतरेषु–इत्यतिप्रसङ्गाभावात्। अत एवायस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमिन्द्रियप्रणालिकयाऽभिसम्बन्ध्योपरञ्जयन्तीत्युक्तम्।

अनुवाद—यदि कोई (पूर्वपक्षी) यह शंका करे कि अहंकार से उत्पन्न होने वाली इन्द्रियाँ तथा चित्त सर्वव्यापक हैं, इसलिये उनका सब विषयों के साथ सदा सम्बन्ध है। इस प्रकार सभी वस्तुओं का हमेशा हर जगह ज्ञान होगा तो यह शंका ठीक नहीं है। (सिद्धान्ती कहते हैं कि) चित्त के सर्वगत (सर्वव्यापक) होने पर भी जिस शरीर में चित्त की वृत्ति होती है, उसी शरीर के साथ जिन विषयों का सम्बन्ध होता है, उन्हीं विषयों का इस चित्त को ज्ञान होता है, अन्य विषयों का नहीं। इस प्रकार अति व्याप्ति नहीं होती है। इसलिये अयस्कान्त मणि के (चुम्बक) समान विषय अयस् सदृश (लौहसदृश) चित्त को इन्द्रियों के माध्यम से सम्बद्ध होकर उपरञ्जित करते हैं ऐसा कहा गया है।

विशेष—सांख्य-योग दर्शन में अहंकार तथा चित्त को विभु माना गया है, लेकिन विभु होने पर भी अहंकार तथा चित्त जिस शरीर में रहते हैं उसी शरीर से सम्बन्धित विषयों को ग्रहण करते हैं। विषय चुम्बक की तरह हैं तथा चित्त लोहे की तरह है। इन्द्रियों के माध्यम से चित्त विषयों के साथ जुड़ता है। जिस प्रकार क्यारियों के माध्यम से पूरे खेत में पानी फैल जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से चित्त विषयों तक जाकर उन्हें ग्रहण करता है।

तस्माच्चित्तस्य धर्मा वृत्तयो नात्मनः। तथा च श्रुतिः–'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ. १/५/३) इति। चिच्छक्तेरपरिणामित्वं पञ्चशिखाचार्यैराख्यायि–अपरिणामिनी भोक्तृशक्ति-रिति। पतञ्जलिनापि–'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' (पात. यो. सू. ४/१८) इति। चित्तपरिणामित्वेऽनुमानमुच्यते–चित्तं परिणामि ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् श्रोत्रादिवदिति।

अनुवाद—इसलिये वृत्तियाँ चित्त का धर्म है, आत्मा का नहीं। जैसा कि श्रुति में कहा गया है—'कामना, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि तथा भय-ये सब मन ही है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् १.५.३) चित्शक्ति का अपरिणामित्व आचार्य पञ्चशिख ने भी बतलाया है—भोक्तृशक्ति अपरिणामिनी है—यह पतञ्जलि ने भी कहा है—चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात ही रहती हैं, क्योंकि उनका स्वामी (भोक्ता) पुरुष अपरिणामी है। (पातञ्जल योगसूत्र ४.१८) चित्त के परिणाम के सम्बन्ध में अनुमान कहा गया है—चित्त परिणामी है, क्योंकि उसका विषय ज्ञात तथा अज्ञात रहता है, जिस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ परिणामी हैं।

विशेष—योग दर्शन के अनुसार चित्त परिणामी है, लेकिन आत्मा (चित् शक्ति) अपरिणामिनी है। चित् शक्ति को ही भोक्तृशक्ति कहा जाता है। चित् में जो अनेक प्रकार

की वृत्तियाँ उठती हैं, वे सभी परिणामिनी हैं, किन्तु उन वृत्तियों का ज्ञाता भोक्ता पु
अपरिणामी है।

(८ क. परिणाम के तीन भेद)

परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात्। धर्मिणश्चि नीलाद्यालोचनं धर्मपरिणामः। यथा कनकस्य कटकमुकुटकेयूरादि। धर्म वर्तमानत्वादिलक्षणपरिणामः। नीलाद्यालोचनस्य स्फुटत्वादिरवस्थापरिणा कटकादेस्तु नवपुराणत्वादिरवस्थापरिणामः। एवमन्यत्रापि यथासम्भ परिणामत्रितयमूहनीयम्। तथा च प्रमाणादिवृत्तीनां चित्तधर्मत्वात्तन्निरोधोऽपि तदा एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम्।

अनुवाद—परिणाम तीन प्रकार प्रसिद्ध है—धर्म, लक्षण तथा अवस्था के भे के कारण। धर्मी चित्त का जो नीलादि विषयक साक्षात्कार है, वह धर्मपरिणाम है। जि प्रकार सुवर्ण का कंगन, मुकुट, बाजुबंद आदि धर्म परिणाम है। धर्म का वर्तमान आ होना लक्षण परिणाम है। नीलादि साक्षात्कार का स्फुट (प्रकार) आदि होना अव परिणाम है। जैसे—कंगन का नया पुराना आदि होना अवस्था-परिणाम है। इसी प्र अन्यत्र भी यथा सम्भव तीनों प्रकार के परिणाम समझ लेने चाहिये। इस प्रकार प्रमाण आ वृत्तियाँ चित्त का धर्म हैं, इसलिये उनका निरोध भी चित्त पर ही आश्रित है। इसलिये कु भी अनुपन्न नहीं है।

विशेष—चित्त की परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—

१. धर्म परिणाम—नीलघट आदि विषयों का साक्षात्कार करने के लिये चि इन्द्रियों के माध्यम से विषय तक जाकर विषयाकार रूप धारण करता है। यही धर्मपरिणाम। जिस तरह एक सुवर्ण से अनेक आभूषणों के रूप में अनेक आकार हो जा हैं उसी प्रकार अनेक के साक्षात्कार के लिये चित्त का भी एक समय में अनेक विषयों आकार होता रहता है।

२. लक्षण परिणाम—चित्त की वृत्तियाँ एक विषय से हटकर जब दू विषय को घेरती है, तब पूर्व विषयाकारा वृत्ति भूत हो जाती है तथा उसका तिरोभाव हो है एवं वर्तमान विषयाकारा वृत्ति का आविर्भाव होता है। यही चित्त का लक्षण परि है। चित्त वृत्तियाँ कभी भूत तो, कभी भविष्य या कभी वर्तमान काल में आविर्भूत त तिरोभूत होती रहती हैं।

३. अवस्था परिणाम—कभी एक विषयाकारा वृत्ति स्फुट (प्रकट) होती है तो अन्य विषयाकारा अस्फुट हो जाती है। यही चित्त का अवस्था परिणाम है।

(९. योग का अर्थ वृत्तिनिरोध लेने पर आपत्ति)

ननु वृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारे सुषुप्त्यादौ क्षिप्तमूढादिचित्तवृत्ती निरोधसम्भवाद् योगत्वप्रसङ्गः। न चैतद्युज्यते। क्षिप्ताद्यवस्थासु क्लेशप्रहाणादे

सम्भवान्निःश्रेयसपरिपन्थित्वाच्च। तथा हि–क्षिप्तं नाम तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमस्थिरं चित्तमुच्यते। तमःसमुद्रे मग्नं निद्रावृत्ति भावितं मूढमिति गीयते। क्षिप्ताद्विशिष्टं चित्तं विक्षिप्तमिति गीयते।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहते हैं) 'वृत्तिनिरोध ही योग है' यह मानने पर सुषुप्ति आदि अवस्था में क्षिप्त, मूढ आदि चित्त वृत्तियों का निरोध सम्भव है इसलिये उन्हें भी योग कहना पड़ेगा, तो (सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह ठीक नहीं है। क्षिप्त आदि अवस्थाओं में क्लेश की निवृत्ति असम्भव है। तथा मोक्ष का भी विरोध है। उन-उन विषयों में प्रवृत्त जो अस्थिर चित्त है, उसे 'क्षिप्त' कहा जाती है। तमोगुण के समुद्र में डूबा हुआ निद्रा वृत्ति से युक्त चित्त को 'मूढ' कहा जाता है। क्षिप्त से विशिष्ट चित्त को 'विक्षिप्त' कहा जाता है।

विशेष—सुषुप्ति अवस्था (गाढ़ निद्रा) में क्षिप्त आदि चित्त वृत्तियों का निरोध तो हो जाता है, फिर भी उस अवस्था को 'योग' नहीं कहा जाता, क्योंकि क्षिप्त आदि अवस्थाओं में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पञ्च क्लेशों का निरोध नहीं होता और उन अवस्थाओं का मोक्ष के साथ भी विरोध है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ (भूमियाँ) हैं—

१. क्षिप्त—जब चित्त रजो गुण के कारण चञ्चल या अस्थिर हो जाता है, तो चित्त की वह अवस्था क्षिप्त है।

२. मूढ़—तमोगुण के प्रभाव से चित्त मोह ग्रस्त हो जाता है और तत्त्व ज्ञान में अयोग्य होता है यही चित्त की मूढ़ावस्था है।

३. विक्षिप्त—रजोगुण युक्त चंचल चित्त में कभी-कभी सत्त्वगुण के आविर्भाव से चित्त स्थिर तो होता है लेकिन पुनः अस्थिर हो जाता है। यह अवस्था विक्षिप्त है।

४. एकाग्र—बाह्य वृत्तियों से रहित चित्त एकाग्र होता है।

५. निरुद्ध—जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, तो वह चित्त की निरुद्ध अवस्था है। समाधि दशा में चित्त की निरुद्ध अवस्था रहती है।

विशेषो नाम–

चञ्चलं कि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् (गी. ६/३४) इति न्यायेनास्थिरस्यापि मनसः कादाचित्कसमुद्रभूतविषयस्थैर्यसम्भवेन स्थैर्यम्। अस्थिरत्वं च स्वाभाविकं व्याध्याद्यनुशयितं वा। तदाह–'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।' (पात.यो.सू. १/३०) इति।

अनुवाद—(क्षिप्त से विशिष्ट चित्त विक्षिप्त होता है अर्थात् क्षिप्त रुप विशेष से युक्त चित्त विशिष्ट है—यहाँ) विशेष का तात्पर्य है—'हे कृष्ण! मन अत्यन्त प्रमाथी, बलवान् दृढ़ तथा चञ्चल है' (गीता ६.३४) इस न्याय से अस्थिर मन में भी कभी-कभी

विषय की स्थिरता होने के कारण स्थिरता सम्भव है। मन की अस्थिरता या तो स्वाभाविक होती है या फिर रोग आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। जैसा कि कहा गया है—'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थिति—ये सभी चित्त के विक्षेप हैं और ये योग के अन्तराय हैं' (पातञ्जल योग सूत्र १.३०)

विशेष—गीता में मन को अस्थिर होने के साथ ही साथ दृढ़ भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि मन स्वभाव हो तो अस्थिर ही है, परन्तु कभी-कभी विषयों की स्थिरता के कारण मन में भी स्थिरता आ जाती है।

तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः। चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्। विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः। समाधिसाधनानामभावनं प्रमादः। शरीरवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम्। विषयाभिलाषोऽविरतिः। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिमत्वम्। लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठाऽनवस्थितत्वमित्यर्थः।

तस्मान्न वृत्तिनिरोधो योगपक्षनिक्षेपमर्हतीति चेत्–।

अनुवाद—उसमें व्याधि का अर्थ है—दोषत्रय (वात, पित्त या कफ) की विषमता के कारण उत्पन्न ज्वर आदि। चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान कहलाती है। दो विरुद्ध कोटियों को विषय बनाने वाला ज्ञान संशय है। समाधि के साधनों की भावना न करना प्रमाद है। शरीर, वाणी तथा चित्त के भारीपन के कारण किसी कार्य में प्रवृत्ति न होना आलस्य है। विषयों की इच्छा करना अविरति है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसमें वैसी बुद्धि रखना (अर्थात् अन्यथा बुद्धि रखना) भ्रान्तिदर्शन है। किसी कारण से समाधिभूमि का प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व है। समाधिभूमि के प्राप्त होने पर भी चित्त की अस्थिरता अनवस्थित्व है।

इसलिये वृत्ति निरोध को योग नहीं कहा जा सकता।

विशेष—क्षिप्त आदि अवस्थाओं में चित्त वृत्ति का निरोध होने पर भी उसे योग नहीं कहा जाता सकता है, क्योंकि उस अवस्था में योग के व्याधि आदि अन्तराय (चित्तविक्षेप) प्राप्त हो सकते हैं।

(९ क. समाधान)

मैवं वोचः। हेयभूतक्षिप्ताद्यवस्थात्रये वृत्तिनिरोधस्य योगत्वासम्भवेऽप्युपादेययोरेकाग्रनिरुद्धावस्थयोर्वृत्तिनिरोधस्य योगत्वसम्भवात्। एकतानं चित्तमकाग्रमुच्यते। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धमिति भण्यते।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) ऐसा मत कहिये। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त—ये तीनों अवस्थायें हेय हैं, अतः, इन तीनों अवस्थाओं में होने वाले वृत्तिनिरोध को योग कहना सम्भव नहीं है, फिर भी एकाग्र और विरुद्ध अवस्था, जो कि उपादेय है,

उसमें होने वाले वृत्तिनिरोध को योग कहा जा सकता है। एक विषय में स्थिर चित्त को एकाग्र कहा जाता है। जब समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा केवल संस्कार ही शेष रहता है उस चित्त को निरुद्ध कहा जाता है।

विशेष—चित्त की पाँच भूमियो में क्षिप्त, मूढ तथा विक्षिप्त में होने वाले चित्तवृत्ति निरोध को योग नहीं कहा जा सकता है, लेकिन एकाग्र तथा निरुद्ध भूमि में होने वाला चित्त वृत्ति निरोध 'योग' कहलाता है।

(१०. समाधि का निरूपण-इसके भेद)

स च समाधिर्द्विविधः-सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदात्। तत्रैकाग्रचेतसि यः प्रमाणादिवृत्तीनां बाह्यविषयाणां निरोधः स सम्प्रज्ञातसमाधिः। सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन् प्रकृतेर्विविक्ततया ध्येयमिति व्युत्पत्तेः। स चतुर्विधः। सवितर्कादिभेदात्। समाधिर्नाम भावना। सा च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्।

अनुवाद—वह समाधि दो प्रकार की है—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। उसमें एकाग्र चित्त में जो प्रमाणादि वृत्तियों का तथा बाह्यविषयों का निरोध है, वह सम्प्रज्ञात समाधि है। 'सम्प्रज्ञात' की व्युत्पत्ति है—जिसमें ध्येय वस्तु प्रकृति से अलग रूप में अच्छी तरह से ज्ञात हो। यह (सम्प्रज्ञात समाधि) चार प्रकार की है—सवितर्क आदि (अर्थात् सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित) समाधि का अर्थ है—भावना। वह भावना भाव्य विषय को चित्त में बार-बार बैठाती है तथा अन्य विषयों का परिहार करती है।

विशेष—एकाग्र चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि लगती है तथा निरुद्ध चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि लगती है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं—

१. सवितर्क
२. सविचार
३. सानन्द
४. सास्मित

भाव्य का तात्पर्य है वह विषय जिसको समाधि के द्वारा चित्त में बैठाया जाता है।

भाव्यं च द्विविधम्-ईश्वरस्तत्त्वानि च। तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात्। जडानि प्रकृतिमहदहंकारादीनि चतुर्विंशनिः। अजडः पुरुषः। तत्र यदा पृथिव्यादीनि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना प्रवर्तते स समाधिः सवितर्कः। यदा तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मं विषयमालम्ब्य देशाद्यवच्छेदेन भावना प्रवर्तते तदा सविचारः।

अनुवाद—भाग्य दो प्रकार का है—ईश्वर तथा तत्त्व। तत्त्व भी दो प्रकार के हैं—जड़ तथा अजड़। प्रकृति, महत् अहंकार आदि २४ जड़ तत्त्व हैं। पुरुष अजड़ तत्त्व है। उसमें जब पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों को विषय के रूप में लेकर पूर्वापरक्रम का

अनुसन्धान करते हुए, शब्दार्थ के उल्लेख का भेद करते हुए जो भावना होती है, वह सवितर्क समाधि है। जब तन्मात्र तथा अन्त:करण रूपी सूक्ष्म विषयों का आश्रय लेकर देश-काल आदि के साथ जो भावना होती है, वह सविचार समाधि है।

विशेष—सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत आने वाली चार प्रकार की पूर्वोक्त समाधियों में दो का लक्षण प्रस्तुत परिच्छेद में बतलाया गया है।

सवितर्क समाधि—सवितर्क समाधि में पृथिवी, जल, तेज़, वायु तथा आकाश इन पंच महाभूतों में मन की एकाग्रता होती है। इसमें शब्द तथा अर्थ के भेद का ज्ञान रहता है।

सविचार समाधि—जब पञ्चतन्मात्र रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द में मन की एकाग्रता होती है तथा साथ ही साथ देश-काल आदि का ज्ञान भी रहता है, वह सविचार (समाधि है)।

यदा रजस्तमोलेशानुविद्धं चित्तं भाव्यते तदा सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्योद्रेकात्सानन्दः। यदा रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धं सत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तदा तस्यां सत्त्वस्य न्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्रेकाच्च सत्तामात्रावशेषत्वेन सास्मितः समाधिः। तदुक्तं पतञ्जलिना–वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः (पा०यो०सू०१/१७) इति।

अनुवाद—जब रजोगुण तथा तमोगुण के अंश मात्र से युक्त चित्त की भावना की जाती है, तब सुख तथा प्रकाश से युक्त सत्त्वगुण का उद्रेक होने से सानन्द समाधि होती है। जब रजोगुण तथा तमोगुण के लेशमात्र से भी रहित शुद्ध सत्त्वगुण का आश्रय लेकर जो भावना होती है, तब उस भावना में सत्त्वगुण के भी दब जाने से चितिशक्ति का उद्रेक होता है, जिससे केवल पुरुष की सत्तामात्र अवशिष्ट रहती है, यही सास्मित समाधि है। जैसा कि आचार्य पतञ्जलि ने कहा है—

वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता—इन चार रूपों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि होती है। (पातञ्जल योगसूत्र १.१७)

विशेष—सानन्द समाधि—सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत जब चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र रहता है तथा सत्त्वगुण का उदय हुआ रहता है, तब सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

सास्मित समाधि—जब रजोगुण तथा तमोगुण का जरा सा भी अंश चित्त में नहीं रहता, चित्त में केवल सत्त्वगुण रहता है, उस समय चिति शक्ति का उदय होता है उस समय पुरुष को केवल अपनी सत्ता भाव का ज्ञान रहता है, अन्य विषयों के ज्ञान समाप्त हो जाते हैं, वह सास्मित सम्प्रज्ञात समाधि है।

इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेदों का निरूपण हुआ।

सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः। ननु सर्ववृत्तिनिरोधो योग इत्युक्ते सम्प्रज्ञाते व्याप्तिर्न स्यात्, तत्र सत्त्वप्रधानायाः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिलक्षणाया वृत्तेरनिरोधादिति चेत्– तदेतद्वार्तम्। क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योग इत्यङ्गीकारात्।

अनुवाद—सभी वृत्तियों का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है। (पूर्वपक्षी कहते हैं) कि सभी वृत्तियों का निरोध योग है यह कहने पर सम्प्रज्ञात समाधि में योग के लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उस सम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्व तथा पुरुष के पृथक् ज्ञान का निर्देश करने वाली सत्त्वप्रधान वृत्ति का निरोध नहीं हो सकता। तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय का विरोधी चित्तवृत्ति निरोध का योग है—यह माना गया है।

विशेष—वह चित्तवृत्ति निरोध योग है, जो क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय का विरोधी हो। अत: सम्प्रज्ञात समाधि में यद्यपि सभी चित्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता है, फिर भी जो निरोध होता है वह क्लेश, कर्म आशय तथा विपाक का विरोधी है। इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग कहा जाता है।

(११. पाँच प्रकार के क्लेश–अविद्या पर आपत्ति)

क्लेशाः पुनः पञ्चधा प्रसिद्धाः–अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (पात यो.सू. २/३) इति।

नन्वविद्येत्यत्र किमाश्रीयते? पूर्वपदार्थप्राधान्यममक्षिकं वर्तत इतिवत्। उत्तरपदार्थप्राधान्यं वा राजपुरुष इतिवत्। अन्यपदार्थप्राधान्यं वा अमक्षिको देश इतिवत्।

अनुवाद—पाँच प्रकार के क्लेश प्रसिद्ध हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। (पातञ्जल योगसूत्र २.३)

(पूर्वपक्षी पूछते हैं कि) 'अविद्या' यहाँ किस समास का आश्रय लिया जाता है। 'अमक्षिकम्' की तरह पूर्वपदार्थप्रधान समास का आश्रय लिया जाता है या फिर 'राजपुरुष' की तरह उत्तर पदार्थ प्रधान समास होता है या फिर 'अमक्षिको देशः' की तरह अन्य पदार्थ प्रधान समास का आश्रय लिया जाता है।

विशेष—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'अविद्या' में कौन सा समास है?

१. 'अमक्षिकम्' की तरह पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास। 'अमक्षिकम्' का विग्रह है—मक्षिकाणाम् अभावः। यहाँ पूर्व पदार्थ अर्थात् नञर्थ 'अभाव' प्रधान है। इस प्रकार 'अविद्या' का अर्थ होगा—विद्यायाः अभावः अविद्या।

२. 'राजपुरुष' में उत्तरपदार्थ प्रधान है—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः—यहाँ पुरुष प्रधान है। इस प्रकार 'अविद्या' का अर्थ हो सकता है—अभाव विशिष्टा विद्या।

३. 'अमक्षिको देश:' यहाँ अन्य पदार्थ 'देश' प्रधान है। न मक्षिका यस्मिन् स अमक्षिको देश:। इस प्रकार अविद्या का अर्थ होगा—अविद्यमाना विद्या यस्यां सा अविद्या (बुद्धि:) यहाँ अन्य पदार्थ 'बुद्धि' प्रधान है।

तत्र न पूर्व:। पूर्वपदार्थप्रधानत्वेऽविद्यायां प्रसज्यप्रतिषेधोपपत्तेः क्लेशादिकारकत्वानुपपत्तेः। अविद्याशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाभावापत्तेश्च। द्वितीयः कस्यचिदभावेन विशिष्टाया विद्यायाः क्लेशादिपरिपन्थित्वेन तद्बीजत्वानुपपत्तेः।

अनुवाद—उसमें पहला विकल्प ठीक नहीं है। 'अविद्या' शब्द में पूर्व पदार्थ की प्रधानता मानने पर प्रसज्य प्रतिषेध मानना पड़ेगा और क्लेश आदि कारक की अनुपपत्ति होगी तथा 'अविद्या' शब्द में स्त्रीलिंग नहीं होगा—यह आपत्ति भी होगी। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। किसी वस्तु के अभाव से विशिष्ट विद्या क्लेशादि की विरोधी बनती है, तो फिर अभाव विशिष्ट विद्या को क्लेशादि का कारण मानने की अनुपपत्ति है।

विशेष—यदि 'विद्याया: अभाव:' अविद्या यह माना जाये तो क्लेशादि कारक ही नहीं आ सकते। क्योंकि विद्या के अभावमात्र से क्लेशादि कारकों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार 'ब्राह्मणस्य अभाव:' अब्राह्मण:' में प्रसज्य प्रतिषेध है, उसी प्रकार 'विद्याया: अभाव: अविद्या' में भी प्रसज्य प्रतिषेध मानना पड़ता है। दूसरी अनुपपत्ति यह है कि अव्ययी भाव समास होने पर समस्त पद अव्यय बना जाता है। अत: 'अविद्या' पद में स्त्रीलिंग न होकर नपुंसकलिङ्ग होना चाहिये।

अभाव विशिष्ट विद्या को भी अविद्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राग, द्वेष, शोक, मोह आदि के अभाव से विशिष्ट विद्या तो क्लेश आदि की विरोधी ही बनती है, क्लेश आदि की जनक नहीं। अत: दूसरा अर्थ मानना भी ठीक नहीं।

न तृतीयः। नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्चेति वृत्तिकार-वचनानुसारेणाविद्यमाना विद्या यस्याः सा अविद्या बुद्धिरिति समासार्थसिद्धौ तस्या अविद्यायाः क्लेशादिबीजत्वानुपपत्तेः। विवेकख्यातिपूर्वकसर्ववृत्तिनिरोध-सम्पन्नायास्तस्याः तथात्वाप्रसङ्गाच्च।

अनुवाद—तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। 'नञ्' तथा (तदुत्तरवर्ती) अस्त्यर्थक पदों का अन्य पद के साथ बहुव्रीहि समास होता है और फिर विकल्प से उत्तरपद का (अस्त्यर्थक पद का) का लोप होता है—'इस वृत्तिकार के वचनानुसार 'अविद्यमाना विद्या यस्या: सा अविद्या बुद्धि:' इस समासार्थ की सिद्धि होती है, फिर अविद्या क्लेश आदि का कारण नहीं हो सकती। विवेक ज्ञान पूर्वक सभी वृत्तियों का निरोध होने से उत्पन्न बुद्धि वैसी (क्लेशादि का कारण) हो भी नहीं सकती।

विशेष—जिस बुद्धि में विद्या नहीं है वह बुद्धि अविद्या कहलाती है, लेकिन यह अर्थ मानने पर अनुपपत्ति यह है कि क्लेशादि का कारण बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि क्लेशादि का कारण तो अविद्या है।

दूसरी बात यह है कि विवेकज्ञान (पुरुष तथा प्रकृति का भेदज्ञान) होने पर जब सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तो उस प्रकार की बुद्धि से क्लेशादि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये बुद्धि को क्लेशादि का कारण नहीं माना जा सकता।

उक्तं चास्मितादीनां क्लेशानामविद्यानिदानत्वम्–'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (पात०यो०सू० २/४) इति। तत्र प्रसुप्तत्वं प्रबोधसहकार्यभावेनानभिव्यक्तिः। तनुत्वं प्रतिपक्षभावनया शिथिलीकरणम्। विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशेनाभिभवः। उदारत्वं सहकारिसन्निधिवशात्कार्यकारित्वम्।

अनुवाद—अस्मिता आदि क्लेशों का कारण अविद्या है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है—अविद्या बाद के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार क्लेशों का क्षेत्र (आधार या कारण) है। (पातञ्जल योगसूत्र २.४) उसमें प्रसुप्त क्लेश का तात्पर्य है कि प्रबोध कराने वाले सहकारी कारण के न रहने पर क्लेश का अभिव्यक्त न होना। तनु क्लेश का अर्थ है कि विरुद्ध वस्तु की भावना से क्लेश का शिथिल होना। विच्छिन्न क्लेश का अर्थ है बलवान् क्लेश से दूसरे क्लेश का दब जाना। उदार क्लेश का तात्पर्य है—सहकारी कारण की सन्निधि के कारण कार्य करना।

विशेष—क्लेशों की चार प्रकार की अवस्थायें होती हैं—

१. प्रसुप्त—जब किसी क्लेश को प्रबुद्ध करने वाला कोई सहकारी कारण उपलब्ध नहीं होता, तब उसके कारण वह क्लेश अभिव्यक्त नहीं हो पाता है। यही क्लेश की प्रसुप्त अवस्था है।

२. तनु—जब किसी क्लेश के विरुद्ध किसी वस्तु की भावना करने पर वह क्लेश शिथिल हो जाता है, तो यही क्लेश की तनु अवस्था है।

३. विच्छिन्न—जब किसी बलवान् क्लेश से कोई दुर्बल क्लेश दबा दिया जाता है, तो वह दुर्बल क्लेश विच्छिन्न कहा जाता है।

४. उदार—जब किसी सहकारी कारण के कारण क्लेश में कार्य करने की शक्ति आ जाती है, तब क्लेश की उदारावस्था होती है।

तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण व्यासभाष्यव्याख्यायाम्–

६.   **प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।**
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

(तत्त्ववै० २/४ इति)।

द्वन्द्ववत्स्वतन्त्रपदार्थद्वयानवगमादुभयपदार्थप्रधानत्वं नाशङ्कितम्। तस्मात्पक्षत्रयेऽपि क्लेशादिनिदानत्वमविद्यायाः प्रसिद्धं हीयेतेति चेत्–।

अनुवाद—जैसा कि आचार्य वाचस्पति मिश्र (तत्त्व वैशारदी) ने योगसूत्र के व्यास भाष्य की व्याख्या में कहा है—

जो तत्त्व में लीन हैं, उनके क्लेश प्रसुप्त रहते हैं। योगियों के क्लेश तनु अवस्था में रहते हैं तथा विषयों में आसक्त लोगों के क्लेश विच्छिन्न एवं उदार होते हैं। (योगसूत्र व्यासभाष्य पर तत्त्ववैशारदी २.४)।

जिस प्रकार द्वन्द्व समास में दो स्वतन्त्र पदार्थ होते हैं, उस तरह 'अविद्या' शब्द में दो स्वतन्त्र पदार्थों का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिये 'अविद्या' शब्द में उभय पदार्थ को प्रधान मानने की शंका नहीं करनी चाहिये।

इस कारण इन तीनों पक्षों को मानने पर भी अविद्या का सुप्रसिद्ध क्लेशादि कारणत्व खण्डित होता है यह पूर्वपक्ष है।

विशेष—'अविद्या' शब्द में दो स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अत: वहाँ द्वन्द्व समास नहीं माना जा सकता है। द्वन्द्व समास में उभय पदार्थ प्रधान होते हैं। अविद्या शब्द के अर्थ के लिये उपर्युक्त तीन पक्ष मानने पर यह अनुपपत्ति आती है कि फिर अविद्या को क्लेशादि का कारण नहीं माना जा सकता।

(११ क. आपत्ति का समाधान)

तदपि न शोभनं विभाति। पर्युदासशक्तिमाश्रित्याविद्याशब्देन विद्याविरुद्धस्य विपर्ययज्ञानस्याभिधानमिति वृद्धैरङ्गीकारात् तदाह–

७. नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति।

८. वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः।
तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते ॥ इति।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह भी ठीक नहीं है। पर्युदासशक्ति का आश्रय लेकर 'अविद्या' शब्द से विद्या के विरुद्ध विपर्यय ज्ञान का अभिधान होता है—यह वृद्धों ने स्वीकार किया है। जैसा कि कहा गया है—नाम तथा धात्वर्थ के योग में 'नञ्' प्रतिषेधक नहीं बनता। 'अब्राह्मण' तथा 'अधर्म' ब्राह्मण विरोधी अर्थ तथा धर्म विरोधी अर्थ को बतलाते हैं। हमारा यह सम्पूर्ण शब्दार्थ वृद्ध प्रयोग के अनुसार ही हैं। वृद्धों ने किसी शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है उस शब्द को उस अर्थ से दूर नहीं किया जा सकता है।

विशेष—जब 'नञ्' क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है, तभी वह निषेध का बोधक होता है, लेकिन जब नाम या धात्वर्थ के साथ नञ् का सम्बन्ध होता है, तब नञ् तद विरोधी अर्थ का प्रतिपादक होता है।

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्॥

जब नञ् तद् विरोधी अर्थ का प्रतिपादक बनता है तब उसे ही पर्युदास कहा जाता है।

वाचस्पतिमिश्रैरप्युक्तं–लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः। लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञ उत्तरपदाभिधेयोपमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्र तत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिरिति।

अनुवाद—वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध लोक के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। लोक में उत्तर पदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास में उत्तरपद के वाच्यार्थ को दबाने वाले नञ् की सर्वत्र उत्तरपद के विरुद्ध अर्थ के रूप में उपलब्धता होती है, इसलिये यहाँ भी उत्तरपद के विरुद्ध रूप में नञ् की प्रवृत्ति होती है।

विशेष—तत्पुरुष समास उत्तर पदार्थ प्रधान होता है। तत्र् तत्पुरुष समास में भी उत्तरपदार्थ प्रधान होता है, फिर भी नञ् उत्तर पदार्थ (उत्तर पद के वाच्यार्थ) को दबा कर उत्तरपद के विरुद्ध अर्थ को प्रतिपादित करता है। अतः अविद्या का अर्थ है—विद्या का विरोधी तद्भिन्न पदार्थ।

एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्–'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' (पा०यो०सू० २/५) इति। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्यय इत्युक्तं भवति। तद्यथा–अनित्ये घटादौ नित्यत्वाभिमानः। अशुचौ कायादौ शुचित्वप्रत्ययः।

१. स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ इति।

अनुवाद—यही उद्देश्य करके कहा गया है—आनित्य, अपवित्र, दुःखदायी तथा अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मज्ञान रखना ही अविद्या है। (पातञ्जल योगसूत्र २.५) जो जैसा नहीं है, उसमें वैसी बुद्धि रखना विपर्यय है—यह कहा जाता है। जैसे कि अनित्य 'घट' आदि में नित्य होने का अभिमान। अपवित्र 'शरीर' आदि में पवित्रता का ज्ञान।

स्थान के कारण, बीज के कारण, पोषक पदार्थों के कारण, शरीर से निर्गत पदार्थों के कारण, मृत्यु के कारण तथा पवित्रता का आधान करने के कारण विद्वान् लोगों ने शरीर को अशुद्ध होता है।

विशेष—घट आदि लौकिक पदार्थ वस्तुतः अनित्य हैं, किन्तु उन्हें नित्य समझना ही अविद्या है। इसी प्रकार शरीर भी अत्यन्त अशुद्ध है फिर भी शरीर को शुद्ध मानना ही अविद्या है।

शरीर की अपवित्रता निम्नलिखित ६ कारणों से है—

१. स्थान—शरीर की उत्पत्ति का स्थान अर्थात् माता का मलमूत्रादि से परिपूर्ण उदर अशुद्ध होता है। इसलिये शरीर भी अशुद्ध हैं।

२. **बीज**—शरीर की उत्पत्ति का कारण पिता का शुक्र तथा माता का रज है जो कि स्वयं अशुद्ध है।

३. **उपष्टम्भ**—शरीर के पोषक पदार्थ अन्न, रस आदि भी अनित्य (अशुद्ध) हैं फिर उन अन्नादि से परिपुष्ट शरीर के नित्य (शुद्ध) कैसे कहा जायेगा ?

यत्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता।।

४. **निष्यन्द**—शरीर के प्रत्येक नवच्छिद्रों से सतत गंदे पदार्थ ही बहते रहते हैं। अतः शरीर भी अशुद्ध ही हैं।

५. **निधन**—मृत्यु होने पर शरीर अशुद्ध हो जाता है।

६. **आधेय शौच**—शरीर को शुद्ध करने के लिये सतत उपाय करने पड़ते हैं अन्यथा शरीर का स्वभाव तो अशुद्ध ही है। स्नानादि के द्वारा शरीर को प्रतिदिन शुद्ध किया जाता है। यदि संस्कार न किया जाये तो शरीर अशुद्ध ही रहता है।

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पात०यो०सू०२/१५) इति न्यायेन दुःखे स्रक्चन्दनवनितादौ सुखत्वारोपः। अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः। तदुक्तम्-

१०. अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।। इति।

अनुवाद—परिणाम, ताप तथा संस्कार के दुःख के कारण तथा गुणों की वृत्ति से विरोध के कारण विवेकी व्यक्ति के लिये सब दुःख ही है (पातञ्जल योगसूत्र २.१५) इस न्याय से दुःखदायक माला, चन्दन तथा स्त्री आदि में सुखत्व का आरोप होता है। इसी तरह अनात्म शरीर आदि में आत्म बुद्धि होती है। जैसा कि कहा गया है—

प्राणियों की अनात्म देह आदि में आत्मबुद्धि होती है। यही अविद्या है। इसी के कारण संसार में बन्धन होता है तथा बन्धन का नाश ही मोक्ष है।

विशेष—दुःखदायी पदार्थों को सुखकारक समझना भी अविद्या है। जितने भी सांसारिक सुख कारक पदार्थ है। उनमें तीन प्रकार का दुःख होता है—

१. **परिणाम दुःख**—सुख कारक पदार्थों के उपभोग से इन्द्रियाँ कमजोर होती हैं, अतः परिणामतः समस्त सुखकारक पदार्थ दुःखदायी ही हैं।

२. **तापदुःख**—अपने सुख के उपभोग के समय दूसरे व्यक्ति को अपने से अधिक सुखी देखकर ईर्ष्या या संताप उत्पन्न होता है यही ताप दुःख है।

३. **संस्कार दुःख**—सुखकारक पदार्थों के उपभोग का जिसे संस्कार बना हुआ है, उस व्यक्ति को वह सुखकारक पदार्थ न मिलने पर उसके संस्कार से दुःख होता है। इसी प्रकार सत्त्व, रज तथा तम-इन तीनों गुणों की वृत्तियों में भी परस्पर विरोध होने से समस्त सांसारिक पदार्थ दुःखकारक ही सिद्ध होते हैं।

एवमियमविद्या चतुष्पदा भवति। नन्वेतेषु अविद्याविशेषेषु किंचिदनुगतं सामान्यलक्षणं वर्णनीयम्। अन्यथा विशेषस्यासिद्धेः। तथा चोक्तं भट्टाचार्यैः-

११. सामान्यलक्षणं मुक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम्।
न शक्यं केवलं वक्तुमतोऽप्यस्य न वाच्यता॥ इति।

तदपि न वाच्यम्। अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति सामान्यलक्षणाभिधानेन दत्तोत्तरत्वात्।

अनुवाद—इस प्रकार यह अविद्या चार प्रकार होती है। यदि कोई (पूर्वपक्षी) यह कहे कि इस अविद्या के विशेष भेदों में कुछ अनुगत सामान्य लक्षण का वर्णन करना चाहिये। अन्यथा विशेष की सिद्धि नहीं होगी। जैसा कि कुमारिल भट्टाचार्य ने कहा है—

सामान्य लक्षण को छोड़कर केवल विशेष का लक्षण कहना सम्भव नहीं है। इसलिये अविद्या के विशेष भेदों का अभिधान नहीं किया जा सकता है।

तो यह (पूर्वपक्ष) भी ठीक नहीं है। जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान रखना ही अविद्या है यह अविद्या का सामान्य लक्षण बतलाया जा चुका है। अतः पूर्वपक्ष का उत्तर हो चुका है।

विशेष—पूर्व में अविद्या का सामान्य लक्षण बतलाया गया था—'अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययः।' अविद्या का ही दूसरा नाम विपर्यय है। विद्या के विशेष भेद चार हैं—

१. अनित्य को नित्य समझना
२. अपवित्र को पवित्र समझना
३. दुःखदायक पदार्थ को सुखकारक समझना
४. अनात्म (आत्मा से भिन्न) पदार्थों को आत्मा समझना

(१२. अस्मिता, राग और द्वेष)

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानेऽस्मिता। तदप्युक्तं-'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (पात०यो०सू० २/६) इति। सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागः। दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरस्सरं तत्साधनेषु निवृत्तिर्द्वेषः। तदुक्तं-'सुखानुशयी रागः' (पात०यो०सू० २/७), 'दुःखानुशयी द्वेषः' (पा०यो०सू० २/८) इति।

अनुवाद—सत्त्व (बुद्धि) तथा पुरुष के बीच 'मैं हूँ' इस प्रकार के एकत्व का अभिमान ही अस्मिता है। जैसा कि कहा भी गया है—'दृक् शक्ति (पुरुष) तथा दर्शन शक्ति (बुद्धि) में एकात्मता ही अस्मिता है।' (पातञ्जल योगसूत्र २.६) सुख को जानने वाले व्यक्ति को सुख की अनुस्मृति के साथ सुखसाधनों की प्राप्ति के लिये तृष्णारूपी इच्छा होती है, वही राग है। दुःख को जानने वाले व्यक्ति को दुःख की अनुस्मृति के साथ उसके

साधनों से निवृत्ति ही द्वेष है। जैसा कि कहा गया है—'सुख में रहने वाला राग है' (पातञ्जालयोगसूत्र २.७) दु:ख में रहने वाला द्वेष है' (पातञ्जल योग सूत्र २.८)

विशेष—पूर्व में कहा गया था कि अविद्या, अस्मित, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इसमें अभी तक अविद्या का वर्णन किया गया है। अब अस्मित, राग तथा द्वेष का वर्णन इस परिच्छेद में किया जा रहा है।

प्रकृति के प्रथम विकार 'बुद्धि' तथा पुरुष को एक समझना ही अस्मिता है। सुख में राग होता है तथा दु:ख में द्वेष होता है।

(१३. 'अनुशयी शब्द की सिद्धि में व्याकरण का योग)

किमत्रानुशयिशब्दे ताच्छील्यार्थे णिनिरिनिर्वा मत्वर्थीयोऽभिमतः? नाद्यः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पाणिनि सू० ३/२/७८) इत्यत्र सुपीति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहणस्योपसर्गनिवृत्त्यर्थत्वेन सोपसर्गाद्धातोर्णिनिरनुत्पत्तेः। यथा कथंचित् तदङ्गीकारेऽपि 'अचो ञ्णिति' (पाणि०सू०७/२/११५) इति वृद्धिप्रसक्तावतिशाय्यादिपदवत् अनुशायिपदस्य प्रयोगप्रसङ्गात्।

अनुवाद—यहाँ 'अनुशयी' शब्द में 'ताच्छील्य' (उसका स्वभाव) अर्थ में णिनि प्रत्यय हुआ है या फिर भत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय हुआ है। इसमें पहला विकल्प ठीक नहीं है। 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पाणिनीयसूत्र ३.२.७८) यहाँ 'सुपि' की अनुवृत्ति पहले से ही आ रही है, इसलिये पुनः सुप् का ग्रहण उपसर्ग की निवृत्ति के लिये है अर्थात् उपसर्ग से युक्त धातु से 'णिनि' प्रत्यय नहीं होता है। यदि यह किसी तरह से यह मान भी लिया जाये तो भी 'अत्रोऽञ्णिति' (पाणिनीय सूत्र ७.२.११५) इस सूत्र से वृद्धि होने पर 'अतिशायी' पद की तरह 'अनुशायी' पद के प्रयोग का प्रसङ्ग आयेगा।

विशेष—'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इस सूत्र का अर्थ यह है कि 'सुखम् अनुशेते इति तच्छील: सुखानुशयी' (सुख में रहना ही जिसका स्वभाव है)—इस अर्थ में सुबन्त उपपद रहने पर जातिवाचक शब्द से भिन्न शब्द से 'णिनि' प्रत्यय होता है। जैसे—उष्णं भुङ्क्ते तच्छील: उष्णभोजी। यहाँ पर प्रश्न यह है कि 'सुखानुशयी' शब्द की सिद्धि कैसे हो सकती है? इस सूत्र 'सुपि' इस पद की अनुवृत्ति पूर्वस्थ 'सुपि स्थ:' सूत्र से ही आ रही है फिर भी इस सूत्र में ज्ञापन के जो सुप् का ग्रहण किया गया है वह इसलिये कि उपसर्ग युक्त धातु से 'णिनि' प्रत्यय का निषेध होता है। इसलिये अनुउपसर्ग पूर्वक शीङ् धातु से णिनि प्रत्यय नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि 'णिनि' प्रत्यय णित् (इसका 'ण्' इत्संज्ञक) है, इसलिये 'अचोऽञ्णिति' सूत्र से आदि वृद्धि होकर 'अनुशायी' रूप बनेगा, न कि अनुशयी। इस कारण यहाँ 'णिनि' प्रत्यय मानना ठीक नहीं है।

अब दूसरा विकल्प यह है कि अस्य अस्ति (जिसके पास दण्ड है)—इस अर्थ में जिस प्रकार दण्ड शब्द से हन् (इति) प्रत्यय होकर 'दण्डी' रूप बनता है, उसी प्रकार 'अनु+शीङ्' धातु से 'इनि' प्रत्यय हुआ है।

न द्वितीयः। 'एकाक्षरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इति तत्प्रतिषेधात्। अत्र चानुशयशब्दस्याजन्तत्वेन कृदन्तत्वात्। तस्मादनुशयिशब्दो दुरुपपाद इति चेत्–नैतद् भद्रम्। भावानवबोधात्। प्रायिकाभिप्रायमिदं वचनम्।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। 'मतुप् के अर्थ में होने वाले इन् तथा ठक् प्रत्यय एकाक्षर शब्द के बाद, कृदन्त शब्द के बाद, जातिवाचक शब्द के बाद तथा सप्तमी के अर्थ में नही होते है' इस नियम से इन् प्रत्यय का प्रतिषेध होता है। यहाँ अनुशय शब्द से अच् प्रत्यय हुआ है। अतः अनुशय शब्द कृदन्त है। इसलिये 'अनुशयी' शब्द की सिद्धि कर पाता कठिन है। यदि यह पूर्वपक्ष माना जाये तो (सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह ठीक नहीं है। इस वचन का (एकाक्षरात् आदि वचन का) यह भाव नहीं है। यह वचन 'प्रायः ऐसा होता है' इस अभिप्राय से कहा गया है।

विशेष—एकाक्षर का तात्पर्य है कि जिस शब्द में एक ही स्वर होता है। जैसे—'स्व' शब्द एक क्षर है अतः उससे 'इन्' प्रत्यय नहीं होता है। इसी तरह 'कारक' शब्द कृदन्त है, 'मनुष्य' शब्द जातिवाचक है, उनसे भी इन् प्रत्यय नहीं होता है। 'दण्डा अस्यां सन्ति इति दण्डवती शाला' इस सप्तमी अर्थ में भी 'इन् प्रत्यय नहीं होता है। इसीलिये चूंकि अनुशय शब्द में अच् प्रत्यय होने से यह कृदन्त है अतः अनुशय शब्द से भी इन् प्रत्यय नहीं हो सकता है।

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह वचन सब जगह प्रयुक्त नहीं होता है। इसका प्रमाण आगे दिया जा रहा है।

अत एवोक्तं वृत्तिकारेण–इतिकरणो विवक्षार्थः सर्वत्राभिसम्बध्यते इति। तेन क्वचिद् भवति–कार्यी कार्यिकस्तण्डुली तण्डुलिकः इति। तथा च कृदन्ताज्जातेश्च-प्रतिषेधस्य प्रायिकत्वम्। अनुशयशब्दस्य कृदन्ततया इनेरुपपत्तिरिति सिद्धम्।

अनुवाद—इसीलिये वृत्तिकार ने कहा है—(तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पाणिनि सूत्र ५.२.९४) इस सूत्र में 'इति' शब्द का प्रयोग विवक्षा के अधीन है और यह बात सर्वत्र सम्बद्ध होती है। इसलिये 'इति' का प्रयोग कृदन्त तथा जातिवाचक शब्द से कहीं-कहीं ही होता है। जैसे—कार्यी कार्यिकः, तण्डुली 'इनि' का सर्वत्र निषेध नहीं होता। इस प्रकार अनुशय शब्द के कृदन्त होने पर भी 'इनि' की उपपत्ति सिद्ध होती है।

विशेष—'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्र से मतुप् प्रत्यय होता है और इस सूत्र के बाद आने वाले सूत्र 'अत् इनिठनौ' (पा.सू. ५.२.११५) से इनि प्रत्यय होता है। 'अत इनिठनौ' सूत्र में 'तदस्यादि' सूत्र से 'इति' की अनुवृत्ति आती है। 'इति' शब्द इस बात का द्योतक है कि मत्वर्थक इनि आदि प्रत्यय वक्ता की विवक्षा (कहने की इच्छा) के अधीन है। अतः इनि प्रत्यय पर पूर्वोक्त 'एकाक्षरात्' आदि से विहित निषेध लागू नहीं होता। जैसे 'कार्य' शब्द कृदन्त है, फिर भी उससे हानि होती है, इसी तरह तण्डुल शब्द जातिवाचक होने पर भी उससे इनि प्रत्यय होता है।

इसी प्रकार अनु+शीङ् से भी इनि प्रत्यय होने में कोई आपत्ति नहीं है।

(१४. अभिनिवेश का निरूपण)

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्याकृमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तं विना प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेशः पञ्चमः क्लेशः। मा न भूवं हि भूयासमिति प्रार्थनायाः प्रत्यात्ममनुभवसिद्धत्वात्। तदाह-'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः' (पात० यो० सू० २/९) इति। ते चाविद्यादयः पञ्च सांसारिकविविधदुःखोपहारहेतुत्वेन पुरुषं क्लिश्नन्तीति क्लेशाः प्रसिद्धाः।

अनुवाद—पूर्वजन्म में अनुभूत मरणदुःख के अनुभव की वासना के बल के कारण कीड़े से लेकर विद्वान् तक सभी प्राणीमात्र को होने वाला हमेशा, बिना किसी कारण के होने वाला एक भयरूपी अभिनिवेश उत्पन्न होता है कि शरीर, विषय आदि से मेरा वियोग न हो, यही पाँचवाँ क्लेश है। 'मैं कभी भूतकाल में न जाऊँ, बल्कि सदा होता रहूँ' इस प्रकार की इच्छा प्रत्येक आत्मा में अनुभव से सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—'अपने ही प्रवाह में बहने वाला यह अभिनिवेश विद्वानों के लिये भी वैसा ही रूप है (अर्थात् वैसा ही प्रभाव डालता है)—(पातञ्जल योगसूत्र २.९.) वे अविद्या आदि पाँचों क्लेश विविध सांसारिक दुःखों की प्राप्ति कराने के कारण पुरुष को क्लिष्ट (दुःखो) करते हैं, इसलिये उन्हें क्लेश कहा जाता है।

विशेष—मृत्यु का भय ही अभिनिवेश कहलाता है। यह पाँचवां क्लेश है।

(१५. कर्म. विपाक और आशय)

कर्माणि विहितप्रतिषिद्धरूपाणि ज्योतिष्टोमब्रह्महत्यादीनि। विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः धर्माधर्मसंस्काराः। तत्परिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः। निरोधो नाभावमात्रमभिमतम्। तस्य तुच्छत्वेन भावरूपसाक्षात्कारजननक्षमत्वासम्भवात्। किन्तु तदाश्रयो मधुमतीमधुप्रतीका-विशोका-संस्कारशेषाव्यपदेश्यश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। निरुध्यन्तेऽस्मिन्प्रमाणाद्याश्चित्तवृत्तय इति व्युत्पत्तेरुपपत्तेः।

अनुवाद—कर्म दो प्रकार के होते हैं—विहित तथा निषिद्ध। जैसे—ज्योतिष्टोम ब्रह्महत्या आदि। कर्म के फल को विपाक कहा जाता है। जाति, आयु तथा भोग ये विपाक है। जो फल के पूर्ण परिपक्व होने तक चित्तभूमि में रहते हैं, उन्हें आशय कहा जाता है। जैसे—धर्म तथा अधर्म के संस्कार। उस कर्माशय का विरोधी चित्तवृत्ति निरोध 'योग' कहलाता है। निरोध का अर्थ केवल अभावमात्र नहीं है। क्योंकि यदि निरोध अभावरूप माना जायेगा, तो वह भावात्मक साक्षात्कार को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जायेगा। अपितु निरोध का तात्पर्य है कि चित्त पर आश्रित मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, संस्कार शेषा

नामक चित्त की अवस्थाविशेष। जिसमें प्रमाण आदि चित्त वृत्तियों का निरोध किया जाता है, वह चित्त की निरोध अवस्था है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति हो जाती है।

विशेष—सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद पीछे दिखलाये गये थे—सवितर्क, सविचार, सानन्द तथा सास्मित। इन्हीं चारों को क्रमशः मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा नाम चित्त की अवस्था कहा जाता है।

(१६. वृत्तिनिरोध के उपाय-अभ्यास और वैराग्य)

अभ्यासवैराग्याभ्यां वृत्तिनिरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः प्रशान्तवाहितारूपः परिणामविशेषः स्थितिः। तं निमित्तीकृत्य यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत् निमित्तार्थे सप्तमीत्युक्तं भवति।

अनुवाद—अभ्यास तथा वैराग्य से वृत्ति का निरोध होता है। चित्त की स्थिति के विषय में प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है। वृत्ति से रहित चित्त का शान्त प्रवाह के रूप में अपने स्वरूप में रहना ही स्थिति नामक परिणाम विशेष है। उसी स्थिति को निमित्त बनाकर बार बार प्रयत्न करना अर्थात् चित्त में उसी स्थिति को बनाना ही अभ्यास है। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (चमड़े के लिये हाथी को मारता है) की तरह यहाँ (स्थितौ यत्नोऽभ्यासः में) सप्तमी निमित्त के अर्थ में हुई है।

विशेष—आचार्य पतञ्जलि का सूत्र भी है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो.सू. १.१२) तथा 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (यो.सू. १.३) चित्त वृत्तियों का प्रवाह विषयों की ओर स्वभावतः जाता रहता है। उस प्रवाह का शान्तरूप अर्थात् चित्त की अपने रूप में अवस्थिति ही 'स्थिति' कहलाती है।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति', में 'निमित्तात्कर्मयोगे' (पाणिनीय सूत्र २.३.३) से सप्तमी विभक्ति हुई है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (पात० यो० सू० १/१५)। ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्निरभिलाषस्य 'ममैते विषया वश्याः' 'नाहमेतेषां वश्यः' इति विमर्शो वैराग्यमित्युक्तं भवति।

अनुवाद—दृष्ट तथा आनुश्रविक विषयों में तृष्णारहित व्यक्ति की वशीकार नामक संज्ञा (विषयों को अपने वश में कर लेना) को वैराग्य कहा जाता है। (पात. योगसूत्र १.१५) ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों में दोष देखने के बाद इच्छा रहित मनुष्य को इस प्रकार का विचार आता है कि ये विषय मेरे अधीन हैं मैं इनके अधीन नहीं हूँ इसे ही वैराग्य कहा जाता है।

विशेष—वैराग्य के चार प्रकार हैं—

१. यतमान, २. व्यतिरेक

३. एकेन्द्रिय ४. वशीकार

(१७. समाधिप्राप्ति के लिए क्रियायोग)

समाधिपरिपन्थिक्लेशतनूकरणार्थं च समाधिलाभार्थं प्रथमं क्रिया-योगविधानपरेण योगिना भवितव्यम्। क्रियायोगसम्पादनेऽभ्यासवैराग्ययोः सम्भवा तदुक्तं भगवता–

१२. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(गी० ६/३) इति

अनुवाद—समाधि में बाधक बनने वाले क्लेशों को क्षीण करने के लिये तथा समाधि की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम योगी को क्रियमाण की विधि के अनुसार चलना चाहिये। क्रियायोग के सम्पादन में अभ्यास तथा वैराग्य सम्भव है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

योग मार्ग में जाने वाले मुनि को लिये कर्म ही कारण कहा गया है, जबकि उस योगारूढ मुनि के लिये राम कारण है।

विशेष—योगी दो प्रकार के होते हैं—

१. युक्त या योगारूढ

२. युञ्जान या आरुरुक्षु

क्रियायोगश्चोपदिष्टः पतञ्जलिना–'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (पात०यो०सू० २/१) इति। तपःस्वरूपं निरूपितं याज्ञवल्क्येन–

१३. विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्॥ इति।

प्रणवगायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनं स्वाध्यायः।

अनुवाद—आचार्य पतञ्जलि ने क्रियायोग का उपदेश दिया है—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान—ये क्रियायोग है। (पातञ्जलयोग सूत्र २.१) याज्ञवल्क्य ने तपस्या का स्वरूप बतलाया है—

कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा विधिपूर्वक बतलाये गये मार्ग से जो शरीर का शोषण किया जाता है, वह तपस्याओं में उत्तम तप है।

प्रणव, गायत्री आदि मन्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है।

विशेष—कृच्छ्र एक प्रकार का व्रत है, जिसके अन्तर्गत प्राजापत्य आदि व्रत आते हैं। चान्द्रायण व्रत एक मास का होता है। इसके दो भेद हैं—

१. यव चान्द्रायण

२. पिपीलिका चान्द्रायण

इन सभी व्रतों का विस्तृत वर्णन याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय की मिताक्षरा टीका में उपलब्ध होता है।

(१८. मन्त्र और उनका विवेचना)

ते च मन्त्रा द्विविधाः–वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाश्च द्विविधाः–प्रगीताः अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि। अप्रगीताश्च द्विविधाः–छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः, द्वितीया यजूंषि। तदुक्तं जैमिनिना–'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।' (जै०सू० २/१/३३-३५) इति।

अनुवाद—वे मन्त्र दो प्रकार के हैं—वैदिक तथा तान्त्रिक। वैदिक मन्त्र भी दो प्रकार के हैं—प्रगीत तथा अप्रगीत। उसमें प्रगीत मन्त्र की साम कहा जाता है। अप्रगीत मन्त्रों के दो प्रकार हैं—छन्दोबद्ध तथा उनसे भिन्न है उसमें पहला अर्थात् छन्दोबद्ध मन्त्र भाग ऋचायें है तथा दूसरा (छन्दोबद्ध से भिन्न) मन्त्र यजुष् है। जैसा कि जैमिनि ने कहा है—उन मन्त्रों में ऋक् उसे कहा जाता है, जहाँ अर्थ के अनुसार चरण (पाद) की व्यवस्था होती है। गीतियों को साम कहा जाता है। तथा शेष मन्त्र भाग के यजुष् कहा जाता है (जैमिनीय सूत्र २.१.३३-३५)

विशेष—वैदिक मन्त्रों में कुल मिलाकर तीन ही भाग सिद्ध होते हैं—

वैदिक मन्त्र
प्रगीत — अप्रगीत
१. साम — छन्दोबद्ध — उससे भिन्न
२. ऋक् — ३. यजुष्

१. साम—जिन मन्त्रों का गान किया जाता है, वे साम हैं।

२. ऋक्—छन्दों में बद्ध मन्त्रों को ऋक् कहते हैं।

इनमें पादों की व्यवस्था होती हैं।

३. यजुष्—इन दोनों (ऋक् व साम) से भिन्न गद्य प्रधान मन्त्रों को यजुष् कहा जाता है। अर्थवेद के मन्त्रों का समावेश भी उक्त तीनों भागों में ही हो जाता है अर्थात् अथर्ववेद के गीति मन्त्रों को साम में रखा जाता है। छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् में तथा शेष को यजुष् में रखा जाता है। इस प्रकार ऋक्, साम, यजुष्—इन तीनों वेदों में सब का समावेश हो जाता है।

तन्त्रेषु कामिककारणप्रपञ्चाद्यागमेषु ये ये वर्णितास्ते तान्त्रिकाः। ते पुनर्मन्त्रास्त्रिविधाः–स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। तदाह–

१४. स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। त्रिविधा मन्त्रजातयः।
स्त्रीमन्त्रा वह्निजायान्ता नमोऽन्ताः स्युर्नपुंसकाः॥
१५. शेषा पुमांसस्ते शस्ताः सिद्धा वश्यादिकर्मणि॥ इति।

अनुवाद—तन्त्रों में कामिक, कारण, प्रपञ्च आदि आगमों में जिन-जिन मन्त्रों का वर्णन है, उन मन्त्रों को तान्त्रिक कहा जाता है। ये मन्त्र तीन प्रकार के हैं—स्त्रीलिंग, पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग। जैसा कि कहा गया है—

मन्त्रों के तीन भेद हैं—स्त्रीलिंग, पुंलिंग तथा नपुंसकलिंग। जिनके अन्त में वह्नि की पत्नी (स्वाहा) को लगाया जाता है, वे स्त्रीलिंग मन्त्र हैं। जिनके अन्त में 'नमः' रहता है, वे नपुंसकलिंग मन्त्र हैं तथा शेष मन्त्रों को पुंलिंग कहा जाता है। वे सभी मन्त्र वशीकरण आदि कार्यों में सिद्ध हैं।

विशेष—अग्निदेव की दो पत्नियाँ हैं—स्वाहा तथा स्वधा। स्वाहा का उच्चारण करके देवताओं को आहुति दी जाती है तथा स्वधा का उच्चारण करके पितरों को आहुति दी जाती है।

पुंलिंग मन्त्रों का प्रयोग छह प्रकार के कर्मों में होता है—शान्ति कर्म, वशीकरण कर्म, स्तम्भन कर्म, विद्वेष कर्म, उच्चाटन कर्म तथा मारण कर्म।

(१८ क. मन्त्रों के दस संस्कार)

जननादिसंस्काराभावेऽपि निरस्तसमस्तदोषत्वेन सिद्धिहेतुत्वात् सिद्धत्वम्। स च संस्कारो दशविधः कथितः शारदातिलके–

१६. मन्त्राणां दश कथ्यन्ते संस्कारा सिद्धिदायिनः।
निर्दोषतां प्रयान्त्याशु ते मन्त्राः साधु संस्कृताः॥

अनुवाद—मन्त्रों के जनन आदि संस्कार न होने पर भी मन्त्रों के समस्त दोष दूर हो जाते है। अतः, सिद्धि प्रदान करने के हेतु होने के कारण मन्त्र स्वयं भी सिद्ध हैं। 'शारदातिलक' ग्रन्थ में मन्त्रों के दस प्रकार के संस्कार कहे गये हैं—मन्त्रों के सिद्धि देने वाले दस प्रकार के संस्कार कहे गये हैं। वे मन्त्र अच्छी प्रकार से संस्कृत होने के कारण निर्दोष हो जाते हैं।

१७. जननं जीवनं चैव ताडनं बोधनं तथा।
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने पुनः॥
१८. तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम्॥
१९. प्रणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः।
मन्त्रार्णसंख्यया तद्धि जीवनं सम्प्रचक्षते॥

अनुवाद—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन तथा गोपन—ये दस मन्त्रों के संस्कार हैं।

मातृका मन्त्र से मन्त्रों का उद्धार करना जनन संस्कार है। मन्त्र में ॐकार लगाकर मन्त्र के वर्णों की संख्या के अनुसार जो मन्त्रों का जप किया जाता है, वह जीवन कहलाता है।

विशेष—किसी मन्त्र में जितने वर्ण होते हैं, उतने हजार बार मन्त्र का जप पुरश्चरण कहलाता है। मन्त्र का जीवन संस्कार पुरश्चरण के द्वारा ही होता है। मन्त्रों के आगे-पीछे ॐकार लगाने से मन्त्र की शक्ति और बढ़ जाती है।

२०. मन्त्रवर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाम्भसा।
प्रत्येकं वायुबीजेन ताडनं तदुदाहृतम्॥
२१. विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः।
मन्त्राक्षरेण संख्यातैर्हन्यात्तद्बोधनं स्मृतम्॥
२२. स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रैरभिषिञ्चेद्विशुद्धये॥
२३. संचिन्त्य मनसा मन्त्रं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री विमलीकरणं हि तत्॥

अनुवाद—मन्त्रं के वर्णों को लिखकर वायु के बीज मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रत्येक वर्ण को चन्दन के जल से अभिषिंचित करना चाहिये। इसे ही ताडन कहा जाता है।

मन्त्र के वर्णों को लिखकर मन्त्र वर्णों की संख्या के अनुसार कन्हैल के फूलों से उसे अभिषिंचित करना चाहिये, इसे ही बोधन कहा जाता है।

मन्त्र साधक पुरुष को अपने तन्त्र में कहे गये विधान के अनुसार मन्त्र के वर्णों की संख्या के अनुसार शुद्धीकरण के लिये पीपल के पत्तों से मन्त्र का अभिषिंचन करना चाहिये। इसे ही अभिषेक कहा जाता है।

मन्त्र साधक पुरुष को मन से मन्त्र का चिन्तन करके ज्योतिर्मन्त्र के द्वारा मन्त्र के तीनों मलों को जला देना चाहिये।

विशेष—वायु का बीज मन्त्र 'यं' है। मन्त्र का ताडन संस्कार करते समय इसका उच्चारण किया जाता है। मन्त्र के अन्तर्गत तीन मल हैं—मायिक, कार्मण और आनव्य। 'ऊँ ह्रौम्' यह ज्योतिर्मन्त्र है।

२४. तारव्योमाग्निमनुयुग्ज्योतिर्मन्त्र उदाहृतः।
कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः॥
२५. वारिबीजेन विधिवदेतदाप्यायनं मतम्।
मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम्॥
२६. तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम्॥

अनुवाद—तार (ऊँ), व्योम (ह), अग्नि (र्) तथा मनु (औ) (ऊँ+ह्+र्+औ में अनुस्वार को जोड़ने पर 'ऊँ ह्रौम्' मन्त्र बनता है, यही ज्योतिर्मन्त्र है) को मिलाकर ज्योतिर्मन्त्र बनता है। विधिपूर्वक जल के बीजमन्त्र (वं) का उच्चारण करते हुए मन्त्र के प्रत्येक अक्षर पर कुशोदक (कुश का जल) छिड़कना ही आप्यायन कहलाता है।

मन्त्रयुक्त जल से मन्त्र का तर्पण करना तर्पण संस्कार है।

तार (ऊँकार) मायाबीज (ह्रीं) तथा लक्ष्मीबीज (श्रीं) को मन्त्र के साथ जोड़ना दीपन कहलाता है। जिस मन्त्र का जप करना है, उस मन्त्र को प्रकट न करना 'गोपन' गुप्ति कहलाता है।

२७. संस्कारा दशमन्त्राणां सर्वतन्त्रेषु गोपिता:।
यत्कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमश्नुते॥

२८. रुद्धकीलितविच्छिन्नसुप्तशप्तादयोऽपि च।
मन्त्रदोषा: प्रणश्यन्ति संस्कारैरेभिरुत्तमै:॥ इति।

तदलमकाण्डताण्डवकल्पेन तन्त्ररहस्योद्घोषणेन।

अनुवाद—सभी तन्त्रों में मन्त्रों के दश संस्कारों को गुप्त रूप से रखा गया है। मन्त्रज्ञाता व्यक्ति इन संस्कारों को परम्परापूर्वक करने से अपना अभीष्ट प्राप्त करता है।

मन्त्रों के इन उत्तम संस्कारों से रुद्ध, कीलित, विच्छिन्न, सुप्त तथा शप्त आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

तो अब असमय में ताण्डव नृत्य की तरह इस तन्त्ररहस्य का इतना ही उद्घोष काफी है।

विशेष—प्रस्तुत प्रसंग यह है कि तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान—इन तीनों क्रियायोगों का वर्णन चल रहा है। जिसमें स्वाध्याय के अन्तर्गत मन्त्र जप भी आता है। इसी प्रसंग में मन्त्र तथा तन्त्र का वर्णन प्रारम्भ हुआ, लेकिन प्रस्तुत प्रसंग है—क्रियायोग के तीसरे अंग ईश्वर प्रणिधान का वर्णन है। अगले परिच्छेद से क्रियायोग का वर्णन शुरु हो रहा है।

(१९. ईश्वरप्रणिधान और क्रियायोग का उपसंहार)

ईश्वरप्रणिधानं नामाभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे परमगुरौ फलानपेक्षया समर्पणम्। यत्रेदमुक्तम्।

२९. कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्त: करोम्यहम्॥ इति।

अनुवाद—ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है कि विहित तथा अविहित सभी क्रियाओं का फल की बिना अपेक्षा रखे परमगुरु परमेश्वर में समर्पण कर देना। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

कामना से या बिना कामना से जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म मैं करता हूँ, वह सब आप में ही समर्पित है तथा आपकी प्रेरणा से ही मैं कर रहा हूँ।

क्रियाफलसंन्यासोऽपि भक्तिविशेषापरपर्यायं प्रणिधानमेव। फलानभिसंधानेन कर्मकरणात्। तथा च गीयते गीतासु भगवता—

३०. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गी० २/४७) इति।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं भगवद्भिर्नीलकण्ठभारतीश्रीचरणैः-

३१. अपि प्रयत्नसम्पन्नं कामेनोपहतं तपः।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम्॥ इति।

अनुवाद—क्रिया फल से संन्यास लेना भी प्रणिधान ही है तथा इसका दूसरा पर्याय है—भक्ति विशेष। क्योंकि इसमें फल की इच्छा रखे बिना ही कर्म किया जाता है। जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है—

तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं। तुम कर्मफल के हेतु मत बनो तथा तुम्हारी रुचि अकर्म में भी न रहे। (गीता २.४७)

भगवान् नीलकण्ठ भारती श्रीचरण ने भी यह बतलाया है कि कर्मफल के प्रति आसक्ति रखना हानिकारक है—

यदि मन में इच्छा रखकर बहुत प्रयत्न से भी तपस्या की जाती है, तो भी वह तपस्या भगवान् शिव को प्रसन्न नहीं कर पाती, जिस प्रकार कुत्ते के द्वारा चाटा हुआ दूध संतुष्टि नहीं दे पाता है।

(२०. क्रिया ही योग है-शुद्धा सारोप लक्षणा)

सा च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानात्मिका क्रिया योगसाधनत्वाद्योग इति शुद्धसारोपलक्षणावृत्त्याश्रयणेन निरूप्यते, यथायुर्घृतमिति।

शुद्धसारोपलक्षणा नाम लक्षणाप्रभेदः। मुख्यार्थबाधतद्योगाभ्यामर्थान्तरप्रतिपादनं लक्षणा। सा द्विविधा-रूढिमूला प्रयोजनमूला च। तदुक्तं काव्यप्रकाशे-

३२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

(का०प्र० २/९) इति।

अनुवाद—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान रूपी वह क्रिया भी योग का साधन होने से योग ही कहलाती है। इस प्रकार शुद्धा सारोपा लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेकर बतलाया जा रहा है। जैसे आयु ही घृत है।

लक्षणा का एक भेद है—शुद्ध सारोपा लक्षणा। मुख्य अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा है। यह दो प्रकार की है—रूढ़िमूला तथा प्रयोजनमूला। जैसा कि काव्यप्रकाश में किहा गया है—

मुख्य अर्थ का बाध होने पर उसी मुख्यार्थ के सम्बन्ध से रूढि या प्रयोजन के कारण जब अन्य अर्थ लक्षित होता है, तो वह आरोपित क्रिया लक्षणा कहलाती है। (काव्यप्रकाश २.९.)

विशेष—लक्षणा के दो भेद हैं—शुद्धा तथा गौणी। जब सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर लक्षणा की जाती है, तो उसे शुद्धा लक्षणा कहा जाता है। जैसे—आयुर्घृतम् (आयु ही घृत है) यहाँ आयु का कारण घृत है। अतः, आयु को घृत कहा जा रहा है।

सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा को गौणी कहा जाता है। जैसे—राजा सिंहः (राजा सिंह है) यहाँ राजा को सिंह के समान होने के कारण सिंह कहा जा रहा है।

शुद्धा तथा गौणी—इन दोनों लक्षणाओं के दो भेद और हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना जब विषयी (आरोप्य) तथा विषय दोनों का अलग-अलग उल्लेख करके विषय पर विषयी का आरोप किया जाता है, तो उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं। जैसे—

१. शुद्धा सारोपा—आयुर्घृतम्। यहाँ आयु तथा घृत दोनों का अलग-अलग उल्लेख है।

२. गौणी सारोपा—राजा सिंहः गौर्वाहीकः।

जब विषय का नामोल्लेखपूर्वक उच्चारण न करके केवल विषयी का ही नाम लिया जाता है, तो उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं। जैसे—

१. शुद्धा साध्यवसाना—आयुरेवेदम्। यहाँ 'घृत' का उच्चारण न करके केवल 'आयु' का ही उच्चारण हुआ है।

२. गौणी साध्यवसाना—सिंहोऽयम्।

ये चारों प्रकार की लक्षणाएँ (शुद्धा आरोपा, शुद्धा साध्यवसाना, गौणी आरोपा तथा गौणी साध्यवसाना) दो प्रकार की होती हैं—रूढ़ा तथा प्रयोजनमूला।

जब बिना किसी प्रयोजन के लौकिक प्रसिद्धि अर्थात् रूढि के कारण लक्षणा होती है, तो उसे रूढ़िमूलक लक्षणा कहा जाता है। जैसे—'कुशल' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—कुश लाने वाला। लेकिन रूढ़ि के कारण 'कुशल' शब्द का अर्थ है—निपुण। इसी प्रकार प्रयोजन के कारण होने वाली लक्षणा को प्रयोजनमूला लक्षणा कहा जाता है। जैसे—'गंगायो घोषः' यहाँ शीतलता तथा पावनता रूप प्रयोजन के लिये गंगा का अर्थ गंगातट किया जाता है।

यच्छब्देन लक्ष्यत इत्याख्याते गुणीभूतं प्रतिपादनमात्रं परामृश्यते। सा लक्षणेति प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षया तच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वोपपत्तिः। तदुक्तं कैयटैः- निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरैक्यमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तत्तलिङ्गमुपाददत इति।

अनुवाद—(यत्सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया में) 'यत्' शब्द के द्वारा 'लक्ष्यते' इस आख्यात पद में गुणीभूत जो प्रतिपादन अर्थ है, उसका परामर्श किया जाता है। 'सा लक्षणा' (वह लक्षणा है) यहाँ प्रतिनिर्दिश्यमान (विधेय) के अनुसार 'तत्' शब्द में स्त्रीलिंग

की उपपत्ति हो जाती है। जैसा कि आचार्य कैयट ने कहा है—सर्वनाम शब्द निर्दिश्यमान (उद्देश्य) तथा प्रतिनिर्दिश्यमान (विधेय) की एकता को बतलाते हैं तथा क्रमश: उस-उस लिङ्ग को भी धारण करते हैं।

विशेष—'लक्ष्यते' यहाँ 'लक्ष्' धातु तथा कर्मवाच्य में 'णित्' प्रत्यय हुआ है। लक्ष् + णिच् + प्रथम पुरुष एकवचन। प्रकृति तथा प्रत्यय में प्रकृत्यर्थ गौण होता है तथा प्रत्ययार्थ प्रमुख होता है। (प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूत:, तयो: प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्) इसीलिये 'लक्ष्यते' में लक्ष् धातु का अर्थ प्रतिपादन है, जो कि गौण है। 'यत्सा लक्षणाऽरोपिता क्रिया' में उसी प्रतिपादनरूप गौण अर्थ का बोध यत् के द्वारा होता है।

'यत् लक्ष्यते सा लक्षणा' यहाँ 'यत्' नपुंसकलिंग का प्रयोग है तथा 'सा' स्त्रीलिंग का प्रयोग है। यत् का प्रयोग नपुंसकलिंग में इसलिये हुआ है, क्योंकि यत् प्रतिपादन का बोधक है, जबकि 'सा' में 'लक्षणा' शब्द के अनुसार स्त्रीलिंग का प्रयोग हुआ है। 'यत् प्रतिपाद्यते सा लक्षणा' यहाँ 'प्रतिपादन' उद्देश्य है तथा 'लक्षणा' विधेय। आचार्य कैयट ने यह बतलाया है कि सर्वनाम शब्दों में लिंग का प्रयोग उद्देश्य तथा विधेय के लिंग के अनुसार होता हैं।

'यत् लक्ष्यते सा लक्षणा' इस प्रयोग की तरह अन्य प्रयोग भी होते हैं। जैसे— य: पुत्र: तत् रत्नम्।

काव्य प्रकाश की बालबोधिनी टीका के अनुसार 'यत् लक्ष्यते' में यत् शब्द का अर्थ दो प्रकार से सम्भव है—

१. 'यत्' यह 'यया' इस अर्थ में प्रयोग है, लेकिन यहाँ तृतीया विभक्ति का लोप है—यदिति ययेत्यर्थे लुप्तकरणतृतीयान्तमव्ययम्।

२. दूसरा मत यह है कि 'यत्' लक्ष्यते क्रिया का विशेषण है—यद्वा यदिति लक्षणक्रियाविशेषणम्।

तत्र 'कर्मणि कुशल:' इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम्। कुशांल्लातीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात्प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेन अभिधानवत्प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते। तदाह–

निरूढा लक्षणा: काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् (त.वा.) इति।

अनुवाद—उसमें 'कर्मणि कुशल:' (कर्म में कुशल है) यह रूढिलक्षणा का उदाहरण है। 'कुशों को लाता है' इस व्युत्पत्ति से कुशलपद 'दर्भ लाने के कर्ता' अर्थ में यौगिक है, फिर भी विवेक के सामर्थ्य से 'प्रवीण' अर्थ मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अनादि वृद्ध व्यवहार की परम्परा के अनुसार 'कुशल' शब्द अभिधान (अभिधेयार्थ) के समान बिना किसी प्रयोजन की अपेक्षा रखे प्रवृत्त होता है। जैसा कि कहा गया है—कुछ निरूढा लक्षणायें सामर्थ्य के कारण अभिधान (अभिधेयार्थ) की तरह हो जाती हैं। (तन्त्रवार्तिक)

विशेष—'कुशल' शब्द का वाच्यार्थ है—कुश को लाने वाला। लेकिन कुशल शब्द से रूढलक्षण के द्वारा 'निपुण' अर्थ किया जाता है। रूढलक्षणा अभिधा के समान ही होती है। रूढलक्षणा बिना किसी प्रयोजन के अनादिकाल से चली आ रही वृद्ध परम्परा के कारण की जाती है।

तस्माद्रूढिलक्षणायाः प्रयोजनापेक्षा नास्ति। यद्यपि प्रयुक्तः शब्दः प्रथमं मुख्यार्थं प्रतिपादयति, तेनार्थेनार्थान्तरं लक्ष्यत इत्यर्थधर्मोऽयं लक्षणा, तथापि तत्प्रतिपादके शब्दे समारोपितः सञ्शब्दव्यापारः इति व्यपदिश्यते। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं–लक्षणारोपिता क्रियेति।

अनुवाद—इसलिये रूढ़िलक्षणा को प्रयोजन की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि प्रयोग करने पर शब्द सबसे पहले मुख्यार्थ का प्रतिपादन करता है तथा उस मुख्यार्थ के द्वारा दूसरे अर्थ में लक्षणा होती है। इसलिये यद्यपि लक्षणा अर्थ का धर्म है, फिर भी उस अर्थ के प्रतिपादक शब्द में आरोपित होने के कारण इसे शब्द व्यापार कहा जाता है। इसी को उद्देश्य में रखकर कहा गया है—

लक्षणा आरोपिता क्रिया है।

विशेष—वस्तुतः लक्षणा अर्थ व्यापार है, फिर भी शब्द शब्द में आरोपित होने के कारण उसको शब्दव्यापार कहा जाता है।

(२० क. प्रयोजनमूलक लक्षणा)

प्रयोजनलक्षणा तु षड्विधा-उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा गौणसारोपा गौणसाध्यवसाना शुद्धसारोपा शुद्धसाध्यवसाना चेति। कुन्ताः प्रविशन्ति, मञ्चाः क्रोशन्ति, गौर्वाहीकः, गौरयम्, आयुर्घृतम्, आयुरेवेदम्–इति यथाक्रममुदाहरणानि द्रष्टव्यानि।

अनुवाद—प्रयोजन लक्षणा छह प्रकार की होती है—उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, गौणसारोपा, गौणसाध्यवसाना, शुद्धसारोपा, शुद्धसाध्यवसाना। इन लक्षणाओं के क्रमशः उदाहरण हैं—भाले प्रवेश करते हैं, मञ्च चिल्लाते हैं, वाहीक गौ है, यह गौ है, घृत आयु है तथा यह आयु है।

विशेष—प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद होते हैं—

१. उपादान लक्षणा—जब वाच्यार्थ का परित्याग न करते हुए उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है, तो उसे उपादान लक्षणा कहते हैं। जैसे—'कुन्ताः प्रविशन्ति' यहाँ 'कुन्त' (भाले) अर्थ को बिना छोड़ते हुए 'भाले वाले (कुन्तधारी) पुरुष प्रवेश करते हैं' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

२. लक्षणलक्षणा—जब वाच्यार्थ का पूरी तरह से परित्याग करके अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है, तो उसे लक्षण लक्षणा कहते हैं। जैसे—मञ्चाः क्रोशन्ति (मञ्च चिल्लाते हैं) यहाँ मञ्च अर्थ को छोड़कर लक्षणा से पुरुष अर्थ किया जाता है। मञ्च नहीं

चिल्लाते, बल्कि मञ्चस्थ पुरुष चिल्लाते हैं। इसका अन्य उदाहरण है—गंगायां घोषः। आगे के चारों भेदों का वर्णन पीछे किया जा चुका है—

३. गौण सारोपा—गौर्वाहीकः (वाहीक गौ है।)

४. गौण साध्यवसाना—गौरयम् (यह गौ है।)

५. शुद्ध सारोपा—आयुर्घृतम् (घी ही आयु है।)

६. शुद्ध साध्यवसाना—आयुरेवेदम् (यह आयु ही है)

तदुक्तम्—

३३. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥
३४. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका ॥
३५. भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा ॥

(का.प्र. २/१०-१२) इति।

तदलं काव्यमीमांसामर्मनिर्मन्थनेन।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—अपनी सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ (लक्ष्यार्थ) का आक्षेप करना तथा दूसरे अर्थ (लक्ष्यार्थ) के लिये अपने अर्थ (मुख्यार्थ) का त्याग करना—ये दो प्रकार की शुद्ध लक्षणायें हैं—उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा।

दूसरी (गौणी) लक्षणा के अन्तर्गत सारोपा लक्षणा वह है, जिसमें विषयी तथा विषय अलग-अलग रहते हैं। जिस लक्षणा में विषय को विषयी के अन्दर कर दिया जाता है, तो उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं। लक्षणा के ये दोनों भेद (सारोपा तथा साध्यवसाना) सादृश्य सम्बन्ध से (गौणी) तथा अन्य सम्बन्ध से (शुद्धा) भी होते हैं। इसलिये गौपी सारोपा, गौणी साध्यवसाना तथा शुद्धा सारोपा एवं शुद्धा साध्यवसाना इनको मिलाकर लक्षणा छह प्रकार की होती है। पूर्व में लक्षणा के दो भेद बतलाये गये थे—उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा। गौणी के भेदों तथा शुद्धा के दो भेदों को मिलाकर लक्षणा के कुछ छः भेद हुए।

(का.प्र. २.१०.१२)

तो अब काव्यशास्त्र के मर्म का मंथन बहुत हो गया। (अब पूर्वोक्त विषय 'योग' का का विवेचन होगा)।

(२१. योग के आठ अंग-यम और नियम)

स च योगो यमादिभेदवशादष्टाङ्ग इति निर्दिष्टः। तत्र यमा अहिंसादयः। तदाह पतञ्जलिः-'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (पात.यो.सू. २/३०) इति। नियमाः शौचादयः। तदप्याह-'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। (पात.यो.सू. २/३२) इति।

अनुवाद—यह योग यम आदि भेदों के कारण आठ प्रकार का कहा गया। उसमें अहिंसा इत्यादि यम हैं। जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये यम हैं। (पातञ्जल योगसूत्र २.३०) शौच आदि नियम हैं। भी कहा गया है—शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान—ये नियम हैं। (पातञ्जल योगसूत्र २.३२)

एते च यमनियमा विष्णुपुराणे दर्शिताः–

३६. ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन् ॥
३७. स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ॥
३८. एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः ॥

***(वि.पु. ६/७/३६-३८)* इति**

अनुवाद—ये यम-नियम विष्णुपुराण में बतलाये गये हैं—निष्काम योगी अपने मन को योग्य बनाते हुए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का सेवन करे। योगी अपने मन का निग्रह करके स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तपस्या को तथा परब्रह्म में अपने मन को तत्पर करे (अर्थात् ईश्वर प्राणिधान करे)

ये पाँच-पाँच यम तथा नियम कहे गये हैं। ये सकाम व्यक्ति को विशेष फल देते हैं तथा निष्काम योगी को मुक्ति देते हैं। (विष्णु पुराण-६.७.३६-३८)

(२१ क. आसन और प्राणायाम)

स्थिरसुखमासनम्। (पात.यो. सू. २/४६) पद्मासन-भद्रासन-वीरासन-स्वस्तिकासन-दण्डाकासन-सोपाश्रय-पर्यङ्क-कौञ्चनिषदनोष्ट्रनिषदन-समसंस्थान-भेदाद्दशविधम्।

३९. पादाङ्गुष्ठौ निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम् ।

इत्यादिना याज्ञवल्क्यः पद्मासनादिस्वरूपं निरूपितवान्। तत्सर्वं तत एवावगन्तव्यम्।

अनुवाद—जो स्थिरता पूर्वक सुखदायी हो, वह आसन है। (पातञ्जल योग सूत्र २.४६)। यह आसन दस प्रकार का है—पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डकासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्च निषदन, उष्ट्र निषदन, समसंस्थान।

याज्ञवल्क्य में पद्मासन आदि का स्वरूप बतलाया है—दोनों हाथों को उलट कर (पीठ पीछे से) दोनों पैर के अंगूठे को पकड़ ले। दोनों जांघों पर दोनों पैर के तलवे

रखे। (बायें जांघ पर दाहिने पैर का तलवा तथा दाहिने जांघ पर बायें पैर का तलवा रखे) हे विप्रेन्द्र! इसे ही सभी के द्वारा सम्मानित पद्मासन कहा जाता है।

यह सारा विषय (अन्य आसनों का विवेचन) वहीं से समझ लेना चाहिये।

विशेष—आचार्य याज्ञवल्क्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति के अतिरिक्त 'योगयाज्ञल्वक्य' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें योग का विस्तार से वर्णन करते हुए आठ प्रकार के आसनों का भी वर्णन किया है।

१. पद्मासन—दोनों जांघों पर दोनों पैर के तलवे रखकर दोनों हाथों को उलटकर पीठ के पीछे से ले जाकर दोनों पैर के अंगूठे पर पकड़े ले, यह पद्मासन है। पद्मासन के लक्षण में 'पादांगुण्णै निबध्नीयात्' के स्थान पर 'अंगुष्ठौ च निबध्नीयात्' यह पाठभेद है।

२. स्वस्तिकासन—

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिके तत् प्रचक्षते॥
सीवन्यास्त्वात्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु दक्षिणे दक्षिणेतरम्।
एतञ्च स्वस्तिकं प्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम्॥

३. गोमुखासन—

सव्ये दक्षिणपृष्ठं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखोपनम्॥

४. वीरासन—

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्।
इतरास्मिंतथा चोरुं, वीरासनमुदाहृतम्॥

५. सिंहासन—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सावन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणं सव्युगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहिताः।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा॥

६. भद्रासन—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सावन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
पार्श्वमादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्॥
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम्।

७. मुक्तासन—

सम्पीड्य सीवनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः।
सव्ये दक्षिणागुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्॥
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य मुक्तासनमिदं तु वा॥

८. मयूरासन—

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः।
हस्तयोः कौर्परौ चापि स्थापयन् नाभिपार्श्वयोः॥
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्॥

आसन, संस्थान तथा निषदन—ये तीनों पर्यायवाची हैं।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति। स च श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदस्वरूपः। तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम् प्रश्वासः पुनः कोष्ठ्यस्य बहिर्निःसारणम् तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः।

ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्। तद्विशेषेषु रेचकपूरककुम्भक-प्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत्-नैष दोषः। सर्वत्रापि श्वासप्रश्वासगतिविच्छेद-सम्भवात्।

अनुवाद—इस प्रकार आसन की स्थिरता होने पर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। प्राणायाम का अर्थ है—श्वांस तथा प्रश्वांस की गति को रोकना। श्वांस का अर्थ है—बाहरी वायु का अन्दर आना तथा प्रश्वांस का अर्थ है—कोष्ठगत वायु का बाहर निकलना। उन दोनों का संचरण न होना ही प्राणायाम है।

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यह प्राणायामसामान्य का लक्षण नहीं है। क्योंकि प्राणायाम के विशेष भेदों 'रेचक, पूरक तथा कुम्भक' में प्राणायाम का लक्षण नही जाता है, तो सिद्धान्ती योगदार्शनिक उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि इन तीनों प्रकारों में श्वांस-प्रश्वांस की गति का विच्छेद तो होता ही है।

विशेष—प्राणायाम का अर्थ है—श्वांस-प्रश्वांस की गति का निरोध। प्राणायाम के तीनों भेदों में यह लक्षण घटित होता है।

तथा हि-कोष्ठ्यस्य बायोर्बहिर्निःसरणं रेचकः प्राणायामो यः प्रश्वा-सत्वेन प्रागुक्तः। बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरको यः श्वासरूपः। अन्तस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते। तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासद्वयगतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः। तदुक्तं-'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (पात.यो.सू. २/४९) इति।

अनुवाद—जैसे कि—कोष्ठ में स्थित वायु का बाहर निकलना रेचक प्राणायाम है, जिसे पहले ही प्रश्वांस के रूप में कहा गया है। बाहरी वायु को भीतर धारण करना पूरक प्राणायाम है। इसे ही श्वांस कहा जाता है। वायु को भीतर स्थिर रखना ही कुम्भक

प्राणायाम है। कुम्भक प्राणायाम में कुम्भ में रखे हुए जल की तरह प्राणवायु को निश्चल रूप से कोष्ठ में धारण किया जाता है। इसलिये सभी प्राणायामों में (पूरक, कुम्भक, रेचक तीनों में) श्वांस प्रश्वांस दोनों की गति का विच्छेद होता ही है, इसमें कोई शंका नहीं है। जैसा कि कहा गया है—श्वांस प्रश्वांस की गति का विच्छेद प्राणायाम है। (पातञ्जलयोग सूत्र २.४९)

विशेष—पूरक प्राणायाम में प्रश्वांस की गति का विच्छेद होता है तथा रेचक प्राणायाम में श्वांस की गति का विच्छेद होता है। इसी तरह कुम्भक प्राणायाम में श्वांस तथा प्रश्वांस दोनों की गति का विच्छेद होता है। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणायामों में श्वांस या प्रश्वांस में से किसी न किसी एक की गति का विच्छेद होता है। इसलिये 'श्वांस-प्रश्वांस की गति का विच्छेद प्राणायाम है' यह लक्षण तीनों प्रकार के प्राणायामों पर लागू होता है।

(२२. वायुतत्व का निरूपण)

स च वायुः सूर्योदयमारभ्य सार्धघटिकाद्वयं घटीयन्त्रस्थितघटभ्रमणन्यायेन एकैकस्यां नाड्यां भवति। सत्यहर्निशं श्वासप्रश्वासयोः षट्शताधिकैकविंशति-सहस्राणि जायन्ते। अत एवोक्तं मन्त्रसमर्पणरहस्यवेदिभिरजपामन्त्रसमर्पणे-

४०. षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयंभुवे।
विष्णवे षट्सहस्रं च षट्सहस्रं पिनाकिने॥

४१. सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥ इति।

अनुवाद—यह वायु सूर्योदय से लेकर अढ़ाई घटी तक (२.१/२ घटी=एक घण्टे तक) एक-एक नाड़ी में रहता है, जिस प्रकार घटी यन्त्र (रहट) में घट घूमते रहते हैं। इस प्रकार दिन-रात मिलाकर श्वांस-प्रश्वांस को २१६०० बार आवृत्ति होती है। इसीलिये मन्त्र समर्पण रहस्य के वेत्ताओं ने अजपा मन्त्र के समर्पण के विषय में कहा है—

छः सौ मन्त्र गणेश को, छः हजार स्वयंभू को, छः हजार विष्णु को, छः हजार शिव को, एक हजार गुण को, एक हजार परमात्मा को तथा एक हजार मन्त्रजप मैं आत्मा को समर्पित करता हूँ॥४०-४१॥

विशेष—२४ मिनट की एक घटी होती है अर्थात् एक घंटे में २.५ घटी होती है। नाक के अन्दर तीन नाडियाँ होती हैं। दाहिनी नाक में पिंगला तथा बांयी नाक में इडा नाडी होती है। इन दोनों के बीच में सुषुम्णा नाड़ी होती है। पूरे दिन श्वांस-श्वांस एक घंटे पिंगला नाडी में तथा एक घंटे इडा नाड़ी में चलता है। यह क्रम लगातार चलता रहता है। अर्थात् कभी एक नाक में श्वांस-प्रश्वांस चलता है तो कभी दूसरी नाक में। पूरे दिन-रात मिलाकर २१६०० बार श्वांस प्रश्वांस चलता है। यह श्वांस प्रश्वांस की क्रिया अजपा गायत्री कहलाती है। श्वांस छोड़ते समय 'सः' तथा श्वांस लेते समय 'हम्' का उच्चारण

होता है अर्थात् 'सोऽहम्' या उलटने पर 'हंस:' यह उच्चारण पूरे दिन-रात २१६०० का चलता रहता है। यही अजपागायत्री का मंत्र है। सम्पूर्ण दिन की मन्त्र संख्या भिन्न-भिन्न देवों को अर्पित की जाती है—

६००	गणेश
६०००	ब्रह्मा
६०००	विष्णु
६०००	शिव
१०००	गुरु
१०००	परमात्मा
१०००	आत्मा
२१६००	मन्त्रसंख्या

तथा नाडीसंचारणदशायां वायोः संचरणे पृथिव्यादीनि तत्त्वानि वर्णविशेषदशात्पुरुषार्थाभिलाषुकैः पुरुषैरवगन्तव्यानि। तदुक्तमभियुक्तैः-

४२. सार्धं घटीद्वयं नाड्योरेकैकार्कोदयाद्वहेत्।
अरघट्टघटीभ्रान्तिन्यायो नाड्योः पुनः पुनः॥

४३. शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव।
खखषट्कद्विकैः संख्याहोरात्रे सकले पुनः॥

अनुवाद—वायु के संचरण से नाडी के संचरण होने की दशा में पुरुषार्थ को चाहने वाले लोगों को वर्ण विशेष के कारण पृथ्वी आदि तत्त्वों को प्राप्त करना चाहिये। जैसा कि अभियुक्तों ने कहा है—

इन दोनों नाड़ियों में (पिंगला तथा इडा में) से प्रत्येक नाडी में बारम्बार सूर्योदय के बाद से अढाई-अढाई घटी तक रहट पर स्थित घड़े के भ्रमण के न्याय से वायु चलती रहती है। पर इस अढाई घटी (अर्थात् एक घंटे में) ९० बार श्वांस तथा प्रश्वांस चलता है। दिन-रात मिलाकर २१६०० बार निश्वांस (श्वांस) तथा उच्छ्वांस (प्रश्वांस) होता है।

विशेष—एक घंटे में ९०० बार अर्थात् २४ घंटे में ९००×२४=२१६०० बार श्वांसोच्छ्वांस चलता है।

४४. षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भणने भवेत्।
सा वेला मरुतो नाड्यन्तरे संचरतो भवेत्॥

४५. प्रत्येकं पञ्च तत्त्वानि नाड्योश्च वहमानयोः।
वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि यतात्मभिः॥

४६. ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनः समीरणः।
भूमिरर्धपुटे व्योम सर्वगं प्रवहेत्पुनः॥

४७. वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत्क्रमात् ।
दहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा ॥

अनुवाद—छत्तीस गुरु वर्णों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना ही समय वायु को नाड़ी के अन्दर जाने में लगता है।

इस चलने वाली दोनों नाड़ियों में प्रत्येक नाड़ी में पाँच तत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) पूरे दिन-रात रहते हैं। इन्हें जितेन्द्रिय लोग ही जान सकते हैं।।४५।।

अग्नि तत्त्व ऊपर बहता है, जल तत्त्व नीचे बहता है तथा वायु तत्त्व (समीरण) तिरछा चलता है। भूमि तत्त्व अर्धपुर में रहता है तथा आकाश तत्त्व सब ओर बहता है।

इन निरन्तर चलने वाली (बहने वाली) दोनों नाड़ियों का यह कम है कि वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा आकाश—इन पाँच तत्त्वों को क्रमशः ये दोनों नाड़ियाँ बहाती रहती हैं।।४७।।

विशेष—एक नाड़ी से वायु का भीतर जाना तथा दूसरी नाड़ी से बाहर निकलना ही श्वासोच्छ्वास कहलाता है। इसे ही प्राण भी कहते हैं। इस क्रिया में ४ सेकेण्ड लगते हैं।

४ सेकेण्ड = १ प्राण (श्वांसोच्छ्वास)

६० सेकेण्ड (१ मिनट) = १५ प्राण

२४ मिनट = ३६० प्राण = १ घटी

६० मिनट = २.५ घटी = ९०० प्राण = १ घंटा

२४ घंटा = २१६०० प्राण

ये दोनों पंच महाभूतों को भी धारण करती हैं।

४८. पृथ्व्याः पलानि पंचाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः ।
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ॥

४९. प्रवाहकालसंख्येयं हेतुस्तत्र प्रदर्श्यते ।
पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः ॥

५०. त्रिगुणो द्विगुणो वायुर्वियदेकगुणं भवेत् ।
गुणं प्रति दश पलान्युर्व्यां पञ्चाशदित्यतः ॥

५१. एकैकहानिस्तोयादेस्तथा पञ्च गुणाः क्षितेः ।
गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी ॥

अनुवाद—इन नाड़ियों में पृथ्वी तत्त्व पचास पल तक बहता है, जल चालीस पल तक, अग्नि तीस पल तक, वायु बीस पल तक तथा आकाश दस पल तक बहता है।।४८।।

अब इस प्रवाह काल की संख्या का कारण दिखाया जा रहा है। पृथ्वी में पाँच गुण हैं, जल में चार गुण, अग्नि में तीन गुण, वायु में तीन गुण तथा आकाश में एक गुण होता है। प्रत्येक गुण के दस पल होते हैं। इसलिये पृथ्वी में पचास पल होते हैं॥४९-५०॥

जल आदि में एक-एक गुण कम होते जाते हैं। पृथ्वी में पाँच गुण हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्ष तथा शब्द। ५१

विशेष—एक प्राण = ४ सेकेण्ड

६ प्राण = २४ सेकेण्ड = १ पल

६० पल = ३६० प्राण = १ घटी

१५० पल = २.५ घटी = १ घंटा

एक घंटे अर्थात् २.५ घटी में कुल १५० पल हैं। इसमें पृथ्वी-५० पल

जल	-	४०
अग्नि (तेज)-		३०
वायु	-	२०
आकाश	-	१०
		१५० पल

पृथ्वी में ५ गुण हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द

जल में ४ गुण हैं—रस, रूप, स्पर्श, शब्द

अग्नि में ३ गुण हैं—रूप, स्पर्श, शब्द

वायु में २ गुण हैं—स्पर्श, शब्द

आकाश में १ गुण हैं—शब्द

५२. तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यां स्याच्छान्तिः कार्ये फलोन्नतिः।
दीप्तास्थिराव्यूहवृत्तिस्तेजीवाय्वम्बरेषु च॥

५३. पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते।
आद्येस्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्ये कामोद्भवो भवेत्॥

५४. तृतीये कोपसन्तापौ चतुर्थे चञ्चलात्मता।
पञ्चमे शून्यतैव स्यादथ वाधर्मवासना॥

५५. श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये।
सृक्विण्योः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेषे दृगन्तयोः॥

५६. न्यस्यान्तःस्थपृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात्।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम्॥ इत्यादिना।

अनुवाद—पृथ्वी से शान्ति होती है तथा जल से कार्य के फल में उन्नति होती हैं। तेज (अग्नि) से कान्ति, वायु से अस्थिरता तथा आकाश से अव्यूह (वियोग) की प्राप्ति होती है॥५२॥

अब पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश का चिह्न बतलाया जा रहा है। पृथ्वी से चित्त की स्थिरता होती है, जल से इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं॥५३॥

अग्नि से क्रोध तथा सन्ताप होता है, वायु से चञ्चलता होती है तथा आकाश से शून्यता तथा अधर्म की वासना होती है॥५४॥

दोनों कानों के छेदों को दोनों अंगूठे से बन्द करके दोनों हाथ की मध्य अंगुली से दोनों नाक के छिद्र को बन्द करे। होठों को दोनों हाथ की कानी तथा अनामिका से बन्द कर तथा दोनों हाथ की तर्जनी से आँखों को बन्द करे॥५५॥

इस प्रकार पृथ्वी आदि तत्त्वों को धारण करने से क्रमशः पृथ्वी आदि पाँचों तत्त्वों का ज्ञान होता है। उसके बाद पीत, श्वेत, श्याम तथा अरूण बिन्दुओं से उपाधिरहित आकाश का साक्षात्कार होता है॥५६॥

विशेष—श्लोक ५५ तथा ५६ में शून्य (आकाश) के साक्षात्कार की मुद्रा बतलायी गयी है।

पीत वर्ण पृथ्वी का, श्वेत वर्ण जल का, अरूण वर्ण अग्नि का तथा श्याम वर्ण वायु का प्रतीत है।

यथावद्वायुतत्त्वमवगम्य तन्नियमने विधीयमाने विवेकज्ञानावरणकर्मक्षयो भवति। तपो न परं प्राणायामादिति।

५७. दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजा मलाः॥ इति च।

अनुवाद—इस प्रकार यथावत् वायु तत्त्व को जानकर उस वायु तत्त्व के नियमन का विधान होने पर विवेक ज्ञान को आवरण करने वाल कर्मों का नाश होता है। प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है।

जिस प्रकार आग में जलाने पर धातुओं का मल (गंदगी) जल जाता है उसी प्रकार प्राणायामों से इन्द्रिय से उत्पन्न मल जल जाते हैं॥५७॥

विशेष—विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म से तात्पर्य है विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाले क्लेश। कर्म जन्य क्लेशों को ही 'कर्म' नाम से कहा गया है।

(२३. प्रत्याहार का निरूपण)

तदेवं यमादिभिः संस्कृतमनस्कस्य योगिनः संयमाय प्रत्याहारः कर्तव्यः। चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रतिनियतरञ्जनीयकोपनीयमोहनीयप्रवणत्वप्रहाणेन अविकृतस्वरूपप्रवणचित्तानुकारः प्रत्याहारः। इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः।

अनुवाद—तो इस प्रकार यम आदि के द्वारा जिसका मन शुद्ध हो गया है, उस योगी को स्वयं को संयमित करने के लिये प्रत्याहार करना चाहिये। चक्षु आदि इन्द्रियों का रंजनीय, कोपनीय तथा मोहनीय विषयों के प्रति जो निश्चित रूप से होने वाली आसक्ति है, उस आसक्ति का नाश करके निर्विकार रूप में चित्त की ओर जाना (चित्त का आकार धारण करना) ही प्रत्याहार है। इसकी व्युत्पत्ति है कि जिसमें इन्द्रियों की वृत्तियों को उलटकर खींच लिया जाता है, वह प्रत्याहार है।

विशेष—योग के आठ अंगों के अन्तर्गत जो अनित्य तीन अंग हैं—धारणा, ध्यान तथा समाधि। इन तीनों को संयम भी कहा जाता है। 'प्रति+आ+हृ' अर्थात् प्रत्याहृयन्ते इन्द्रियाणि विषयेभ्यः सः प्रत्याहारः। तीन गुणों (सत्त्व, रण तथा तम) के कारण विषयों के भी विविध प्रकार होते हैं। कुछ विषय राग उत्पन्न करते हैं कुछ कोप, तो कुछ मोह उत्पन्न करते हैं। इन विषयों से इन्द्रियों का विमुख होना ही प्रत्याहार हैं।

ननु तदा चित्तमभिनिविशते नेन्द्रियाणि। तेषां बाह्यविषयत्वेन सामर्थ्याभावात्। अतः कथं चित्तानुकारः। अद्धा। अत एव वस्तुतस्तस्यासम्भवमभिसन्धाय सादृश्यार्थमिवशब्दं चकार सूत्रकारः–'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पात.यो.सू. २/५४) इति। सादृश्यं च चित्तानुकारनिमित्तं विषयासम्प्रयोगः।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि फिर चित्त का ही (इन्द्रियों की ओर) अभिनिवेश होता है, न कि इन्द्रियों का। क्योंकि इन्द्रियाँ बाह्य विषय की ओर अभिमुख होती है। अतः, चित्त का आकार धारण करने में इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये इन्द्रियाँ कैसे चित्त का आकार धारण करेंगी? सिद्धान्ती कहते हैं—ठीक है। इसीलिये वास्तव में इन्द्रियों के द्वारा चित्त के आकार को धारण करना असम्भव है यह मानकर ही सूत्रकार ने सादृश्य अर्थ में 'इव' शब्द का प्रयोग किया है—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर भी मानो चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना ही प्रत्याहार है। (पातञ्जल योगसूत्र २.५४) सादृश्य का तात्पर्य है कि इन्द्रियों का चित्त के आकार को धारण करने के लिये विषय के साथ सम्बन्ध करना।

विशेष—इन्द्रियाँ वस्तुतः चित्त का आकार धारण नहीं कर पाती हैं। इसीलिये पतञ्जलि ने योगसूत्र में इव शब्द का प्रयोग किया है। इव का अर्थ है सादृश्य। इससे यह द्योतित होता है कि इन्द्रियाँ चित्त का आकार तो धारण नहीं करती, फिर भी उनका विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है।

यदा चित्तं निरुध्यते तदा चक्षुरादीनां निरोधे प्रयत्नान्तरं नापेक्षणीयम्। यथा मधुकरराजं मधुमक्षिका अनुवर्तन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तमिति। तदुक्तं विष्णुपुराणे–

५८. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः ॥

५९. वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥
(वि.पु. ६/७/४३-४४) इति।

अनुवाद—जब चित्त का निरोध हो जाता है, तब चक्षु आदि इन्द्रियों के विरोध के लिये अलग प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती है। जिस प्रकार मधुकर राज के पीछे-पीछे मधुमक्खियाँ चलती हैं, उसी तरह चित्त के पीछे-पीछे इन्द्रियाँ चलती हैं। जैसाकि विष्णु पुराण में कहा गया है—

योगी शब्दादि विषयों में लगी हुई चक्षु आदि इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्याहार के द्वारा उन इन्द्रियों को चित्त की ओर लगा दे।।५८।।

उसके बाद अत्यन्त चंचल इन्द्रियों की अत्यधिक वश्यता हो जाती है। इन्द्रियों को वश में न करने पर योगी योग कर साधक नहीं हो सकता है।।५९।।

(विष्णु पुराण ६.७.४३-४४)

(२३ क. धारणा और ध्यान)

नाभिचक्रहृदयपुण्डरीकनासाग्रादावाध्यात्मिके हिरण्यगर्भवासवप्रजापतिप्रभृतिके बाह्ये वा देशे चित्तस्य विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणं धारणा। तदाह-'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'। (पा.यो.सू. ३/१) इति। पौराणिकाश्च-

६०. प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥
(वि.पु. ६/७/४५) इति।

अनुवाद—नाभिचक्र, हृदयकमल, नाक का अग्रभाग आदि जो शरीर के आध्यात्मिक (भीतरी) स्थान हैं उनमें या फिर हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति आदि बाह्य स्थानों में चित्त को इस तरह से स्थिर किया जाये कि अन्य विषयों का परिहार हो जाये, इसे ही धारणा कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—चित्त का एक स्थान पर स्थिर रहना ही धारणा है। (पातञ्जल योग सूत्र ३.१)

पौराणिकों ने भी कहा है—प्राणायाम के द्वारा वायु को तथा प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके फिर किसी शुभ आश्रय पर चित्त को स्थिर करना चाहिये।

(विष्णुपुराण-६.७.४५)

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्य विसदृशप्रत्ययप्रहाणेन प्रवाहो ध्यानम्। तदुक्तं-'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पात.यो.सू. ३/२) इति अन्यैरप्युक्तम्-

६१. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥
(वि.पु. ६/७/८९) इति।

प्रसङ्गाच्चरममङ्गं प्रागेव प्रत्यपीपदाम।

अनुवाद—उस स्थान में ध्येय वस्तु के आकार में परिणत ज्ञान का प्रवाह ही ध्यान है, इसमें असदृश प्रत्ययों का त्याग हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—उस धारणा में ज्ञान की एकतानता ही ध्यान है। (पातञ्जल योग सूत्र ३.२) यही बात अन्य लोगों ने भी कही है—

हे राजन्! उस ध्येयरूप के ज्ञान की एकाग्रता होने पर तथा अन्य विषय की इच्छा से रहित प्रवाह ही ध्यान है तथा यह ध्यान पूर्व के ६ अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा) से सम्पन्न होता है। (विष्णुपुराण ६.७.८९)

. प्रसङ्ग से अन्तिम अंग (समाधि) का वर्णन पहले ही कर चुके हैं।

(२४. योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ)

तदनेन योगाङ्गानुष्ठानेनादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितेन समाधिप्रतिपक्ष-क्लेशप्रक्षयेऽभ्यासवैराग्यवशान्मधुमत्यादिसिद्धिलाभो भवति।

अथ किमेवमकस्मादस्मानतिविकटाभिरत्यन्ताप्रसिद्धाभिः कर्णाटगौड-लाटभाषाभिर्भीषयते भवान्? न हि वयं भवन्तं भीषयामहे। किं तु मधुमत्यादि-पदार्थव्युत्पादनेन तोषयामः। ततश्चाकुतोभयेन भवता श्रूयतामवधानेन।

अनुवाद—तो इस प्रकार आदरपूर्वक निरन्तर तथा दीर्घकाल तक सेवित किये गये इन योगांगों का अनुष्ठान करने से समाधि के विरोधी क्लेशों का क्षय होने पर अभ्यास तथा वैराग्य के कारण मधुमती आदि सिद्धियों का लाभ होता है।

अब यह अचानक अत्यन्त भयानक तथा अत्यन्त अप्रसिद्ध कर्णाटक, गौड तथा लाट भाषाओं के द्वारा आप हम लोगों को क्यों डरा रहे हैं? (उत्तर देते हैं कि) हम आप लोगों को डरा नहीं रहे हैं, बल्कि मधुमती आदि पदार्थों की व्युत्पत्ति बतलाकर सन्तुष्ट ही कर रहे हैं। तो अब निर्भय होकर आप लोग सावधानीपूर्वक सुनिये।

(२४ क. मधुमती-सिद्धि)

तत्र मधुमती नामाभ्यासवैराग्यादिवशादपास्तरजस्तमोलेशसुखप्रकाश-मयसत्त्वभावनया अनवद्यवैशारद्यविद्योतनरूपऋतम्भरप्रज्ञाख्या समाधिसिद्धिः। तदुक्तम्–'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (पात.यो.सू. १/४८)। ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते। तत्र स्थितौ दार्ढ्ये सति द्वितीयस्य योगिनः सा प्रज्ञा भवतीत्यर्थः।

अनुवाद—उसमें मधुमती का तात्पर्य है कि अभ्यास तथा वैराग्य के कारण रजोगुण तथा तमोगुण का लेश समाप्त होने पर सुखमय तथा प्रकाशमय सत्त्वगुण की भावना से निष्कलंक वैशाख (निर्मलता) प्रकाशित होता है, यही ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक सामधि सिद्धि है। जैसाकि कहा गया है—उस समय योगी ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। (पातञ्जलयोगसूत्र १.४८) यह ऋत अर्थात् सत्य को धारण करती है तथा कभी भी विपर्यय से आच्छादित नहीं होती। उस समय स्थिरता के दृढ़ हो जाने पर दूसरे प्रकार के योगी को यह प्रज्ञा होती है।

विशेष—आगे योगियों के चार प्रकार बतलाये गये है। इसमें दूसरे प्रकार के अर्थात् मधुमती भूमिक योगी को ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा प्राप्त होती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा में रजोगुण तथा तमोगुण का लेशभाव भी नहीं रहता, बल्कि सत्त्वगुण प्रकाशित होता है। यह कभी भी विपर्यय (अज्ञान) से आच्छादित नहीं होती।

चत्वारः खलु योगिनः प्रसिद्धाः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योति-रतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। न त्वनेन परचित्तादिगोचरज्ञानरूपं ज्योतिर्वशीकृतमित्युक्तं भवति। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजजयी तृतीयः। परवैराग्यसम्पन्नश्चतुर्थः।

अनुवाद—चार प्रकार योगी प्रसिद्ध हैं—प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभावनीय। जो अभ्यास में लगा हुआ है तथा जिसमें ज्ञान (ज्योति) केवल प्रवृत्त ही हुआ है, वह प्राथमकल्पिक योगी है। तात्पर्य है कि यह योगी दूसरे व्यक्ति के चित्त में रहने वाली ज्ञानरूपी ज्योति को वश में नहीं कर पाता। ऋतम्भरा प्रज्ञावाला द्वितीय योगी (मधुभूमिक) है। पंच महाभूत तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला योगी तीसरा (प्रज्ञाज्योति) है तथा परम वैराग्य से सम्पन्न योगी चौथा (अतिक्रान्त भावनीय) है।

विशेष—जिस योगी के चित्त में केवल ज्ञान की अभी प्रवृत्ति ही हुई है। वह योगी के चित्त के ज्ञान की प्रथम अवस्था है। ऐसी स्थिति में योगी अन्य लोगों के मन की बात को नहीं जान पाता। यही प्रथम प्रकार का योगी है।

(२४ ख. अन्य सिद्धियाँ–मधुप्रतीका, विशोका, संस्कारशेषा)

मनोजवित्वादयो मधुप्रतीकसिद्धयः। तदुक्तं–'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' (पात.यो.सू. ३/४८) इति। मनोजवित्वं नाम कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः। विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविषयापेक्षवृत्तिलाभः। प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु सर्वेषु वशित्वम्।

एताश्च सिद्धयः करणपञ्चकरूपजयात्तृतीयस्य योगिनः प्रादुर्भवन्ति। यथा मधुनः एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेव ताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः।

अनुवाद—मनोजवित्व आदि मधुप्रतीकसिद्धियाँ है। जैसा कि कहा गया है—मनोजवित्व (मन पर विजय होना), इन्द्रियों को नियंत्रित करना तथा प्रकृति पर विजय पाना (पातञ्जलयोगसूत्र ३.४८)। मनोजवित्व का तात्पर्य है—शरीर का मन की तरह अत्युत्तम गति की प्राप्ति। विकरण भाव का अर्थ है—शरीर की अपेक्षा बिना रखे इन्द्रियों का अभीष्ट देश-काल के विषयों से सम्बन्धित ज्ञान की प्राप्ति होना। प्रधान जय (प्रकृति पर विजय) का तात्पर्य है—प्रकृति के सभी विकारों को वश में करना।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर विजय कर लेने के कारण ये सिद्धियाँ तीसरे प्रकार के योगी (प्रज्ञाज्योति) में प्रादुर्भूत होती हैं। जिस प्रकार मधु का एक भाग भी स्वादिष्ट होता है, उसी प्रकार ये सिद्धियाँ भी स्वादिष्ट अर्थात् प्रिय होती है। इसीलिये इन्हें मधुप्रतीक (मधु के समान) कहा जाता है।

विशेष—मधुप्रतीका सिद्धि के अन्तर्गत मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रकृति विजय सिद्धियाँ आती हैं। ये सभी सिद्धि तृतीय कोटि के प्रज्ञाज्योति योगी को प्राप्त होती हैं।

सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपा विशोका सिद्धिः। तदाह-'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च' (पात.यो.सू. ३/४९) इति। सर्वेषां व्यवसायाव्यवसायात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां भावानां स्वामिवदा-क्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्। तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। तदुक्तं-'विशोका वा ज्योतिष्मती' (पात.यो.सू. १/३६) इति।

अनुवाद—सभी पदार्थों का अधिष्ठातृत्व प्राप्त करना ही विशोका सिद्धि है। जैसा कि कहा गया है—सत्त्व (चित्त या प्रकृति) तथा पुरुष में परस्पर भेद जानने वाले व्यक्ति को सभी भावों का अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। (पातञ्जल योगसूत्र ३.४९)

सभी व्यवसायात्मक (इन्द्रियाँ) तथा अव्यवसायात्मक (शब्दादि विषय तथा पृथ्वी आदि महाभूत) भाव, जो कि गुणपरिणाम रूप है, उनके ऊपर स्वामी की तरह अधिकार करना ही सर्वभावाधिष्ठातृत्व कहा जाता है। उन्हीं भावों का शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य धर्मी के रूप से स्थित होने पर जो विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है, यही सर्वज्ञता है। जैसा कि कहा गया है—शोक से रहित ज्योतिष्मती सिद्धि प्राप्त होती है।

(पातञ्जलयोगसूत्र १.३६)

विशेष—भावों की तीन अवस्थायें होती हैं—शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य। ज्योतिष्मती सिद्धि चौथे प्रकार के योगी 'अतिक्रान्तभावनीय' को प्राप्त होती है।

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये परं वैराग्यमाश्रितस्य जात्यादिबीजानां क्लेशानां निरोधसमर्थो निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातवेदनीयः संस्कारशेषताव्यपदेश्यश्चित्त-स्यावस्थाविशेषः। तदुक्तं-'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (पात. यो. सू. १/१८) इति। एवं च सर्वतो विरज्यमानस्य तस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेश-बीजानि निर्दग्धशालिबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यविधुराणि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति।

अनुवाद—सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर परम वैराग्य में आश्रित योगी को जाति (जन्म) आदि बीजों के रूप में विद्यमान क्लेशों का निरोध करने में समर्थ निर्बीज समाधि प्राप्ति होती है। इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से जाना जाता है तथा यह 'संस्कारशेषता' नाम से पुकारी जाने वाली चित्त की एक विशेष अवस्था है। जैसा कि कहा गया है—

विराम प्रत्यय का अभ्यास करने के बाद जब संस्कार ही शेष रह जाता है, तो उसे दूसरी अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। (पातञ्जल योगसूत्र १.१८) इस प्रकार सब ओर से विरक्त उस श्रेष्ठ पुरुष के क्लेशों के बीज धान के जले हुए

बीजों की तरह बन जाते हैं तथा उत्पादन के सामर्थ्य से रहित होकर मन के साथ ही समाप्त हो जाते हैं।

विशेष—असम्प्रज्ञात समाधि को ही निर्बीज समाधि भी कहा जाता है। इस समाधि में समस्त क्लेश बीजों का नाश हो जाता है तथा पुनः उन क्लेशों में फल के उत्पादन का सामर्थ्य नहीं होता।

(२५. कैवल्य की प्राप्ति-प्रकृति और पुरुष को)

तदेतेषु प्रलीनेषु निरुपप्लवविवेकख्यातिपरिपाकवशात् कार्यकारणात्मकानां प्रधाने लयः, चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धितत्त्वाभिसम्बन्धविधुरा वा कैवल्यं लभत इति सिद्धम्। द्वयी च मुक्तिरुक्ता पतञ्जलिना—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः' (पात. यो. सू. ४/३४) इति। न चास्मिन्सत्यपि कस्मान्न जायते जन्तुरिति वदितव्यम्। कारणाभावात्कार्याभाव इति प्रमाणसिद्धार्थे नियोगानुयोगयोरयोगात्।

अनुवाद—तो फिर इन सभी क्लेश बीजों के प्रलीन हो जाने पर उपद्रव से रहित विवेक ज्ञान (भेद ज्ञान) के परिपाक हो जाने के कारण कार्य-कारण रूप में विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकृति (प्रधान) में लय हो जाता है। अपने रूप में प्रतिष्ठित चिति शक्ति (पुरुष) पुनः बुद्धि तत्त्व के साथ सम्बन्ध नहीं बनाती तथा कैवल्य को प्राप्त करती है—यह सिद्ध होता है। पतञ्जलि ने दो प्रकार की मुक्ति बतलायी है—पुरुषार्थ से शून्य गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना ही कैवल्य है या फिर चिति शक्ति का अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। (पातञ्जल योगसूत्र ४.३४)। इस कैवल्य के हो जाने पर व्यक्ति का पुनः जन्म क्यों नहीं होता—यह शंका भी नहीं करनी चाहिये। कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव हो जाता है, यह बात प्रमाण से सिद्ध है, इसलिये नियोग (विधि) तथा अनुयोग (प्रश्न) सम्भव नहीं है।

विशेष—कैवल्य के दो भेद हैं—

१. गुणों का प्रकृति में लय।

२. पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा।

अपरथा कारणाभावेऽपि कार्यसम्भवे मणिवेधादयोऽन्ध्यादिभ्यो भवेयुः। तथा चानुपपन्नार्थतायामाभाणको लौकिक उपपन्नार्थो भवेत्। तथा च श्रुतिः—'अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत्' (तै.आ. १/११/५)। अविन्ददविध्यत। आवयद् गृहीतवान्। प्रत्यमुञ्चत् पिनबद्धवान्। असश्चताभ्यपूजयत्, स्तुतवानिति यावत्।

अनुवाद—यदि कारण के न होने पर भी कार्य उत्पन्न होने लगे, तो अन्धे लोग भी मणि में छेद करने लगेंगे। यदि अनुपपन्न (असम्भव) वस्तु को भी स्वीकार करने लगें, तो लौकिक कहावत भी चरितार्थ होने लगेगी। जैसा कि श्रुति ने कहा है—किसी अंधे व्यक्ति ने मणि में छेद किया। उस मणि को ऊँगली रहित व्यक्ति ने पकड़ा फिर उस

मणिमाला को गर्दन रहित व्यक्ति ने धारण किया तथा जिह्वारहित व्यक्ति ने उसकी प्रशंसा की। (तैत्तिरीय आरण्यक १.११.५) 'अविन्दत्' का अर्थ है—छेद किया। 'अवयत्' का अर्थ है—पकड़ा। 'प्रत्यमुञ्चत्' का अर्थ है—धारण किया तथा 'असश्चत्' का अर्थ है—पूजा की अर्थात् प्रशंसा की।

विशेष—वेदों में यह जो असम्भव का वर्णन है, वास्तव में यह ब्रह्म की प्रशंसा है। लोक में असम्भव वस्तु के विषय में 'आकाशपुष्प' आदि कहा जाता है। लौकिक कहावत भी है—

मरीचिकाकृतस्नानः खपुष्पकृतभूषणः ।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृंगधनुर्धरः ॥

लेकिन यदि असम्भव को भी सम्भव मान लें, तो वैदिक और लौकिक—दोनों ही वचन अनुपपन्न हो जायेंगे।

(२५ क. योगशास्त्र के चार पक्ष)

एवं च चिकित्साशास्त्रवद् योगशास्त्रं चतुर्व्यूहम्। यथा चिकित्साशास्त्रं रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषजमिति, तथेदमपि संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखमयः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयभोगहेतुः। तस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। तदुपायः सम्यग्दर्शनम्। एवमन्यदपि शास्त्रं यथासम्भवं चतुर्व्यूहमूहनीयमिति सर्वमवदातम्।।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पातञ्जलदर्शनम्।

अनुवाद—इस प्रकार चिकित्साशास्त्र की तरह ही योगशास्त्र भी चतुर्व्यूहात्मक है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में चार व्यूह हैं—रोग, रोग का कारण, आरोग्य तथा ओषधि। उसी तरह योगशास्त्र के चार व्यूह हैं—संसार, संसार का कारण, मोक्ष तथा मोक्ष का उपाय। उसमें वह दुःखमय संसार हेय (त्यागने योग्य) है। प्रकृति तथा पुरुष का संयोग हेय भोग (संसार) का कारण है। उस संसार की आत्यन्तिक (सदा के लिये) निवृत्ति हान (मोक्ष) है। मोक्ष का उपाय है—सम्यक् दर्शन। इसी तरह अन्य शास्त्रों में भी यथा सम्भव चार व्यूह हैं—यह कल्पना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार सब कुछ स्पष्ट है।

विशेष—पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में भी चार व्यूह हैं—प्रद्युम्न, अनिरूद्ध, संकर्षण, वासुदेव। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य प्रसिद्ध हैं—

१. दुःख
२. दुःख का कारण
३. दुःख का निरोध (निर्वाण)
४. निर्वाणोपाय

पातञ्जल दर्शन के भी चार व्यूह यही चारों आर्यसत्य हैं।

।। इति पातञ्जलदर्शनम् ।।

अध्याय-१६
शाङ्कर-दर्शनम्

ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपं
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति।
जीवोऽपि भाति पृथगत्र तयैव चैको-
ऽद्वैताश्रितं खलु नमाम्यथ शङ्करं तम् ॥-ऋषिः।

(१. परिणामवाद-खण्डन-प्रकृति की सिद्धि अनुमान से असम्भव)

सोऽयं परिणामवादः प्रामाणिकगर्हणमर्हति। न ह्यचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं प्रवर्तते। सुवर्णादौ रुचकाद्युपादाने हेमकारादिचेतनाधिष्ठानोपलम्भेन नित्यत्वसाधककृतकत्ववत्सुखदुःखमोहात्मनाऽन्वितत्वादेः साधनस्य साध्यविपर्ययव्याप्ततया विरुद्धत्वात्।

अनुवाद—यह परिणामवाद प्रामाणिकों के द्वारा निन्दित है। अचेतन प्रधान (प्रकृति) चेतन के द्वारा अधिष्ठित बिना हुए प्रवर्तित नहीं हो सकता। कंगन आदि को निर्माण के लिये स्वर्णकार आदि चेतन अधिष्ठान के बहाने से सुवर्णादि का उपादान किया जाता है। जिस प्रकार नित्यत्व (साध्य) का साधन 'कृतकत्व' नित्यत्द के अभाव को सिद्ध करता है, उसी प्रकार 'सुख, दुःख मोह से युक्त होना' यह साधन साध्य के विपर्यय (अभाव) को सिद्ध करता है। इसलिये यह विरुद्ध हेतु है।

विशेष—सांख्य दर्शन में प्रकृति को सिद्ध करने के लिये अनुमान किया गया था—

विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात्।

यद्येनान्वीयते तत् तत्कारणम्। यथा—रूचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं तस्मात्तथेति।

अर्थात् समस्त पदार्थों का कारण सुखदुःखमोहात्मक प्रकृति है, क्योंकि वह प्रकृति सुखदुःख तथा मोह से युक्त है। जो जिससे युक्त होता है, उसका भी कारण भी वैसा ही होता है। जैसे—कंगन सुवर्ण से युक्त है, इसलिये उसका कारण भी सुवर्ण है।

शाङ्कर दर्शन के अनुसार इस अनुमान में जो साधन है—सुख दुःख मोह से युक्त होना। यह साधन साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, न कि साध्य को।

शाङ्कर दर्शन के अनुसार इस अनुमान में जो साधन है—सुख दुःख मोह से यु होना। यह साधन साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, न कि साध्य को। जिस प्र 'कृतकत्व' साधन नित्यत्व के अभाव 'अनित्यत्व' को सिद्ध करता है।

स्वरूपासिद्धत्वाच्च। आन्तराः खल्वमी सुखदुःखमोहा बाह्येभ्यश्च नादिभ्यो विभिन्नप्रत्ययवेदनीयेभ्यो व्यतिरिक्ता अध्यक्षमीक्ष्यन्ते। यद्यमी सुखा स्वभावा भवेयुस्तदा हेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। न हि चन्दनः कदाचि चन्दनः। तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत् न ह्यसौ कदाचिदकु कुमपङ्क इति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त यह साधन स्वरूप सिद्धि भी है। अर्थात् यह सा साध्य में नहीं रहता ये सुख, दुःख तथा मोह आन्तरिक पदार्थ हैं तथा विभिन्न प्रकार प्रत्ययों से ज्ञान होने वाले चन्दन आदि बाह्य पदार्थों से भिन्न है, इनका (सुख, दुःख, मो का) ज्ञान मन (अध्यक्ष) से होता है। यदि इन चन्दन आदि का स्वभाव ही सुखादि हो तो हेमन्त ऋतु में भी चन्दन सुखदायक होता। क्योंकि कभी ऐसा नहीं होता कि चन्द चन्दन न हो। इसी तरह कुंकुम लेप गर्मी में भी सुखकारक होता, कुंकुम लेप कभी कुं लेप न हो ऐसा नहीं होता।

विशेष—अद्वैत वेदान्तियों का यह कहना है कि सुख, दुःख आदि मन का ध है, वस्तु का नहीं। यदि यह वस्तु का धर्म होता तो सभी को सभी काल में चन्दन से सु ही प्राप्त होता है।

एवं कण्टकः क्रमेलकस्येव मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। न ह्यसौ काँश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्माच्चन्दनकुङ्कुमादयो विशेषाः काल विशेषाद्यपेक्षया सुखादिहेतवो न तु सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्। तस्माद्धेतु सिद्ध इति सिद्धम्।

अनुवाद—इसी तरह जैसे ऊँट को कांटा खाने से सुख मिलता है, वैसे ही मनुष्य आदि प्राणियों को भी कांटा खाने से सुख ही प्राप्त होगा। क्योंकि कांटा किसी के लिये ही कांटा हो, ऐसा नहीं होता। इसलिये चन्दन, कुंकुम आदि पदार्थ विशेष काल में ही सुखादि के कारण बनते हैं। ये स्वभाव से सुखकारक आदि नहीं हैं। यही उचित है। इसलिये यह हेतु (सुखादि से युक्त होना) असिद्ध है अर्थात् साध्य में नहीं रहता।

(१ क. प्रकृति के लिए श्रुति-प्रमाण भी नहीं है)

नापि श्रुतिः प्रधानकारणत्वादेः प्रमाणम्। यतः–'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छान्दोग्य. ६/४/१) इति च्छान्दोग्यशाखायां तेजोऽबन्नात्मिकायाः प्रकृतेर्लोहितशुक्लकृष्णरूपाणि समाम्नातानि

तान्येवात्र प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्र श्रौतप्रत्यभिज्ञायाः प्राबल्याल्लोहितादिशब्दानां मुख्यार्थसम्भवाच्च तेजोऽऽबन्नात्मिका जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जचतुष्टयस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिरवसीयते।

अनुवाद—न ही प्रधान (प्रकृति) को कारण मानने में श्रुति प्रमाण बनती है। क्योंकि जो अग्नि का लाल रूप है, वह तेज का रूप है, जो सफेद रंग है, वह जल का रूप है, जो काला है वह अन्न का रूप है' (छान्दोग्य शाखा ६.४.१) इस छान्दोग्य शाखा में तेज, जल तथा अन्नरूपा प्रकृति के लाल, सफेद तथा काले-तीन रूप कहे गये हैं, उन्हीं की यहाँ पर भी प्रत्यभिज्ञा की गयी है। उसमें श्रौत प्रत्यभिज्ञा अधिक प्रबल है तथा लोहित आदि शब्दों का मुख्य अर्थ सम्भव है, इसलिये, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज—इन चारों प्रकार के प्राणियों का कारण तेज, जल तथा अन्नरूपी प्रकृति है, यह निश्चय होता है।

विशेष—वेदों में प्रकृति को जगत् का कारण नहीं बतलाया गया है। बल्कि, तेज, जल तथा अन्न को सभी चार प्रकार के प्राणियों का कारण बतलाया गया है। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्....इत्यादि' मंत्र में भी इसी बात को कहा गया है।

यद्यपि तेजोऽबन्नानां प्रकृतेर्जातत्वेन योगवृत्त्या न जायत इत्यजत्वं न सिध्यति, तथापि रूढिवृत्त्यावगतमजात्वमुक्तप्रकृतौ सुखावबोधाय प्रकल्प्यते। यथा 'असावादित्यो देवमधु' (छान्दोग्य. ३/१/१) इत्यादिवाक्येनादित्यस्य मधुत्वं परिकल्प्यते, तथा तेजोऽबन्नात्मिका प्रकृतिरेवाजेति। अतोऽजामेकामित्यादिका श्रुतिरपि न प्रधानप्रतिपादिका।

अनुवाद—यद्यपि तेज, जल तथा अन्न रूपी प्रकृति ब्रह्म के द्वारा उत्पन्न होती है, इसलिये योगवृत्ति से अर्थात् 'न जायते इति अजत्वम्' (जो उत्पन्न नहीं होता, वह अजा है) यह अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता है, फिर भी आसानी ने अर्थ समझने के लिये रूढ़ि वृत्ति से प्राप्त अजत्व को उक्त प्रकृति (तेज, जल तथा अन्नरूपा प्रकृति) में मान लिया जाता है। जिस प्रकार 'यह आदित्य देवताओं का मधु है' (छान्दोग्य ३.१.१) इस वाक्य के द्वारा आदि आदित्य को मधु मान लिया जाता है, उसी तरह तेज, जल तथा अन्न रूपा प्रकृति अजा है। इस प्रकार 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति प्रकृति की प्रतिपादिका नहीं है।

विशेष—'अजा' शब्द का यौगिक दृष्टि से अर्थ है कि जो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु 'अजा' शब्द का रूढ्यर्थ है—बकरी। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि श्रुति (श्वेताश्वतरोपनिषाद् ४.५) में 'अजा' का अर्थ तेज, जल तथा अन्न रूपा प्रकृति किया गया है। इस दृष्टि से यहाँ अजा का यौगिक अर्थ न लेकर रूढ़ि से प्राप्त अर्थ 'बकरी' लिया गया है, क्योंकि तेज, जल तथा अन्न तो अजन्मा नहीं है।

(१ ख. सांख्य-दर्शन के दृष्टान्त का खण्डन)

यदवादि निदर्शनं पूर्ववादिना क्षीरादिकमचेतनं चेतनानधिष्ठितं वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तत इति। नैतद्रमणीयम्। बुद्धिविशेषशालिनः परमेश्वरस्य तत्राप्यधिष्ठातृत्वाभ्युपगमात्। न च परमेश्वरस्य करुणया प्रवृत्त्यङ्गीकारे प्रागुक्तविकल्पावसरः। सृष्टेः प्राक् प्राणिनां दुःखसम्बन्धासम्भवेऽपि तन्निदानादृष्टसम्बन्धसम्भवेन तत्प्रहाणेच्छया प्रवृत्त्युपपत्तेः।

अनुवाद—पूर्वपक्षी (सांख्य दार्शनिक) ने जो यह उदाहरण बतलाया था कि अचेतन दूध बिना किसी चेतन का आश्रय लिये ही बछड़े की वृद्धि का कारण बनता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष बुद्धि से सम्पन्न परमेश्वर को वहाँ अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया जाता है। परमेश्वर की दया से प्रवृत्ति मानने पर पूर्वोक्त विकल्पों का प्रसंग आ जायेगा—यह भी नहीं कहना चाहिये। सृष्टि के पहले प्राणियों को दुःख का सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है, फिर भी उस दुःख के कारणीभूत अदृष्ट का सम्बन्ध तो सम्भव है, इसलिये उस अदृष्ट को दूर करने की इच्छा से ईश्वर की प्रवृत्ति हो सकती है।

विशेष—पूर्व में सांख्य दर्शन के विवेचन के प्रसंग में 'परमेश्वर करुणा से प्रवृत्त होता है' यह वेदान्त मत आया था। सांख्य दार्शनिकों में दो विकल्प देकर इसका खण्डन किया था—परमात्मा सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद प्रवृत्त होता है। सृष्टि के पहले तो शरीर का ही अभाव होने से परमात्मा की प्रवृत्ति का कोई लाभ नहीं है तथा सृष्टि के बाद परमात्मा की प्रवृत्ति मानने पर परस्पराश्रय दोष आता है। दया के कारण परमात्मा सृष्टि करते हैं तथा सृष्टि करने पर दया करते हैं—यह परस्पराश्रय दोष है।

इस पर अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि यह विकल्प दिखलाकर जो सांख्यों ने वेदान्तियों का खण्डन किया था, वह सम्भव नहीं है। क्योंकि सृष्टि के पहले भले ही शरीर न होने से दुःख सम्भव नहीं है, लेकिन दुःख कारक अदृष्ट तो उस समय भी रहता ही है। इसलिये उस अदृष्ट का नाश करने के लिये सृष्टि के पूर्व ही परमात्मा की प्रवृत्ति होती है।

किं च पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रधानप्रवृत्तिरित्युक्तं तद्विवेक्तव्यम्। किं प्रधानं केवलं भोगार्थं प्रवर्तते किं वा केवलमोक्षार्थमाहोस्विदुभयार्थम्? न तावदाद्यः कल्पोऽवकल्पते। अनाधेयातिशयस्य कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्य तात्त्विकभोगासम्भवात्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। येन हि प्रयोजनेन प्रधानं प्रवर्तितं तदनेन विधातव्यम्। भोगेन चैतत्प्रवर्तितमिति तमेव विदध्यान्न मोक्षमिति।

अनुवाद—और जो कहा गया है कि पुरुष के प्रयोजन के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है—सांख्यों को इसकी भी व्याख्या करनी चाहिये। क्या प्रकृति केवल पुरुष के भोग

के लिये प्रवृत्त होती है या केवल पुरुष के मोक्ष के लिये या फिर दोनों के लिये। प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है। अतिशय से रहित तथा कूटस्थ नित्य पुरुष का तात्त्विक भोग सम्भव नहीं है, अन्यथा पुरुष का कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता। जिस प्रयोजन से प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, वह प्रयोजन प्रकृति को करना चाहिये। यदि भोग के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, तो उसको वही करना चाहिये, न कि पुरुष का मोक्ष।

विशेष—अद्वैत वेदान्तियों ने सांख्य दार्शनिकों के सामने तीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं कि प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोग के लिये है या फिर पुरुष के मोक्ष के लिये, या फिर दोनों के लिये। यदि पहला विकल्प माना जाये कि प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोग के लिये है, तो फिर प्रकृति कभी पुरुष का मोक्ष ही नहीं कर पायेगी।

नापि द्वितीयः। चिद्धातोर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावतया कर्मानुभववासनानामसम्भवेन प्रधानप्रवृत्तेः प्रागपि मुक्ततया तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। शब्दाद्युपभोगार्थमप्रवृत्तत्वेन प्रधानस्य तदजनकत्वप्रसङ्गाच्च। नापि तृतीयः। प्रागुक्तदूषणलङ्घनालङ्घितत्वात्। प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगाच्च।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। चैतन्य शक्ति का स्वभाव नित्य शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त रहना है। इसलिये उसमें कर्मानुभव की वासना सम्भव नहीं है, वह तो प्रकृति की प्रवृत्ति के पहले से ही मुक्त है, इसलिये उसके लिये प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। (दूसरी आपत्ति यह है कि जब) प्रधान (प्रकृति) पुरुष की मुक्ति के लिये प्रवृत्त है, न कि शब्दादि विषयों की मुक्ति के लिये, तो फिर प्रकृति को शब्दादि का जनक नहीं माना जा सकेगा। तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के दोषों की प्राप्ति होगी। प्रकृति का स्वभाव ही प्रवृत्ति करना है, इसलिये वह प्रवृत्ति से उदासीन नहीं रह सकती।

विशेष—यदि तीसरा विकल्प माना जाता है अर्थात् प्रकृति पुरुष के भोग तथा मोक्ष दोनों के लिये प्रवृत्त होती है, तो फिर पूर्व में प्रथम विकल्प तथा द्वितीय विकल्प में जो दोष दिखलाये गये थे, वे सभी दोष प्राप्त हो जाते हैं और प्रकृति की प्रवृत्ति तो किसी न किसी तरह से माननी ही पड़ती है, क्योंकि यह तो प्रकृति का स्वभाव है।

ननु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः पुरुषार्थः। तस्यां जातायां सा निवर्तते कृतकार्यत्वादिति चेत्–तदसमञ्जसम्। अचेतनायाः प्रकृतेर्विचार्य कार्यकारित्वायोगात्। यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे तदर्थं पुनः प्रवर्तते एवमत्रापि पुनः प्रवर्तेत। स्वभावस्यानपायात्।

अनुवाद—यदि सांख्य दार्शनिक यह कहें कि बुद्धि तथा पुरुष का भेदज्ञान ही पुरुषार्थ है और उस भेदज्ञान के होने पर प्रकृति की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि उस प्रकृति का कार्य पूरा हो जाता है—तो यह भी ठीक नहीं है। (अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि) अचेतन

प्रकृति को विचार करके कार्य करने की योग्यता नहीं है। जिस प्रकार प्रकृति से शब्दादि के उत्पन्न होने पर भी पुनः उस शब्दादि के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है, उसी तरह यहाँ भी प्रकृति की प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति का स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता।

किं च सा प्रकृतिर्विवेकख्यातिवशादुच्छिद्यते न वा? उच्छेदे सर्वस्य सम्प्रति संसारोऽस्तमियात्। अनुच्छेदे न कस्यचिन्मोक्षः।

ननु प्रधानाभेदेऽपि तत्तत्पुरुषविवेकख्यातिलक्षणाविद्यासदसत्त्वनिबन्धनौ बन्धमोक्षावुपपद्येयातामिति चेत्–हन्त तर्हि कृतं प्रकृत्या। अविद्यासदसद्भावाभ्यामेव तदुपपत्तेः।

अनुवाद—(अद्वैत वेदान्ती पूछते हैं कि) फिर उस विवेक ज्ञान के कारण प्रकृति का उच्छेद होता है या नहीं? यदि उच्छेद माना जाये तो, सभी लोगों के लिये संसार का नाश हो जाना चाहिये और यदि उच्छेद न मानें, तो किसी भी व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिलेगा।

यदि सांख्य दार्शनिक कहेंकि प्रकृति-पुरुष का भेद न भी मानें, तो भी उस-उस पुरुष के अविवेक ज्ञान रूप अविद्या की सत्ता तथा असत्ता से होने वाले बन्धन तथा मोक्ष की सिद्धि तो ही जाती है। तो इस पर अद्वैत वेदान्ती कहते हैं तब तो प्रकृति की आवश्यकता ही क्या है? अविद्या के होने या न होने से भी बन्धन तथा मोक्ष की सिद्धि हो जाती है।

विशेष—अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि विवेक ज्ञान के पश्चात् प्रकृति का उच्छेद सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाये कि जिस पुरुष को विवेक ज्ञान हुआ, उसको प्रकृति से मुक्ति मिल जाती है, तो इस पर अद्वैतियों का कहना है कि फिर तो अविद्या (माया) से भी बन्धन तथा मोक्ष की उपपत्ति हो जाती है, प्रकृति को स्वीकार करना व्यर्थ है।

नन्वविद्यापक्षेऽप्येष दोषः प्रादुःष्यादिति चेत्–तदेतत्प्रत्यवस्थानमस्थाने। न हि वयं प्रधानवदविद्यां सर्वेषु जीवेष्वेकामाचक्ष्महे येनैवमुपालभ्येमहि। अपि त्वियं प्रतिजीवं भिद्यते। तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पद्यते तस्यैवाविद्या समुच्छिद्यते। नान्यस्य। भिन्नायतनयोर्विरोधाभावात्।

अतो न समस्तसंसारोच्छेदप्रसङ्गदोषः। तस्मात्परिणामः परित्यक्तव्यः। स्वीकर्तव्यश्च विवर्तवादः।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि अविद्या मानने पर भी ये सारे दोष तो आ ही जायेंगे, तो इस पर अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि यह दोष लगाना व्यर्थ है। हमलोग (अद्वैत वेदान्ती) प्रकृति की तरह सब जीवों में एक ही अविद्या को नहीं मानते, जिस कारण आप लोग हम पर इस प्रकार का दोष लगा रहे हैं, अपितु यह अविद्या प्रत्येक जीव में

भिन्न-भिन्न है। इसलिये जिस जीव को विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उसी जीव की अविद्या का आधार भिन्न-भिन्न है। अत: एक अविद्या के समाप्त होने पर भी दूसरे जीव की अविद्या समाप्त न होने में कोई विरोध नहीं है। इसलिये सारे संसार के उच्छेद प्रसंग का दोष नहीं है। इसलिये अब परिणामवाद को छोड़ देना चाहिये और विवर्ववाद को स्वीकार करना चाहिये।

विशेष—सांख्य दर्शन में परिणामवाद माना गया है तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन में विवर्तवाद स्वीकार किया गया है। परिणामवाद का तात्पर्य है एक वस्तु का अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाना। जैसे—दूध का दही में परिणाम होता है। विवर्तवाद का तात्पर्य है—किसी वस्तु का अपेन पूर्व रूप को बिना त्यागे भ्रम के कारण दूसरे रूप की प्रतीति। जैसे सीपी का भ्रम के कारण रजत के रूप में प्रतीति विवर्त है।

ननु जीवजडयोः सारूप्याभावेन चिद्विवर्तत्वं प्रपञ्चस्य न सम्परिपद्यत इति प्रागवादिष्मेति चेत्–नैतत्साधु न हि सारूप्यनिबन्धनाः सर्वे विभ्रमा इति व्याप्तिरस्ति। असरूपादपि कामादेः कान्तालिङ्गनादिष्विव स्वप्नविभ्रमस्योपलम्भात्। किं च कादाचित्के विभ्रमे सारूप्यापेक्षा नानाद्यविद्यानिबन्धने प्रपञ्चे।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी (सांख्यदार्शनिक) यह कहे कि जीव (चेतन) तथा जड़ (संसार) में कोई समरूपता नहीं है, इसलिये यह संसार चित् का विवर्त नहीं हो सकता है यह बात पहले ही कही जा चुकी है। तो इस पर सिद्धान्ती (अद्वैत वेदान्ती) कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। यह कोई व्याप्ति नहीं है कि समस्त भ्रम समरूपता के कारण ही हों। समानरूपता न होने पर भी काम आदि विकारों के कारण स्त्री के आलिंगन आदि में स्वप्नभ्रम दिखलाई पड़ता है और फिर दूसरी बात यह है कि कभी-कभी के भ्रम में समावरूपता की अपेक्षा होती है न कि अनादि अविद्या के प्रपञ्च में।

विशेष—अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि समान रूपता न होने पर भी विवर्त हो सकता है। जैसे स्वप्न में विवर्त (भ्रम) होता है। काम आदि विकारों का भ्रम स्त्री-आलिंगन के रूप में स्वप्न में दिखलाई पड़ता है। यहाँ किसी प्रकार का सारूप्य नहीं है। इसी प्रकार अविद्याकृतविवर्त में भी सारूप्य की आवश्यकता नहीं होती।

तदवोचदाचार्यवाचस्पतिः–

१. **विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।**
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ।। इति।

तदेतत्सर्वं वेदान्तशास्त्रपरिश्रमशालिनां सुगमं सुघटं च।

अनुवाद—आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यही बात कही है यह प्रपञ्च (संसार) अपरिणामी ब्रह्म का विवर्त है। यह अनादिकालीन वासना से उत्पन्न है तथा इसे समानरूपता की अपेक्षा नहीं है।

यह सब वेदान्त शास्त्र में परिश्रम करने वालों के लिये सुगम और सुकर है।

(२. वेदान्त सूत्र की विषय-वस्तु)

तच्च वेदान्तशास्त्रं चतुर्लक्षणम्। भगवता बादरायणेन प्रणीतस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं विषय इति शंकराचार्याः प्रत्यपीपदन्। तत्र प्रथमे समन्वयाध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येण पर्यवसानम्। द्वितीयेऽविरोधाध्याये सांख्यादितर्कविरोधनिराकरणम्। तृतीये साधनाध्याये ब्रह्म विद्यासाधनम्। चतुर्थे फलाध्याये विद्याफलम्।

अनुवाद—यह वेदान्त शास्त्र चार लक्षणों वाला है। भगवान् बादरायण के द्वारा लिखे गये वेदान्त शास्त्र का विषय प्रत्यग् (जीव) और ब्रह्म की एकता ही है—ऐसा आचार्य शंकराचार्य ने प्रतिपादन किया है। उसमें प्रथम समन्वयाध्याय में समस्त वेदान्त (वाक्यों) का ब्रह्म में तात्पर्य पर्यवसित किया गया है। द्वितीय अविरोधाध्याय है, जिसमें सांख्य आदि दर्शनों के तर्क के विरोध का निराकरण किया गया है। तृतीय साधनाध्याय में ब्रह्मविद्या के साधन बतलाये गये हैं तथा चतुर्थ फलाध्याय में ब्रह्मविद्या का फल बतलाया गया है।

तत्र प्रत्यध्यायं पादचतुष्टयम्। तत्र प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गं वाक्यजातं मीमांस्यते। द्वितीयेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गमुपास्यविषयम्। तृतीये तादृशं ज्ञेयविषयम्। चतुर्थेऽव्यक्ताजापदादि सन्दिग्धं पदजातमिति।

अविरोधस्य द्वितीयस्य प्रथमे सांख्ययोगकणादादिस्मृतिविरोधपरिहारः। द्वितीये सांख्यादिमतानां दुष्टत्वम्। तृतीये पञ्चमहाभूतश्रुतीनां जीवश्रुतीनां च परस्परविरोधपरिहारः। चतुर्थे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः।

अनुवाद—उसमें प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। उसमें प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में उन वाक्यों की मीमांसा की गयी है, जिसमें स्पष्ट रूप से ब्रह्म विषयक लिंग है। द्वितीय पाद में अस्पष्टरूप से ब्रह्मलिंगक वाक्य, जो कि उपासना के विषय हैं, उनकी मीमांसा की गयी है। तृतीयपाद में उसी प्रकार के ज्ञेयविषय का वर्णन है तथा चौथे पाद में अव्यक्त (प्रकृति), अजा पद आदि सन्दिग्ध पदों (शब्दों) का विवेचन है।

दूसरे अविरोधाध्याय के पहले पाद में सांख्य, योग, कणाद आदि स्मृतियों के विरोध का परिहार किया गया है। दूसरे पाद में सांख्यादि मतों की दुष्टता बतलायी गयी हैं। तृतीय पाद में पंचमहाभूत का वर्णन करने वाली श्रुतियों तथा जीव का वर्णन करने वाली श्रुतियों के परस्पर विरोध का परिहार किया गया है। चतुर्थ पाद में लिङ्गशरीर (सूक्ष्म शरीर) विषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है।

तृतीयस्य प्रथमे जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपुरस्सरं वैराग्यम्। द्वितीये त्वंपदतत्पदार्थपरिशोधनम्। तृतीये सगुणविद्यासु गुणोपसंहारः। चतुर्थे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गान्तरङ्गाश्रमयज्ञशमादिसाधनम्।

चतुर्थस्य प्रथमे ब्रह्मसाक्षात्कारेण जीवतः पापपुण्यक्लेशवैधुर्यलक्षणा मुक्तिः। द्वितीये मरणोत्क्रमणप्रकारः। तृतीये सगुणब्रह्मोपासकस्योत्तरमार्गः। चतुर्थे निर्गुणसगुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यब्रह्मलोकावस्थानानि। तदित्थं ब्रह्म-विचारशास्त्राध्यायपादार्थसंग्रहः।

अनुवाद—तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोक में जाने तथा आने के विचार का वर्णन करते हुए वैराग्य का विवेचन है। दूसरे पाद में 'त्वम्' तथा 'तत्' पदार्थ का अनुशीलन किया गया है। तृतीयपाद में सगुण विद्या (ज्ञान) के विषय में गुणों का संकलन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मविद्या (ब्रह्मज्ञान) को प्राप्त करने के लिये बहिरंग तथा अन्तरंग उपाय जैसे आश्रम, यज्ञ, शम आदि साधनों का वर्णन किया गया है। (आश्रम, यज्ञ अन्तरंग उपाय हैं तथा शम-दम बहिरंग उपाय हैं)

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा मनुष्य को जीवित अवस्था में ही पाप, पुण्य तथा क्लेशों से रहित अवस्था 'मुक्ति' की प्राप्ति बतलायी गयी है। द्वितीय पाद में मृत्यु तथा उत्क्रमण (परलोक गमन) के प्रकार का वर्णन है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले साधक के उत्तर मार्ग (मरणोत्तर मार्ग) का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म ज्ञानियों तथा सगुण ब्रह्म ज्ञानियों की विदेह मुक्ति तथा ब्रह्मलोक में स्थिति का वर्णन है।

तो इस प्रकार से ब्रह्म विचारशास्त्र में चारों अध्यायों तथा उनके पदों में विषय का संग्रह है।

विशेष—ब्रह्मसूत्र में कुल चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं।

ब्रह्मसूत्र की रचना महर्षि वेदव्यास ने की थी। महर्षि व्यास ने ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त महाभारत, १८ महापुराण तथा १८ उपपुराणों की रचना की तथा वेदों का शाखा विभाग किया।

ब्रह्मसूत्र की प्रमुख रूप से दस व्याख्यायें हुई, जिसके कारण वेदान्त दर्शन की अनेक शाखायें हो गयीं। ब्रह्मसूत्र की कुछ प्रमुख व्याख्यायें इस प्रकार हैं—

१. शंकराचार्य—शारीरिक भाष्य—अद्वैत वेदान्त
२. भास्कराचार्य—भास्कर भाष्य—भेदाभेद
३. रामानुजाचार्य—श्रीभाष्य—विशिष्टाद्वैत
४. मध्वाचार्य—पूर्णप्रज्ञ भाष्य—द्वैत
५. रामानुजाचार्य—वेदान्त पारिजातभाष्य—द्वैताद्वैत
६. श्रीकण्ठाचार्य—शैवभाष्य—शैवविशिष्टाद्वैत
७. श्रीपति आचार्य—श्रीकर भाष्य—वीरशैव विशिष्टाद्वैत

८. वल्लभाचार्य—अणुभाष्य—शुद्धाद्वैत
९. विज्ञानभिक्षु—विज्ञानामृत भाष्य—अविभागद्वैत
१०. बलदेवस्वामी—गोविन्द भाष्य—अचिन्त्यभेदाभेद

आद्य शंकराचार्य ने गीता, दशोपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य पर आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' नामक टीका लिखी थी। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्य ग्रन्थ हैं—गौड़पाद रचित माण्डूक्य कारिका, मण्डन मिश्र रचित ब्रह्मसिद्धि, पद्मपादाचार्य रचित पञ्चपादिका, सर्वज्ञात्म मुनि रचित संक्षेपशारीरक, श्रीहर्ष रचित खण्डनखण्डखाद्य, सुरेश्वर रचित नैष्कर्म्यसिद्धि, माधवाचार्य रचित पञ्चदशी, आनन्दबोध रचित न्यायमकरन्द, मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैतसिद्धि तथा सिद्धान्त बिन्दु, अप्पयदीक्षित का सिद्धान्त लेश संग्रह, सदानन्द कृत वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदान्तपरिभाषा आदि।

(३. ब्रह्म की जिज्ञासा-प्रथम अधिकरण)

तत्र प्रथममधिकरणमथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र.सू. १/१/१) इति ब्रह्ममीमांसारम्भोपपादनपरम्। अधिकरणं च पञ्चावयवं प्रसिद्धम्। ते च विषयादयः पञ्चावयवा निरूप्यन्ते। 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (बृह. २/४/५) इत्येतद्वाक्यं विषयः। ब्रह्म जिज्ञासितव्यं न वेति सन्देहः। जिज्ञास्यत्वव्यापकयोः सन्देहप्रयोजनयोः सम्भवासम्भवाभ्याम्।

अनुवाद—उसमें प्रथम अधिकरण है—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (ब्र.सू. १.१.१) यहाँ ब्रह्ममीमांसा के आरम्भ का प्रतिपादन किया गया है। अधिकरण के पाँच अवयव प्रसिद्ध हैं। अब उन विषय आदि पांच अवयवों का निरूपण किया जा रहा है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह. २.४.५) यह वाक्य विषय वाक्य है। ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये या नहीं—यह सन्देह है। संदेह तथा प्रयोजन जिज्ञास्यत्व (जिज्ञासा) के व्यापक हैं, उन दोनों के होने पर जिज्ञासा होती है तथा न होने पर जिज्ञासा नहीं होती।

विशेष—अधिकरण के पाँच अवयव है—विषय, संशय, प्रयोजन, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त। किसी विषय की जिज्ञासा होने के लिये सन्देह तथा प्रयोजन दोनों आवश्यक है। जब किसी विषय पर सन्देह तथा प्रयोजन-दोनों होते हैं, तभी उस विषय की जिज्ञासा होती है। सन्देह तथा प्रयोजन के न होने पर जिज्ञासा नहीं होती।

(४. आत्मा की जिज्ञासा असम्भव–सन्देह की असम्भावना)

तत्र कस्येदं जिज्ञास्यत्वमवगम्यते? अहमनुभवगम्यस्य श्रुतिगम्यस्य वा? नाद्यः। सर्वजनीनेनाहमनुभवेन इदमास्पददेहादिभ्यो विवेकेनात्मनः स्पष्टं प्रतिभा-समानत्वात्। ननु स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्यानुभवात्

अध्यस्तात्मभावदेहालम्बनोऽयमहंकार इति चेन्न। बाल्याद्यवस्थासु भिन्नपरिमाणतया बदरामलकादिवत्परस्परभेदेन शरीरस्य प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तेः।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहते हैं कि) उसमें किसे जिज्ञास्य के रूप में समझा जाता है? 'अहम्' इस अनुभव से गम्य 'जीवात्मा' को सा फिर श्रुति से गम्य 'परमात्मा' को प्रथम विकल्प ठीक नहीं है। 'अहम्' यह अनुभव सार्वजनिक है तथा देह आदि का अनुभव 'इदम्' के रूप में होता है इस विवेक के द्वारा देहादि से आत्मा की अलग रूप से स्पष्ट प्रतिभासिता होती है। यदि कोई (सिद्धान्ती-अद्वैतवेदान्ती) यह कहे कि 'मैं मोटा हूँ' मैं दुवला हूँ' इत्यादि प्रयोगों में आत्मा में शरीर के धर्मों (मोटापन आदि) के सामानाधिकरण्य का अनुभव होता है इसलिये यह अहंभाव (मैं मोटा हूँ आदि) आत्मा में शरीर के धर्मों के भासित होने के कारण होता है। तो पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। बाल्यादि अवस्थाओं में शरीर का परिमाण भिन्न-भिन्न होने के कारण शरीर की प्रत्यभिज्ञा (बाल्यावस्था का शरीर ही वृद्धावस्था में है—यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है) नहीं हो सकती, जिस प्रकार बेर तथा आंवले के परिणाम में परस्पर भेद है।

विशेष—पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किये हैं—अहम् पदगम्य आत्मा जिज्ञास्य है या श्रुतिगम्य आत्मा। पूर्वपक्षी का कहना है कि आत्मा तथा शरीर का भेद स्पष्ट होने से प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'अहम् स्थूलः' इत्यादि अनुभवों में आत्मा में शरीर के धर्म भासते हैं इसलिये इन दोनों का विवेक करने के लिये अहम् पद गम्य 'आत्मा' की जिज्ञासा सम्भव है। इस पर जिस बेर तथा आंवले का आकारभेद स्पष्ट है, उसी तरह बाल्य, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं में शरीर का भेद भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जबकि उन सभी अवस्थाओं में अनुभव कर्ता आत्मा तो एक ही है। अतः आत्मा तथा शरीर में भेद स्पष्ट ही है तो फिर आत्मा की जिज्ञासा कैसे की जा सकती है?

अथोच्यते-यथा पीलुपाकपक्षे पिठरपाकपक्षे वा कालभेदेनैकस्मिन् वस्तुनि पाकजभेदो युज्यते तथैकस्मिञ्शरीराभिधे वस्तुनि कालभेदेन परिमाणभेदः। अत एव लौकिकाः शरीरमात्मनः सकाशादभिन्नं प्रतिपद्यमानाः प्रत्यभिजानते चेति। न तद्भदम्। मणिमन्त्रौषधाद्युपायभेदेन भूमिकाधानवत् नानाविधान्देहान् प्रतिपद्यमानस्याहमालम्बनस्य भिन्नस्यात्मनः शरीराद्भेदेन भासमानत्वात्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती अद्वैत वेदान्ती) कहते हैं, जिस प्रकार पीलुपाक पक्ष में या पिठर पाक पक्ष में काल भेद के कारण एक ही वस्तु में पाकज भेद होता है, उसी प्रकार एक ही शरीर नामक वस्तु में कालभेद के कारण परिमाण में भेद होता है। इसीलिये चार्वाक लोग आत्मा को शरीर से अभिन्न मानते हुए प्रत्यभिज्ञा करते हैं (कि यह वृद्धावस्था को प्राप्त शरीर वही है जो बाल्यावस्था में था) पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है।

मणि, मन्त्र तथा औषधि के उपाय भेद से भूमिका निर्वाह की तरह ही अनेक शरीरों को प्राप्त अहं पदगम्य (शरीर से) भिन्न आत्मा शरीर से भिन्न प्रतिभासित होती है।

विशेष—पूर्व में न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन के निरूपण के प्रसंग में बतलाया गया था कि तेज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इन दोनों दर्शनों में दो मत माने गये हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु की उत्पत्ति मानी गयी है, इसे ही पीलुपाक कहा जाता है। न्याय दर्शन में पूरे पिण्ड की उत्पत्ति मानी जाती है। इसे पिठर पाक कहते हैं। इन दोनों ही पक्षों में एक ही वस्तु में पाकज भेद माना जाता है। इसी दृष्टि से अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि शरीर में भी केवल कालभेद है, वस्तुतः शरीर एक ही है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति मणि, मन्त्र तथा औषधि के भेद से अनेक प्रकार के कार्य करता है, उसी प्रकार अहं पदगम्य आत्मा शरीर से भिन्न है—यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है, इसलिये आत्मा की जिज्ञासा करना व्यर्थ है।

अतएव चक्षुरादीनामप्यहमालम्बनत्वमशक्यशङ्कम्। 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' (न्या. कुसु. १/१५) इति न्यायेन चक्षुरादौ नष्टेऽपि रूपादिप्रतिसन्धानानुपपत्तेः। नाप्यन्तःकरणस्याहमालम्बनत्वमास्थेयम्। अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति न्यायेन कर्तृकरणभूतयोरात्मान्तःकरणयोस्तक्षकासिवत्सम्भेदासम्भवात्।

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) इसीलिये चक्षु आदि इन्द्रियों में भी 'अहम्' इस प्रतीति की शंका करना सम्भव नहीं है। अन्यथा 'अन्य व्यक्ति के द्वारा देखे गये पदार्थों का स्मरण अन्य व्यक्ति नहीं करता' इस नियम के अनुसार चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी रूप आदि का स्मरण नहीं हो पायेगा। अन्तःकरण को भी 'अहम्' इस अनुभव का आधार नहीं मानना चाहिये। (सिद्धान्ती कहते हैं) जो विरुद्ध धर्म का अध्यास है, वही भेद है तथा जो कारणों में भेद है, वही भेद हेतु है—इस न्याय से कर्ता तथा करणरूपी जो आत्मा तथा अन्तःकरण हैं उनका भेद उस प्रकार से असम्भव है, जिस प्रकार बढ़ई तथा वसूली (औजार) का भेद होता है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि चक्षु आदि इन्द्रियों को भी 'आत्मा' कहना सम्भव नहीं है। अन्यथा चक्षु आदि इन्द्रियों के नष्ट होने पर पूर्व में देखे गये पदार्थों का स्मरण ही नहीं हो पायेगा। इसी कारण जब इन्द्रिय आत्मा नहीं है, अर्थात् आत्मा इन्द्रिय से भिन्न है—यह बात स्पष्ट है, तो फिर आत्मा के विषय में जिज्ञासा करना व्यर्थ है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि अन्तःकरण तथा आत्मा का भी परस्पर भेद स्पष्ट होने से आत्मा की जिज्ञासा नहीं की जा सकती। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि आत्मा तथा अन्तःकरण का भेद स्पष्ट नहीं है, अतः जिज्ञासा सम्भव है। जिस प्रकार लोक में बढ़ई तथा वसूली की भेद दिखलाई पड़ता है, उस तरह आत्मा तथा अन्तःकरण का भेद दिखलाई नहीं पड़ता।

यद्यभेद एव नाद्रियते तर्हि 'स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि संख्यानमुत्सन्नसंकथं स्यात्। न स्यात्। एवं लोके शास्त्रे चोभयथा शब्द-प्रयोगदर्शने मुख्यार्थत्वानुपपत्तौ 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिवदौपचारिकत्वेनोप-पत्तेः।

अनुवाद—(अद्वैत वेदान्ती पूर्वपक्षी से पूछते हैं) यदि आप लोग अभेद नहीं मानते, तो फिर 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ', 'मैं काला हूँ' इस प्रकार प्रयोग हो ही नहीं पायेगा। (पूर्वपक्षी कहते हैं) न हो। लोक तथा शास्त्र—दोनों में इस प्रकार का प्रयोग दिखलाई पड़ने पर औपचारिक प्रयोग 'मंचाः क्रोशन्ति' (मंच चिल्लाते हैं) में मुख्यार्थ का बाध होने पर औपचारिक प्रयोग माना जाता हैं

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मुख्यार्थ बाध होने पर यह अर्थ किया जाता है—'मञ्चस्थित पुरुष चिल्लाते हैं'। यह औपचारिक प्रयोग है, उसी तरह 'मैं काला हूँ' आदि भी औपचारिक प्रयोग है।

न द्वितीयः। अहमनुभवगम्यस्यैव श्रुतिगम्यत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २/१/१) इत्यादिश्रुतिभ्यो हि ब्रह्मावगम्यते। ब्रह्मभावश्च 'अहमात्मा ब्रह्म' (बृ. २/५/१९), 'तत्त्वमसि' (छां. ६/८/७) इत्यादिश्रुतिष्वहंप्रत्ययगम्यस्यैव बोध्यते। तथा चेदमनुमानं समसूचि-विमतमजिज्ञास्यम्, असन्दिग्धत्वात्, करत-लामलकवत्।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है। 'अहम्' इस अनुभव से गम्य आत्मा ही श्रुतिगम्य हैं। 'सत्यं' ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है—तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञान होता है। 'अहमात्मा ब्रह्म' (अहम् बोध्य आत्मा ब्रह्म है—बृहदारण्यकोपनिषद् २.५.१९) तथा तत्त्वमसि (वह ब्रह्म ही ब्रह्म रूप समझा जाता है। इस तरह से यह अनुमान सूचित होता है—

विवादास्पद आत्मा जिज्ञासा के योग्य नहीं है, क्योंकि उसके ज्ञान में कोई सन्देह ही नहीं है, जिस प्रकार हाथ में रखा हुआ आंवला।

विशेष—पूर्व में पूर्वपक्षी ने दो विकल्प उठाये थे कि अनुभवगम्य आत्मा जिज्ञास्य है या श्रुतिगम्य। पहले विकल्प का खण्डन पूर्व परिच्छेदों में हुआ। अब द्वितीय विकल्प 'श्रुति गम्य आत्मा जिज्ञास्य है' का खण्डन हो रहा है। पूर्वपक्षी का कहना है कि अहं प्रत्ययगम्य आत्मा ही श्रुतिगम्य भी है। फिर जब आत्मा श्रुति गम्य है कि तो फिर उसकी जिज्ञासा करना ही व्यर्थ है।

जिस प्रकार हाथ में रखे आंवलें के विषय में कोई सन्देह नहीं होता, इसलिये उसकी जिज्ञासा नहीं की जाती, उसी प्रकार श्रुति गम्य तथा असन्दिग्ध आत्मा की भी जिज्ञासा नहीं की जाती।

(४ क. आत्मा की जिज्ञासा असम्भव-प्रयोजन का अभाव)

तथा फलं न फलभावमीक्षते पुरुषैरर्थ्यत इति व्युत्पत्त्या निःशेषदुःखोपशमलक्षितं परमानन्दैकरसं च पुरुषार्थशब्दस्यार्थः सकलपुरुषधौरेयैः प्रेप्स्यो नैतत्सांसारिकं सुखजातम्। तस्यैहिकस्य पारलौकिकस्य च सातिशयतया च सदृशतया च प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वानुपपत्तेः। यत्तत्परिपन्थि दुःखजातं तज्जिहास्यते। तच्चाविद्यापरपर्यायसंसार एव। कर्तृत्वादिसकलानर्थकरत्वादविद्यायाः।

अनुवाद—इसी प्रकार (आत्म जिज्ञासा) के फल में भी कोई फलभाव दिखलाई नहीं पड़ता। जिसे पुरुष लोग प्राप्त करना चाहते हैं वह फल है, इस व्युत्पत्ति से जिसमें सब दुःखों का शमन हो जाता है तथा जिसमें एकमात्र परमानन्द रस रहता वही पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है तथा उसे पुरुषों में श्रेष्ठ समस्त लोग प्राप्त करना चाहते हैं, सांसारिक सुख इस प्रकार का पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। यह ऐहिक (सांसारिक) और पारलौकिक सुख सातिशय (इससे बढ़कर अन्य भी कोई सुख है) तथा अन्य सुख के समान है। अतः बुद्धिमान् लोग यदि इस प्रकार के सुख को प्राप्त करना चाहेंगे, तो अनुपपत्ति होगी। जो विरोधी दुःख है उसको त्यागने की इच्छा की जाती है। वह विरोधी दुःख तो संसार ही है, जिसका दूसरा पर्याय अविद्या है। क्योंकि कर्तृत्व आदि समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली अविद्या ही हैं।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि अद्वैत वेदान्ती आत्मा की जिज्ञासा का जो फल प्रदर्शित कर रहे हैं, वस्तुतः वह परम परमपुरुषार्थ है, जो कि आत्मजिज्ञासा का फल है। वह परमपुरुषार्थ या तो सांसारिक सुख है या फिर पारलौकिक सुख। दोनों ही स्थिति में वह सुख सातिशय है अर्थात् उन दोनों सुखों से अधिक भी कोई है। इस कारण उन दोनों सुखों के प्रति बुद्धिमान् लोग प्रवृत्त नहीं होते।

समित्येकीकरणे वर्तते। सम्भेदादौ तथा चोपलम्भात्। तथा चात्मानं देहेनैकीकृत्य स्वर्गनरकमार्गयोः सरति येन पुरुषः स संसारोऽविद्याशब्दार्थः। तन्निवृत्तिः फलं फलवतामभिमतम्। तथा कथितम्—

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृत। इति।

अनुवाद—(वेदान्ती कहते हैं कि) 'संसार' शब्द में 'सम्' यह उपसर्ग 'एकीकरण' अर्थ में है। 'सम्भेद' आदि शब्दों में भी इस प्रकार का प्रयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार आत्मा को देह के साथ एक मानकर पुरुष जिसके द्वारा स्वर्ग तथा नरक के मार्ग पर चलता है, वह संसार है यही अविद्या का भी अर्थ है। इस अविद्या की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है ऐसा फलवादी (अद्वैत वेदान्ती) लोगों का मत है। जैसा कि कहा गया है—

अविद्या का अस्त होना मोक्ष है तथा वह अविद्या ही बन्धन कहलाती है।

तच्च काशकुशावलम्बनकल्पम्। आत्मयाथात्म्यानुभवेन सह वर्तमानस्य संसारस्य रूपरसवद्विरोधाभावेन निवर्त्यनिवर्तकभावात्। ननु सहानुवर्तमानो बोधः संसारं मा बाधिष्ट। सहावर्तमानस्तु बोधः प्रकाशस्तमोवद्बाधिष्यत इति चेत्–तदेतद्रिक्तं वचः। अहमनुभवादन्यस्यात्मज्ञानस्य मूषिकविषाणायमानत्वात्।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहते हैं कि) यह मानना (कि अविद्या बन्धन है और उसकी निवृत्ति मोक्ष है) तो काश, कुश आदि तिनकों का सहारा लेने की तरह है। आत्मा के यथार्थ अनुभव के साथ चलने वाले इस संसार को निवर्त्य तथा आत्मज्ञान को निवर्तक नहीं कहा जा सकता। (आत्मज्ञान तथा संसार में उसी तरह से कोई विरोध नहीं है, जिस प्रकार) रूपरस आदि के ज्ञान तथा आत्मज्ञान से कोई विरोध नहीं है। यदि सिद्धान्ती यह कहे कि संसार के साथ चलने वाला आत्मज्ञान भले ही संसार को बाधित नहीं करता, लेकिन संसार से भिन्न आत्मज्ञान तो संसार को बाधित कर ही सकता है, जिस तरह प्रकाश से अंधकार बाधित होता है। तो पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह कहना बेकार है। 'अहम्' इस अनुभव से अतिरिक्त आत्म ज्ञान को मानना चूहे की सींग की तरह असम्भव है।

विशेष—सिद्धान्ती कहते हैं कि संसार के साथ चलने वाला आत्माज्ञान भिन्न है तथा संसार के साथ न चलने वाला आत्मज्ञान भिन्न है। इस पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ये दो प्रकार के आत्मज्ञान मानना असम्भव है।

नन्वन्योऽयमनुभवः पामराणां मा स्म भवन्नाम। वेदान्तवचननिचयपर्यालोचनक्षमाणां परीक्षकाणां सम्भवत्येवेत्यपि न वक्तव्यम्। अबाधितानुभवविरोधेन वेदान्तवाक्यानां ग्रावप्लवनादिवाक्यकल्पत्वात्। न ह्यागमाः परःशतं घटं पटयितुमुत्सहन्ते।

अनुवाद—यदि वेदान्ती यह कहें कि 'अहम्' इस अनुभव से भिन्न जो 'आत्मज्ञान' का अनुभव है, वह अनुभव भले ही मूर्ख लोगों को न हो, लेकिन वेदान्त वचनों के समूह का पर्यालोचन करने में समर्थ परीक्षकों को यह अनुभव हो सकता है, तो पूर्वपक्षी कहते हैं कि वेदान्तियों का यह कहना ठीक नहीं है। वेदान्त वाक्यों का अबाधित अनुभव के साथ उसी तरह विरोध है जिस प्रकार ग्रावप्लावन आदि वाक्यों में विरोध है। सौ से अधिक आगम (वेदवाक्य) मिलकर भी घट को पट नहीं बना सकते।

विशेष—'ग्रावप्लवन' (पत्थर तैरते हैं) इन वैदिक वाक्यों में परस्पर विरोध है इसी कारण इन्हें अर्थवाद माना जाता है। अर्थवाद वाक्यों में मुख्यार्थ का त्याग करके लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है। इसी दृष्टि से पूर्वपक्षी का कहना है कि वेदान्त वाक्यों

में परस्पर विरोध है। इसलिये उन वेदान्त वाक्यों से आत्मज्ञान का अनुभव नहीं हो सकता है।

न चाध्ययनविधिव्याकोपः। गुरुमतानुसारेण हुंफडादिवाक्यवत् जप-मात्रोपयोगित्वेनाचार्यमतानुसारेण वा 'यजमानः प्रस्तरः' (तै.ब्रा. ३/३/९) इत्यादिवाक्यवत् स्तावकत्वेन वेदान्तसिद्धान्तस्याध्येतव्यत्वसम्भवात्। तथा च प्रयोगः-विवादास्पदं ब्रह्म विचार्यपदं न भवत्यफलत्वात्काकदन्तवदिति।

अनुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं कि हमारा पक्ष मानने पर अध्ययनविधि में भी कोई बाधा नहीं आती। गुरुमत के अनुसार वेदवाक्यों का उपयोग हुं फट् आदि वाक्यों की तरह केवल जपमात्र ही है तथा आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार 'यजमानः प्रस्तरः' (यजमान पत्थर है—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.३.९) इत्यादि वाक्यों की तरह वेदवाक्य भी केवल स्तावक हैं। इसलिये वेदान्त सिद्धान्त का केवल अध्ययन ही सम्भव है। (ब्रह्म विचार सम्भव नहीं है) जैसा कि प्रयोग होता है—विवादित ब्रह्म विचार का विषय नहीं होता, फलहीन होने के कारण, जिस प्रकार कौए के दांत गिनना।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि 'हुं फट्' आदि वाक्यों की तरह ही वेद-वेदान्त के वाक्य भी या तो केवल पाठमात्र के लिये उपयोगी है या फिर केवल स्तुति के लिये। उनका अर्थज्ञान विवक्षित नहीं है। केवल उन वाक्यों का अध्ययायन ही अपेक्षित है तथा अध्ययन का फल अदृष्ट मान लेना चाहिये। पूर्वपक्षी का कहना है कि अध्ययन विधि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' भी यही कहती है।

वस्तुतः मीमांसा मत में वेद-अध्ययन का फल अर्थज्ञान माना जाता है, न कि स्वर्गादि अदृष्ट।

अतः पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस तरह कौए के दांत गिनना व्यर्थ है, उसी तरह ब्रह्म का विचार करना भी व्यर्थ है।

तदाहुराचार्याः-

२. अहंधियात्मनः सिद्धेस्तयैव ब्रह्मभावतः।
तज्ज्ञानान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नावकल्पते॥ इति।

न च भेदेनाध्यस्तदेहादिनिवृत्तिः फलमित्यफलत्वहेतुरसिद्ध इति वेदितव्यम्। भेदग्रहो हि व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्तिरिति न्यायेन भेदाग्रहपरिपन्थिनं भेदसंस्कारमपेक्षते। अनाकलितकलधौतस्य शुक्तिशकले तत्समारोपानुपलम्भात्।

अनुवाद—यही बात आचार्यों ने कही है—'अहम्' इस बुद्धि से आत्मा की सिद्धि होती है तथा उसी बुद्धि से यह मालूम पड़ता है कि आत्मा ब्रह्मरूप है। लेकिन ब्रह्म

ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती। इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा की कोई उपपत्ति नहीं लगती है अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा करना व्यर्थ है।

(अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि) भिन्न रूप में प्रतीत होने वाले शरीर आदि की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है, इसलिये 'अफलत्व' हेतु भी असिद्ध है! (पूर्वपक्षी ने अमलत्व हेतु देकर आत्मा के विचारविषयत्व का खण्डन किया था।) (पूर्वपक्षी कहते हैं कि) यह कहना भी ठीक नहीं है। 'व्यापक के न रहने पर व्याप्य भी नहीं रहता'—इस न्याय से भेदग्रहण भेदाग्रह के विरोधी भेद संस्कार की अपेक्षा रखता है। रजत का संस्कार बिना हुए शक्ति में रजत का आरोप भी नहीं हो सकता।

विशेष—यदि व्यापक नहीं हो तो व्याप्य भी नहीं रहता। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में अग्नि व्यापक है तथा धूम व्याथ। यदि अग्नि नहीं होगा, तो धूम भी नहीं होगा। इसी प्रकार रजत तथा सीपी में भेद का ग्रहण तथा सीपी में रजत का आरोप तभी होता है जब उनके भेद का संस्कार पहले से हुआ होगा। अर्थात् यदि भेद संस्कार नहीं है तो भेदग्रह या भेदाध्यास भी नहीं होगा। यहाँ भेद संस्कार व्यापक है तथा भेदग्रह तथा भेदाध्यास व्याप्य। अर्थात् यदि किसी व्यक्ति को रजत का संस्कार नहीं होता तो उसे न तो सीपी में रजत का भ्रम होगा और न ही रजत का भेदग्रहण होगा।

संस्कारश्च प्रमितिमाकाङ्क्षति। अननुभूते संस्कारानुदयात्। न च भ्रान्तिरूपोऽनुभवस्तत्करणमिति भणितव्यम्। भ्रान्तेरभ्रान्तिपूर्वकत्वेन क्वचित्प्रमितेरवश्याभ्युपगमयितव्यत्वात्। प्रयोगश्च–विमतावात्मानात्मानौ भेदेन प्रमितावभेदायोग्यत्वात्। तमः-प्रकाशवत्।

अनुवाद—और संस्कार भी यथार्थ अनुभव की आकांक्षा करता है। जिस वस्तु का अनुभव नहीं हुआ, उसका संस्कार भी नहीं हो सकता। भ्रमरूप अनुभव संस्कार के उदय का कारण है—यह भी नहीं कहना चाहिये। भ्रम के पूर्व में अवश्य ही भ्रम नहीं रहा होगा, इसलिये कहीं न कहीं यथार्थ अनुभव को अवश्य मानना पड़ेगा। अनुमान प्रयोग है—विवादास्पद आत्मा तथा अनात्मा का ज्ञान भिन्न रूप में होता है क्योंकि इन दोनों में अभेद की योग्यता नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार तथा प्रकाश में अभेद की योग्यता नहीं है।

विशेष—रजत का संस्कार भी तभी हो सकता है, जबकि पूर्व में रजत का यथार्थ अनुभव हो चुका हो। अनुभव के दो भेद हैं—

अनुभव

यथार्थ (प्रमा) — अयथार्थ (अप्रमा)

प्रत्यक्षादि प्रमा — संशय, विपर्यय (भ्रम), तर्क

भ्रम रूप अनुभव से रजत का संस्कार तथा उस संस्कार से रजत का भ्रम की सम्भव नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का भ्रम भी तभी हो सकता है, जब उस वस्तु का यथार्थ अनुभव हो गया हो।

इस प्रकार जब आत्मा और अनात्मा—ये दोनों प्रकाश तथा अन्धकार की तरह अत्यन्त भिन्न हैं (तुलना-अध्याय भाष्य ब्र.सं. शांकर भाष्य १.१.१) तो फिर आत्म जिज्ञासा कैसे बन सकती है। दूसरी बात यह है कि आत्म ज्ञान का कोई फल भी नहीं अतः आत्म जिज्ञासा व्यर्थ है।

न चात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वलक्षणो हेतुरसिद्ध इति शङ्कनीयं विकल्पासहत्वात्। तथा हि–अनात्मात्मपरिशेषः स्यादात्मानात्मपरिशेषो वा आद्ये मुक्तिदशायामिव परिदृश्यमानं जगदस्तमियात्। द्वितीये जगदान्ध्यं प्रसज्येत

अनुवाद—'आत्मा तथा अनात्मा में अभेद की योग्यता नहीं है' यह हेतु असिद्ध है—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यह दो विकल्प सहन नहीं कर सकता। जैसे कि—अनात्मा आत्मा का अंग हैं या फिर आत्मा अनात्मा का अंग है। यदि प्रथम विकल्प (अनात्मा आत्मा का अंग है) मानें तो इस दृश्यमान जगत् का मुक्तिकाल में अस्त मानना पड़ेगा। यदि दूसरा विकल्प (आत्मा अनात्मा का अंग है) मानें तो सारे संसार को अन्धा मानना पड़ेगा।

विशेष—यदि अनात्मा को आत्मा का अंग कहें तो मुक्ति काल में केवल आत्मा ही रहती है। अतः, अनात्मा का लोप मानना पड़ेगा और यदि आत्मा को अनात्मा का अंग माना जाये तो जगत् में अनात्मा ही अवशिष्ट रहती है कि जगत् को आत्मरहित अर्थात् अन्धा मानना पड़ेगा।

तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वाच्च दृग्दृश्ययोरात्मानात्मनोरभेदायोग्यत्वमवधेयम्। ततश्चार्थाध्यासानुपपत्तौ तत्पूर्वकस्य ज्ञानाध्यासस्यासम्भवेन ब्रह्मणो विचार्यत्वासम्भवाद्विचारात्मिका चतुर्लक्षणशारीरकमीमांसा नारम्भणीयेति पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्तोऽभिधीयते–।

अनुवाद—अन्धकार तथा प्रकाश की तरह परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण दृक् 'आत्मा' तथा दृश्य 'अनात्मा' में अभेद की अयोग्यता है—यह मानना चाहिये। इस प्रकार विषय के अध्यास (भ्रम) की अनुपपत्ति होने पर विषयाध्यास के आधार पर ज्ञान का अध्यास सम्भव नहीं है। इसलिये ब्रह्म को विचार का विषय मानना सम्भव नहीं है। इस कारण चार अध्यायों वाली विचारात्मिका ब्रह्ममीमांसा का आरम्भ नहीं करना चाहिये—इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर अब सिद्धान्त बतलाते हैं।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है आत्मा तथा अनात्मा में अभेदा-योग्यता अर्थात् भेद योग्यता है। इस जब दोनों कर भेद सिद्ध है तो आत्मजिज्ञासा करना व्यर्थ है। इसी

प्रकार जब विषयाध्यास अर्थात् जगत् का अध्याय भी तभी बनेगा जब जगत् का ज्ञान पहले हो चुका हो। इसलिये विषयाध्यास सम्भव न होने से ज्ञानाध्यास भी सम्भव नहीं है। इस कारण पूर्वपक्षी का आशय यह है कि ब्रह्मजिज्ञासा करना व्यर्थ हैं। यहाँ पूर्वपक्ष पूर्ण हुआ। अब आगे सिद्धान्तमत अद्वैतमत चलेगा।

(५. ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ सम्भव-उत्तरपक्ष)

अहंपदाधिगम्यादन्यदात्मतत्त्वं नास्तीति न वक्तव्यम्। निरस्तसमस्तोपाधिक-स्यात्मतत्त्वस्य श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात्। न च तेषामुपचरितार्थता। उपक्रमोपसंहारा-दिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया तत्त्वं बोधयतामुपचरितार्थत्वानुपपत्तेः। लिङ्गषट्कं च पूर्वाचार्यैर्दर्शितम्—

३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

अनुवाद—(सिद्धान्तमत) 'अहं' पद के द्वारा ज्ञान होने वाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मतत्त्व नहीं है—यह नहीं कहना चाहिये। समस्त उपाधियों से रहित आत्मतत्त्व श्रुति आदि में प्रसिद्ध है। उन श्रुतियों का औपचारिक अर्थ ग्रहण करना ठीक नहीं है। तात्पर्य का ज्ञान कराने के लिये उपक्रम, उपसंहार आदि ६ प्रकार के लिंग हैं, इसलिये श्रुति का उपचार अर्थ मानना अनुपन्न हैं। पूर्व-आचार्यों ने ६ प्रकार के लिंग दिखलायें हैं।

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति—ये तात्पर्य का निर्णय करने के लिंग हैं।

विशेष—सिद्धान्ती कहते हैं कि 'अहम्' पद का अर्थ तथा श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मतत्त्व भिन्न-भिन्न है।

किसी वाक्य का अर्थ ज्ञान होने के ६ लिंग या हेतु हैं—

१. उपक्रमोपसंहार—उपक्रम तथा उपसंहार—ये दोनों मिलकर तात्पर्य निर्णय के हेतु हैं।

२. अभ्यास—प्रतिपाद्य विषय का बारं बार वर्णन करना अभ्यास है।
३. अपूर्वता—अन्य प्रमाण से अज्ञात विषय में अपूर्वता होती है।
४. फल—प्रकरण का प्रयोजन।
५. अर्थवाद—विधेय की प्रशंसा तथा निषेध्य की निन्दा अर्थवाद है।
६. उपपत्ति—युक्ति।

इन ६ लिंगों का वर्णन आगे विस्तार से किया गया है।

(५ क. उपक्रम आदि लिंगों के उदाहरण—आत्मा की सिद्धि)

तत्र 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छां. ६/२/१) इत्युपक्रमः। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छां. ६/८-१६) इत्युपसंहारः।

तयोर्ब्रह्मविषयत्वेन ऐकरूप्यमेकलिङ्गम्। असकृत् 'तत्त्वमसि' (छां. ६/८-१६) इत्युक्तिरभ्यासः मानान्तरागम्यत्वमपूर्वत्वम्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं फलम्।

अनुवाद—उसमें 'हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ सत् ही था' (छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.१) यह उपक्रम है। 'यह सब कुछ आत्मा का ही स्वरूप है, वह सत्य है वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह ब्रह्म तुम ही हो' (छान्दोग्य उपनिषद् ६.८-१६) यह उपसंहार है। ये दोनों (उपक्रम तथा उपसंहार) ब्रह्मविषयक हैं इसलिये ये दोनों मिलकर एक लिङ्ग है। 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उपनिषद् ६.८.१६) इसे बार-बार कहना अभ्यास है। प्रमाणान्तर के ज्ञान न होना अपूर्वता है। एक का ज्ञान होने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है—यह फल है।

विशेष—उपक्रम और उपसंहार को मिलाकर तात्पर्य निर्णय का लिंग माना जाता है। उपक्रम तथा उपसंहार में ब्रह्म का प्रतिपादन होने से ब्रह्म विषयक वाक्यों की एकरूपता होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में 'तत्त्वमसि' वाक्य का बार-बार उच्चारण हुआ है, यही अभ्यास है।

ब्रह्म का ज्ञान वेदातिरिक्त प्रमाणों से नहीं होता, यही अपूर्वता है। सर्वविज्ञान ही ब्रह्मज्ञान का फल है।

सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनानि पञ्चार्थवादाः। मृदादिदृष्टान्ता उपपत्तयः। तस्मादेतैर्लिङ्गैर्वेदान्तानां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वं निश्चेतव्यम्। तदित्थमौपनिषदस्यात्मतत्त्वस्याहमनुभवेऽनवभासमानत्वात्तस्यानुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वं सिद्धम्।

अनुवाद—सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश, तथा नियमन—ये अर्थवाद है। मिट्टी आदि का दृष्टान्त देना उपपत्ति है। इसलिये इन लिंगों के द्वारा वेदान्त वाक्यों का नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्मात्म में तात्पर्य निश्चित कर लेना चाहिये। तो इस प्रकार उपनिषदों में प्रतिपादित आत्म तत्त्व का अनुभव 'अहं' इस अनुभव में नहीं होता इसलिये 'अहम्' यह अनुभव अध्यस्त आत्मा के विषय में होता है—यह बात सिद्ध होती है।

विशेष—अर्थवाद के अन्तर्गत पाँच प्रकार के विषय आते हैं—

१. सृष्टि—'तदैतक्ष बहु स्याम्' यहाँ सृष्टि का वर्णन किया गया है।

२. स्थिति—तथा ३. नियमन—'सन्मूलाः सौम्य इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' यहाँ स्थिति तथा नियमन का वर्णन है।

४. प्रलय—'तेजः परस्यां देवतायाम्' श्रुति में प्रलय का वर्णन है।

५. प्रवेश—'इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' यहाँ प्रवेश का वर्णन है। मिट्टी आदि का दृष्टान्त देना उपपत्ति है। छान्दोग्य

उपनिषद् में बतलाया गया है कि जिस प्रकार मिट्टी के पिण्ड को जान लेने पर मिट्टी के समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने पर समस्त जगत् का ज्ञान हो जाता है।

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छान्दोग्य उपनिषद् ६.१.४)

इस प्रकार इन ६ लिंगों से यह सिद्ध होता है कि वेदान्त में प्रतिपादित ब्रह्म भिन्न है तथा 'अहम्' पद के द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व अलग है। 'अहम्' पद के द्वारा जीव का बोध होता है तथा उपनिषद् वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का बोध होता है।

(६. आत्मा का अभ्यास–वैशेषिक-मत की परीक्षा)

कणभक्षाक्षचरणादिकक्षीकृतस्यात्मनो भानाभावादहमनुभवस्याध्यस्तात्मविषयत्वमेषितव्यम्। न तावदहमनुभवः सर्वगतत्वमात्मनोऽवगमयितुमिष्टे। अहमिहास्मि सदने जानान इति प्रादेशिकत्वग्रहणात्। न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वं प्रतिभासत इति वेदितव्यम्। अहमित्युल्लेखायोगात्।

अनुवाद—कणाद या गौतम के द्वारा स्वीकृत किये गये आत्मतत्त्व का भाव नहीं होता है, इसलिये 'अहम्' इस अनुभव को अध्यस्त आत्मतत्त्व विषयक समझना चाहिये। 'अहं' यह अनुभव आत्मा के सर्वगतत्व का ज्ञान नहीं करा सकता। क्योंकि 'मैं जानने वाला व्यक्ति इस घर में हूँ' इस अनुभव में आत्मा के प्रादेशिकत्व का ग्रहण होता है। इस अनुभव में शरीर का प्रादेशिकत्व प्रतिभासित होता है—यह भी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि 'अहम्' के रूप में शरीर का उल्लेख नहीं किया गया है।

विशेष—सिद्धान्ती का कहना है कि 'अहम्' यह अनुभव अध्यस्त आत्मविषयक है, क्योंकि शरीर के भीतर स्थित आत्मा के लिये ही 'अहम्' यह अनुभव होता है। इसलिये शरीर के अन्दर स्थित आत्मा में प्रादेशिकत्व की प्रतीति होती है। शरीर के लिये 'अहम्' शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया जाता है।

ननु यथा राज्ञः सर्वप्रयोजनविधातरि भृत्ये 'ममात्मा भद्रसेनः' इत्युपचारः, तद्वदात्मवचनस्याहंशब्दस्य वेह उपचार इति चेत्–मैवं वोचः। उपचरितात्मभावस्य देहादेः स्वसमानाकृतिशिलापुत्रकादिवज्ज्ञातृत्वायोगात्। न च ज्ञातृत्वमप्युपचरितम्। प्रयोक्तुः स्वप्रतिपत्तिप्रकाशके प्रयोगे प्रतिपत्तृत्वोपचारानुपपत्तेः।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि जिस प्रकार किसी राजा के सभी प्रयोजनों को पूर्ण करने वाले नौकर के लिये राजा कहता है कि 'यह भद्रसेन (नौकर) मेरी आत्मा है' यह प्रयोग औपचारिक है, उसी तरह आत्मा के वाचक 'अहं' शब्द का शरीर में औपचारिक प्रयोग होता है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा मत कहिये। शरीर में

आत्मा के धर्मों का आरोप (उपचार) हो जाने पर भी शरीर को उसी तरह से ज्ञाता नहीं कहा जाता है, जिस प्रकार अपने समान आकार वाली पत्थर की मूर्ति कभी ज्ञाता नहीं बनती। ज्ञातृत्व को भी उपचरित नहीं माना जा सकता है। ज्ञाता को अपने ज्ञान के प्रकाश प्रयोग में ज्ञातृत्व के उपचार की उपपत्ति नहीं की जा सकती है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है कि जिस प्रकार नौकर को अपनी आत्मा कहना औपचारिक प्रयोग है, उसी प्रकार अहं शब्द के द्वारा शरीर का बोध होना औपचारिक है, न कि अध्यस्त आत्मा का 'अहं' से बोध होता है।

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाये तो शरीर में ज्ञातृत्व कहाँ से आयेगी! क्योंकि ज्ञातृत्व को उपचार मानना सम्भव नहीं है।

अथ देहधर्मः प्रादेशिकत्वमात्मन्युपचर्येत तदा देहात्मनोर्भेदेन भवितव्यम्। प्रसिद्धभेदे माणवके सिंहशब्दवत्साम्प्रतिकगौणत्वे तिरोहितभेदेन सर्षपादेः रसे तैलशब्दवन्निरूढगौणत्वे वा गौणमुख्ययोर्भेदाध्यवसायस्य नियतत्वात्।

अनुवाद—अब यदि पूर्वपक्षी यह मानें कि शरीर का धर्म अर्थात् प्रादेशिकत्व का आरोप आत्मा में औपचारिक रूप से होता है, तो फिर सिद्धान्ती कहते हैं कि इसके लिये तो शरीर तथा आत्मा में भेद मानना चाहिये। क्योंकि बालक तथा सिंह में भेद स्पष्ट होने के पूर्व ही ('बालक सिंह है' आदि वाक्यों में) 'सिंह' शब्द के मुख्य अर्थ में तथा यहाँ वर्तमान गौण अर्थ में भेद का ज्ञान होना निश्चित है तथा सरसों के रस एवं तिल के तेल में अस्पष्ट भेद होने के पूर्व ही तेल शब्द के मुख्य अर्थ तथा निरूढ गौण अर्थ में भेद ज्ञान निश्चित होता है।

विशेष—यह नियम है कि जब किसी शब्द का गौण अर्थ लिया जाता है तब निश्चित रूप से उस शब्द के मुख्य अर्थ तथा गौण अर्थ में भेद जान लिया जाता है अर्थात् दूसरे शब्दों में किसी शब्द के गौण अर्थ तथा मुख्य अर्थ का भेद ज्ञान होने पर ही उस शब्द के गौण अर्थ का ग्रहण किया जाता है। जैसे—'सिंहो माणवकः' (यह बालक सिंह है) यहाँ किसी बालक के पराक्रम को देखकर उसे किसी समय सिंह कह दिया जाता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बालक हमेशा सिंह ही है। किसी एक काल में उस बालक को सिंह कहते हैं। यही साम्प्रतिक सिंहत्व है। यहाँ सिंह शब्द का गौण अर्थ है—सिंह की तरह पराक्रमी। इसी प्रकार 'तेल' शब्द का मुख्य अर्थ है तिल का रस। 'तेल' शब्द 'तिल' से निष्पन्न होता है। लेकिन सरसों आदि पदार्थों के रस को भी तेल कहना यह तेल का गौण अर्थ है। यहाँ रूढ गौणत्व है अर्थात् वस्तुतः तेल शब्द सभी वनस्पतियों के रस के लिये रूढ़ हो गया है। इन दोनों उदाहरणों में जब सिंह तथा तेल शब्द के मुख्य व गौण अर्थ का भेद ज्ञात होता है, तभी लोग गौण अर्थ का प्रयोग करते हैं। ठीक उसी तरह आत्मा तथा शरीर के भेद का ज्ञान होने पर ही शरीर के धर्म प्रादेशिकत्व का आत्मा

में उपचार हो सकता है लेकिन आत्मा तथा शरीर में जब भेद ज्ञान ही नहीं होता, तो गौण अर्थ का बोध भी नहीं हो सकता है—यह सिद्धान्तमत है।

अथ मम शरीरमिति भेदभानसम्भवाद्गौणत्वं मन्येथाः, तदयुक्तम्। अहंशब्दार्थस्य देहादिभ्यो निष्कृष्यासाधारणधर्मवत्त्वेन प्रतिभासमानत्वाभावात्। अपरथा लोकायतिकमतं नोदयमासादयेत्। मम शरीरमित्युक्तिस्तु 'राहोः शिरः' इतिवदौपचारिकी।

अनुवाद—इस पर यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि 'मेरा शरीर' यहाँ आत्मा तथा शरीर के भेद ज्ञान की सम्भावना होने से गौणत्व ('अहम्' इस अनुभव में आत्मा में शरीर के धर्म 'प्रादेशिकत्व' का उपचार) मान लिया जाये, तो यह भी ठीक नहीं है। 'अहम्' शब्द का यह अर्थ प्रतिभासित नहीं होता कि देहादि से बिल्कुल हटकर किसी असाधारण धर्म से युक्त होना। अन्यथा चार्वाक मत तो उत्पन्न नहीं हो सकेगा। 'मेरा शरीर' यह कहना 'राहु का शिर' इस वचन के समान औपचारिक है।

विशेष—अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि 'अहम्' शब्द से शरीर के धर्म का उपचार नहीं माना जा सकता है। क्योंकि चार्वाक मत में भी यही माना जाता है कि शरीर ही आत्मा है। 'मम शरीरम्' यह प्रयोग तो औपचारिक है।

मम शरीरमिति ब्रुवाणेनापि कस्त्वमिति पृष्टेन वक्षःस्थलन्यस्तहस्तेन शृङ्गग्राहिकयाऽयमहमिति प्रतिवचनस्य दीयमानत्वेन देहात्मप्रत्ययस्य सकलानुभवसिद्धत्वात्। तदुक्तम्–

४. देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥ इति।

तथा च व्यापकस्य भेदभानस्य निवृत्तेर्व्याप्यस्य गौणत्वस्य निवृत्तिरिति निरवद्यम्।

अनुवाद—'मेरा शरीर' यह कहने वाले व्यक्ति को जब यह पूछा जाता है कि तुम कौन हो? तब वह व्यक्ति छाती पर हाथ रखकर 'शृंगग्राहिका' न्याय से 'यह मैं हूँ' इस प्रकार का उत्तर देता है। इसलिये 'शरीर ही आत्मा है' यह प्रतीति समस्त अनुभवों से सिद्ध है। जैसा कि कहा गया है—

जिस प्रकार देहात्मभाव को प्रमाण के रूप में कल्पित किया है, उसी प्रकार लौकिक व्यवहार को भी तभी तक प्रमाण के रूप में कल्पित किया जाता है, जब तक आत्मा का निश्चय नहीं होता।

इस प्रकार व्यापक भेदज्ञान के दूर हो जाने पर व्याप्य 'गौणत्व' की भी निवृत्ति हो जाती है—यह अत्यन्त सुस्पष्ट है।

विशेष—जिस प्रकार किसी पशु की सींग (पशु का एकदेश) पकड़कर दिखलाया जाता है कि यही पशु है, उसी तरह शरीर का एकदेश पकड़कर शरीर को आत्मा कहा जाता है।

इस प्रकार सिद्धान्त मत का सारांश यह है कि शरीर तथा आत्मा के भेद का निश्चय होने पर ही औपचारिक (गौण) प्रयोग अर्थात् शरीर के धर्म 'प्रादेशिकत्व' का आत्मा में उपचार हो सकता है और जब देह तथा आत्मा में भेद ज्ञान ही नही होता, तो उपर्युक्त गौण अर्थ की भी निवृत्ति हो जाती है। भेदभाव 'व्यापक' है तथा गौणत्व 'व्याप्य'। व्यापक के न रहने पर भी व्याप्य भी नहीं रह पाता।

(६ क. आत्मा के अध्यास की पुनः सिद्धि- भेद का खण्डन)

नन्वभिज्ञया भेदसिद्धिर्मा सम्भून्नाम। प्रत्यभिज्ञया तु सोऽहमित्येवंरूपया तत्सिद्धिः सम्भविष्यतीति चेत्–न। विकल्पासहत्वात्। किमियं प्रत्यभिज्ञा पामराणां स्यात् परीक्षकाणां वा? नाद्यः। देहव्यतिरिक्तात्मैक्यमवगाहमानायाः प्रत्यभिज्ञाया अनुदयात् । प्रत्युत श्यामस्य लौहित्यवत्कारणविशेषादल्पस्यापि महापरिमाणत्वमविरुद्धमनुभवतां तद्देह एव तस्याः सम्भवाच्च।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि ('मम शरीरम्' इस) ज्ञान (अभिज्ञा) से भले ही भेद की सिद्धि न हो, लेकिन 'वह ब्रह्म मैं हूँ' (सोऽहम्) इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा के द्वारा तो भेद की सिद्धि हो सकती है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह पक्ष दो विकल्प सहन नहीं कर पाता। क्या यह प्रत्यभिज्ञा मूर्खों को होती है या फिर परीक्षकों (विद्वानों) को? इसमें प्रथम विकल्प (मूर्खों को प्रत्यभिज्ञा होती है) सम्भव नहीं है। क्योंकि मूर्ख लोगों को शरीर से भिन्न आत्मा की परमात्मा के साथ एकता का ज्ञान कराने वाली प्रत्यभिज्ञा हो ही नहीं सकती। बल्कि उन मूर्ख लोगों को यह अनुभव होता है कि जिस प्रकार श्याम वर्ण की कोई वस्तु किसी विशेष कारण से लालरूप धारण कर लेती है (काला लोहा गर्म करने पर लाल हो जाता है) उसी प्रकार छोटी आत्मा विशाल शरीर का रूप धारण करती है—इस प्रकार की अविरुद्ध प्रतीति होने से मूर्खों को देह में आत्मत्व की प्रतीति होती है।

विशेष—पूर्वपक्षी का कहना है 'सोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञा इस बात को सिद्ध करती है कि आत्मा शरीर से भिन्न हैं। इस पर सिद्धान्ती पूछते हैं कि ऐसी प्रत्यभिज्ञा मूर्खों को होती है या फिर विद्वानों को? मूर्खजन तो शरीर को ही आत्मा समझते हैं। अतः उन मूर्ख लोगों को शरीर से भिन्न किसी आत्मा में परमात्मा की प्रतीति होना सम्भव नहीं है।

न द्वितीयः। व्यवहारसमये पामरसाम्यानतिरेकात्। अपरोक्षभ्रमस्य परोक्षज्ञानविनाश्यत्वानुपपत्तेश्च। यदुक्तं भवगता भाष्यकारेण–'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'–(ब्र.सू. १/१/१ भा.) इति। भामतीकारैरप्युक्तं–शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति, न प्रतिपत्तार इति। तथा चात्मगोचरस्याध्यासात्मरूपत्वं सुस्थम्।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि व्यवहार काल में विद्वानों तथा मूर्खों में कोई अन्तर नहीं होता। अपरोक्ष भ्रम की परोक्षज्ञान के द्वारा विनाश्यता मानना भी अनुपपन्न है। अर्थात् अपरोक्ष भ्रम को परोक्ष ज्ञान के द्वारा नष्ट नहीं किया सकता है। जैसा कि भगवान् भाष्यकार ने कहा है—'विद्वान् पुरुष भी व्यवहार काल में पशु आदि से भिन्न नहीं है।' (ब्रह्मसूत्र १.१.१ शांकर भाष्य) भामतीकार ने भी कहा है—शास्त्रचिन्तक लोग ही निश्चितरूप से ऐसा विचार करते हैं, आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ज्ञान नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि आत्मा के रूप में 'अहम्' पद से अध्यस्त आत्मा' की ही प्रतीति होती है।

विशेष—व्यवहार काल में विद्वान् तथा मूर्ख दोनों का समान व्यवहार होता है, इसलिये विद्वानों को भी 'अहम्' इस अनुभव में शरीर का ही ज्ञान होता है। (प्रत्यक्ष) भ्रम की निवृत्ति प्रत्यक्षज्ञान से ही सम्भव है, अपरोक्ष ज्ञान से नहीं। जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम तभी दूर हो सकता जबकि प्रत्यक्ष रज्जु का दर्शन हो। भामतीकार ने भी इसी बात को परिपुष्ट किया है।

(६ ख. जैनमत में स्वीकृत जीव पर विचार)

न चार्हमतानुसारेणाहंप्रत्ययप्रामाण्यायात्मनो देहपरिमाणत्वमङ्गीकरणीयमिति साम्प्रतम्। मध्यमपरिमाणस्य सावयवत्वेन देहादिवदनित्यत्वे कृताहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया 'अवयवसमुदायः आत्मा' इत्यभ्युपगम्येत तदा वक्तव्यम्। किं प्रत्येकमवयवानां चैतन्यं संघातस्य वा?

नाद्यः। बहूनां चेतनानामहमहमिकया प्रधानभावमनुभवतामैकमत्याभावेन समसमयं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीस्यापि विशरणनिष्क्रियत्वयोरन्यतरापातात्।

अनुवाद—आर्हत (जैन) मत के अनुसार 'अहं' इस ज्ञान के प्रामाण्य के लिये आत्मा को शरीर के आकार का मानना चाहिये यह कहना भी ठीक नहीं है। मध्यम परिमाण वस्तु सावयव होती है—इस नियम के अनुसार आत्मा को शरीर की तरह अनित्य मानना पड़ेगा और फिर कृतहानि तथा अकृत प्राप्ति का प्रसंग आयेगा। यदि इस दोष के कारण के लिये पूर्वपक्षी कहे कि 'अवयवसमुदाय आत्मा है' यह मान लीजिये तो सिद्धान्ती कहते हैं कि फिर यह कहना चाहिये कि क्या प्रत्येक अवयव में चैतन्य है या फिर अवयव समूह में चैतन्य है?

प्रथम विकल्प ठीक नहीं है। (अर्थात् प्रत्येक अवयव में चैतन्य है यह कहना ठीक नहीं है) प्रधान भाव का अनुभव करने वाले बहुत से चेतनों में अहमहमिका (मैं पहले, मैं पहलें-यह भाव) होता है, इसलिये उनमें एकमतता नही होती। इस कारण एक ही समय में विरुद्ध, दिशा तथा क्रिया के कारण शरीर को भी या तो विशीर्ण मानना पड़ेगा या फिर निष्क्रिय।

विशेष—जैन मत में आत्मा को शरीर के आकार का माना जाता है। लेकिन सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि आत्मा शरीराकार मानें तो फिर आत्मा को सावयव मानना पड़ेगा और सावयव वस्तु तो अनित्य होती है। ऐसी स्थिति में यदि आत्मा को अनित्य मानें, तो कृत कर्म का फल भोगने वाला कोई नहीं होगा और अकृत कर्मों का फल भी आत्मा को भोगना पड़ेगा।

आत्मा के लिये सिद्धान्ती ने दो पक्ष उपस्थापित करके पूर्वपक्षी का खण्डन किया है। यदि शरीर के प्रत्येक अवयव में चैतन्य माना जाये, तो एक ही समय में प्रत्येक अवयव अहमहमिका के कारण अलग-अलग दिशा में क्रिया करने लगेंगे। ऐसा होने से शरीर टूट सकता है या फिर निष्क्रिय भी हो सकता है।

द्वितीयेऽपि संघातापत्तिः किं शरीरोपाधिकी स्वाभाविकी यादृच्छिकी वा? नाद्यः। एकस्मिन्नवयवे छिन्ने चिदात्मनोऽप्यवयवश्छिन्न इत्यचेतनत्वापातात्। न द्वितीयः। अनेकेषामवयवानामन्योन्यसाहित्यनियमादर्शनात्। न तृतीयः। संश्लेषवद्विश्लेषस्यापि यादृच्छिकत्वेन सुखेन वसतामकस्मादचेतनत्वप्रसङ्गात्।

अनुवाद—दूसरा विकल्प मानने पर यदि अवयवों के संघात (समूह) में चैतन्य माना जाये, तो यह आपत्ति आती है कि यह संघात शरीर की उपाधि से होता है या स्वाभाविक है या फिर अपनी मनमानी होता है। प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है (यदि शरीर की उपधि से) अवयवों का संघात मानें तो जब शरीर को कोई अंग कट जाता है, तब एक अवयव के कट जाने पर चिदात्मा का भी एक अवयव कट जाता है—यह मानना पड़ेगा और आत्मा को अचेतन मानने की आपत्ति आयेगी। दूसरा विकल्प (संघात स्वाभाविक है) भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक अवयवों में परस्पर साथ रहने का कोई नियम दिखलाई नहीं पड़ता। तीसरा विकल्प (अवयवों का संघात मनमानी ढंग से होता है) भी ठीक नहीं है। यदि संघात यादृच्छिक है तो वियोग भी यादृच्छिक होगा तो फिर सुख से रहने वाले व्यक्ति को एकाएक अचेतन होना पड़ेगा।

न चाणुपरिमाणत्वमात्मनः शङ्कनीयम्। 'स्थूलोऽहम्' 'दीर्घोऽहम्' इति प्रत्ययानुपपत्तेः।

अनुवाद—आत्मा के अणु परिमाण की भी शंका नहीं करनी चाहिये। अन्यथा 'मैं मोटा हूँ', 'मैं लम्बा हूँ' इन ज्ञानों की अनुपपत्ति होगी।

(७. विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन-विज्ञान आत्मा)

न च विज्ञानात्मभाषिणां नैष दोषः। विशुद्धसावयवत्वाभावादिति गणनीयम्। यः सुषुप्तः सोऽहं जागर्मीति स्थिरगोचरस्याहमुल्लेखस्य क्षणभङ्गिविज्ञानगोचरत्वे अतस्मिंस्तद्बुद्धिरूपमिथ्याध्यासस्य तदवस्थानात्।

अनुवाद—यह भी नहीं कहना चाहिये कि विज्ञानात्मवादियों के मत में यह दोष नहीं है। (सिद्धान्ती अद्वैत वेदान्ती कहते हैं) विज्ञान में विशुद्ध अवययों का अभाव है इसलिये विज्ञानात्मवाद में भी उपर्युक्त दोष आते हैं।

'जो मैं सोया था वहीं मैं जाग रहा हूँ' इस अनुभव में 'अहम् के द्वारा स्थिर विषय का उल्लेख हो रहा है। जबकि विज्ञान तो क्षणभंगुर है इसलिये जो जैसा नहीं है, उसमें वैसी प्रतीति रूप मिथ्या अध्यास तो अभी अवस्थित ही मानना पड़ेगा।

विशेष—सिद्धान्ती का कहना है कि चूँकि विज्ञान भी तो क्षणिक है, इसलिये विज्ञानात्मवाद मानने पर भी अध्यास का परिहार नहीं हो पा रहा है।

तदनेन कृशोऽहं कृष्णोऽहमित्यादीनां प्रख्यानानां बुद्ध्या सरूपताख्यानेनौपचारिकत्वं प्रत्याख्यातम्। तद्व्यापकभेदभानासम्भवस्य प्रागेव प्रपञ्चितत्वात्। तथा च प्रयोगः-विमतं शास्त्रं विषयप्रयोजनसहितम्, आविद्यकबन्धनिवर्तकत्वात्सुप्तोत्थितबोधवत्।

अनुवाद—तो इसी प्रकार 'मैं दुबला हूँ' 'मैं काला हूँ' इत्यादि ज्ञानों का भी औपचारिकत्व खण्डित हो जाता है, क्योंकि विज्ञानात्मवादमत में बुद्धि सरूप आकार वाले घट आदि को ही विषय बनाती है। पहले ही यह बतलाया गया है कि व्यापक भेद ज्ञान के न होने पर व्याप्य भेदाध्यास भी नहीं होगा। जैसा कि अनुमान प्रयोग है—विवादास्पद शास्त्र (वेदान्त) विषय तथा प्रयोजन से रहित है क्योंकि यह अविद्यामूलक बन्धन की निवृत्ति करता है, जिस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति को बोध होता है।

विशेष—विज्ञानात्मवाद के अनुसार बुद्धि अर्थात् विज्ञान सरूप आकार वाले घटादि को विषय बनाता है, इसलिये 'कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादि अनुभव भी संगत नहीं होते हैं। सिद्धान्ती ने सहेतुक अनुमान दिखलाकर वेदान्त शास्त्र की विषय प्रयोजनता को सिद्ध किया है।

यथा स्वप्नावस्थायां मायापरिकल्पितयोषादिकृतबन्धनिवर्तकस्य सुप्तोत्थितबोधस्य मन्दिरमध्ये सुखेन शय्यायामवतिष्ठमानो देहो विषयः। तस्य सुप्तबोधेनानिश्चयात् स्वप्नमायाविजृम्भितानर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्। एवं मननादिजन्यपरोक्षज्ञानद्वारेण आध्यासिककर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थनिषेधकस्य शास्त्रस्य सच्चिदानन्दैकरसं प्रत्यगात्मभूतं ब्रह्म विषयः। तस्याहमनुभवेनानिश्चयात्। अध्यासनिवृत्तिः प्रयोजनम्।

अनुवाद—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में माया के द्वारा कल्पित किसी स्त्री आदि के द्वारा कृत बन्धन की निवृत्ति सोकर उठने के बाद हुए ज्ञान से होती है, उस ज्ञान का विषय वह शरीर है, जो घर के अन्दर आराम से बिस्तर पर लेटा हुआ है। सुप्त अवस्था के ज्ञान से उस शरीर (विषय) का निश्चय नहीं हो पाता है। स्वप्न की माया से उत्पन्न अनर्थ

की निवृत्ति ही इस ज्ञान (सुप्तोत्थित ज्ञान) का प्रयोजन है। इसी प्रकार मनन आदि से उत्प परोक्ष ज्ञान के माध्यम से अध्यास से उत्पन्न कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थों के निवृ इस वेदान्तशास्त्र का विषय ब्रह्म है, जो कि सच्चिदानन्द का एकीभूत रस रू प्रत्यगात्मरूप है। इस ब्रह्म निश्चय 'अहम्' अनुभव के द्वारा नहीं होता है। ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन अध्यास की निवृत्ति है।

तथा चाफलत्वादिति हेतुरसिद्ध इति सिद्धम्। तदुक्तम्-

५. श्रुतिगम्यात्मतत्त्वं तु नाहंबुद्ध्यावगम्यते।
अपि खे कामतो मोहो नात्मन्यस्तविपर्यये॥ इति।

इतोऽयमसन्दिग्धत्वादिति हेतुरप्यसिद्ध इति सिद्धम्।

अनुवाद—इसी प्रकार (ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है क्योंकि उसका कोई फल नहीं है इस पूर्वोक्त अनुमान में पूर्वपक्षी ने) जो 'अफलत्व' हेतु दिया था, वह असिद्ध है—य बात सिद्ध हो गयी। जैसा कि कहा गया है—श्रुति के द्वारा गम्य आत्मतत्त्व अहं बुद्धि से गम्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार आकाश में तो अपनी इच्छा से मोह होता है, किन्तु आत्मस्थित विपर्यय में नहीं।

इसी प्रकार (आत्मा जिज्ञास्य नहीं है, क्योंकि वह असन्दिग्ध है—इस पूर्वपक्ष के अनुमान में दिया गया) 'असन्दिग्धत्व' यह हेतु भी असिद्ध है—यह बात सिद्ध हो जाती है।

(८. आत्मा के विषय में सन्देह)

यद्यपि सर्वः प्राणी प्रत्यगात्मास्तित्वं प्रत्येत्यहमस्मीति। न हि कश्चिदपि नाहमस्मीति विप्रतिपद्यते। प्रत्यगात्मैव ब्रह्म 'तत्त्वमसि' (छां. ६/८/७) इति सामानाधिकरण्यात्। तस्मादात्मतत्त्वमसन्दिग्धं सिद्धम्। तथापि धर्मं प्रति विप्रतिपन्ना बहुविधा इति न्यायेन विशेषप्रतिपत्तिरुपपद्यत एव।

अनुवाद—यद्यपि सभी प्राणी जीवात्मा के अस्तित्व के प्रति यह अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ'। कोई भी प्राणी 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार का अनुभव नहीं करता। वह प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) ही ब्रह्म है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तुम हो—छान्दोग्यपनिषद् ६.८.७) वाक्य में जीवात्मा तथा ब्रह्म का सामानाधिकरण्य दिखलाई पड़ता है। इसलिये आत्मतत्त्व तो असन्दिग्ध है—यह बात सिद्ध होती है। फिर भी धर्म के प्रति लोग बहुत प्रकार से विवादग्रस्त हैं इसलिये विशेष का ज्ञान तो करना ही पड़ता है।

विशेष—सिद्धान्ती वेदान्ती का कहना है कि यद्यपि आत्मतत्त्व असन्दिग्ध है, फिर भी धर्म का विषय अत्यन्त विवादास्पद है। अतः आत्म तत्त्व की विशेष जिज्ञासा करनी पड़ती है।

तथा हि–चैतन्यविशिष्टं देहमात्मेति लोकायता मन्यन्ते। इन्द्रियाण्यात्मेत्यन्ये। अन्तःकरणमात्मेत्यपरे। क्षणभङ्गुरं सन्तन्यमानं विज्ञानमात्मेति

बौद्धा बुध्यन्ते। देहपरिमाण आत्मेति जैना जिनाः प्रतिजानते। कर्तृत्वादिविशिष्टः परमेश्वराद्भिनो जीवात्मेति नैयायिकादयो वर्णयन्ति। द्रव्यबोधस्वभावमात्मेत्याचार्याः परिचक्षते।

अनुवाद—जैसे कि चैतन्य विशिष्ट शरीर ही आत्मा है—ऐसा चार्वाक लोग मानते हैं। अन्य लोग यह मानते हैं कि इन्द्रियाँ आत्मा है। कुछ लोग अन्तःकरण को आत्मा मानते हैं। बौद्ध लोग यह मानते हैं कि सदैव प्रवाहमान तथा क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। जिन को ईश्वर मानने वाले जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा शरीर के आकार का है। नैयायिक मानते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर से भिन्न तथा कर्तृत्वादि से विशिष्ट है। आचार्य कुमारिल भट्ट कहते हैं कि आत्मा द्रव्यस्वभाव तथा ज्ञानस्वभाव है।

विशेष—विभिन्न दार्शनिकों ने आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न-विभिन्न विचार प्रकट किये हैं तथा अपनी-अपनी दृष्टि से आत्मा का स्वरूप स्वीकार किया है।

भोक्तैव केवलं न कर्त्तेति सांख्याः संगिरन्ते। चिद्रूपः कर्तृत्वादिरहितः परस्मादभिन्नः प्रत्यगात्मेत्यौपनिषदा भाषन्ते। एवं प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतो विप्रतिपत्तौ तद्विशेषसंशयो युज्यते। तथा च सन्देहसम्भवाज्जिज्ञास्यत्वं ब्रह्मणः सिद्धम्।

तदित्थं ब्रह्मणो विचार्यत्वसम्भवेन तद्विचारात्मकं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रमारम्भणीयमिति युक्तम्। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १/१/२) इत्यादिसर्वस्य शास्त्रस्यैतद्विचारापेक्षत्वात् शास्त्रप्रथमाध्यायसंगतमिदमधिकरणम्।

अनुवाद—सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है, कर्ता नहीं। उपनिषद् के ज्ञाताओं का कहना है कि जीवात्मा चिद्रूप, कर्तृत्वादि से रहित तथा परमात्मा से अभिन्न है। इस प्रकार धर्मी (आत्मा) के प्रसिद्ध होने से उसे विशेष धर्म में विप्रतिपत्ति होती है और आत्मा के विशेष धर्म के सम्बन्ध में सन्देह होता है और सन्देह ही सम्भावना होने से ब्रह्म का जिज्ञास्यत्व सिद्ध है।

तो इस प्रकार ब्रह्म विचार के योग्य है—यह बात सम्भव है, इसलिये ब्रह्मविचार करने वाले ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का आरम्भ करना चाहिये यह उचित है। 'जिससे संसार के जन्म आदि होते हैं' (ब्रह्मसूत्र १.१.२) इत्यादि सम्पूर्ण शास्त्र इसी ब्रह्म विचार की अपेक्षा करता है इसलिये यह अधिकरण शास्त्र के प्रथम अध्याय से संगत है।

विशेष—वेदान्तियों का कहना है कि आत्मा तो प्रसिद्ध है किन्तु उसके विशेष ज्ञान की जिज्ञासा हो सकती है। आत्मा का सामान्यतया ज्ञान होने पर भी उसके विशेषतया ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ब्रह्मजिज्ञासा की उपपत्ति लगती है।

(९. ब्रह्म की सिद्धि के लिए आगम प्रमाण)

नन्वित्थंभूते ब्रह्मणि किं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा? न कदाचित्तत्र प्रत्यक्षं श्रयते। अतीन्द्रियत्वात्। नाप्यनुमानम्। व्याप्तस्य लिङ्गस्याभावात्। नाप्यागमः

'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै. २/१/१) इति श्रुत्यैवागमगम्यत्वनिषेधात्। उपमानादिकमशक्यशङ्कम्। नियतविषयत्वात् तस्माद् ब्रह्मणि प्रमाणं न सम्भवतीति चेत्।

अनुवाद—यदि यह पूछा जाये कि इस प्रकार के ब्रह्म में कौन सा प्रमाण है—प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द? ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय है। अनुमान प्रमाण से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म से व्याप्त कोई लिंग (हेतु) नहीं है। आगम (शब्द) प्रमाण से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। 'जहां से वाणी लौट जाती है' (तै. २.१.१) इस श्रुति से ही ब्रह्म का आगमगम्यत्व निषिद्ध है। उपमान आदि की भी शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ब्रह्म का विषय निश्चित है, इसलिये ब्रह्म में कोई प्रमाण सम्भव नहीं है।

मैवं वोचः। प्रत्यक्षाद्यसम्भवेऽपि आगमस्य सत्त्वात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति वाग्गोचरत्वनिषेधात्कथमेतदिति चेत्–श्रुतिरेव निषेधति वेदान्तवेद्यत्वं ब्रह्मणः श्रुतिरेव विधत्ते। न हि वेदप्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते। अपि तु तदुपपादनमार्गमेव विचारयति। तस्मादुभयमपि प्रतिपादनीयम्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती कहते हैं) ऐसा मत कहिये। ब्रह्म में प्रत्यक्ष आदि सम्भव न होने पर भी शब्द प्रभाव तो सम्भव है। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यती वाचो निवर्तन्ते इस श्रुति से ब्रह्म में आगम का निषेध है तो फिर ब्रह्म में शब्दप्रमाण कैसे सम्भव है? तो सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुति ही ब्रह्म का वेदान्त वेद्यत्व का निषेध करी है तथा श्रुति ही विधान भी करती है। जब वेद प्रतिपादित अर्थ असिद्ध हो जाता है, तो वैदिक लोगों की बुद्धि खिन्न नहीं होती। बल्कि वेदप्रतिपादित पदार्थ को सिद्ध करने के मार्ग का विचार करती है। इसलिये दोनों प्रकार की श्रुतियों (ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली तथा ब्रह्म का निषेध करने वाली) का प्रतिपादन करना चाहिये।

विषयत्वनिषेधकानि वाक्यानि वाक्यजन्यवृत्तिव्यक्तस्फुरणलक्षणफलासम्भवविवक्षया प्रवृत्तानि। विषयत्वबोधकानि तु वृत्तिजन्यावरणभङ्गलक्षणफलसम्भवविवक्षया। तदुक्तं भगवद्भिः–

६. अनाधेयफलत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकारसमर्पणात्॥ इति।

७. न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम्।
तज्जन्यावृतिभङ्गत्वात्प्रमेयमिति गीयते॥ इति च।

अनुवाद—श्रुतियों में ब्रह्म को आगम का विषय न मानने वाले जो वाक्य हैं वे इस कारण प्रवृत्त हुए हैं कि उन वाक्यों से उत्पन्न वृत्ति से व्यक्त होने वाला स्फुरण (ज्ञान में आकार का समर्पण) रूप फल असम्भव है। ब्रह्म को आगम का विषय मानने

वाले वाक्य इस प्रकार प्रवृत्त हुए हैं कि उन वाक्यों से उत्पन्न वृत्ति से अज्ञानावरण का नाश रूपी फल सम्भव है। जैसा कि महान् आचार्यों ने कहा है—

फल का आरोपण न होने से ब्रह्म श्रुति का विषय नहीं है। क्योंकि अपने आकार का समर्पण करने पर भी प्रमेयवस्तु ज्ञान का विषय बनती है। इसलिये ब्रह्म प्रमाण से प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप है। किन्तु ब्रह्म बोधक वाक्यों से उत्पन्न वृत्ति के द्वारा आवरण का नाश होने से ब्रह्म को प्रमेय कहा जाता है।

विशेष—कोई वस्तु प्रमेय तभी हो सकती है, जब वह ज्ञान में अपने आकार का समर्पण करें। चूँकि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाशरूप है इसलिये वह ज्ञान में आकार समर्पण अर्थात् स्फुरण नहीं कर सकता है। इसी कारण 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कहकर ब्रह्म के प्रमाणगम्यत्व का निषेध श्रुतियों में किया गया है।

साथ ही साथ ब्रह्म ज्ञान से अज्ञानावरण का नाश भी होता है, इसलिये ब्रह्म को प्रमेय कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि ब्रह्मज्ञान के दो फल हैं—स्फुरण तथा अज्ञाननाश। स्फुरण रूप फल की असिद्धि होने से ब्रह्म को प्रमेय नहीं कहा जाता, जबकि अज्ञाननाशरूप फल होने से ब्रह्म को प्रमेय कहा जाता है।

(९ क. सिद्ध अर्थ का बोधक होने से वेद अप्रमाण-पूर्वपक्ष)

ननु स्यादेष मनोरथो यदि सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्यं सिद्ध्येत्। संगतिग्रहणायत्तत्वात् प्रामाण्यनिश्चयस्य। संगतिग्रहणस्य च वृद्धव्यवहारायतत्वात्। वृद्धव्यवहारस्य च लोके कार्यैकनियतत्वात्। न ह्यस्ति सम्भवः शब्दानां कार्येऽर्थे संगतिग्रहः सिद्धार्थाभिधायकत्वं तत्र वा प्रामाण्यमिति।

न हि तुरङ्गत्वे गृहीतसंगतिकं तुरङ्गपदं गोत्वमाचष्टे तत्र वा प्रामाण्यं भजते। तस्मात्कार्यगृहीतसंगतिकानां शब्दानां कार्य एव प्रामाण्यम्।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी मीमांसक कहते हैं कि सिद्धान्ती का यह मनोरथ तभी पूर्ण होगा, जब सिद्ध अर्थ में वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो सकेगा। प्रामाण्य का निश्चय तो संगति ग्रहण के अधीन है तथा संगति ग्रहण वृद्ध व्यवहार के अधीन है। एवं लोक में वृद्ध व्यवहार केवल कार्य से ही सम्बद्ध रहता है। यह भी सम्भव नहीं है कि शब्दों का कार्यरूप अर्थ में संगतिग्रहण हो तथा उससे सिद्ध अर्थ का बोध होता हो या सिद्ध अर्थ में शब्द का प्रामाण्य है।

यदि तुरङ्ग पद की संगति तुरङ्गत्व अर्थ में गृहीत होती है, तो उससे न तो गोत्व अर्थ का बोध होता है और न ही गोत्व अर्थ में 'तुरङ्ग' शब्द का प्रामाण्य गृहीत होता है। इसलिये कार्यरूप अर्थ में सङ्गति ग्रहण करने वाले शब्दों का कार्यरूप अर्थ में ही प्रामाण्य होता है।

विशेष—शब्द की संगति कार्य रूप अर्थ में है या फिर सिद्ध अर्थ में? इस सम्बन्ध में मीमांसा में दो मत हैं। भाट्टमत के अनुसार शब्द की संगति सिद्ध अर्थ में है तथा प्राभाकरों के अनुसार शब्द की संगति कार्यरूप अर्थ में है। वेदान्ती भी सिद्धरूप ब्रह्म में वेद की संगति मानते हैं।

प्रस्तुत परिच्छेद में प्रभाकर मतानुसार पूर्वपक्ष आया है। उनका कहना है कि वृद्धव्यवहार से कार्य (कर्तव्य) रूप अर्थ में संगति ग्रहण होता है। 'गामानय' आदि वाक्य प्रयोग तथा गवानयन आदि कार्यों को देखकर यह निश्चय होता है कि कार्य रूप अर्थ में ही संगतिग्रह होता है।

यह भी सम्भव नहीं है कि कार्य रूप अर्थ में संगतिग्रह है और सिद्ध अर्थ का बोध हो जाये।

ननु मुखविकासादिलिङ्गाद् हर्षहेतुं, प्रसिद्धार्थमनुमाय यत्र शब्दस्य संगतिग्रहो यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु, तत्रावश्यं कार्यमन्तरेणैव शब्दस्य सिद्धेऽर्थे प्रामाण्यमाश्रीयत इति चेत्—न। पुत्रजन्मवदेव प्रियासुखप्रसवादेरनेकस्य हर्षहेतो-रुपस्थीयमानत्वेन परिशेषावधारणानुपपत्तेः। पुत्रस्ते जात इत्यादिषु सिद्धार्थपरेषु प्रयोगेषु द्वारं द्वारमित्यादिवत्कार्याध्याहारेण प्रयोगोपपत्तेश्च।

अनुवाद—यदि कोई (सिद्धान्ती वेदान्ती) यह कहें कि हर्ष के कारण मुख विकास आदि चिह्न से सिद्ध अर्थ का अनुमान करके जहाँ शब्द की संगति का ग्रहण होता है। जैसे पुत्रस्ते जातः (तुम्हें पुत्र हुआ है) इत्यादि वाक्यों में। वहाँ अवश्य ही कार्य न होने पर भी सिद्ध अर्थ में शब्द का प्रामाण्य लिया जाता है तो इस पर पूर्वपक्षी (प्राभाकर मीमांसक) कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। पुत्र जन्म की तरह ही पत्नी का सुखपूर्वक प्रसव आदि हर्ष के अनेक हेतु हैं, इसलिये परिशेषात् पुत्र जन्म को ही हर्ष का कारण मानना उचित नहीं है। ('पुत्रस्ते जातः' इत्यादि सिद्धार्थ बतलाने वाले प्रयोगों में ठीक उसी तरह कार्य का अध्याहार करके प्रयोग की उपपत्ति की जाती है, जिस प्रकार 'द्वारं द्वारम्' (द्वार को, द्वार को) इत्यादि प्रयोगों में कार्यबोधक पद (पिधेहि=बन्द करो) का अध्याहार किया जाता है।

विशेष—वेदान्तियों का कहना है जैसे पुत्रजन्म तो सिद्ध अर्थ है, फिर भी 'पुत्रस्ते जातः' यह सुनने पर पिता के मुख पर हर्ष देखकर व्युत्पित्सु बालक 'पुत्रस्ते जातः' का अर्थ पुत्र जन्म है—यह समझा जाता है। इसलिये सिद्ध अर्थ में भी संगतिग्रहण होता है। इस पर मीमांसक कहते हैं कि हर्ष का कारण तो 'पत्नी का सुखपूर्वक प्रसव' भी हो सकता है, फिर पिता के मुख पर हर्ष देखकर पुत्रजन्म में ही शब्द की संगति कैसे ग्रहण की जा सकती है। इसलिये जब तक कार्य (कर्तव्य) को न जोड़ा जाये, सिद्ध अर्थ में संगतिग्रह नहीं हो सकता है। जिस प्रकार 'द्वारम्' कहने पर 'पिधेहि' का अध्याहार करना

ही पड़ता है उसी तरह सिद्ध अर्थ में संगतिग्रह के लिये कार्य का अध्याहार करना ही पड़ता है।

शास्त्रत्वप्रसिद्ध्या च न वेदान्तानां सिद्धार्थपरत्वम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणामेव वाक्यानां शास्त्रत्वप्रसिद्धेः। तदुक्तं भट्टाचार्यैः–

८. **प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।**
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥ इति।

अनुवाद—शास्त्र की प्रसिद्ध के कारण भी वेदान्त वाक्यों के द्वारा सिद्ध अर्थ का बोध सिद्ध होता है। प्रवृत्तिपरक तथा निवृत्तिपरक वाक्यों को ही शास्त्र के रूप में कहा जाता है। जैसा कि कुमारिल भट्टाचार्य ने कहा है—

जब नित्य या अनित्य शब्द के द्वारा पुरुषों को प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश दिया जाता है, उसे शास्त्र कहते हैं।

विशेष—पूर्वपक्षी (मीमांसक) का कहना है कि शास्त्रों में भी यह प्रसिद्धि है कि जो प्रवृत्ति या निवृत्ति कराने वाले वचन हैं, उन्हें शास्त्र कहा जाता है। इस कारण भी यह सिद्ध होता है कि वेदान्तादि शास्त्र कार्य बोधक ही हैं, न कि सिद्धार्थ (ब्रह्म) बोधक।

न चैतेषां स्वरूपपरत्वे प्रयोजनमस्ति। श्रुतवेदान्तार्थस्यापि पुंसः सांसारिकधर्माणामनिवृत्तेः। तस्माद्वेदान्तानामप्यात्मा ज्ञातव्य इति समाम्नातेन विधिनैकवाक्यतामाश्रित्य कार्यपरतैवाश्रयणीयेति सिद्धम्। ततश्च केवलसिद्धरूपे ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं न सिद्ध्यतीति चेत्।

अनुवाद—इन वेदान्तवाक्यों का अपने रूप का बोध करने में कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वेदान्त वाक्यों का अर्थ सुनने के बाद भी पुरुष को सांसारिक धर्म की निवृत्ति नहीं होती है। इसलिये वेदान्त वाक्यों का भी 'आत्मा को जानना चाहिये' यह अर्थ करके विधि के साथ एकवाक्यता बनाकर कार्य परकता का आश्रय कर लेना चाहिये—यह बात सिद्ध होती है। इसलिये केवल सिद्धरूप ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता।

(९ ख. सिद्ध अर्थ में शब्दों की व्युत्पत्ति-उत्तरपक्ष)

अत्र प्रतिविधीयते। न तावत्सिद्धे व्युत्पत्त्यसिद्धिः। प्रागुन्नीतया नीत्या 'पुत्रस्ते जातः' इति वाक्यात्सिद्धपरादपि व्युत्पत्तिसिद्धेः। न च परिशेषावधारणानुपपत्तिः। प्रियासुखप्रसवादेरपि सम्भवादिति भणितव्यम्। पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवादिसूचकाभावात्।

अनुवाद—अब सिद्धान्ती वेदान्ती उत्तर देते हैं—सिद्ध अर्थ में व्युत्पत्ति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। पूर्व में बतलायी गयी पद्धति के अनुसार (मुख हर्षादि के द्वारा)

शाब्दज्ञान अर्थात् शाब्द बोध तो शब्द से होता है। उसके लिये विधि की आवश्यकता नहीं है।

प्रकर्षज्ञान के होने पर भावना होगी—यह अन्वय है तथा प्रकर्ष ज्ञान के न होने पर भावना नहीं होगी—यह व्यतिरेक है। इस प्रकार भावना की प्राप्ति अन्वयव्यतिरेक से ही हो जाती है। इसलिये भावना विधेय नहीं हो सकती। विधि का विधेय तो वह होता है, जो अप्राप्त हो।

तृतीये साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वरूपः किं वाऽन्तःकरणपरिणामभेदः? नाद्यः। तस्य नित्यत्वेनाविधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। आनन्दसाक्षात्काररूपस्य फलत्वेनाविधेयत्वात्।

अनुवाद—तीसरा विकल्प मानने पर क्या साक्षात्कार ब्रह्मरूप है या फिर अन्त:करण के परिणाम का एक भेद है? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि साक्षात्कार ब्रह्मरूप है तो ब्रह्म नित्य होने के कारण विधेय नहीं है। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि आनन्द का साक्षात्कार तो फल है इसलिये वह भी विधेय नहीं हो सकता।

विशेष—ब्रह्म सिद्ध रूप है अत: उसे विधेय नहीं कहा जा सकता है। निम्नलिखित पदार्थ कभी-भी विधेय नहीं हो सकते हैं—

तस्माज्ज्ञातव्य इत्यादीनामविधायकत्वात् 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पाणि. सू. **३/३/१६९) इति कृत्यप्रत्ययानामर्हार्थे विधानादर्हार्थतैव व्याख्येया।** तथा च **सर्वेषां वेदान्तवाक्यानामुपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्योपेतत्वात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मपरत्वमास्थेयम्।**

अनुवाद—इसलिये ब्रह्म का विधान न हो सकने से 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादि स्थलों में 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (अर्ह अर्थ में कृत्य और तृच् प्रत्यय होते हैं—पाणिनीय सूत्र ३.३.१६९) इस सूत्र से अर्ह अर्थ में कृत्य प्रत्ययों का विधान है, इसलिये उन स्थलों पर 'ब्रह्म ज्ञान के योग्य (अर्ह) है' यही व्याख्या की जाती है। इस प्रकार सभी वेदान्त वाक्यों का उपक्रम तथा उपसंहार आदि छह प्रकार का तात्पर्य है, इसलिये वे वेदान्त वाक्य नित्य शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म अथवा आत्मा का प्रतिपादन करते हैं।

विशेष—ज्ञातव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः इत्यादि ब्रह्म प्रतिपादक विधि स्थलों में 'ज्ञानार्हः', श्रवणार्हः, मननार्हः इत्यादि अर्थ किया जाता है, क्योंकि ब्रह्म विधि का विधेय नहीं बन सकता।

(१०. अध्यास का निरूपण-प्रपंच का विवर्त रूप होना)

निष्प्रदेशे परमाणौ प्रदेशवृत्तित्वेनाभिमतस्य संयोगस्य दुरुपपादनतया तन्निबन्धनस्य द्व्यणुकस्यासिद्धौ द्व्यणुकादिक्रमेण आरम्भवादासम्भवादचेतनायाः

प्रकृतेर्महदादिरूपेण परिणामवादासम्भवाच्च, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यानिर्वचनीयः प्रपञ्चश्चिद्विवर्त इति सिद्धम्। स्वरूपापरित्यागेन रूपान्तरापत्तिर्विवर्त इति सत्यमिथ्याख्यावभास इति। अवभासोऽध्यास इति पर्यायः।

अनुवाद—अवयवों में वृत्ति होने पर संयोग होता है, जबकि परमाणु तो निरवयव है, इसलिये परमाणु में संयोग मानना अत्यन्त कठिन है अतः संयोग मूलक द्व्यगुण आदि भी असिद्ध है, फिर द्व्यणुक आदि के क्रम से आरम्भवाद भी सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार अचेतन प्रकृति के द्वारा महद् आदि के क्रम से परिणामवाद भी सम्भव नहीं है। प्रतीति के बाध की सिद्धि अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती है, इसलिये यह अनिर्वचनीय प्रपञ्च (जगत्) चित् का विवर्त है—यह सिद्ध होता है। अपने स्वरूप का परित्याग बिना किये अन्यरूप को धारण करना विवर्त है। यही सत्य और मिथ्या का अवभास अवभास तथा अध्याय यह दोनों पर्यायवाची हैं।

विशेष—न्याय-वैशेषिक दर्शन में आरम्भवाद स्वीकार किया गया है तथा सांख्य-योग में परिणामवाद स्वीकार किया गया है। चित् का विवर्त यह जगत् है।

(१० क. अध्यास के भेद-दो प्रकार से)

स चाध्यासो द्विविधः-अर्थाध्यासो ज्ञानाध्यासश्चेति। तदुक्तम्-

१०. प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः॥ इति।

अनुवाद—वह अध्यास दो प्रकार का है—अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास। जैसा कि कहा गया है—प्रमाण, दोष तथा संस्कार से उत्पन्न होने वाली किसी एक वस्तु की दूसरे रूप में जो प्रतीति है, वह प्रतीति तथा उसका ज्ञान-दोनों को ही विद्वानों ने अध्यास माना है।

विशेष—जब एक विषय (वस्तु) का दूसरी वस्तु पर आरोप होता है, तो उसे अर्थाध्यास कहा जाता है। इसी तरह मिथ्या ज्ञान का जो आत्मा पर आरोप है, उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं।

पुनरपि द्विविधोऽध्यासः। निरुपाधिकसोपाधिकभेदात्। तदप्युक्तम्-

११. दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसम्भवः।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः॥

१२. उपाधिसंनिधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम्।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम्॥ इति।

तत्र स्वरूपेण कल्पिताहमाद्यध्यासो निरुपाधिकः। तदप्युक्तम्-

१३. नीलिमेव वियत्येषा भ्रान्त्या ब्रह्मणि संसृतिः।
घटव्योमेव भोक्तायं भ्रान्तो भेदेन न स्वतः॥ इति।

अत एव भाष्यकारः 'शुक्तिका रजतवदवभासत एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति' निदर्शनद्वयमुदाजहार। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति विस्तरभियोपरम्यते। एवं च दृग्दृश्यौ द्वावेव पदार्थाविति वेदान्तिनां सिद्धान्त इति सर्वमवदातम्।

अनुवाद—अध्यास के पुनः दो भेद हैं—निरूपाधिक और सोपाधिक। जैसा कि कहा गया है—

जो भ्रम (अध्यास) दोष या कर्म के कारण संचालित अज्ञान से उत्पन्न होता है तथा जो तत्त्वज्ञान का विरोधी है, उस भ्रम को निरूपाधिक भ्रम कहा जाता है।

जब उपाधि की सन्निधि से अविद्या में क्षोभ होता है। उस अविद्या से उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक भ्रम कहा जाता है। यह भ्रम उपाधि के विनाश से स्वयं भी विनष्ट हो जाता है।

विशेष—जो भ्रम अविद्या से उत्पन्न होता है, उसे निरूपाधिक भ्रम कहा जाता है। उपाधि के संनिधि से उत्पन्न भ्रम को सोपाधिक भ्रम कहा जाता है।

(११. अध्यास का मीमांसकों के द्वारा खण्डन-लम्बा पूर्वपक्ष)

अत्र प्रभाकरः-शुक्तिका रजतवदवभासत इति दृष्टान्तो नेष्टः। रजतप्रत्ययस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः। तथा हि-इदं रजतमिति प्रतीतौ शुक्तेरालम्बनत्वं पुरोदेशसत्तामात्रेणावलम्ब्यते, कारणत्वेन भासमानत्वेन वा? नाद्यः। पुरोवर्तिनां लोष्टादीनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गात्।

अनुवाद—इस सम्बन्ध में आचार्य प्रभाकर कहते हैं कि सीपी रजत की तरह अवभासित होती है—यह दृष्टान्त अभीष्ट नहीं है। सीपी को आश्रय बनाकर रजतज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि—यह रजत है—इस ज्ञान में सीपी को आलम्बन के रूप में क्यों माना जाता है? क्या सामने उस सीपी की सत्ता मात्र होने से उसे आलम्बन माना जाता है। या फिर कारण के रूप में भासित होने से सीपी को आलम्बन माना जाता है? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि फिर तो सामने स्थित पत्थर आदि को आलम्बन कहना पड़ेगा।

विशेष—मीमांसकों में प्रभाक सम्प्रदाय के अनुसार अख्यातिवाद स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम नामकी कोई वस्तु नहीं है। शुक्ति को देखकर 'इदं रजतम्' यह जो ज्ञान होता है यह कोई भ्रम नहीं है। 'इदम्' यह पुरोवर्ती सीप का ज्ञान है तथा 'रजतम्' यहाँ पर रजत की स्मृति होती है। इस 'इदम्' ज्ञान तथा रजतत्व के स्मरण का भेद ग्रहण न हो पाने के कारण व्यक्ति को भ्रम होता है।

इस प्रंसग में पूर्वपक्षी प्रभाकर का कहना है कि 'इदं रजतम्' यहाँ जो शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, वह क्यों होता है। इस पर प्रभाकर ने दो विकल्प प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है। पहला विकल्प है कि रजत का केवल शुक्ति के सामने रहने से होता है, तो विकल्प सम्भव नहीं है। रजतज्ञान केवल शुक्ति के सामने होने मात्र से रजतज्ञान नहीं होता, क्योंकि सामने तो पत्थर आदि भी होते हैं, लेकिन पत्थर में किसी व्यक्ति को रजत का भ्रम नहीं होता है।

दूसरा विकल्प है कि रजत ज्ञान में शुक्ति कारण है अत: शुक्ति आलम्बन होती है इसका खण्डन आगे किया जाता है।

अथ कलधौतबोधकरणसंस्कारोद्बोधकारणत्वेन तद्द्वारा रजतज्ञानकारणत्वादालम्बनत्वं मन्यसे, तदपि न संगच्छते। चक्षुरादीनामपि कारणत्वेन विषयत्वापातात्।

अथ भासमानतया विषयत्वमिष्यते, तदप्यश्लिष्टम्। रजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनत्वानुपपत्तेः। यस्मिन्विज्ञाने यदवभासते तत्तदालम्बनम्। अत्र च कलधौतानुभवः शुक्तिकालम्बनत्वकल्पनायां विरुध्यते।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि चाँदी का बोध कराने वाले संस्कार के जाग जाने के कारण उसके द्वारा रजतज्ञान भ्रम का कारण बनता है इसलिये सीपी को आलम्बन माना जाता है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि फिर तो चक्षु आदि भी प्रत्यक्ष के कारण हैं अत: उन्हें भी आलम्बन मानना पड़ेगा।

यदि यह कहा जाये कि शुक्ति में रजत के भासित होने के कारण शुक्ति विषय है तो यह भी ठीक नहीं है। रजत के आभास में शुक्ति को आलम्बन मानना ठीक नहीं है। जिस ज्ञान में जो भासित होता है, वही विषय है। (इसलिये रजतज्ञान में रजत ही भासित होता है) रजत ज्ञान में शुक्ति को आलम्बन मानना विरुद्ध होगा।

विशेष—दूसरा विकल्प था कि रजतज्ञान में शुक्ति को कारण होने से आलम्बन माना जाये, तो यह भी ठीक नहीं है। अन्यथा चक्षु आदि को भी कारण होने से आलम्बन मानना पड़ेगा।

रजत ज्ञान में रजत, भासित होता है शुक्ति नहीं। अत: शुक्ति को आलम्बन नहीं माना जा सकता है।

तथा चाचकथयन्न्यायवीथ्यां शालिकनाथः—

१४. अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यत्वलक्षणम्॥

१५. इदं रजतमित्यत्र रतं त्ववभासते।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात्॥

१६. तेनान्यस्यान्यथा भासः प्रतीत्यैव पराहतः।
अन्यस्मिन्भासमाने हि न परं भासते यतः॥

(प्रकरण प. ४/२३-२५) इति।

अनुवाद—जैसा कि शालिकनाथ ने न्यायवीथी में कहा है—

जिस ज्ञान में जो विषय भासित होता है उसे ही वेद्य समझना चाहिये (यही वेद्यत्व तथा अवेद्यत्व का लक्षण है।

'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत भासित होता है। इसलिये उसे हीं वेद्य समझना चाहिये। शुक्ति का ज्ञान न होने से शुक्ति वेद्य नहीं है।

इसलिये एक वस्तु का दूसरे के रूप में ज्ञान होना तो प्रतीति के कारण ही खण्डित हो जाता है। क्योंकि एक वस्तु का ज्ञान होते समय दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। (प्रकरणपञ्चिका ४.२३-२५)

(११ क. मिथ्याज्ञान के लिए कारण-सामग्री का अभाव)

किं च मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सामग्री न समस्ति। किं केवलानीन्द्रियाणि दोषदूषितानि वा? नाद्यः। तेषां समीचीनज्ञानजननसामर्थ्योपलम्भात्। अन्यथा समीचीनं रजतज्ञानं न कदाचिदुदयमासादयेत्। न द्वितीयः। दोषाणामौत्सर्गिककार्य-प्रसवशक्तिप्रतिबन्धमात्रप्रभावत्वात्।

अनुवाद—दूसरी बात यह है कि मिथ्या ज्ञान की उत्पत्ति में कोई कारण सामग्री नहीं है। क्या केवल इन्द्रियाँ मिथ्या ज्ञान में कारण हैं या फिर दोष से दूषित इन्द्रियाँ कारण हैं? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों में सम्यक् ज्ञान उत्पन्न करने का सामर्थ्य दिखलाई पड़ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कभी भी यथार्थ रजत ज्ञान नहीं हो सकेगा। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि दोष तो कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का ही प्रतिबन्ध कर सकते हैं।

न हि दुष्टं कुटजबीजं वटाङ्कुरं जनयितुमीष्टे। न वा तैलकलुषितं शालिबीजमशाल्यङ्कुरजननायालम्। किं तु स्वकार्यं न करोति।

ननु दावदहनदग्धस्य वेत्रबीजस्य कदलीकाण्डजनकत्वं दृष्टमिति चेत्-तन्न स्थाने। दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणां विपरीतकार्यकारित्वं प्रत्यनुदाहरणात्।

अनुवाद—दोष से युक्त कुटज का बीज वट के अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। तेल से कलुषित शालिधान का बीज भी शालिचावल से भिन्न अनाज के अंकुर को उत्पन्न करने में तो समर्थ नहीं ही है, अपितु वह दोष ग्रस्त बीज तो अपने कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

यदि यह कहा जाये कि दावानल से जले हुए बेंत के बीज के द्वारा केले का पेड़ उत्पन्न हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं ... जल जाने के बाद बेंत का बीज बेंत

का बीज नहीं रहा, इसलिये यह इस बात का उदाहरण भी नहीं बन सकता कि दोषों के द्वारा विपरीत कार्य की उत्पत्ति होती है।

विशेष—प्रभाकर सिद्धान्ती से पूछते हैं कि मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति में क्या सामग्री हो सकती है? केवल इन्द्रियों से मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता है। न ही दोषयुक्त इन्द्रियों से मिथ्याज्ञान हो सकता है, क्योंकि दोषों के कारण किसी वस्तु के ज्ञान पर पर्दा तो पड़ सकता है, लेकिन दोषों से वस्तु का विपरीत रूप में ज्ञान नहीं हो सकता है।

जैसे दोषयुक्त अर्थात् जला हुआ बीज विपरीत कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। यदि सिद्धान्ती कहें कि जला हुआ बेंत का बीज केले के पेड़ को उत्पन्न कर सकता है, तो इस पर पूर्वपक्षी प्रभाकर कहते हैं कि जब बेंत का बीज जल गया, तो फिर वह बेंत का बीज कहाँ रहा इसलिये यह उदाहरण ठीक नहीं है। सारांश यह है कि प्रभाकरानुसार दोषों से विपरीत कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

न च भस्मकदोषदूषितस्य कौक्षेयस्याशुशुक्षणेः बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृष्टमित्येष्टव्यम्। अशितपीताद्याहारपरिणतौ जाठरस्य जातवेदसः शक्तत्वात्। तदुक्तम्–

१७. अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणम्।
दोषाश्चेन्न हि दोषाणां कार्यशक्तिविघातता ॥
१८. भस्मकादिषु कार्यस्य विघातादेव दोषता।
अग्नेर्हि रसनिष्पत्तिः कार्यं जठरवर्तिनः ॥

(प्रकरण प. ४/७३-७४) इति।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहते हैं कि सिद्धान्ती को) यह भी नहीं कहना चाहिये कि भस्मक दोष से दूषित जठराग्नि में बहुत सा अन्न पचाने का सामर्थ्य दिखलाई पड़ता है, (इसका उत्तर पूर्वपक्षी देते हैं कि) जठराग्नि में तो खाये हुए तथा पीये हुए पदार्थों को पचाने का स्वाभाविक सामर्थ्य होता है। जैसा कि कहा गया है—

अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कोई भी कारण नहीं है। यदि दोषों को कारण माना जाये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दोषों में तो केवल कार्य शक्ति की प्रतिबन्धता होती है।

भस्मक रोग में कार्य की प्रतिबन्धता होने के कारण ही दोष माना जाता है और जठराग्नि का तो कार्य ही है कि इसकी निष्पत्ति।

(११ ख. असत् अर्थ का ज्ञान नहीं होता)

अपि चासत्यप्यर्थे ज्ञानप्रादुर्भावाभ्युपगमे समीचीनस्थलेऽपि ज्ञानानां स्वगोचरव्यभिचारशङ्काऽङ्कुशसम्भवेन निरङ्कुशो व्यवहारो लुप्यते। तदाह–

१९. यदि चार्थं परित्यज्य काचिद् बुद्धिः प्रकाशते।
व्यभिचारवति स्वार्थे कथं विश्वासकारणम्॥

(प्रक. प. ४/६६) इति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त यह भी दोष है कि यदि असत् वस्तु के विषय में भी ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार की जाये तो यथार्थ स्थल पर भी ज्ञान का अपने विषय में व्यभिचार होने लगेगा और व्यभिचार की शंका के अंकुश के कारण संसार में निरंकुश व्यवहार बिल्कुल समाप्त हो जायेगा। जैसा कि कहा गया है—

यदि कोई बुद्धि (ज्ञान) पदार्थ को छोड़कर प्रकाशित होती है और ज्ञान का अपने ही विषय में व्यभिचार होने लगे, तो फिर कैसे विश्वास किया जा सकता है।

(प्रकरण पञ्चिका ४.६६)

विशेष—प्रभाकर कहते हैं कि यदि वस्तु के न होने पर भी उस वस्तु का ज्ञान होता हो, तो वस्तु के होने पर उत्पन्न जो ज्ञान है, उसमें भी व्यभिचार की शंका बनी ही रहेंगी अर्थात् ज्ञान का विषय है या नहीं ऐसी शंका बनी रहेगी और फिर संसार में कहीं भी निःशङ्क व्यवहार नहीं हो पायेगा।

(११ ग. ग्रहण और स्मरण का विश्लेषण)

ननु रजतगोचरैकविशिष्टज्ञानानङ्गीकारे विशिष्टव्यवहारो न सिध्येत्। अतस्तत्सिद्धयेऽपि विपर्ययोऽङ्गीकार्य इति चेन्न। इदं रजतमिति ग्रहणस्मरणाभिधस्य बोधद्वयस्य व्यवहारकारणत्वाङ्गीकारात्। यद्येवमिदं शुक्तिकाशकलं तद्रजतमित्यतोऽपि विशिष्टव्यवहारः स्यादिति। तन्न।

अनुवाद—अब यदि कोई यह कहे कि रजत के विषय में एक विशिष्ट ज्ञान न मानने पर विशिष्ट व्यवहार ही नहीं सिद्ध हो पायेगा। इसलिये उसकी सिद्धि के लिये विपर्यय (भ्रम) को तो मानना ही पड़ेगा। तो (प्रभाकर कहते हैं) यह भी ठीक नहीं है। 'इदम् रजतम्' यहाँ पर ग्रहण (अनुभव) तथा स्मरण नामक दो प्रकार के ज्ञानों को व्यवहार का कारण माना गया है। इस पर वेदान्ती कहते है। यदि ऐसी बात है तो 'यह सीपी का टुकड़ा है तथा वह चाँदी है' यहाँ पर भी विशिष्ट व्यवहार मानना पड़ेगा। (इस पर प्रभाकर कहते हैं) यह ठीक नहीं है।

विशेष—प्रभाकर का यह कहना है कि सीपी को देखकर 'इदं रजतम्' इस भ्रम में ग्रहण और स्मरण ये दो ज्ञान होते हैं। इस पर वेदान्ती का कहना है कि 'यह शुक्ति है और यह रजत है' यहाँ भी तो दो अलग-अलग ज्ञान हो रहे हैं। फिर इन दो ज्ञानों से भी भ्रम होना चाहिये जबकि ऐसा नहीं होता। इस पर आगे प्रभाकर उत्तर देंगे।

तत्रेदमिति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य दोषदूषितचक्षुर्जन्यत्वेनानाकलितशुक्तित्वादिविशेषितस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वाद्, रजतमिति ज्ञानस्यासंनिहित-

विषयस्य संयोगलिङ्गाद्यप्रसूततया सदृशावबोधितसंस्कारमात्रप्रभवत्वेन परिशेष-प्राप्तस्मृतिभावस्य दोषहेतुकतया गृहीत-तत्तांशप्रमोषाद् ग्रहणमात्रत्वोपपत्तेः।

अनुवाद—(प्रभाकर कहते हैं कि 'इदं रजतम्') यहाँ दोष से दूषित चक्षु के द्वारा सामने स्थित द्रव्यमात्र का ग्रहण होता है, उस द्रव्य में शुक्तित्वादि विशेषण से रहित केवल सामान्यमात्र का ग्रहण होता है। 'रजतम्' यहाँ पर ज्ञान का विषय सन्निहित नहीं है फिर भी संनिकर्ष (प्रत्यक्ष प्रमाण) या हेतु (अनुमान प्रमाण) आदि के बिना ही सदृश वस्तु के कारण होने वाले संस्कार से उत्पन्न जो ज्ञान है जो कि परिशेषतः स्मृतिरूप कहा जाता है। उस स्मृतिरूप ज्ञान का कारण दोष है। इसलिये रजतज्ञान में 'तत्' अंश का लोप होता है, जिसके कारण केवल रजत का ग्रहण होता है।

विशेष—प्रभाकर का मत है कि शुक्ति को देखकर 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में रजत का स्मरण होता है। लेकिन 'तत् रजतम्' यह स्मरण न होकर 'तत्' अंश का लोप करके केवल 'रजत' का स्मरण होता है तथा पुरोवर्ती शुक्ति में भी शुक्तित्व के बिना केवल सामान्य ज्ञान का ग्रहण होता है। इस ग्रहण तथा स्मरण के भेद का ग्रहण न होने के कारण ही भ्रम होता है।

तदप्युक्तम्–

२०. नन्वत्र रजताभासः कथमेष घटिष्यते।
उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम्॥
२१. शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद्भेदहेतवः।
ते न ज्ञाता अभिभवाज्ज्ञाता सामान्यरूपता॥
२२. अनन्तरं च रजतस्मृतिर्जाता तयाऽपि च।
मनोदोषात्तदित्यंशपरामर्शविवर्जितम्॥
२३. रजतं विषयीकृत्य नैव शुक्तेर्विवेचितम्।
स्मृत्यातो रजताभास उपपन्नो भविष्यति॥

(प्रक. प. ४/२६-२९)

अनुवाद—यह भी कहा गया है—यदि कोई यह कहे कि (शुक्ति को) देखकर ('इदं रजतम्' इस स्थल में) रजत का भ्रम कैसे उत्पन्न होगा, तो इसका उत्तर यह है कि उक्त स्थल में भेदरहित शुक्ति का ग्रहण होता है।

रजत से शुक्ति के भेद का कारण जो विशेष (शुक्तित्व) है वह अभिभव के कारण ज्ञात नहीं होता है केवल सामान्य मात्र का ज्ञान होता है।

उसी सामान्य रूपता के कारण बाद में रजत की स्मृति होती है, लेकिन मनोदोष के कारण रजतस्मृति में तत् इस अंश के ज्ञान से रहित रजत को विषय बनाया जाता है, न कि शुक्ति को। इसी स्मृति के कारण रजत का भ्रम उत्पन्न होता है।

(प्रकरणपञ्चिका ४.२६-२९)

२४. न ह्यसंनिहितं तावत्प्रत्यक्षं रजतं भवेत्।
लिङ्गाद्यभावाच्चान्यस्य प्रमाणस्य न गोचरः ॥
२५. परिशेषात्स्मृतिरिति निश्चयो जायते पुनः।
(प्रक. प. ४/३१-३२) इति।

अनुवाद—असंनिहित रजत का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। चूंकि रजत में लिंग (हेतु) आदि का अभाव है इसलिये वह रजत अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण का भी विषय नहीं हो सकता।

इसलिये परिशेषत: रजत की स्मृति होती है—यही निश्चय किया जाता है।

(प्रकरणपञ्चिका ४.३१-३२)

(११ घ. ग्रहण और स्मरण में अभेद या सारूप्य)

ननु किमिदमेकैकं व्यवहारकारणमुत संभूय? न प्रथमः। देशभेदेन प्रवृत्तिसङ्गात्। न चरमः। प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्यात्-' (वै.सू. ३/२/३) इत्यादिना ज्ञानयौगपद्यनिषेधात्। अतो ज्ञानद्वयं हेतुरित्ययुक्तं वच इति चेत्-मैवं वोचः। अविनश्यतोः सहावस्थाननिषेधेऽपि विनश्यदविनश्यतोः सहावस्थानस्यानिषिद्धत्वेन निरन्तरोत्पन्नयोस्तदुपपत्तेः।

अनुवाद—(सिद्धान्ती वेदान्ती कहते हैं) क्या यह ग्रहण और स्मरण—ये दोनों अलग-अलग व्यवहार का कारण है या फिर दोनों मिलकर एक साथ व्यवहार का कारण है? पहला विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि देश भेद से प्रवृत्ति होने लगेगी। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। अनेक प्रयत्न एक ही समय में नहीं हो सकते तथा अनेक ज्ञान भी एक ही सामने में नहीं हो सकते' (वैशेषिक सूत्र ३.२.३) इस सूत्र में ज्ञान के यौगपद्य का निषेध है। इसलिये दोनों यह वचन ठीक नहीं है। (प्रभाकर कहते हैं)—ऐसा मत कहिये। दो अविनाशी ज्ञान एक समय में नहीं रह सकते, क्योंकि उनका निषेध है लेकिन एक विनाशी ज्ञान तथा दूसरा अविनाशी ज्ञान तो एक समय में रह ही सकता है इसलिये अव्यवधान से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों (प्रथम क्षण में शुक्ति-अनुभव की उत्पत्ति तथा द्वितीय क्षण में रजत स्मृति की उत्पत्ति होती है—यही अव्यवधान है) का सहावस्थान सिद्ध होता है।

विशेष—वेदान्ती का कहना है कि अनुभव तथा स्मृति—ये दोनों प्रकार के ज्ञान यदि अलग-अलग काल में हुए, तब तो दोनों की भिन्न-भिन्न देश में प्रवृत्ति होने लगेगी और एक काल में तो दो ज्ञानों का होना सम्भव ही नहीं है।

इस पर प्रभाकर कहते हैं एक काल में उस कोटि के दो ज्ञान रह सकते हैं, जिसमें एक विनाशी हो और दूसरा अविनाशी।

प्रथम क्षण—शुक्ति का अनुभव उत्पन्न हुआ।

द्वितीय क्षण—शुक्ति के अनुभव की अवस्थिति रजत स्मृति की उत्पत्ति।

तृतीय क्षण—शुक्ति-अनुभव का नाश, रजत स्मृति की अवस्थिति, 'इदं रजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न हुआ।

यहाँ तृतीय क्षण में शुक्ति-अनुभव तो विनाशावस्था में है, परन्तु रजत स्मृति अविनाशावस्था में है। अत: तृतीय क्षण में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न हुआ है।

ननु रजतज्ञानाद् रजतार्थी रजते प्रवर्ततां नाम। पौरस्त्ये वस्तुनि कथं प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्–न। स्वरूपतो विषयताश्चागृहीतभेदयोः ग्रहणस्मरणयोः सन्निहितरजतगोचरज्ञानासारूप्येण वस्तुतः परस्परं विभिन्नयोरप्यभेदोचितसामानाधिकरण्यव्यपदेशहेतुत्वोपपत्तेः।

अनुवाद—पुन: सिद्धान्ती (वेदान्ती) कहते हैं कि रजत को चाहने वाला व्यक्ति रजत ज्ञान के कारण तो रजत के प्रति प्रवृत्त होगा ही। लेकिन फिर सामने स्थित रजत के प्रति प्रवृत्ति कैसे होगी? इस पर पूर्वपक्षी (प्रभाकर) कहते हैं—ऐसी बात नहीं है।

ग्रहण तथा स्मरण में स्वरूप तथा विषय के आधार पर कोई भेद गृहीत नहीं होता, अपितु सामने स्थित रजत विषयक ज्ञान में सदृशता के कारण ही आपस में वास्तविकता से भिन्न होने पर भी ग्रहण तथा स्मरण में जो अभेदोचित सामनाधिकरण्य का नियम है वही व्यवहार का कारण माना जाता हैं।

विशेष—प्रभाकर कहते हैं कि रजतस्मृति तथा शुक्ति के प्रत्यक्षानुभव में वस्तुत: तो भेद है ही लेकिन शुक्ति तथा रजत में परस्पर सदृशता के कारण रजतस्मृति तथा शुक्तिप्रत्यक्ष का भेद-गृहीत नहीं होता। यही भेदाग्रह व्यवहार का कारण है।

ग्रहणस्मरणयोः सन्निहितरजतज्ञानसारूप्यं कथम्? यथा चैतत्तथा निशम्यताम्। सन्निहितरजतगोचरं हि विज्ञानमिदमंशरजतांशयोरसंसर्गं नावगाहते। तयोः संसृष्टत्वेन असंसर्गस्यैवाभावात्। नापि स्वगतं भेदम्। एकज्ञानत्वात्। एवं ग्रहणस्मरणे अपि दोषवशाद्विद्यमानमपीदमंशरजतांशयोरसंसर्गं भेदं नावगाहेत इति। भेदाग्रहणमेव सारूप्यम्।

अनुवाद—सिद्धान्ती (वेदान्ती) पूर्वपक्षी (प्रभाकर मीमांसक) से पूछते हैं कि जहाँ सामने वास्तविक रजत है, वहाँ पर ग्रहण तथा स्मरण की एकरूपता कैसे होती है? इस पर प्रभाकर कहते हैं कि सुनिये यह कैसे होता है। जहाँ सामने वास्तविक रजत विद्यमान है, वहाँ पर रजतज्ञान में 'इदं अंश तथा रजत अंश का भेद गृहीत नहीं होता हैं क्योंकि वे दोनों मिले हुए हैं इसलिये उन दोनों में कोई भेद नहीं है। न तो उन दोनों में स्वगत भेद है, क्योंकि वे दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार जहाँ दोष के कारण शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होता है वहाँ इदं अंश तथा रजत अंश में भी ग्रहण तथा स्मरण का भेदग्रहण नहीं होता। भेद का अग्रहण ही स्मरण तथा ग्रहण की एकरूपता कहलाता है।

विशेष—सत्य रजत स्थल में 'इदम् रजतम्' इस ज्ञान में इदं तथा रजतम् ये दोनों अंश भेदरहित गृहीत होते हैं क्योंकि वहाँ इन दोनों में भेद है ही नहीं है। जबकि शुक्तिरजत स्थल में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में 'इदम्' ग्रहणरूप तथा 'रजतम्' स्मरणरूप ज्ञान हैं। दोष के कारण इन दोनों अंशों का भेद गृहीत नहीं हो पाता। इसी भेदाग्रह के कारण ग्रहण तथा स्मरण एक रूप हो जाते हैं तथा भ्रम का व्यवहार होता है।

तदुक्तं गुरुमतानुसारिभिः–

२६. ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी।
सम्यग्रजतबोधाच्च भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः॥
२७. तथापि भिन्ने नाभाते भेदाग्रहसमत्वतः।
सम्यग्रजतबोधस्तु समक्षैकार्थगोचरः॥
२८. ततो भिन्ने अबुद्ध्वा च ग्रहणस्मरणे इमे।
समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः॥
२९. अपरोक्षवभासेन समानार्थग्रहेण च।
अवैलक्षण्यसंवित्तिरिति तावत्समर्थिता॥
३०. व्यवहारोऽपि तत्तुल्यस्तत एव प्रवर्तते॥
(प्रक.)

एवमगृहीतविवेकमापन्नसन्निहितरूप्यज्ञानसारूप्यं ग्रहणस्मरणद्वयमयथाव्यवहारहेतुरिति सिद्धम्।

अनुवाद—यही बात गुरु प्रभाकर के अनुयायियों ने कही है—

ये दोनों ग्रहण तथा स्मरण विवेक (भेद) से सम्बन्धित नहीं हैं। फिर भी ये दोनों वास्तव में सत्यरजत ज्ञान से भिन्न नहीं है।

ये दोनों (ग्रहण तथा स्मरण) सत्यरजत ज्ञान से भिन्न होने पर भी भेदाग्रह की समानता से भिन्न प्रतीत नहीं होते। (जिस प्रकार सत्य रजत स्थल में इदं अंश तथा रजतांश का भेद ही नहीं है इसलिये वहाँ भेदाग्रह होता है उसी तरह शुक्तिरजत स्थल में भी ग्रहण तथा स्मरण का भेदाग्रह होता है। यही दोनों स्थलों पर भेदाग्रह की समानता है। सत्यरजत का ज्ञान तो सामने स्थित वस्तु के विषय में ही होता है।

लोग शुक्ति-रजत स्थल के इस ग्रहण-स्मरण को सत्यरजत ज्ञान से भिन्न न समझकर उन दोनों को एक जैसा ही समझते हैं।

प्रत्यक्ष प्रतीति के कारण तथा समान विषय ग्रहण करने के कारण दोनों स्थलों पर (सत्य रजत स्थल तथा शुक्ति रजत स्थल) एक जैसा ज्ञान सिद्ध होता है तथा उसी प्रकार का व्यवहार भी होता है। (प्रकरण पञ्चिका ४.३३-३७)

इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थित रजत ज्ञान की तरह ही शुक्तिरजत स्थल में होने वाले ग्रहण तथा स्मरण-दोनों का भेद गृहीत नहीं होता। इसी कारण अयथाव्यवहार (विशेष व्यवहार) होता है—यह सिद्ध है।

(११ ङ 'पीतः शङ्खः' के व्यवहार का समर्थन)

यद्येवमयथाव्यवहारो ग्रहणस्मरणजन्यस्तर्हि 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ स न सिद्धः, तत्र तयोरभावादिति चेत्–न। अगृहीतविवेकयोः प्राप्तसमीचीनसंसर्गज्ञानसारूप्यत्वे ग्रहणयोरेव व्यवहारसंपादकत्वोपपत्तेः। नयनरश्मिवर्तिनः पित्तद्रव्यस्य पीतिमादोषवशाद् द्रव्यरहितो गृह्यते। शङ्खोऽप्यकलितशुक्लगुणः स्वरूपतो गृह्यते। तदनयोर्गुणगुणिनोः संसर्गयोग्ययोरसंसर्गाग्रहसारूप्यात्पीततपनीयपिण्डप्रत्ययावैलक्षण्याद् व्यवहार उपपद्यते।

अनुवाद—(वेदान्ती कहते हैं) यदि यह अयथा व्यवहार (विशेष व्यवहार) ग्रहण तथा स्मरण से उत्पन्न होता है, तो फिर 'शंख पीला हूँ' इत्यादि स्थलों पर यह व्यवहार सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि पीत शंख के ज्ञान में ग्रहण तथा स्मरण दोनों ही नहीं हैं। (इस पर प्रभाकर कहते हैं) यह ठीक नहीं है। पीतशंख स्थल में प्राप्त समीचीन (यथार्थ) संसर्ग ज्ञान (सफेद शंख में 'श्वेत: शंख:' यह यथार्थ संसर्ग ज्ञान है) की तरह ही जो भेद ग्रह से रहित दो ज्ञान हैं उनके कारण व्यवहार का संपादन होता है। आँखों की किरणों में स्थित पित्तद्रव्य का पीलापन आँख के दोष के कारण द्रव्यरहित होकर गृहीत होता है। शंख का भी शुक्ल द्रव्य से रहित होकर केवल स्वरूपत: ग्रहण होता है। तो इस प्रकार संसर्ग के योग्य जो गुण और गुणी है उनके भेदाग्रह की समानता के कारण ही पीत सुवर्ण पिण्ड के सत्य ज्ञान की तरह व्यवहार उपपन्न होता है।

विशेष—वेदान्तियों का कहना है कि शुक्ति रजत स्थल में ग्रहण तथा स्मरण—इन दोनों ज्ञानों में भेद ग्रहण न हो पाना ही व्यवहार का कारण माना जाये, तो फिर जहाँ आँखों के दोष के कारण सफेद शंख में 'पीत: शंख' यह ज्ञान होता है, वहाँ दो ज्ञान नहीं हैं, अत: वहाँ कैसे उपपत्ति लगेगी। इस पर प्रभाकर कहते हैं कि सफेद शंख का संसर्ग ज्ञान होता है, उस तरह का विवेक 'पीत: शङ्ख:' ज्ञान में नहीं होता। नेत्र स्थित पित्त में पीलिमा हैं तथा शंख में श्वेत रंग है लेकिन 'पीत: शंख' ज्ञान में पीलिमा का ज्ञान द्रव्य (पित्त) रहित होता है और गुण रहित केवल शंख का ही ज्ञान होता है। इस प्रकार पित्त तथा पीलिमा का एवं सफेद रंग तथा शंख का परस्पर संसर्ग ग्रहण न हो पाने के कारण शंख में पीलिमा भासती है। इस प्रकार यथार्थ पीतसुवर्ण ज्ञान की तरह ही यह पीतशंख का ज्ञान भी होता है।

यथोक्तम्-

३१. पीतशङ्खावबोधे हि पित्तस्येन्द्रियवर्तिनः।
पीतिमा गृह्यते द्रव्यरहितो दोषतस्तथा॥

३२. शङ्खस्येन्द्रियदोषेण शुक्लिमा न च गृह्यते।
केवलं द्रव्यमात्रं तु प्रथते रूपवर्जितम्॥
३३. गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुणकाङ्क्षिणि।
भासमाने तयोर्बुद्धिरसम्बन्धं न बुध्यते॥
३४. सत्यपीतावभासेन समे भाते मती इमे।
व्यवहारोऽपि तत्तुल्य एवमत्रापि युज्यते॥

(प्रक. प. ४/४८-५१) इति।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—पीत शंख के ज्ञान में नेत्रेन्द्रिय में स्थित होने वाले पित्त की पीतिमा ग्रहण होता है, लेकिन नेत्रदोष के द्रव्य का ग्रहण नहीं होता।

नेत्रेन्द्रिय के दोष के कारण शंख की शुक्लिमा का ग्रहण नहीं होता। केवल रूपरहित द्रव्यमात्र का ग्रहण होता है।

गुण (पीलिमा) को द्रव्य (सुवर्णादि) की अपेक्षा है तथा द्रव्य (शंख) को गुण (शुक्लिमा) की अपेक्षा है। पीलिमा और शंख का भास होते समय उनके असम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता।

ये दोनों ज्ञान सत्य पीतसुवर्ण ज्ञान की तरह ही भासित होते हैं तथा व्यवहार भी समान ही ही होता है, यही बात यहाँ उचित लगती है।

(प्रकरण पञ्चिका, ४.४८-५१)

(१२. 'नेदं रजतम्' की सिद्धि—मीमांसक-मत)

नन्विदं रजतमिति भ्रान्तिज्ञानानभ्युपगमे रजतप्रसक्तेरसत्त्वान्नेदं रजतमिति निषेधः कथं कलधौताभावं बोधयतीति चेत्—नैष दोषः। भेदाग्रहप्रसञ्जितस्य शुक्तौ रजतव्यवहारस्य निषेधस्वीकारेण कल्पनालाघवसद्भावात्।

अनुवाद—(वेदान्ती पुनः यह शंका करते हैं कि) शुक्ति में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को यदि भ्रमज्ञान न माना जाये, तो फिर उस स्थल में वस्तुतः रजत की प्राप्ति का तो अभाव है ही, फिर वहाँ पर यह रजत नहीं है इस प्रकार के निषेध से रजताभाव का बोध कैसे होगा? इस पर प्रभाकर कहते हैं—यह कोई दोष नहीं है। (भेदाग्रह के कारण शुक्ति में रजत का व्यवहार चलता है तथा निषेध के द्वारा उसी व्यवहार का निषेध मान लिया जाता है इसलिये कल्पनालाघव है।

विशेष—वेदान्तियों का कहना है कि भ्रमज्ञान सत्य है, तो फिर नेदं रजतम् इस निषेध से भ्रम ज्ञान दूर कैसे होगा? इस पर प्रभाकर कहते हैं कि 'नेदं रजतम्' इस निषेध से केवल व्यवहार का निषेध हो जाता है।

तदुक्तं पञ्चिकाप्रकरणे—

३५. मिथ्याभावोऽपि तत्तुल्यव्यवहारप्रवर्तनात्।
रजतव्यवहारांशे विसंवादयतो नरात्॥

३६. बाधकप्रत्ययस्यापि बाधकत्वमतो मतम्।
प्रसज्यमानरजतव्यवहारानिवारणात् ॥
(प्रक. प. ४/३८-३९) इति।

तदनेन प्राचीनयोर्ज्ञानयोः सत्यत्वे कथं भ्रमत्वसिद्धिरिति शङ्का पराकृता। अयथाव्यवहारप्रवर्तकत्वेन तदुपपत्तेः।

अनुवाद—जैसा कि प्रकरण पञ्चिका में कहा गया है—सत्य रजत ज्ञान की तरह ही भ्रमज्ञान में व्यवहार होने के कारण विवाद करने वाले लोगों को रजत व्यवहार के अंश में मिथ्याभाव हो सकता है।

जो बाधक ज्ञान है (अर्थात् 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान है) उसकी बाधकता भी इसीलिये मानी जाती है क्योंकि वह बाधक ज्ञान प्राप्त रजत व्यवहार का वारण करता है।

(प्रकरण पञ्चिका ४.३८-३९)

तो इस प्रकार दोनों पूर्वज्ञानों के सत्य होने पर भी भ्रम की सिद्धि कैसे होती है—इस शंका का भी निराकरण हो गया। विशेष व्यवहार के प्रवर्तक के रूप में उसकी उपपत्ति होती है।

विशेष—वेदान्ती लोग रजत व्यवहार के अंश में मिथ्यात्व (मिथ्याभाव) मानते हैं। भ्रमस्थल में 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान रजत व्यवहार का बाधक बनने के कारण बाधक कहलाता है।

(१२ क. प्रभाकर-मत से अभाव का खण्डन)

किं च नेदं रजतमिति बाधकावबोधो नाभावमवगाहते। भावव्यतिरेकेणाभावस्य दुर्ग्रहणत्वात्। यद्येवम्, अङ्ग नास्तीति प्रत्ययस्य किमालम्बनम्? अपरथा माहाभानिकपक्षानुप्रवेश इति चेत्–मैवं भाषिष्ठाः।

अभावस्य धर्मिप्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूप्यत्वेऽवश्याभ्युपगमनीये दृश्ये प्रतियोगिन्यदृश्ये वा स्मर्यमाणेऽधिकरणमात्रबुद्धेरेव 'नास्तीति' व्यवहारोपपत्तावतिरिक्ताभावकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

अनुवाद—(प्रभाकर कहते हैं) और फिर यह भी बात है कि 'यह रजत नहीं है' इत्याकारक बाधक ज्ञान अभाव को विषय नहीं बनाता है। भाव के अतिरिक्त अभाव नामक किसी पदार्थ का ग्रहण हो पाना कठिन है। (वेदान्ती कहते हैं) यदि ऐसी बात है तो, 'नहीं है' (नास्ति) इस ज्ञान का आधार (विषय) क्या है? या फिर आप (प्रभाकर) माध्यमिक बौद्धों के पक्ष में जो रहे हैं। (इस पर प्रभाकर कहते हैं) ऐसा मत कहिये।

अभाव का निरूपण धर्मी तथा प्रतियोगी के निरूपण के अधीन हैं। अभाव का प्रतियोगी जो कि निश्चित रूप से उपलब्ध होता है वह दृश्य हो या फिर अदृश्य, किन्तु उसका स्मरण तो होता है। इस प्रकार मात्र अधिकरण का ज्ञान होने से 'नास्ति' इस व्यवहार

की सिद्धि हो जाती है। इस कारण अलग से 'अभाव' पदार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

विशेष—प्रभाकर मतानुसार अभाव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। उनका कहना है कि अभाव अधिकरण रूप ही होता है। जैसे यदि भूतल पर घटाभाव है तो वह घटाभाव कुछ और नहीं बल्कि भूतल (अधिकरण) रूप है। इसी कारण 'नास्ति' इस व्यवहार की सिद्धि भी होती है।

तदुक्तममृतकलायाम्–

३७. अत्रोच्यते द्वयी संविद्वस्तुनो भूतलादिनः ।
एका संसृष्टविषया तन्मात्रविषया परा ॥

३८. तन्मात्रविषया वापि द्वयी साथ निगद्यते ।
प्रतियोगिन्यदृश्ये च दृश्ये च प्रतियोगिनि ॥

३९. तत्र तन्मात्रधीर्येयं स्मृते च प्रतियोगिनि ।
नास्तित्वं सैव भूभागे घटादिप्रतियोगिनः ॥

(प्रक. प. ६/३७-३९) इति।

अनुवाद—जैसा कि अमृतकला (प्रकरण पञ्चिका ग्रन्थ का एक प्रकरण) में कहा गया है—इस प्रभाकर मत में भूतल आदि वस्तुओं का दो प्रकार का ज्ञान माना गया है। एक ज्ञान संसृष्ट विषयक है (जैसे भूतल घटवान् है) दूसरा ज्ञान केवल उसी को विषय बनाता है (जैसे केवल भूतल का ज्ञान)

तन्मात्र विषयक ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक प्रतियोगी के अदृश्य होने पर और दूसरा प्रतियोगी के दृश्य होने पर।

उसमें तन्मात्र विषयक ज्ञान वह है, जो प्रतियोगी के स्मरण होने पर उत्पन्न होता है। इसे ही घटादि प्रतियोगी का भूतल में अभाव कहा जाता है।

अत एव प्राभाकरमतानुसारिभिः प्रमाणपारायणे प्रत्यक्षादीनि पञ्चैव प्रमाणानि प्रपञ्चितानि। नन्वेवमभावस्याभावे नकारस्य वैयर्थ्यमापद्येत। अनुशासनविरोधश्चापतेदिति चेत्–तद्वेतद्वार्तम्। एकोनपञ्चाशद्वर्णानां मध्ये कस्यापि वर्णस्याभावार्थत्वादर्शनेन वर्णस्य सतो नकारस्य तदर्थत्वानुपपत्तेः।

अनुवाद—इसी कारण प्रभाकर मत के अनुयायियों ने प्रमाण पारायण (प्रकरण पञ्चिका का प्रकरण) में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों को ही माना है।

यदि वेदान्ती यह कहें कि अभाव को न मानने पर नकार की व्यर्थता आ जायेगा और अनुशासन का भी विरोध होगा तो प्राभकरों का कहना है कि यह बात व्यर्थ है। उनचास वर्णों में से किसी भी एक वर्ण का 'अभाव' अर्थ दिखलाई नहीं पड़ता। नकार भी एक वर्ण है, इसलिये उसका 'अभाव' अर्थ ठीक नहीं है।

विशेष—१६ स्वर, २५ स्पर्श, ४ अन्तःस्थ तथा ४ उष्म वर्णों को मिलाकर कुल ४९ वर्ण होते हैं।

न चैवमनुशासनविरोधः। तदन्य-तदभाव-तद्विरुद्धेष्वर्थेषु अनुशासनस्यैवमर्थः स्यात्। तथा हि–चेतनानां मध्ये कश्चन कस्यचिच्छत्रुः कश्चन कस्यचिन्मित्रं, कश्चन कस्यचिदुदासीनः तथैवाचेतनानामपि। तदन्यपदेन तदुदासीनो नकारार्थः। विरुद्धपदेन शत्रुर्नकारार्थः। तदभावपदेन मित्रं नकारार्थः।

अनुवाद—प्रभाकर कहते हैं कि नञ् का 'अभाव' अर्थ न मानने पर अनुशासन का कोई विरोध नहीं है। नञ् के तदन्य, तदभाव तथा तद्विरुद्ध—ये तीन अर्थ मानने पर अनुशासन का यह अर्थ करना पड़ेगा। जैसे कि चेतन पदार्थों के बीच में कोई किसी का शत्रु है, कोई किसी का मित्र है तथा कोई उदासीन है, उसी तरह अचेतनों में भी है। तदन्य पद से नकार का अर्थ होता है—उससे उदासीन। विरुद्ध पद से नकार का अर्थ होता है—शत्रु तथा तदभाव पद से नकार का अर्थ है—मित्र।

तथा चाब्राह्मणपद एवैतत्त्रयं प्रतीयते–शूद्र इत्युदासीनो, यवन इति शत्रुः, क्षत्रिय इति मित्रम्। एवं सर्वत्र नञ्प्रयोगस्थले द्रष्टव्यमिति न कश्चिदभावो भावव्यतिरिक्तः सम्भवति। तस्मादुक्तया रीत्या भ्रमप्रसिद्ध्या विवादाध्यासिताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्, दण्डीति प्रत्ययवदिति सिद्धम्।

अनुवाद—उसी तरह 'अब्राह्मण' पद में ये तीनों अर्थ प्रतीत होते हैं—'शूद्र' यह उदासीन अर्थ है, 'यवन' यह शत्रु अर्थ है, 'क्षत्रिय' यह मित्र अर्थ है। इस प्रकार सर्वत्र नञ् प्रयोग के स्थलों में यह अर्थ देख लेना चाहिये। भाव के अतिरिक्त अभाव नामक कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार उक्त पद्धति से भ्रम की प्रसिद्धि से युक्त जो विवादित ज्ञान हैं, वे सभी यथार्थ हैं, प्रत्यय (ज्ञान) होने के कारण, दण्डी इस प्रत्यय के समान। यह बात सिद्ध हो गयी।

विशेष—अब्राह्मण के तीन अर्थ हैं—

१. ब्राह्मण भिन्न—शूद्रादि (उदासीन)

२. ब्राह्मणविरुद्ध—यवनादि (शत्रु)

३. ब्राह्मण का अभाव—क्षत्रियादि (मित्र)

(१३. मिथ्याज्ञान की सत्ता है शंकर का उत्तरपक्ष)

तदपरे न क्षमन्ते। इह खलु निखिलप्रेक्षावान् समीहिततत्साधनयोरन्यतरप्रवेदने प्रवर्तते। न च रजतमर्थयमानस्य शुक्तिकाशकलज्ञानं तद्रूपमनुभावयितुं प्रभवति। शुक्तिकाशकलस्य समीहिततत्साधनयोरन्यतरभावाभावात्। नापि रजतस्मरणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्। तस्यानुभवपारतन्त्र्यतयाऽनुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्।

अनुवाद—इस बात को अन्य लोग (वेदान्ती) सहन नहीं कर पाते। सभी बुद्धिमान् लोग अभीष्ट वस्तु तथा उस वस्तु के साधन-इन दोनों में से किसी एक के प्रति प्रवृत्त होते हैं। रजत को चाहने वाले किसी व्यक्ति को सीप के टुकड़े के ज्ञान से रजत का अनुभव नहीं हो सकता है। सीप के टुकड़े का ज्ञान न तो अभीष्ट है और न ही अभीष्ट का साधन। पुरोवर्ती शुक्ति में प्रवृत्ति का कारण रजत स्मरण भी नहीं है। स्मरण तो अनुभव के अधीन है, इसलिये अनुभव के स्थान में ही स्मरण की प्रवृत्ति हो सकती है।

नापि भेदाग्रहो व्यवहारकारणम्। ग्रहणनिबन्धनत्वाच्चेतनव्यवहारस्य। ननु न वयमेकैकस्य कारणत्वं ब्रूमहे येनैवमुपालभ्येमहि। किं त्वगृहीतविवेकस्य ज्ञानद्वयस्य प्राप्तसमीचीनपुरःस्थितरजतज्ञानसारूप्यस्येत्यनुक्तोपालम्भोऽयमिति चेत्–तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि–समीचीनरजतावभाससारूप्यं भासमानं प्रवर्तकं सत्तामात्रेण वा?

अनुवाद—न ही भेदाग्रह व्यवहार का कारण है। क्योंकि चेतन लोगों के समस्त व्यवहार ग्रहण के अधीन हैं। यदि मीमांसक यह कहें कि हम लोग—एक-एक वस्तु को तो कारण नहीं मान रहे हैं, जो कि आप लोग हमें इस प्रकार से उलाहना दे रहे हैं। अपितु भेदग्रहण से रहित दो ज्ञानों (स्मरण तथा ग्रहण) को हम लोग कारण मान रहे हैं, जिन ज्ञानों की सम्मुखस्थित सत्य रजत ज्ञान के साथ सरूपता है, इसलिये हमें उलाहना देना ठीक नहीं है। तो इस पर वेदान्ती कहते हैं—यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात दो विकल्प सहन नहीं कर पाती है। सत्य रजत ज्ञान की जो सरूपता प्रवृत्ति का कारण बनती है वह क्या केवल भासित होने के कारण प्रवृत्ति का कारण बनती है या फिर सत्तामात्र से प्रवृत्ति का कारण बनती है।

आद्ये विकल्पे भेदाग्रहापरपर्यायस्य सारूप्यस्य समीचीनसन्निभे इमे ज्ञाने इति विशेषाकारेण गृह्यमाणस्य प्रवृत्तिकारणत्वं किं वानयोरेव स्वरूपतो विषयतश्च मिथो भेदाग्रहो विद्यत इति सामान्याकारेण गृह्यमाणस्य सारूप्यस्य?

अनुवाद—पहला विकल्प मानने पर 'ये दोनों ज्ञान चांदी के सत्य ज्ञान की तरह हैं' इस प्रकार से विशेष आकार में जिस सारूप्य का ग्रहण होता है, जिसका दूसरा पर्याय भेदाग्रहण है, वह सारूप्य प्रवृत्ति का कारण है? या फिर इन दोनों ज्ञानों का स्वरूप से तथा विषय से परस्पर भेद का अग्रहण विद्यमान है ही—इस सामान्य आकार के कारण गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति का कारण बनता है?

विशेष—वेदान्ती पूछते हैं कि सामान्याकार से गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति का कारण है या फिर विशेषाकार से गृहीत सारूप्य प्रवृत्ति का कारण है। इन दोनों ही विकल्पों का आगे के परिच्छेदों में खण्डन किया गया है।

नाद्यः। समीचीनज्ञानवत्तत्सन्निभज्ञानस्य तदुचितव्यवहारप्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। न खलु गोसन्निभो गवय इत्यवभासो गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति।

न द्वितीयः। व्याहतत्वात्। न खल्वनाकलितभेदस्यानयोरिति, अनयोरिति ग्रहे भेदाग्रह इति च प्रतिपत्तिर्भवति। अतः परिशेषात्सत्तामात्रेण भेदाग्रहरूपस्य सारूप्यस्य व्यवहारकारणत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

अनुवाद—पहला विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि सत्य रजतज्ञान की तरह होने वाले ज्ञान के द्वारा रजत में प्रवृत्ति का व्यवहार नहीं हो सकता है।' गवय (नीलगाय) गौ के समान होती है' इस प्रतीति से गो के इच्छुक व्यक्ति की गवय के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती है।

दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है, क्योंकि दूसरा विकल्प खण्डित हो जाता है। जिसमें (ग्रहण और स्मरण में) भेद का ग्रहण ही नहीं किया गया है, उसमें 'अनयोः' (इन दोनों की) इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। 'अनयोः' इस प्रकार का ग्रहण होने पर भी भेदाग्रह की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलिये परिशेषात् केवल सत्तामात्र से ही भेदाग्रह रूप सारूप्य को प्रवृत्ति का कारण मान लेना चाहिये।

एवमेवास्त्विति चेत्–तर्हि इदमिह संप्रधार्यम्। किमयं भेदाग्रहः समारोपोत्पादनक्रमेण व्यवहारकारणमस्तु, उतानुत्पादितारोप एव स्वयमिति। न च द्वितीयः पक्ष एव श्रेयान्। तावतैव व्यवहारोत्पत्तावारोपस्य गौरव-दोषदुष्टत्वादिति मन्तव्यम्। विशिष्टव्यवहारस्य विशिष्टज्ञानपूर्वकत्वनियमेनाज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः।

अनुवाद—यदि मीमांसक यह मान लें कि सत्य रजत ज्ञान की सरूपता की सत्तामात्र ही प्रवृत्ति का कारण है तो वेदान्ती यह कहते हैं कि यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिये कि क्या यह भेदाग्रह समारोप की उत्पत्ति के क्रम से व्यवहार का कारण है या फिर आरोप की उत्पत्ति के बिना स्वयं ही व्यवहार का कारण है।

दूसरा पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि उतने से ही व्यवहार की सिद्धि हो जाती है और फिर आरोप तो गौरव दोष से दूषित है—यह मान लेना चाहिये। विशिष्ट व्यवहार तो विशिष्ट ज्ञान के बाद ही होता है, इसलिये अज्ञान (भेदाग्रह) के बाद विशिष्ट व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकती।

(१३ क. रजत का सीपी पर आरोप)

नन्वयं व्यवहारो नाज्ञानपूर्वक इत्यनाकलितपराभिसन्धिः स्वसिद्धान्त-सिद्धार्थाद् यदि कश्चिच्छङ्केत, स प्रतिवक्तव्यः।

शुक्तिकाविषयस्य ग्रहणस्यासमीहितविषयत्वेन रजतार्थिप्रवृत्तिहेतुत्वा-सम्भवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां रजतज्ञानस्य समीहितविषयत्वेन प्रवृत्तिहेतुत्वसम्भ-वाच्चेदमर्थाभिसम्भिन्नग्रहविविक्तस्यापि रजतस्मरणस्य कारणत्वं वक्तव्यम्।

अनुवाद—यदि मीमांसक अपने सिद्धान्त के सिद्धार्थ के अनुसार यह कहें कि यह व्यवहार अज्ञानपूर्वक नहीं है इसलिये वेदान्तियों के मत का ध्यान नहीं रखना चाहिये, तो इसका यह उत्तर देना चाहिये।

जो शुक्तिका विषयक ग्रहण है, वह अभीष्ट विषयक नहीं है, इसलिये रजत के इच्छुक व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और अन्वय व्यतिरेक से यह बात सिद्ध होती है कि रजत ज्ञान अभीष्ट विषयक है इसलिये वह प्रवृत्ति का कारण है। इस प्रकार 'इदं' अर्थ से युक्त अनुभव (अर्थात् सत्य रजत स्थल में 'इदं रजतम्' इस अनुभव) से पृथक् होने पर भी (शुक्ति रजत स्थल में) रजत स्मरण को ही प्रवृत्ति का कारण मानना चाहिये।

तच्च वक्तुं न शक्यते। जानाति इच्छति ततः प्रवर्तत इति न्यायेन ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्। तथा चेदंकारास्पदाभिमुखप्रवृत्तस्य रजतार्थिनस्तदिच्छानिबन्धनम्। अन्यथा अन्यदिच्छन्नन्यद् व्यवहरतीति व्याहन्येत। तथा च यदीदंकारास्पदं रजतावभासगोचरतां नाचरेत्कथं रजतार्थी तदिच्छेत्। यद्यरजतत्वाग्रहणादिति ब्रूयात् रजतत्वाग्रहात्कस्मादयं नोपेक्षेतेति।

अनुवाद—वेदान्ती कहते हैं कि यह कहानी भी सम्भव नहीं है। जानता है, इच्छा करता है, फिर प्रवृत्त होता है—इस न्याय से ज्ञान, इच्छा तथा प्रवृत्ति का विषयक एक ही होना चाहिये। इस प्रकार शुक्ति को देखकर 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में इदं पद के द्वारा प्रतीत वस्तु की ओर प्रवृत्त जो रजतार्थी व्यक्ति है उसकी प्रवृत्ति का कारण उसकी रजत इच्छा ही है। नहीं तो 'अन्य वस्तु की इच्छा और अन्य वस्तु की प्रति व्यवहार (प्रवृत्ति)' इस नियम का व्याघात होगा। (शुक्ति रजत स्थल में 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में) 'इदं' यदि रजतज्ञान को विषय ही नहीं बनाता है, तो फिर रजतार्थी की वहाँ प्रवृत्ति कैसे होती है? यदि मीमांसक कहें कि 'इदं' यह रजत से भिन्न है, इसलिये ऐसा ग्रहण नहीं होता तो वेदान्ती कहते हैं कि चूँकि सान्निहित वस्तु का रजत के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिये उसकी उपेक्षा कोई क्यों नहीं करेगा।

युपपत्तद्भव–भेदाग्रहाभेदाग्रह–निबन्धनाभ्यामुपादानोपेक्षाभ्यां पुरतः पृष्ठतश्चाकृष्यमाणः पुरुषो दोलायमानतया रूप्यारोपमन्तरेणोपादानपक्ष एव न व्यवस्थाप्यत इत्यनिच्छताऽप्यच्छमतिना समारोपः समाश्रयणीयः।

यथाह–भेदाग्रहादिदंकारास्पदे रजतत्वमारोप्य तज्जातीयस्योपकारहेतुभावमनुस्मृत्य तज्जातीयत्वेनास्यापि तदनुमाय तदर्थी प्रवर्तत इति प्रथमः पक्षः प्रशस्यः।

अनुवाद—एक ही साथ शुक्ति—रजत स्थल में उत्पन्न भेदाग्रह तथा अभेद ज्ञान-इन दोनों पर आधारित उपादान और उपेक्षा के कारण आगे-पीछे खींचा जा रहा पुरुष दोलायमान होते हुए तब तक प्रवृत्त नहीं हो सकता, जब तक कि शुक्ति में रजत का आरोप नहीं मान लिया जाता। इसलिये न चाहते हुए भी स्वच्छ बुद्धि वाले व्यक्ति को आरोप मानना पड़ेगा।

जैसा कि कहा गया है—भेदाग्रह के कारण 'इदम्' शब्द के द्वारा रजत का आरोप करके तथा रजत जातीयक पदार्थ उपकार का कारण है—इस बात का स्मरण करते हुए उसी जाति का होने के कारण इसके उपकार का कारण भी वही है—ऐसा अनुमान करके रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है—यह प्रथम पक्ष ही ठीक है।

विशेष—यहाँ अनुमान इस प्रकार से होता है—

प्रतिज्ञा—सामने स्थित वस्तु उपकारक है।

हेतु—क्योंकि वह रजत है।

उदाहरण—जैसे पूर्वानुभूत रजत

न च तटस्थरजतस्मरणपक्षेऽपि हेतोर्गृहीतत्वेनायं मार्गः समान इति वाच्यम्। रजतत्वस्य हेतोः पक्षधर्मत्वाभावात्। न च पक्षधर्मताया अभावेऽपि व्याप्तिबलाद्गमकत्वं शङ्क्यम्। व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गस्यैव गमकत्वाङ्गीकारात्।

अनुवाद—यह भी नहीं कहना चाहिये कि तटस्थ रजत स्मरण पक्ष में भी (अर्थात् भ्रम भिन्न स्थल में पूर्वानुभूत रजत के स्मरण पक्ष में) हेतु का ग्रहण करने से यह मार्ग भी उसके जैसा ही है। क्योंकि रजतत्व हेतु में पक्षधर्मता का अभाव है। यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि पक्षधर्मता न रहने पर भी व्याप्ति केवल से हेतु को गमक मानना चाहिये। क्योंकि व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त लिङ्ग (हेतु) को ही गमक माना जाता है।

तदाहुःशबरस्वामिनः-ज्ञातसम्बन्धस्यैव पुंसो लिङ्गविशिष्टधर्म्येकदेश-दर्शनाल्लिङ्गिविशिष्टधर्म्येकदेशबुद्धिरनुमानमिति। आचार्योऽप्यवोचत्-

४०. स एष चोभयात्मा यो गम्ये गमक इष्यते।
असिद्धेनैकदेशेन गम्यासिद्धेर्न बोधकः॥ इति।

अनुवाद—यही बात शबर स्वामी ने कही है—जिस व्यक्ति को साध्य और साधन के बीच सम्बन्ध का ज्ञान है, उस व्यक्ति को लिंग विशिष्ट धर्मी के एक भाग को देखने से लिङ्गीविशिष्ट धर्मी के एक भाग का ज्ञान होना अनुमान है। आचार्य ने भी कहा है—

गम्य (साध्य) के लिये जो गमक (हेतु) लिया जाता है, वह उभयात्मक होता है (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त होता है) इन दोनों में एक भी भाग के असिद्ध होने पर गम्य (साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये हेतु (गमक) भी बोधक नहीं हो सकता।

(१४. आरोप के विषय में शंका समाधान)

ननु भवत्पक्षेऽपि पुरःस्थितस्येदमर्थस्य परमार्थतो रजतत्वं नास्तीति न रजतत्वं धर्म्येकदेश इति चेन्न। यक्षानुरूपो बलिरितिन्यायेनानुमित्याभासानुगुण-स्यैकदेशस्य विद्यमानत्वात्। तथा च प्रयोगः-

विवादाध्यासितं रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात्। यदुक्तसाधनं तदुक्तसाध्यम्, यथोभयदादिसम्मतं सत्यरजतज्ञानम्।

विवादपदं शुक्तिशकलं रजतज्ञानविषयोऽव्यवधानेन रजतार्थिप्रवृत्तिविषयत्वाद्रजतपदसमानाधिकरणपदान्तरवाच्यत्वाद्वा वस्तुरजतवत्।

अनुवाद—यदि कोई यह शंका करे कि आपके पक्ष में भी सामने स्थित 'इदम्' पदार्थ वास्तविक रूप में नहीं है और न ही 'रजतत्व' धर्मी का एक भाग है तो यह शंका करना भी ठीक नहीं है।

'यक्ष के अनुसार बलि दी जाती है' इस न्याय से अनुमिति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि धर्मी का एक भाग विद्यमान है। जैसा कि प्रयोग है—

विवादित रजतज्ञान पुरोवर्तिविषयक है, क्योंकि रजतार्थी की वहाँ निश्चित रूप से प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार का साधन है, उसका साध्य भी उसी तरह का होगा। जैसे—दोनों वादियों के द्वारा स्वीकृत सत्य रजत का ज्ञान।

विवादित शुक्तिशकल रजतज्ञान का विषय है, क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उस ओर होती है या वह शुक्ति शकल रजत पद के समानाधिकरण दूसरे पद 'इदम्' का वाच्य है, जिस प्रकार वास्तविक चाँदी।

(१४ क. मीमांसकों के तर्कों का उत्तर)

यदुक्तं रजतज्ञानस्य शुक्तिकालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति तदप्ययुक्तम्। विकल्पासहत्वात्। तथा हि–तत्र किं रजताकारप्रतीतिं प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोध उद्भाव्यते इदमंशस्य वा?।

नाद्यः। अनङ्गीकारपराहतत्वात्। न द्वितीयः। इदन्तानियतदेशाधिकरणस्य चाकचिक्यविशिष्टस्य वस्तुतो रजतज्ञानालम्बनत्वमनवलम्बमानस्य भवत एवानुभवविरोधात्। इदं रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपूर्वकमुपादानादिव्यवहारदर्शनाच्च।

अनुवाद—जो यह कहा गया कि रजत ज्ञान को यदि सीपी पर आधारित मान लिया जाये, तो अनुभव का विरोध होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ये दो विकल्पों को सहन नहीं कर पाता। जैसे कि—रजताकार की प्रतीति शुक्ति पर आधारित होती है, क्या इस विषय में अनुभव का विरोध होता है? या फिर रजताकार की प्रतीति इदं अंश पर आधारित होती है, क्या इस विषय में अनुभव का विरोध होता है? पहला विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि हम अनुभव विरोध मानते ही नहीं है, इसलिये पहला विकल्प स्वतः ही खण्डित हो गया। दूसरा विकल्प भी नहीं है। क्योंकि शुक्तिरजत स्थल में जिस वस्तु का आधार 'इदं' अंश से निश्चित स्थान ही है तथा जो वस्तु चाकचिक्य से युक्त है उस वस्तु को रजत ज्ञान का आधार न मानने वाले आप लोगों को ही अनुभव

विरोध होता है। क्योंकि 'इदं रजतम्' इस सामानाधिकरण्य से पुरोवर्ती शुक्ति में अंगुलि निर्देश पूर्वक उपादान (ग्रहण) आदि का व्यवहार होता है।

यच्चोक्तम्–दोषाणामौत्सर्गिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिबन्धकतया विपरीतकारित्वं नास्तीति। तदप्ययुक्तम्। दावदग्धवेत्रबीजादौ तथा दर्शनात्। न च दग्धस्य वेत्रबीजत्वं नास्तीति मन्तव्यम्। श्यामस्य घटस्य रक्ततामात्रेण घटत्वनिवृत्तिप्रसङ्गात्।

ननु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुवृत्तयोः प्रत्ययप्रयोगयोः सद्भावाद् घटत्वस्य सद्भाव इति चेत्–न। अत्रापीदं वेत्रबीजमिति तयोः समानत्वात्।

अनुवाद—जो यह कहा गया है कि दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति पर केवल प्रतिबन्ध लगा देते हैं, इसलिये वे विपरीत कार्य नहीं कर सकते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि दावाग्नि से जले हुए बेत्र के बीज में यह शक्ति देखी जाती है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि जल जाने पर वेत्र में बीजत्व ही नहीं है। अन्यथा श्याम घट को यदि लाल बना दिया जाये तो उसका घटत्व ही समाप्त होने का प्रसंग आ जायेंगा।

यदि यह कहें कि यह घट है, यह घट है—इस प्रकार से अनुवृत्त प्रत्यय के प्रयोग से घटत्व का आस्तित्व है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उदाहरण में यह वेत्रबीज है इस प्रकार की अनुवृत्ति समान रूप से होती है।

विशेष—दावाग्नि से जल जाने पर भी वेत्रबीज तो वेत्रबीज ही रहता है। जिस प्रकार श्याम घट को रक्त घट बना देने पर भी घटत्व तो रहता ही है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि घट में तो अनुवृत्त प्रत्यय होने के कारण सकता है, तो फिर वेत्रबीज में भी तो अनुवृत्त प्रत्यय होता ही है।

तथा भस्मकदोषदूषितस्य जाठराग्नेर्बह्वन्नपचनसामर्थ्यं दृश्यते। न च बह्वन्नपचनसामर्थ्यं जाठरस्यैव जातवेदसो न भस्मकव्याधेरिति वक्तुं युक्तम्। तस्य मन्दमल्पपचनसामर्थ्येऽपि सहसा महत्पचनस्य भस्मकव्याधिसाहायकमन्तरेणानुपपत्तेः। अन्यथा सर्वेषां तथापत्तेः।

अनुवाद—उसी प्रकार भस्मक रोग से दूषित जठराग्नि वाले व्यक्ति को बहुत सा अन्न पचाने का सामर्थ्य दिखलाई पड़ता है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि बहुत सा अन्न पचाने का सामर्थ्य तो जाठराग्नि का है, न कि भस्मक रोग का। जठराग्नि तो थोड़ा अन्न पचाने में समर्थ है, फिर भी भस्मक रोगी की सहायता के बिना वह जाठराग्नि एकाएक बहुत सारे अन्न को नहीं पचा सकती। अन्यथा सभी विषयों पर यह आपत्ति आयेगी।

किं च ज्ञानानां यथार्थव्यवहारकारणत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारकारणत्वमङ्गीकुर्वाणो भवानेव पर्यनुयोज्यो भवति। तदुक्तं भाष्ये–'यश्चोभयोः समानो दोषो द्योतते तत्र कश्चोद्यो भवतीति'। अत्राप्युक्तम्–

४१. यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥ इति।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त ज्ञान यद्यपि यथार्थ व्यवहार का कारण है, फिर भी दोष के कारण ज्ञान को अयथार्थ व्यवहार का भी कारण मानने वाले आप लोग (मीमांसक) स्वयं ही पकड़े जाते हैं। यही बात भाष्य में कही गयी है—जब दोनों में समान दोष दिखलाई पड़ता है, तब किसी एक को ही लांछन दिया जाये। यहाँ भी कहा गया है—

जब दोनों पक्षों में एक जैसा दोष हो और उसका परिहार भी समान हो, तो उस प्रकार के पदार्थ के विचार में किसी एक पर लांछन लगाना ठीक नहीं है।

तथापि मामकस्यानुमानस्य किं दूषणं दत्तमासीत्? यद्यनुमानदूषणं विना न परितुष्यति, हन्त, कालात्ययापदिष्टता। कृष्णवर्त्मानुष्णत्वानुमानवत्। एतावन्तं कालं यदिदं रजतमित्यभादसौ शुक्तिरिति प्रत्यक्षेण प्राचीनप्रत्ययस्यायथार्थत्वं प्रवेदयता यथार्थत्वानुमानस्यापहृतविषयत्वाद् बाध्यत्वसम्भवात्।

अनुवाद—फिर भी हमारे अनुमान पर आप लोगों ने क्या दोष दिया था? यदि आप लोग अनुमान में दोष बिना दिये सन्तुष्ट नहीं होते हैं, तो कष्ट है। आपके अनुमान में कालात्ययापदिष्ट या बाधित हेत्वाभास है। जिस प्रकार अग्नि के अनुष्णत्व का अनुमान। इतने समय तक यह पदार्थ रजत के रूप में प्रतीत हो रहा था, इसलिये यह शुक्ति है, इस प्रत्यक्ष से प्राचीन ज्ञान की अयथार्थ तो सिद्ध होती है। इसलिये यथार्थत्व के अनुमान का विषय अपहृत हो जाता है। इसलिये वह बाध्य हो सकता है।

यच्चोक्तं स्वगोचरव्यभिचारे सर्वानाश्वासप्रसङ्ग इति। तदसाम्प्रतम्। संविदां क्वचित्संवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेद इति, तथा तावकेऽपि मते तथा मामकेऽप्यसौ पन्था न वारित इति समानयोगक्षेमत्वात्।

तौतातितमतमवलम्ब्य विधिविवेकं व्याकुर्वाणैराचार्यवाचस्पतिमिश्रै-र्बोधकत्वेन स्वतः प्रामाण्यं न व्यभिचारेणेति न्यायकणिकायां प्रत्यपादि। तस्मादविश्वासशङ्का अनवकाशं लभते।

अनुवाद—आपने जो यह कहा कि ज्ञान में अपने विषय का व्यभिचार मानें, तो सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति रूक जायेगी, यह कहना भी ठीक नहीं है। ज्ञानों के द्वारा कहीं-कहीं संवादी व्यवहार उत्पन्न होता है, फिर भी संवादी व्यवहार की शंका से दूर जगह प्रवृत्ति का उच्छेद नहीं हो जाता। आपके भी मत में और हमारे भी मत में इस मार्ग को रोका नहीं गया है, क्योंकि दोनों के मत में योग क्षेम समान है।

तौतातिक मत (कुमारिल भट्ट का मत) का अनुसरण करते हुए विधि विवेक की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने न्यायकणिका में प्रतिपादित किया है कि वेद (विधि) कर स्वतः प्रामाण्य उनके बोधक होने के कारण है, न कि व्यभिचार होने के कारण। इसलिये अविश्वास की शंका का कोई स्थान ही नहीं है।

विशेष—आचार्य मण्डन मिश्र के 'विधिविवेक' ग्रन्थ के ऊपर वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायकणिका' टीका लिखी है, जिसका उद्धरण यहाँ दिया गया है।

(१५. माध्यमिक बौद्धों का खण्डन- भ्रमविचार)

ननु माध्यमिकमतावलम्बनेन रजतादिविभ्रमालम्बनमसदिति चेत्–तदुक्तम्। असतोऽपरोक्षप्रतिभासायोग्यत्वात्। तदुपादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च।

ननु विज्ञानमेव वासनादिस्वकारणसामर्थ्यासादितदृष्टान्तसिद्धस्वभाव-विशेषमसत्प्रकाशनसमर्थनमुपजातम्। असत्प्रकाशनशक्तिरविद्या संवृतिरिति पर्यायाः। तस्मादविद्यावशादसन्तो भान्तीति चेत्–तदपि वक्तुमशक्यम्।

अनुवाद—यदि यह कहें कि माध्यमिक मत का अवलम्बन करने से रजत आदि के भ्रम को आधार मानना असत् है तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि असत् वस्तु में प्रत्यक्ष प्रतीत होने की योग्यता नहीं है। इसलिये असत् वस्तु को ग्रहण करके की इच्छा से प्रवृत्ति भी अनुपपन्न है।

यदि यह कहें कि विज्ञान ही अपने वासनादि कारणों के सामर्थ्य से प्राप्त दृष्टान्त से सिद्ध एक विशेष स्वभाव है जो कि असत् पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ है और असत् का प्रकाशन करने की शक्ति अविद्या है, 'संवृति' उसी का पर्याय है। इसलिये अविद्या के कारण असत् वस्तु भी भासित होती है। यह मानना भी ठीक नहीं है।

शक्यस्य दुर्निरूप्यत्वात्। किमत्र शक्यं कार्यं ज्ञाप्यं वा? नाद्यः। असतः कारणत्वानुपपत्तेः। न द्वितीयः। शक्यस्य कारणत्वेनाङ्गीकृतत्वात्। ज्ञानादन्य-स्याज्ञानस्यानुपलब्धेश्च। उपलब्धौ वा तस्यापि ज्ञाप्यत्वेन ज्ञापकान्तरापेक्षायामन-वस्थापत्तेश्च।

अनुवाद—शक्य घटादि पदार्थ का निरूपण करना ही कठिन है। क्या यहाँ शक्य पदार्थ कार्य है या ज्ञाप्य है? पहला विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि असत् वस्तु शक्य कार्य का कारण नहीं बन सकती। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि शून्य पदार्थ को तो कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। (न कि ज्ञाप्य के रूप में) दूसरी बात यह है कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा मानें तो उस अज्ञान को भी ज्ञाप्य मानना पड़ेगा और उसे किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष आयेगा।

विशेष—असत् पदार्थ का प्रकाशन करने की शक्ति जिसमें है, वह ज्ञान शक्त कहलाता है तथा इस ज्ञान से प्रकाश्य पदार्थों को शक्य कहते हैं।

अथैतद्दोषपरिहीर्षया विज्ञानं सद्रूपमेवासतः प्रकाशकमिति कक्षीक्रियत इति चेत्–अत्र देवानांप्रियः प्रष्टव्यः पुनः। असौ सदसतोः सम्बन्धो निरूप्यनिरू-पकभावोऽविनाभावो वा?

नाद्यः। असत उपकाराधारत्वायोगेनानुपकृततया निरूप्यत्वानुपपत्तेः। न चरमः। धूमधूमध्वजयोरिव तदुत्पत्तिलक्षणस्य, शिंशपावृक्षयोरिव तादात्म्यलक्षणस्य वा, अविनाभावनिदानस्य सदसतोरसम्भवात्। तस्माद्विज्ञानमेवासत्प्रकाशकम्-इत्यसद्वादिनामयमसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत्।

अनुवाद—अब यदि आप लोग इस अनवस्था दोष का परिहार करने के लिये यह मानते हैं कि विज्ञान सद्रूप होते हुए ही असत् पदार्थ का प्रकाशक है तो इस देवानांप्रिय (मूर्ख) से पूछना होगा कि यह सत् तथा असत् का सम्बन्ध निरूप्य निरूपक भावरूप है या अनिनाभावरूप?

पहला विकल्प सम्भव नहीं है। असत् पदार्थ उपकार का आधार नहीं बनता, इसलिये उपकृत न होने से वह निरूप्य नहीं बन सकता है।

दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार धूम एवं अग्नि में तदुत्पत्ति सम्बन्ध (कार्यकरण भाव सम्बन्ध) है तथा शिंशपा एवं वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध है, उस प्रकार से सत् तथा असत् के बीच अविनाभाव कराने वाला कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार असत्वादियों का यह असत् प्रलाप है कि विज्ञान ही असत् का प्रकाशक है। इसलिये आरोप्यमाण वस्तु असत् नहीं है।

विशेष—अविनाभाव के कारण रूप में दो सम्बन्ध होते हैं—तदुत्पत्ति और तादात्म्य।

(१५ क. विज्ञानवादियों का खण्डन- भ्रमविचार)

ननु विज्ञानवादिनयानुसारेण प्रतीयमानं रजतं ज्ञानात्मकम् तत्र च युक्तिरभिधीयते-यद्यथानुभूयते तत्तथा। अन्यथात्वं तु बलबद्बाधकोप-निपातादास्थीयत इत्युभयवादिसम्मतोऽर्थः। तत्र च नेदं रजतमिति निषिद्धेदंभावं रजतमर्थादान्तरज्ञानरूपमवतिष्ठते। न चेदन्तया निषेधे सति अनिदन्तया च बहिरपि व्यवस्थोपपत्तेः कुतः संविदाकारतेति वाच्यम्। व्यवहितस्यापरोक्षत्वानुपपत्तावपरोक्षस्य विज्ञानस्य कक्षीकर्त्तव्यत्वात्। तथा च प्रयोगः-विवादपदं विज्ञानाकारः, सम्प्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्, विज्ञानवदिति।

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि विज्ञानवादी के मतानुसार प्रतीत होने वाला रजत ज्ञानात्मक है। इस सम्बन्ध में यह युक्ति कही जाती है कि जिस वस्तु का जैसा अनुभव होता है, वह वस्तु वैसी ही होती है। किसी वस्तु का अन्यथात्व तो बलवान् बाधक के उपादान से सिद्ध होता है, यह उभयवादी को सम्मत है। उसमें 'यह रजत नहीं है' (वेदं रजतम्) यहाँ 'इदम्' शब्द से रजत का निषेध किया गया है अर्थात् रजत आन्तरिक ज्ञान के रूप में अवस्थित है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि 'इदं' के द्वारा रजत का निषेध करने पर भी 'नेदम्' के द्वारा बहिर्जगत् में रजत की व्यवस्थिति मानी जा सकती है,

इसलिये रजत को विज्ञानाकार कैसे माना जा सकता है? व्यवहित ज्ञान को अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) नहीं माना जा सकता, इसलिये अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) विज्ञान को मानना ही पड़ता है। जैसा कि अनुमान प्रयोग होता है—विवादित वस्तु विज्ञानाकार है, क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही यह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है, जिस प्रकार विज्ञान।

तदनुपपन्नम्। विकल्पासहत्वात्। बाधकोऽवबोधः किं साक्षाज्ज्ञानाकारतां बोधयत्यर्थाद्वा? नाद्यः। नेदं रजतमिति प्रत्ययस्य रजतविवेकमात्रगोचरस्य ज्ञानाभेदगोचरतायामनुभवविरोधात्।

नेदं रजतमिति रजतस्य पुरोवर्तित्वप्रतिषेधो ज्ञानाकारतां कल्पयतीति चेत्-तदेतद्वार्तम्। प्रसक्तप्रतिषेधात्मनो बाधकावबोधस्य तत्रैव सत्त्वात्प्रतिषेधोपपत्तेः। विज्ञानाकारत्वसाधनमप्यविज्ञानाकारे बहिष्ठे साक्षिप्रत्यक्षे भावरूपाज्ञाने वर्तत इति सव्यभिचारः।

अनुवाद—(सिद्धान्त) सिद्धान्ती कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यह दो प्रकार का विकल्प सहन नहीं कर पाता है। बाधक ज्ञान क्या साक्षात् (शब्दतः) ज्ञानाकारता का बोध कराता है? या फिर अर्थतः ज्ञानाकारता का बोध कराता है?

पहला विकल्प ठीक नहीं है। 'यह रजत नहीं है' यह ज्ञान केवल रजतभेद को विषय बनाता है इसलिये यदि रजत ज्ञान के साथ अभेद मानें तो अनुभव का विरोध होगा।

यदि यह कहें कि 'यह रजत नहीं है' यहाँ जो रजत के पुरोवर्तित्व का निषेध हो रहा है उसी से ज्ञानाकारता का भी बोध होता है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है। प्रसक्त प्रतिषेध रूप जो बाधकज्ञान है, वह वहीं पर है इसलिये प्रतिषेध की उपपत्ति हो जाती है। पूर्वपक्षी द्वारा दिये गये पूर्वकथित अनुमान प्रयोग में विज्ञानाकारता को सिद्ध करने के लिये जो साधन दिया गया था 'इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होना' यह साधन (हेतु) विज्ञानाकार से रहित जो बाह्यस्थित साक्षिप्रत्यक्ष है, अर्थात् जो भावरूप अज्ञान है, उसमें भी रहता है, इसलिये यहाँ सव्याभिचार हेत्वाभास है।

(१५ ख. नैयायिकों की अन्यथाख्याति का खण्डन)

नन्वन्यथाख्यातिवादिमतानुसारेण रजतस्य देशान्तरसत्त्वेन भाव्यम्। अन्यथा तस्य प्रतिषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तेः। न हि कश्चित्प्रेक्षावाञ्शशविषाणं प्रतिषेद्धुं प्रभवति। तदुक्तम्-

४२. व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुतः प्रतियोगिता॥

(न्या.कु. ३/२) इति।

अनुवाद—यदि यह कहें कि अन्यथाख्यातिवादी (नैयायिक) के मतानुसार रजत को तो दूसरे देश (स्थान) में रहना चाहिये। अन्यथा यह रजत प्रतिषेध का प्रतियोगी कैसे

बनेगा? कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शशविषाण (खरगोश के सींग) का निषेध नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है—

व्यावर्त्य का अभाव होना ही विशेष्यता है तथा अभाव का विरह होना वस्तु की प्रतियोगिता है। (न्यायकुसुमाञ्जलि ३.२)

इसलिये यदि नैयायिकों के अनुसार यदि रजत की सत्ता दूसरे स्थान पर मानी जाये, तो यह भी प्रमाण कोटि में नहीं आता। अविद्यमान संसर्ग निषेध की तरह ही चाँदी को भी निषेध का प्रतियोगी माना जा सकता है।

(१६. 'इदं रजतम्' में ज्ञान की एकता–शंका और समाधान)

नन्विदं रजतमिति ज्ञानमेकमनेकं वा? न तावदाद्यः। अपसिद्धान्तापत्तेरसम्भवाच्च। तथा हि–शुक्तीदमंशेन्द्रियसम्प्रयोगदिदमाकारान्तःपरिणामरूपमेकं ज्ञानं जायते। न च तत्र कलधौतं विषयभावमाकल्पयितुमुत्सहते। असम्प्रयुक्तत्वात्तस्य विषयत्वाङ्गीकारे सर्वज्ञत्वापत्तेः।

अनुवाद—यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'इदं रजतम्' यह ज्ञान एक है या अनेक है? इसमें पहला विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि अपसिद्धान्त की प्राप्ति होती है और ऐसा मानना सम्भव भी नहीं है। शुक्ति के रूप में जो 'इदं' अंश है, उसके द्वारा इन्द्रियों के सन्निकर्ष के माध्मय से इदमाकार के रूप में परिणामरूप एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान में 'रजत' विषय के रूप में नहीं बन सकता। क्योंकि रजत का ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा नहीं हुआ है और यदि रजत को ज्ञान का विषय मान लें तो जीव के सर्वज्ञत्व की आपत्ति आयेगी।

न च चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तज्ज्ञानस्य तज्जन्यत्वं वाच्यम्। इदमंशज्ञानौत्पत्तौ तदुपक्षयोपपत्तेः। न चापि संस्काराद्रजतज्ञानस्य जन्म। स्मृतित्वापत्तेः। अथेन्द्रियदोषस्य तत्करणत्वम्। तदप्ययुक्तम्। स्वातन्त्र्येण तस्य ज्ञानहेतुत्वानुपपत्तेः। न हि ग्रहणस्मरणाभ्यामन्यः प्रकारः समस्ति। तस्मादिदमंशरजततादात्म्यविषयकमेकं विज्ञानं न घटते। नाप्यनेकम्, अख्यातिमतापत्तेरिति चेत्–

अनुवाद—यह भी नहीं कहना चाहिये कि चक्षु के साथ रजत ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक होने से रजत ज्ञान को चक्षु से उत्पन्न मान लें। क्योंकि ऐसा मानने से 'इदं' अंश के ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षु की अनुपयोगिता सिद्ध होगी। यह भी नहीं कहना चाहिये कि संस्कार से रजतज्ञान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि ऐसी दशा में उसे स्मृतिरूप मानना पड़ेगा। यदि कहें कि इन्द्रिय दोष रजत ज्ञान का कारण है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय दोष को स्वतन्त्र रूप से ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता है। ग्रहण तथा स्मरण के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रकार भी नहीं है। इसलिये कथमपि 'इदं' अंश तथा रजत के तादात्म्य के विषय में एक ज्ञान होना सम्भव नहीं है। न ही अनेक ज्ञान हो सकते हैं, क्योंकि अख्यातिवाद के दोष आ [illegible]ंगे।

उच्यते-प्रथमं दोषकलुषितेन चक्षुषेदन्तामात्रविषयान्तः-करणवृत्तिरुत्पद्यते। अनन्तरं तथा वृत्त्या चैतन्यावरणाभिभवे सति तच्चैतन्यमभिव्यज्यते। पश्चादिदमंशचैतन्यनिष्ठा अविद्या रागादिदोषकलुषिता कलधौताकारेण परिणमते। इदमाकारान्तः-करणपरिणामावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठा कलधौतगोचरपरिणामसंस्कारसचिवा कलधौतज्ञानाभासाकारेण परिणमते।

अनुवाद—इसका उत्तर देते हैं—पहले दोष से दूषित नेत्रों के द्वारा 'इदंभाव' के विषय में अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके बाद उस वृत्ति से चैतन्य का आवरण ढक जाने पर उस चैतन्य वृत्ति का अभिव्यंजन होता है। उसके बाद इदमंश के चैतन्य में निष्ठ तथा रागादि दोषों से कलुषित अविद्या रजताकार के रूप में परिणामित होती है। इदं के आकार में स्थित अन्तःकरण के परिणाम से अवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली वृत्ति रजतविषयक परिणाम (वृत्ति) के संस्कार के साथ मिलकर रजतज्ञान के आभास के रूप में परिणत होती है।

तौ च रजतवृत्तिपरिणामौ स्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनाव्यवधानेन भास्येते। तथा च सवृत्तिकाया अविद्यायाः साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमे वृत्त्यन्तरवेद्यत्वाभावान्नानवस्था।

यद्यप्यन्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति द्वे इमे ज्ञाने, तथापि विषयाधीनं फलम्। ज्ञातो घट इति विषयावच्छिन्नतया फलप्रतीतेः। तद्विषयश्च सत्यमिथ्याभूतयोरिदमंशरजतांशयोरन्योन्यात्मकतया एकत्वमापन्नः। तस्माद्विषयावच्छिन्नफलस्याप्येकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते।

अनुवाद—ये दोनों रजत परिणाम तथा वृत्ति परिणाम अपने-अपने अधिष्ठान स्वरूप साक्षिचैतन्य के द्वारा बिना किसी व्यवधान के भासित होते हैं। इस प्रकार वृत्ति से युक्त अविद्या का भास्यत्व मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दूसरी वृत्ति के द्वारा ज्ञेय नहीं है, इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता है।

यद्यपि अन्तःकरण की वृत्ति तथा अविद्या की वृत्ति—ये दो ज्ञान हैं फिर भी फल तो विषय के अधीन रहता है। 'घट का ज्ञान हुआ' इस प्रतीति में विषय से अवच्छिन्न होकर ही फल की प्रतीति हो रही है। यहाँ सत्यभूत इदम् अंश तथा मिथ्याभूत रजतांश—इन दोनों की अन्योन्यात्मकता के कारण ही विषय की भी एकता हो गयी है। इसलिये विषयावच्छिन्न फल की एकता के कारण ज्ञान की भी एकता का औपचारिक (गौण) व्यवहार होता है।

तदुक्तम्-

४३. शुक्तीदमंशचैतन्यस्थिताविद्या विजृम्भते।
रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना।

४४. इदमाकारवृत्त्यक्तचैतन्यस्था तथाविधा।
विवर्तते तद्रजतज्ञानाभासात्मनाप्यसौ।

४५. सत्यमिथ्यात्मनोरैक्यादेकस्तद्विषयो मतः।
तदायत्तफलैकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते ॥ इति।

पञ्चपादिकायामपि 'फलैक्याज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते'—इत्यभिप्रायेण 'सा चैकमेव ज्ञानमेकफलं जनयति' इत्युक्तम्।

अनुवाद—जैसा कि कहा गया है—शुक्ति में स्थित 'इदम्' अंश के चैतन्य में रहने वाली अविद्या रागादि दोषों के संस्कार के साथ ही साथ रजत के रूप में परिणमित होती है॥४३॥

इसी प्रकार इदमाकार की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली वैसी ही अविद्या रजत ज्ञान की प्रतीति के रूप में विवर्तित होती है॥४४॥

सत्य और मिथ्या के रूप में दोनों ज्ञानों में एकात्मकता होने से उनका विषय भी एक ही माना गया है। एक विषय के कारण फल भी एक ही है, इसलिये एक ज्ञान का औपचारिक प्रयोग होता है॥४५॥

पञ्चपदिका में भी 'फल की एकता से ज्ञान की एकता का औपचारिक प्रयोग होता है' इसी अभिप्राय से कहा गया है कि अविद्या एक फल वाले एक ही ज्ञान को उत्पन्न करती है।

(१७. त्रिविध सत्ता तथा अनिर्वचनीयख्याति)

ननु शुक्तिकामस्तके भाव्यमानस्य कलधौतस्य तत्रैव सत्यत्वाभ्युपगमे नेदं रजतमिति निषेधः कथं प्रभवेदिति चेन्न। प्रातिभासिकसत्यत्वेऽपि व्यावहारिकसत्यत्वाभावेन प्रतिपन्नोपाधौ प्रतियोगित्वसम्भवात्। तदुक्तं पञ्चपादिकाविवरणे (पृ. ३१)—त्रिविधं सत्त्वम्। परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः। अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः। अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेरिति।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि शुक्ति के ऊपर प्रतिभासित होने वाले रजत को केवल उसी स्थान पर सत्य मान लिया जाये, तो फिर 'यह रजत नहीं है' (नेदं रजतम्) यह निषेध कैसे लागू होगा? इसका उत्तर देते हैं कि यह भी ठीक नहीं है। प्रातिभासिक दृष्टि से सत्यता होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से सत्यता नहीं है, इसलिये सोपाधिक स्थानों में भी प्रतियोगित्व की सम्भावना रहती है। जैसा कि पञ्चपादिका-विवरण (पृ. ३१) में कहा गया है—

सत्त्व (सत्ता) तीन प्रकार की है। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है। माया की उपाधि से युक्त आकाश आदि की सत्ता को ही अर्थ-क्रिया-कारित्व (किसी कार्य को करने का सामर्थ्य) कहा जाता है। रजतादि की (भ्रमस्थल में) अविद्योपाधिक सत्ता है।

अन्यत्राप्युक्तम्–

४६. कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।
बाधाभावात्पदार्थानां सत्त्वत्रैविध्यमिष्यते॥

४७. तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
रूप्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते॥ इति।

अनुवाद—अन्यत्र भी कहा गया है—तीनों कालों (भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल) में ज्ञातृकाल में (व्यवहार काल में) तथा प्रतीति के समय पदार्थों का बाध न होने से तीन प्रकार की सत्तायें मानी गयी हैं॥४६॥

ब्रह्म की सत्ता तात्त्विक (वास्तविक या पारमार्थिक) है, आकाश आदि की सत्ता व्यावहारिक है तथा रजत आदि पदार्थों की सत्ता प्रातिभासिक है।

४८. लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेऽवधौ।
तत्प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि॥

४९. वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेऽवधौ।
तद्व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सहैव तत्॥ इति च।

अनुवाद—लौकिक अवधि में जो वस्तु प्रमाता के सामने ही लौकिक प्रमाण से बाधित होती है, उस वस्तु की प्रातिभासिक सत्ता होती है।

जो वस्तु वैदिक अवधि में (परमार्थ दशा में) प्रमाता के साथ ही वैदिक प्रमाण (शब्द प्रमाण) से बाधित हो जाये, उस वस्तु की व्यावहारिक सत्ता होती है।

ततः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य रजतादेः सदसद्विलक्षणत्वलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम्। तदवोचच्चित्सुखाचार्यः–

५०. प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः॥

(चित्सुखी, पृ. ७९) इति।

अनुवाद—फिर ख्याति (प्रतीति) के बाध की सिद्धि अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती है, इसलिये भ्रम का विषय जो मायामय रजत है, उसका सत् तथा असत् से विलक्षण रूप अनिर्वचनीयत्व सिद्ध है। जैसा कि चित्सुखाचार्य ने कहा है—

सत् तथा असत् प्रत्येक के द्वारा जो विचार के योग्य नहीं है, उसे वेदान्तियों ने अनिर्वचनीय कहा है।

(चित्सुखी पृ. ७९)

(१८. माया और अविद्या की समानता)

ननु मायाविद्ययोः स्वाश्रयाव्यामोहहेतुत्व-तदभावाभ्यां भेदस्य जागरूकत्वेनाविद्यामयत्वे वक्तव्ये मायामयत्वोक्तिरारोप्यस्यायुक्तेति चेत्–तदयुक्तम्। अनिर्वचनीयत्वतत्त्वाभासप्रतिबन्धकत्वादिलक्षणजातस्य मायाविद्ययोः समानत्वात्।

अनुवाद—यदि यह कहा जाये कि माया तथा अविद्या में भेद जागृत है, क्योंकि माया अपने आश्रय (द्रष्टा) के भ्रम का कारण बनती है, जबकि अविद्या अपने द्रष्टा के भ्रम का कारण नहीं बनती, इसलिये आरोप्य (रजत) को 'अविद्यामय' कहना चाहिये थे, उसे मायामय कहना ठीक नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—यह कहना ठीक नहीं है। माया तथा अविद्या—इन दोनों में अनिर्वचनीयता, तत्त्वज्ञान की प्रतिबन्धकता इत्यादि लक्षण तो समानरूप से विद्यमान है।

विशेष—सिद्धान्ती (वेदान्ती) का यह मानना है कि माया तथा अविद्या दोनों एक ही हैं, क्योंकि ये दोनों ही अनिर्वचनीय हैं तथा तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। अतः माया तथा अविद्या में कोई भेद नहीं है।

किं चाश्रयशब्देन द्रष्टोच्यते कर्ता वा? नाद्यः। मन्त्रौषधादिनिमित्तमायादर्शिनस्तस्य व्यामोहदर्शनात्। न द्वितीयः। विष्णोः स्वाश्रितमाययैव रामावतारे मोहितत्वेन तत्र मायावित्वस्याप्रयोजकत्वात्। बाधनिश्चयमन्त्रादिप्रतीकारबोधयोरेव प्रयोजकत्वात्। अपरथा पङ्ग्वन्धवत्कर्तापि व्यामुह्येत।

अनुवाद—वेदान्ती आगे पूर्वपक्षी से पूछते हैं कि (माया के) आश्रय शब्द से क्या अर्थ लिया जाता है—द्रष्टा या कर्ता? पहला विकल्प ठीक नहीं है। क्योंकि मन्त्र या औषधियों के कारण उत्पन्न होने वाली माया को देखने वाले व्यक्ति को भी भ्रम होता है।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान् विष्णु रामावतार में अपने द्वारा निर्मित माया से ही मोहित हो गये थे। इसलिये वहाँ मायावी होने की भ्रमाभाव में कोई प्रयोजकता नहीं थी। बल्कि भ्रमाभाव के दो प्रयोजक हैं—माया के बाध का निश्चय या मन्त्रादि के द्वारा माया के प्रतीकार का ज्ञान होना। यदि इन दोनों में से कोई एक भी नहीं है, तो अन्धे या लंगड़े व्यक्ति की तरह माया के कर्ता को भी भ्रम होने लगेगा।

विशेष—भ्रमाभाव के जिन दो प्रयोजकों की चर्चा की गयी है उनमें से एक भी श्रीराम के पास रामावतार की वेला में उद्बुद्ध नहीं था, इसलिये वे स्वनिर्मित माया से ही मोहित हुए थे। वस्तुतः भागवत सम्प्रदाय के अनुसार वह मोह भी एक अभिनय मात्र था।

इस प्रकार न तो माया के द्रष्टा को मायाश्रय कहा जा सकता है, न ही माया के कर्ता को।

न चेच्छानुविधानाननुविधानाभ्यां तयोर्भेद इति भणितव्यम्। मायास्थले मणिमन्त्रौषधादिप्रयोगवदविद्यास्थलेऽपि द्विचन्द्रकेशोण्डुकादिविभ्रमनिमित्ताङ्गुल्यवष्टम्भादावपि स्वातन्त्र्योपलम्भात्। अत एव तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिभाष्यादिषु मायाविद्ययोरभेदेन व्यवहारः सङ्गच्छते। क्वचिद्विक्षेपप्राधान्येनावरणप्राधान्येन च मायाविद्ययोर्भेदतद्व्यवहारो न विरुध्यते। तदुक्तम्—

५१. माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छावशवर्ति वा।
अविद्याच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायि वा ॥ इति।

अनुवाद—सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से कहते हैं कि यह भी नहीं कहना चाहिये कि माया कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है और अविद्या कर्ता की इच्छा का अनुसरण नहीं करती—इस दृष्टि से माया तथा अविद्या में भेद है। जिस प्रकार माया स्थल में भ्रम को दूर करने के लिये मणि, मन्त्र तथा औषधि का प्रयोग कर्ता स्वतन्त्र रूप से करता है, उसी तरह अविद्यास्थल में भी दो चन्द्र, केशजाल, मकड़जाल आदि के भ्रम को उत्पन्न करने के लिये कर्ता के द्वारा अंगुली को रोकने आदि का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जाता है। (आँख के कोने में अंगुली दबाने से एक वस्तु को दिखलाई पड़ती है) इसलिये श्रुति, स्मृति तथा भाष्य आदि में जगह-जगह माया तथा अविद्या में अभेद-व्यवहार दिखलाई पड़ता है। कहीं-कहीं विक्षेप शक्ति की प्रधानता या आवरण शक्ति की प्रधानता देखकर माया तथा अविद्या में भेद किया जाता है, लेकिन इससे व्यवहार में कोई विरोध नहीं आता। जैसा कि कहा गया है—

जो अज्ञान ईश्वर की इच्छा के अधीन है या विक्षेप शक्ति से युक्त है, उसे माया कहा जाता है। जो परमतत्त्व को ढंकता है तथा स्वतन्त्रता से युक्त होता है उसे अविद्या कहते हैं।

(१८ क. अविद्या की सत्ता के लिए प्रमाण)

नन्वविद्यासद्भावे किं प्रमाणम्? 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति' प्रत्यक्षप्रतिभास एव। ननु ज्ञानाभावविषयोऽयं नाभिप्रेतमर्थं गमयतीति चेत्—न तावदनुपलब्धिवादिनश्चोद्यमेतत्। परोक्षप्रतिभासहेतुत्वात्तस्याः। अयमपि परोक्षप्रतिभास एवेति चेत्—न तावल्लिङ्गशब्दानुपपद्यमानार्थजन्यः। ज्ञातकरणत्वात्तेषाम्। न चैतत्सामग्रीकाले ज्ञातमस्ति। अनुभूयते वा।

अनुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं कि अविद्या के होने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर सिद्धान्ती देते हैं—'मैं मूर्ख हूँ, मैं स्वयं को तथा अन्य व्यक्ति को नहीं जानता' यह प्रत्यक्षज्ञान अविद्या के अस्तित्व में प्रमाण है। यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यह प्रत्यक्षज्ञान तो ज्ञानाभाव विषयक है, इसलिये यह आपके (वेदान्तियों) के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं करायेगा। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुपलब्धि को प्रमाण मानने वालों (वेदान्ती एवं भाट्ट मीमांसक) के लिये यह पूर्वपक्ष नहीं बनता। क्योंकि अनुपलब्धि परोक्ष वस्तु का ज्ञान कराती है। (प्रभाकर अभाव या अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते, जबकि वेदान्ती तथा भाट्ट मीमांसक अभाव को प्रमाण मानते हैं) यदि पूर्वपक्षी कहे कि यहाँ भी परोक्ष वस्तु का ज्ञान ही मान लिया जाये तो सिद्धान्ती कहते हैं ऐसा नहीं मान सकते, क्योंकि यह ज्ञान लिङ्ग शब्द या अनुपपत्ति से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि इन सभी की कारणता तो ज्ञात

रहती है और ज्ञान कारण की सामग्री के समान इन लिङ्ग आदि का ज्ञान नहीं होता, न ही उनका अनुभव होता है।

अनुपलब्ध्या जन्यत इति चेत्–न तावदियमज्ञाता कारणम्। प्रत्यक्षेतरस्य ज्ञातकरणत्वनियमात्। नापि ज्ञातैव कारणम्। अनुपलब्ध्यनवस्थानात्। न च यथा परेषामभावग्रहणे योग्यानुपलब्धिः सहकारिणी तथा नः करणमिति शङ्क्यम्। ज्ञानकरण इव सहकारिणी ज्ञातत्वनियमाभावात्। अस्तु वा तथा ज्ञेयाभावग्रहणे करणम्। ज्ञानाभावग्रहणे करणं न भवत्येवेति वक्ष्यते।

अनुवाद—पूर्वपक्षी कहता है कि यदि यह कहा जाने कि 'अहम् अज्ञः' यह ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा उत्पन्न होता है, तो सिद्धान्ती कहते है यह भी ठीक नहीं है। बिना ज्ञात हुए यह अनुपलब्धि प्रमाण कारण नहीं बन सकता। प्रत्यक्ष भिन्न सभी प्रमाणों की करणता ज्ञात रहती है—यह नियम है। केवल ज्ञात होने मात्र से भी यह अनुपलब्धि कारण नहीं होती, क्योंकि तब तो अनुपलब्धि की अनवस्था हो जायेगी। यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि जिस प्रकार अन्य दार्शनिकों (नैयायिकों) के मत में अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है तथा योग्यानुपलब्धि अभाव के ग्रहण का सहकारी कारण है, उसी तरह हमारे (वेदान्ती के) मत में अनुपलब्धि करण (प्रभासाधन=प्रमाण) है। क्योंकि ज्ञान का करण ज्ञात होना चाहिये—ये नियम तो है, लेकिन सहकारी कारण भी ज्ञात होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। या फिर ऐसा मान भी लें, तो वह अनुपलब्धि ज्ञेयाभाव की कारण बनेगी, ज्ञानाभाव के ज्ञान में उसकी करणता नहीं होगी—ये बात आगे बतलायी जायेगी।

(१८ ख. 'अहमज्ञः' का प्रत्यक्ष अनुभव और नैयायिक-खण्डन)

प्रत्यक्षाभाववादे तु प्रत्यक्षेण तावद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोः सतोरात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं न ब्रूयात्। घटवति भूतले घटाभावस्येव ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तयोरसतोस्तु सुतराम्। कारणाभावात्। अतोऽपि योग्यानुपलब्ध्या वा फललिङ्गाद्यभावेन वात्मनि ज्ञानमात्राभावग्रहणं दुर्लभमिति परमतेऽप्ययं न्यायः समानः। तदेवमात्मनि प्रत्यक्षेण वान्येन वा ज्ञानमात्राभावस्य ग्रहणमशक्यमिति स्थितम्।

अनुवाद—(सिद्धान्ती वेदान्ती कहते हैं) अभाव को प्रत्यक्ष मानने के सिद्धान्त में दो पक्ष हैं। 'अहमज्ञः' इस अनुभव में ज्ञान सामान्य के अभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है या फिर ज्ञानविशेष के अभाव का प्रत्यक्ष होता है। पहला विकल्प है कि प्रत्यक्ष के द्वारा धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान को सत् मानकर आत्मा में ज्ञान सामान्य का अभाव गृहीत होता है ऐसा मान लें, लेकिन सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा न कहें, क्योंकि जिस प्रकार घटयुक्त भूतल में घटाभाव का ग्रहण करते हैं, उस तरह से आत्मा में ज्ञान सामान्य के अभाव का ग्रहण करना असम्भव है। दूसरा विकल्प यह है कि धर्मी और प्रतियोगी दोनों

का ही ज्ञान विद्यमान नहीं है, तो सिद्धान्ती कहते हैं कि यह पक्ष तो और असम्भव है, क्योंकि कारण का ही अभाव हो जायेगा। इसलिये योग्यानुपलब्धि के कारण या फिर फल, लिङ्ग आदि के अभाव के कारण आत्मा में ज्ञानसामान्य के अभाव का ग्रहण करना दुर्लभ है, इस प्रकार से परमत में भी यह न्याय समान है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मा में प्रत्यक्ष का अन्य प्रमाण से भी ज्ञान सामान्य का ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

ननु ज्ञानविशेषाभावः प्रत्यक्षेण गृह्यताम्। न तावत्स्मरणाभावः। अभावग्रहणे प्रतियोगिस्मरणस्य कारणत्वात्। नाप्यनुभवाभावः। तस्यावर्जनीयत्वात्। नन्वात्मनि घटानुभवाभावः प्रत्यक्षविषयस्तर्हि 'अहमज्ञः' इति ज्ञानसामान्यवचनो जानातिर्ज्ञानविशेषेऽनुभवे लक्षणया वर्तनीयः। लक्षणा च सम्बन्धेऽनुपपत्तौ च सत्यां वर्तते।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञानविशेष के अभाव का ग्रहण मान लिया जाये। (ज्ञान दो प्रकार का होता है—स्मृति तथा अनुभव। इसलिये ज्ञानविशेष का अभाव भी या तो स्मरणाभाव होगा या फिर अनुभवाभाव) तो यह स्मरणाभाव नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण कारण होता है। इस ज्ञानविशेषाभाव को अनुभवाभाव भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुभव तो अनिवार्य है। यदि यह कहा जाये कि आत्मा में घट के अनुभव का अभाव प्रत्यक्षविषयक है, तो फिर 'अहमज्ञः' (मैं मूर्ख हूँ) यहाँ ज्ञान-सामान्य के वाचक 'ज्ञा' धातु को लक्षणा के द्वारा ज्ञान विशेष 'अनुभव' के अर्थ में लेना चाहिये। लक्षणा वृत्ति तब होती है, जब सम्बन्ध की अनुपपत्ति होती है।

सम्बन्धस्तावदनुभवत्वज्ञानत्वयोरेकव्यक्तिसमावेशो व्याप्यव्यापकभावो वा विद्यत एव। अनुपपत्तिं तु न पश्यामः। नन्वनुभवाभावे प्रत्यक्षस्य प्रमेयलाभस्तेनैव तस्यार्थवत्ता सिध्यति। सत्यम्। प्रयोजनमेतन्नानुपपत्तिः। अन्योन्याश्रयात्।

अनुवाद—यहाँ पर सम्बन्ध यही है कि अनुभव होना तथा ज्ञान होना—इन दोनों का समावेश एक ही व्यक्ति (घट प्रत्यक्ष) में होता है तथा इन दोनों के बीच व्याप्य व्यापक सम्बन्ध बनता है। (व्याप्य=अनुभव होना, व्यापक=ज्ञान होना) इसमें हमें कोई अनुपपत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। (अत: अनुपपत्ति के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है।) यदि कोई यह कहे कि अनुभव के अभाव में प्रत्यक्ष की सफलता के लिये प्रमेय का लाभ अवश्य होना चाहिये, इसी से उस प्रमेय की सार्थकता सिद्ध होगी। इसका उत्तर वेदान्ती देते हैं—सच है। यह तो उसका प्रयोजन है, अनुपपत्ति नहीं। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष आयेगा।

नन्वहमज्ञ इत्यत्र नञ् आत्मनि ज्ञानमात्राभावं न ब्रूते। ज्ञानवति तस्मिन् तदभावात्। नाप्यनुभवाभावम्। ज्ञानोक्तेस्तदनभिधायकत्वात्। नैरर्थक्यं च न युक्तमित्यनयैवानुपपत्त्या लक्षणेति चेत्–उक्तलक्षणैवाविद्या तदर्थोऽस्तु।

सन्देह इति चेन्न। असमत्वात्कोटिद्वयस्य। अन्यत्र हि प्रतियोगिनिवृत्तिर्नञर्थः। अत्र तु प्रतियोगिव्याप्यनिवृत्तिरिति।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि 'अहमज्ञः' (मैं मूख हूँ) इस अनुभव में 'नञ्' आत्मा में ज्ञान सामान्य का अभाव नहीं बतलाता है, क्योंकि ज्ञानवान् आत्मा में ज्ञान-सामान्य का अभाव नहीं हो सकता है। न ही नञ् के द्वारा ज्ञान विशेष 'अनुभव' के अभाव का बोध होता है क्योंकि 'ज्ञान' कहने से ज्ञानविशेष का अभिधान नहीं होता है। (पूर्वपक्ष) 'अहमज्ञः' इस वाक्य को निरर्थक नहीं कहा जा सकता इसी कारण से अनुपपत्ति के कारण ही लक्षणा मान लें तो फिर सिद्धान्ती कहते हैं कि फिर तो नञ् का अर्थ पूर्वोक्तस्वरूप वाली अविद्या ही मान लिया जाये।

यदि नञ् का अर्थ सन्देह मान लिया जाये तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ दोनों कोटियाँ समान नहीं है। अन्य स्थानों पर प्रतियोगी की निवृत्ति ही नञर्थ होता है, किन्तु यहाँ पर प्रतियोगी के द्वारा व्याप्य की निवृत्ति होना नञर्थ है।

जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः क्वचिदुक्तलक्षणाविद्याविषयत्वसिद्धिमन्तरेण न सन्देह इत्यवश्यम्भावेन सैव जानातिसमभिव्याहृतस्य नञः सर्वत्र तद्विषयत्वमवगमयति। विलुम्पति ज्ञानाभावकोट्यन्तरमिति क्व सन्देहावकाशः? तदेवं लक्षणाहेत्वभावेऽनुभावाभावोऽप्यात्मनि न प्रत्यक्षेण गृह्यत इति परिशेषादुक्तलक्षणा अविद्यैव 'अज्ञः' इति प्रतिभासस्य विषय इति स्थितम्।

अनुवाद—'ज्ञा' धातु के साथ उच्चरित होने वाले नञ् का जब तक कहीं पर भी उक्त स्वरूपवाली अविद्या का विषयत्व सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक सन्देह को नञर्थ नहीं माना जा सकता है। इसलिये 'ज्ञा' धातु के साथ उच्चरित नञ् का अविद्या विषयत्व भी सर्वत्र उसी अविद्या के द्वारा निश्चित रूप से बोधित होता है। ज्ञानभाव के रूप में उक्त प्रत्यक्ष को मानने वाली कोटि ही जब लुप्त हो जाती है, तो सन्देह का अवकाश ही कहाँ है? तो इस प्रकार लक्षणा का कारक (अनुपपत्ति) न होने से आत्मा में अनुभवाभाव प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं होता है। इस प्रकार परिशेषात् यह सिद्ध होता है कि उक्त स्वरूपवाली अविद्या ही 'मैं मूर्ख हूँ' (अहमज्ञः) इस प्रतीति का विषय है।

(१९. दूसरी विधि से 'अहमज्ञः' के द्वारा अविद्या की सिद्धि)

अस्तु वा ज्ञानाभावप्रतिभासः। अयमभावश्च प्रतियोगी यत्र निषिध्यते न ततः तत्त्वान्तरमन्यदधिकरणभावात्। मा भूदन्यभावत्वमन्याभावत्वं तु स्यात्। ननु तदपि विरुद्धम्। सत्यं, सति भेदे। स च प्रमाणात्। तच्च सति प्रतियोग्यभावाधिकरणतस्तत्त्वान्तरे। ननु घटवति भूतले घटाभावमितिव्यवहृती स्यातामिति चेत्—मा भूतामेते प्रतियोगिता सहानूभूयमानेऽधिकरणे।

अनुवाद—या फिर यह मान लिया जाये कि ज्ञानाभाव का ही प्रत्यक्ष हो रहा है। यह अभाव भी उस तत्त्व से भिन्न नहीं है, जिसमें प्रतियोगी का निषेध किया जा रहा

है, क्योंकि वह तत्त्व अधिकरण से भिन्न नहीं है। नैयायिक शंका करते हैं कि भूतल की अपेक्षा घटाभाव एक भाव के रूप में भले ही भिन्न न रहे, लेकिन अभाव के रूप में तो अवश्य ही भिन्न है। तो यह भी आपके (वेदान्तियों) सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस पर वेदान्ती समाधान देते हैं—सच है। पहले अधिकरण और अभाव में भेद तो सिद्ध हो। वह भेद प्रमाण से ही सिद्ध होता है। प्रमाण भी तभी लागू होगा, जबकि प्रतियोगी के अभाव के आधार (अधिकरण) को भिन्न तत्त्व माना जाये। यदि पुन: कोई यह शंका करे कि घर से युक्त भूतल में घटाभाव का ज्ञान (मिति) और घटाभाव का व्यवहार (व्याहृति) दोनों होने लगेगा। इस पर वेदान्ती कहते हैं कि प्रतियोगी के साथ जिस अधिकरण का अनुभव हो रहा है, उसमें भले ही यह ज्ञान और व्यवहार न हो।

प्रतियोगिस्मरणे सत्यनुभूयमानेऽधिकरणे तु स्याताम्। एवमप्युपपत्तौ न तत्त्वान्तरविषयत्वं कल्प्यम्। काऽनुपपत्तिरिति चेद् बाधकाभावस्तावदुक्त एव। बाधकं तु कल्पनागौरवमेव। तथा हि–तत्त्वान्तरत्वं तावदेकं कल्प्यम्। तस्यापरोक्षत्वायेन्द्रियसन्निकर्षः कल्प्यः।

अनुवाद—किन्तु प्रतियोगी का स्मरण करने पर जिस अधिकरण का अनुभव किया जाता है, उसमें वे दोनों (ज्ञान तथा व्यवहार) हो सकते हैं। इस प्रकार की सिद्धि होने पर भी अभाव की किसी दूसरे तत्त्व के रूप में कल्पना नहीं करनी चाहिये। यदि पूर्वपक्षी यह पूछे कि ऐसा मानने में क्या अनुपपत्ति है? तो सिद्धान्ती कहते हैं कि इसका कारण तो पहले ही बताया जा चुका है, वह है बाधकाभाव। यहाँ पर कल्पनागौरव ही बाधक है। जैसे कि—पहले तो एक ही भिन्न तत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी। उस तत्त्व को अपरोक्ष मानने के लिये इन्द्रिय सन्निकर्ष की कल्पना करनी होगी।

स च संयोगादिर्न भवतीति संयुक्तविशेषणत्वादिः कल्प्य इत्यतो वर-मुक्तलक्षणस्याधिकरणस्य व्यवहारविषयेऽङ्गीकारः। सति चैवं ज्ञानाभावेनापि प्रतियोगिस्मृतौ सत्यामनुभूयमानमधिकरणं ज्ञातैव। स च न केवलमन्तःकरणम्। जडत्वात्। नापि केवल आत्मैव। अपरिणामित्वाद् गुणत्वाच्च। अत उभयोरभेदा-ध्यासः। आत्माध्यासश्चोक्तलक्षणाविद्यात्मेति–आयातमविद्यायामेवाहमज्ञ इति प्रतिभासः प्रमाणमिति।

अनुवाद—चूंकि वह इन्द्रिय सन्निकर्ष संयोगादि के रूप में नहीं होता है, इसलिये संयुक्त विशेषणत्व की कल्पना करनी होगी। इसलिये उपर्युक्त लक्षण से युक्त अधिकरण को व्यवहार का विषय मानना अच्छा है। ऐसा मानने पर ज्ञानाभाव के द्वारा भी प्रतियोगी का स्मरण होता है इसलिये जिस अधिकरण का अनुभव किया जा रहा है, वह ज्ञाता ही है। वह ज्ञाता केवल अन्त:करण नहीं है, क्योंकि अन्त:करण तो जड़ है। वह केवल आत्मा भी नहीं है, क्योंकि आत्मा में न तो परिणाम होता है और न ही उसमें कोई

गुण रहते हैं। इसलिये आत्मा और अन्तःकरण दोनों में अभेद का अध्यास है। चूँकि आत्मा का अध्यास उक्त लक्षणों से युक्त अविद्या के रूप में होता है, इसलिये आत्मा में ही अहमज्ञः (मैं मूर्ख हूँ) यह प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में होता है।

(२०. अनुमान से अविद्या की सिद्धि)

अनुमानं च–विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरण-स्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्। अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति।

वस्तुपूर्वकमित्युक्त आत्मवस्तुपूर्वकत्वेनार्थान्तरता। तदर्थं वस्त्वन्तरेति। तथापि विषयभूते वस्त्वन्तरेऽर्थान्तरता। तदर्थं स्वदेशगतेति। अदृष्टादिकं प्रत्यादेष्टुं स्वनिवर्त्येति।

अनुवाद—अविद्या की सिद्धि के लिये अनुमान भी होता है—विवादित प्रमाणज्ञान ऐसे वस्त्वन्तर के बाद होता है, जो वस्त्वन्तर अपने प्रागभाव से भिन्न हो, अपने विषय का आवरण हो, अपने द्वारा निवृत्ति हो सकता हो तथा अपने ही स्थान से सम्बन्ध हो, क्योंकि वह अप्रकाशित पदार्थ का प्रकाशक है। जिस प्रकार अन्धकार में सबसे पहले उत्पन्न दीपक की प्रभा।

यदि यहाँ अनुमान में 'वस्त्वन्तरपूर्वक' के स्थान पर केवल 'वस्तुपूर्वक' इतना ही कहा जाये, तो आत्मारूपी वस्तु के बाद होने कारण दूसरे पदार्थ की सिद्धि हो जायेगी। इसलिये 'वस्त्वन्तरपूर्वक' कहा गया है।

यदि वस्त्वन्तर को केवल विषय के रूप में रखें, तो भी अर्थान्तर होगा, इसलिये 'स्वदेशगत' यह पद रखा गया है।

अदृष्ट आदि पदार्थों की व्यावृत्ति के लिये 'स्वनिवर्त्य' पद लगाया गया है।

विशेष—उपर्युक्त अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण इस प्रकार हैं—

प्रतिज्ञा—विवादित प्रमाणज्ञान ऐसे वस्त्वन्तर के बाद होता है, जो वस्त्वन्तर अपने प्रागभाव से भिन्न हो, अपने विषय का आवरण हो, अपने द्वारा निवृत्त हो सकता हो तथा अपने ही स्थान से सम्बद्ध है।

हेतु—क्योंकि वह अप्रकाशित पदार्थ का प्रकाशक है।

उदाहरण—जिस प्रकार अन्धकार में सबसे पहले उत्पन्न दीपक की प्रभा।

उत्तरज्ञाननिवर्त्यं प्रथमज्ञानं निवर्तयितुं स्वविषयावरणेति। प्रागभावं प्रतिक्षेप्तुं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेति। स्वप्रागभावव्यतिरिक्तपूर्वकमित्युक्ते विषयेणार्थान्तरता। तदर्थं विषयावरणेति। तादृशमन्धकारं व्यासेद्धुं स्वनिवर्त्येति। विषयगतामज्ञानतां निराकर्तुं स्वदेशगतेति। मिथ्याज्ञानमपोहितुं वस्त्वन्तरेति। धारावाहिकविज्ञाने व्यभिचारं व्यासेद्धुमप्रकाशितेति।

अनुवाद—उत्तरक्षण के ज्ञान से पूर्वक्षण के ज्ञान की निवृत्ति होती है—इसे ही दूर करने के लिये 'स्वविषयावरण' लगाया गया है। प्रागभाव को दूर करके के लिये 'स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त' लगाया गया है। यदि केवल इतना ही कहा जाता कि प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न वस्तु के बाद उत्पन्न होता है, तो प्रमाणज्ञान अपने विषय से ही पृथक् पदार्थ हो जायेगा। इसी को रोकने के लिये 'विषयावरण' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार अन्धकार भी विषयावरण है तो इसको भी प्रमाण ज्ञान कहना पड़ेगा, इसीलिये उस अन्धकार को हटाने के लिये 'स्वनिवर्त्य' कहा गया है। विषयनिष्ठ अज्ञानता को दूर करने के लिये 'स्वदेशगत' विशेषण लगाया गया है। मिथ्याज्ञान को दूर करने के लिये 'वस्त्वन्तर' कहा गया है। धारावाहिक ज्ञान में 'व्यभिचार' को दूर करने के लिये 'अप्रकाशित' कहा गया है।

मध्यवर्तिप्रदीपप्रभायां साध्यसाधनवैधुर्यप्रतिरोधाय प्रथमोत्पन्नविशेषणम्। सौरालोकव्याप्तदेशस्थप्रदीपप्रभातप्रतिक्षेपायान्धकारेति। न च ज्ञानसाधके प्रमाणे व्यभिचारः शङ्कनीयः। विप्रतिपन्नं प्रत्यसत्त्वनिवृत्तिमात्रस्य प्रमाणकृत्यत्वात्। तदुक्तं देवताधिकरणे कल्पतरुकारैः–अनुमानादिभिरसत्त्वनिवृत्तिःक्रियत इति।

अनुवाद—दीपक की मध्यवर्ती (प्रथमक्षण और अन्तिम क्षण के बीच की) प्रभा में साध्य-साधन के अभाव को रोकने के लिये 'प्रथमोत्पन्न' यह विशेषण लगाया गया है। इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश से व्याप्त स्थान में स्थित दीपक की प्रभा को दूर करने के 'अन्धकार' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह भी शंका नहीं कहना चाहिये कि ज्ञान साधक प्रमाण में दीपक की प्रभा का व्यभिचार होगा। क्योंकि प्रमाण का कृत्य (भूमिका) केवल इतना ही है कि किसी वस्तु के अस्तित्व के विषय में विवाद करने वाले व्यक्ति का असत्त्वविषयक सन्देह मिटा दे। जैसा कि कल्पतरु ग्रन्थ के रचयिता ने देवताधिकरण में कहा है—

अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा असत्त्व की निवृत्ति की जाती है।

ननु साधनविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। प्रकाशशब्देन तमोविरोध्याकारस्य विवक्षितत्वात्। तदुक्तं विवरणविवरणे सहजसर्वज्ञविष्णुभट्टोपाध्यायैः–'न चात्र पक्षदृष्टान्तयोरेकप्रकाशरूपानन्वयः शङ्कनीयः। तमोविरोध्याकारो हि प्रकाशशब्द-वाच्यः। तेनाकारेणैक्यमुभयत्रास्ति' इति।

नरेन्द्रगिरिश्रीचरणैस्त्वित्थमुक्तम्–'अप्रकाशितप्रकाशव्यवहारहेतुत्वं हेत्वर्थः। तस्य चोभयत्रानुगतत्वान्नासिद्ध्यादिरिति।'

अनुवाद—यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि आपको दृष्टान्त में साधन नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रकाश शब्द से यही विवक्षित है कि अन्धकार का विरोधी जैसा कि 'विवरण' ग्रन्थ की टीका में सहज सर्वज्ञ विष्णु भट्ट उपाध्याय ने कहा है—यहाँ पक्ष तथा दृष्टान्त दोनों एक ही विषय का प्रकाशन नहीं करते, इस दृष्टि से उन

दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि प्रकाश शब्द का अर्थ है—तम का विरोधी। इस दृष्टि से पक्ष तथा दृष्टान्त दोनों में समानता ही है।

नरेन्द्र गिरि श्रीचरण ने इस प्रकार बतलाया है—हेतु का अर्थ है—अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाश में लाने के व्यवहार का कारण। यह हेतु, दोनों में (पक्ष तथा दृष्टान्त में) अनुगत है, इसलिये असिद्धि आदि की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

(२१. शब्द-प्रमाण से अविद्या की सिद्धि)

श्रुतेश्च। 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे. १/१०) इत्यादिका श्रुतिः।

५२. तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥ इति च।

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं भास्करेण क्षपणकचरणं प्रमाणशरणे, 'भेदाभेदवादिनां भावरूपमज्ञानं नास्ति किं तु ज्ञानाभाव' इति।

अनुवाद—श्रुतिप्रमाण (शब्दप्रमाण) से भी अविद्या की सिद्धि होती है। 'अन्त में पुनः संसाररूपी माया की निवृत्ति हो जाती है' (श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१०) इत्यादि श्रुति है। यह भी श्रुति वाक्य है—

जिस ब्रह्म को हृदय में निविष्ट कर देने पर योगी इस फैली हुई अविद्या या माया को पार कर लेते हैं, उस अमेय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है।

भास्कराचार्य ने बौद्ध सम्मत प्रमाणों का विवेचन करते हुए जो यह कहा है कि 'भेदाभेदवादियों के मत में अज्ञान भावरूप नहीं है, किन्तु ज्ञानाभाव है' इसका भी खण्डन पूर्वोक्त तर्कों से हो गया।

तथा च भास्करप्रणीतशारीरकमीमांसाभाष्यग्रन्थः। यदेव पररूपादर्शनं सैवाविद्येति। भावरूपाज्ञानानभ्युपगमे जीवेश्वरादिविभागानुपपत्तेः। न च भाविकः परमात्मनोंऽशो जीव इति वाच्यम्। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे. ६/१९) इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

अनुवाद—जैसा कि भास्कराचार्य के द्वारा प्रणीत शारीरिक मीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के भाष्यग्रन्थ में कहा गया है। पररूप का दिखलाई न पड़ना ही अविद्या है। भावरूप अज्ञान को स्वीकार न करने पर जीव और ईश्वर आदि के विभाग की सिद्धि नहीं होती। यह भी नहीं कहना चाहिये कि जीव परमात्मा का वास्तविक अंश है। क्योंकि ऐसा कहने से इस श्रुति का विरोध होगा—'ब्रह्म कलाओं से रहित, क्रियारहित, शान्त, दोषों से रहित तथा अञ्जन (धर्माधर्मादि) से रहित है।' (श्वेताश्वरतरोपनिषद् ६.१९)

(२२. शाक्त-सम्प्रदाय में माया-शक्ति)

केचन शाक्ताः शक्तिं मायाशब्दार्थभूतां जगत्कारणत्वेनाङ्गीकृतां सत्यामभ्युपेत्य मातुलिङ्गगदाखेटविधारिणी महालक्ष्मीस्तस्याः प्रथमावतार इति

वर्णयन्ति। सा च कालरात्रिः सरस्वतीति द्वे शक्ती उत्पाद्य ब्रह्माणं पुरुषं श्रियं च स्त्रियमुत्पादयामास। स्वयं मिथुनं जनयित्वा स्वसुते अप्याह–अहमिव युवामपि मिथुनमुत्पादयतामिति।

ततः कालरात्रिर्महादेवं पुरुषं स्वरां स्त्रियं च जनयामास। सरस्वती च विष्णुं पुरुषं गौरीं च स्त्रियमुदपादयत्।

अनुवाद—कुछ शाक्त सम्प्रदाय के लोग यह वर्णित करते हैं कि 'माया' शब्द का अर्थ शक्ति है तथा इस सत्यरूपा माया को जगत् के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। मातुलिंग, गदा तथा खेट (खल) धारण करने वाली महालक्ष्मी उस माया का प्रथम अवतार है। उस माया ने कालरात्रि तथा सरस्वती-इन दो शक्तियों को उत्पन्न करके पुरुष के रूप में ब्रह्मा को तथा स्त्री के रूप में लक्ष्मी को उत्पन्न किया। उस माया ने स्वयं मिथुन (स्त्री-पुरुष=श्री-ब्रह्मा) को उत्पन्न करके अपनी कन्याओं से भी कहा कि मेरी ही तरह तुम दोनों भी मिथुन (स्त्री-पुरुष को जोड़ा) को उत्पन्न करो।

फिर कालरात्रि ने महादेव को पुरुषरूप में और स्वरा को स्त्री रूप में उत्पन्न किया। सरस्वती ने पुरुष रूप में विष्णु को और स्त्रीरूप में गौरी को उत्पन्न किया।

विशेष—यहाँ शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार सृष्टि का वर्णन किया गया है। देवी का प्रथम अवतार महालक्ष्मी है। दुर्गा·सप्तशती में महालक्ष्मी का स्वरूप (प्राधानिक रहस्य) बतलाया गया है—

मातुलिंग गदां खेटं पानपात्रं च बिभृती ।
नागं लिंगं च योनिं च बिभ्रती नृप मूर्धनि ।। (प्राधानिक रहस्य)

प्राधानिक रहस्य में महालक्ष्मी से कालरात्रि, सरस्वती, ब्रह्मा तथा लक्ष्मी की उत्पत्ति बतलायी गयी है। यहाँ भी उसी (प्राधानिक रहस्य) के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया बतलायी गयी है। किन्तु यह सृष्टि प्रक्रिया अन्य पुराणों में सम्मत नहीं है। पुराणानुसार ब्रह्मा से मनु तथा शतरूपा उत्पन्न हुए। उस मनु एवं शतरूपा से सम्पूर्ण सृष्टि का प्रारम्भ हुआ।

ततश्चादिर्विवाहमकरोदकारयच्च। एवं ब्रह्मणे स्वरां, विष्णवे श्रियं, शिवाय गौरीं दत्त्वा शक्तियुक्तानां तेषां सृष्टिस्थितिसंहाराख्यानि कर्माणि प्रत्यपादयदिति। तदेतन्मतं श्रुत्यादिमूलप्रमाणविधुरतया स्वोत्प्रेक्षामात्रपरिकल्पितमिति स्वरूपव्याक्रियैव निराक्रियेत्युपेक्षणीयम्। ततश्चानिर्वचनीयानाद्यविद्यालसितः प्रत्यगात्मनि प्रतीयमानः प्रमातृत्वादिप्रपञ्च इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अनुवाद—फिर उनमें प्रथम (महालक्ष्मी) ने विवाह किया और कराया। इस प्रकार महालक्ष्मी ने ब्रह्मा को स्वरा, विष्णु को लक्ष्मी तथा महादेव (शिव) को गौरी देकर उन तीनों (ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव) को शक्तियुक्त बनाया और उनके सृष्टि, स्थिति, संहार रूप कर्मों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार यह मत श्रुत्यादि मूल प्रमाणों से रहित होने

के कारण केवल अपनी उत्प्रेक्षा मात्र से परिकल्पित हुआ है। इसलिये इस मत का निराकरण यही है कि यह मत केवल स्वरूप का ही विश्लेषण करता है, अत: त्याज्य है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय आदि का जो प्रपञ्च है, वह प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) में प्रतीत होता है तथा अनिवर्चनीय है एवं अनादि अविद्या से युक्त है। इस प्रकार बहुत विस्तार करना ठीक नहीं हैं

(२३. संसार अविद्या-कल्पित है—शंका-समाधान)

ननु किमर्थं प्रमातृत्वादीनामाविद्यकत्वं निगद्यते। ब्रह्मज्ञानेन निवर्तनाय जीवस्य ब्रह्मभावाय वा? न प्रथम:। शास्त्रप्रामाण्यादेव सत्यस्यापि ज्ञानेन निवृत्तेरुपपत्ते:। उपलम्भाच्च। तथा हि–

सेतुं दृष्ट्वा विमुच्येत ब्रह्महा ब्रह्महत्यया।

इत्यादिना पापं सनीस्रस्यते। विषयदोषदर्शनेन रागो दन्दह्यते। तार्क्ष्यध्यानेन विषं शम्यते। एवं कर्तृत्वादिबन्ध: पारमार्थिकोऽपि तत्त्वज्ञानेन निवर्त्येत।

अनुवाद—यदि यह पूछा जाये कि ज्ञातृत्व आदि भावों को अविद्याकल्पित क्यों माना जाता है? क्या इसलिये कि ब्रह्मज्ञान से उसकी निवृत्ति हो जाती है या फिर इसलिये कि जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है? (यदि ज्ञातृत्वादि अविद्या कल्पित होंगे, तभी ब्रह्मज्ञान से उनकी निवृत्ति होगी या फिर ज्ञातृत्व आदि भावों की निवृत्ति हुए बिना जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अत:, ज्ञातृत्वादि भावों को अविद्याकल्पित माना जाता है)। इसमें पहला विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि शास्त्रों के प्रामाण्य से यह बात भी सिद्ध होती है कि ज्ञान से सत्य पदार्थ की निवृत्ति होती है। यह बात दिखलाई भी पड़ती है—

रामसेतु को देखकर ब्रह्म हत्यारा ब्रह्महत्या से मुक्त होता है। (स्कन्द, पुराण, ब्रह्मखण्ड) इत्यादि वाक्यों में पापों को नष्ट होने का वर्णन है। विषयों में दोष देखने से आसक्ति का नाश होता है। गरुड़ का ध्यान करने से विष शान्त होता है। इस प्रकार कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि का बन्धन सत्य होने पर भी तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्त होता है।

न चरम:। औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्या निवृत्तौ ब्रह्मभावसम्भवात्। तस्माद् बन्धस्याविद्यकत्वावाचोयुक्ति: सावद्येति चेत्–नैतदनवद्यम्। सत्यस्यात्मवज्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्ते:। बन्धस्य मिथ्यात्वमन्तरेण शास्त्राप्रामाण्यादपि तदसिद्धेश्च। शास्त्रमपि -

लोकावगतसामर्थ्य: शब्दो वेदेऽपि बोधक:।

इति न्यायेन लोकावलोकितां पदशक्तिं पदार्थयोग्यतां चोररीकृत्य प्रचरतीति।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं हैं उपाधि के निवृत्त होने पर औपाधिक जीवभाव की भी निवृत्ति हो जाती है, इसलिये ब्रह्म भाव का होना सम्भव है। इसलिये बन्धन

अविद्याकल्पित है—यह कहना दोषपूर्ण है। (यहाँ तक पूर्वपक्ष पूर्ण हुआ, अब आगे सिद्धान्त मत है) बन्धन को अविद्याकल्पित कहना दोषपूर्ण नहीं है। जिस प्रकार आत्मा की निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती है, उसी प्रकार सत्य पदार्थ की निवृत्ति भी ज्ञान से नहीं होती है। बन्ध को मिथ्या बिना माने शास्त्र के प्रामाण्य से भी उसकी असिद्धि ही होती है। शास्त्र में भी कहा गया है—

'जिस शब्द का सामर्थ्य लोक में अवगत हो चुका है, वह शब्द वेद में भी बोधक होता है।'

इस न्याय से लोकावगत पदशक्ति एवं पदार्थ की योग्यता को स्वीकार करके ही शास्त्र भी प्रचलित होता है।

अपरथा 'आदित्यो यूपः' (तै.ब्रा. २/१/५) 'यजमानः प्रस्तरः' (तै.सं. १/७/४) इत्यादिवाक्यस्तोमस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यापत्तेः वैदिक्यः क्रियायाः समक्षक्षयितया पारत्रिकफलकरणत्वान्यथानुपपत्त्या अपूर्वाङ्गीकरणानुपपत्तिश्च।

अनुवाद—यदि ऐसा न माना जाये तो 'आदित्य यज्ञस्तम्भ है' (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१.५) तथा 'यजमान पत्थर है' (तैत्तिरीय संहिता १.७.४) इत्यादि वाक्य समूहों की यथाश्रुत अर्थ में प्रामाणिकता माननी पड़ेगी। और वैदिक क्रियाओं का तो सामने ही नाश हो जाता है, इसलिये परलोक के फल का करण वैदिक क्रियाएँ नहीं बन पातीं—इस अन्ययानुपपत्ति के कारण अपूर्व मानना पड़ता है। लेकिन अपूर्व को मानने में भी अनुपपत्ति होगी।

विशेष—वैदिक यागादि कर्म अपूर्व के माध्यम से परलोक में फल प्रदान करते हैं। परन्तु पूर्वपक्ष की बात मानने पर अपूर्व की कल्पना करना भी अनुपपन्न हो जायेगा।

लोके च शुक्तिव्यक्तितत्त्वाभिव्यक्तावपनीयमानस्यारोपितस्य मिथ्यात्व-दृष्टौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्मतत्त्वसाक्षात्कारविद्यापनोद्यस्याविद्यकस्य बन्धस्य मिथ्यात्वानुमानसम्भवात्। विमतं मिथ्या, अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वात्, शुक्तिका-रूप्यवदिति।

अनुवाद—लोक में जब शुक्ति व्यक्ति का मत तत्त्व अभिव्यक्त होता है, तब उसके द्वारा दूर होने योग्य आरोपित पदार्थ के मिथ्या होने की दृष्टि मिलती है, उसी दृष्टान्त के आधार पर आत्म तत्त्व साक्षात्कार रूपी विद्या के द्वारा दूर होने योग्य जो अविद्या कल्पित बन्धन है, उसके मिथ्या होने का अनुमान सम्भव है।

अनुमान प्रयोग—विवादास्पद (अविद्याकल्पित बन्धन) मिथ्या है, क्योंकि वह अधिष्ठान (आत्मा) के तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्त होता है। जैसे—सीपी में चाँदी की भ्रान्ति होती है।

न च 'विमतं सत्यं भासमानत्वात्' इति प्रतिप्रयोगे समानबलतया बाध-प्रतिरोधः प्रतिरोधभियाऽन्यतरदोषत्वसम्भवादिति वदितव्यम्। मरुमरीचिकोदकादौ

सव्यभिचारात्। अबाधितत्वेन विशेषणान्न दोष इति चेत्–मैवं भाषिष्ठाः। विशेषणासिद्धेः।

अनुवाद—यह भी नहीं कहना चाहिये कि 'विवादास्पद बन्धन सत्य है' क्योंकि यह भासित होता है' इस प्रकार के विरोधी अनुमान में समान बल होने के कारण बाध के सिद्धान्त का खण्डन होगा, क्योंकि प्रतिरोध के भय से किसी अन्य दोष की सम्भावना होगी। (पूर्वपक्षी) ने साध्य असत्यत्व के विरोधी 'सत्यत्व' को सिद्ध करने के लिये विरोधी अनुमान दिखलाया है। इस पर सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐसा मानने से) मरुमरीचिका आदि में व्यभिचार होगा। (मरु मरीचिका में भी जल की प्रतीति होगी है, उसे भी सत्य मानना पड़ेगा। (पूर्वपक्षी पुनः कहते हैं) इस अनुमान में 'अबाधित होने पर' यह विशेषण लगा देने पर दोष नहीं आयेगा (अर्थात् अबाधित होने पर जो प्रतीत होता है, वह सत्य है—विमतं सत्यम् अबाधितत्वे सति भासमानत्वात्' सिद्धान्ती कहते हैं ऐसा मत कहिये। क्योंकि यह विशेषण ही असिद्ध है।

तत्रेदं भवान्पृष्टो व्याचष्टाम्। कतिपयपुरुषकतिपयकालाबाधितत्वं हेतुविशेषणं क्रियते सर्वथा बाधवैधुर्यम् वा? न प्रथमः।

५३. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ।

(वाक्यपदीय. १/३४)

इति न्यायेन त्रिचतुरप्रतिपत्तृप्रतिपादितस्यापि प्रतिपत्रन्तरेण प्रकारान्तरमुररीकृत्य प्रतिपादनात्।

अनुवाद—तो इस सम्बन्ध में आपसे जो पूछा जा रहा है, उसे बतलाइये। हेतु में 'अबाधित होने पर' इस विशेषण का क्या अर्थ है? कुछ पुरुषों के द्वारा कुल काल में बाधित न होना या सर्वथा बाधित ही न होना। इसमें प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है।

प्रयत्नपूर्वक अनुमित विषय को भी कुशल अनुमाता लोग या अन्य विद्वान् लोग अन्य प्रकार से सिद्ध करते है।(वाक्यपदीय १.३४)

इस न्याय से जिस वस्तु का प्रतिपादन तीन-चार प्रतिपादकों ने कर दिया है, उसे भी अन्य प्रतिपादक लोग अन्य प्रकार से स्वीकार करके प्रतिपादित कर सकते हैं। (अर्थात् किसी के द्वारा अबाधित होने पर भी भासित पदार्थ अन्य किसी के द्वारा बाधित हो सकता है।)

नापि चरमः। सर्वथा बाधवैधुर्यस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञेयत्वात्। यद्येवं, हन्त, तर्हि ज्ञानात्मनोऽपि सत्यत्वं नावगम्यत इति चेत्–मैवं मंस्थाः। 'तत्सत्यं स आत्मा' (छां. ६/८/७) इत्यागमसंवादगतेः। न च प्रपञ्चेऽप्ययं न्याय इति मन्तव्यम्।

तादृशस्यागमस्यानुपलम्भात्। प्रत्युताद्वितीयत्वं श्रावयन्त्यः श्रुतेः प्रपञ्चमिथ्यात्व एव पक्षपातात्।

अनुवाद—दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य यह नहीं जान सकता कि कोई वस्तु कभी भी बाधित नहीं हुई है। (पूर्वपक्षी कहता है कि) अरे! यदि ऐसा है, तो फिर ज्ञान स्वरूप आत्मा की सत्यता भी नहीं जानी जा सकती। सिद्धान्ती कहते हैं ऐसा मत मानिये। आगम (वेदों) के संवाद से यह मालूम पड़ता है कि 'वह सत्य है, वह आत्मा है।' (छांदोग्य उपनिषद् ६.८.७) प्रपञ्च में यही न्याय है यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि प्रपञ्च में इस न्याय (प्रपञ्च सत्य है इस न्याय को) को बतलाने वाला कोई वचन उपलब्ध नहीं होता। अपितु ब्रह्म के अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का प्रपञ्च के मिथ्यात्व में ही पक्षपात रहता है।

ननु कल्पनामात्रशरीरस्य पक्ष-सपक्ष-विपक्षादेः सर्वसुलभत्वेन जयपराजयव्यवस्थया कथं कथा प्रयेत? कात्र कथन्ता?

'एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः।' (श्लोक वा. १/१/२ सूत्रे) इति न्यायेन त्रिचतुरकक्ष्याविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्य दूषणभूषणादेस्तत्र कथाङ्गत्वाङ्गीकारात्।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी कहते हैं) यदि यह कहा जाये कि पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष-यह सब केवल कल्पना मात्र है इसलिये सर्वसुलभ है, तो फिर जय-परायज की व्यवस्था की दृष्टि से कथा की आवश्यकता ही क्या है? यहाँ कैसे व्यवस्था होगी? (इसका उत्तर सिद्धान्ती देते हैं) बुद्धि की गति तीन-चार ज्ञानों को जन्म देने से अधिक नहीं है।' (श्लोक वार्तिक १.१.२) इस न्याय से आभास के लक्षणों से पृथक् जो दूषण (बाधक) तथा भूषण (साधक) का ज्ञान है, वह तीन-चार कोटियों के बाद शान्त हो जायेगा। इसलिये उस ज्ञान को कथा का अंग स्वींकार कर लेंगे।

अत एवोक्तं खण्डनकारेण–व्यावहारिकीं प्रमाणसत्तामादाय विचारारम्भः' (ख.ख.खा., पृ. ४४) इति। न च भेदग्राहिभिः प्रमाणैरद्वैतश्रुतेर्जघन्यतेति शङ्क्यम्। ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्यत्वेन तदावेदिकायास्तत्त्वावेदनलक्षणप्रामाण्यायाः श्रुतेर्व्यावहारिकप्रमाणभावानां प्रत्यक्षादीनां च विभिन्नविषयतया परस्परं बाध्यबाधकभावासम्भवात्।

अनुवाद—इसीलिये खण्डवखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष ने कहा है—विचार का आरम्भ व्यावहारिक प्रमाणसत्ता को लेकर होता है। (खण्डन खण्ड खाद्य पृ. ४४) यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि भेद का बोध कराने वाले प्रमाणों के द्वारा अद्वैत प्रतिपादक श्रुति की गौणता (जघन्यता) सिद्ध हो जायेगी। ब्रह्म पारमार्थिक रूप से सत्य है और उस ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली, तत्त्वज्ञान रूप प्रामाण्य की प्रतिपादिका श्रुति का

व्यावहारिक प्रामाण्य वाले तथा विभिन्न विषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ बाध्य बाधक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

विशेष—ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यावहारिक सत्यता बतलाते है। अत: पारमार्थिक सत्य की प्रतिपादिका श्रुति व्यावहारिक सत्य की बाधिका नहीं हो सकती है।

तदप्युक्तं तेनैव–

५४. तदद्वैतश्रुतेस्तावद् बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः ।
नानुमानादि तं कर्तु तवापि क्षमते मते ॥

(ख. १/ २०)

५५. धीधना बाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्ध्यमब्धौ यदीच्छथ ॥

(ख. १/ २४) इति।

तस्मात्तत्वज्ञानेन निवर्तनायास्य बन्धस्याज्ञानकल्पितत्वमङ्गीकर्तव्यम्। यत उक्तं–यतो ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकमिति।

अनुवाद—इस बात उन्होंने (खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष ने) ही बतलाया है—तो फिर अब अद्वैत प्रतिपादक श्रुति का प्रत्यक्ष से बाध होना खण्डित हो गया। आपके मत में भी अनुमानादि प्रमाण अद्वैत श्रुति को बाधित करने में समर्थ नहीं है। (खण्डनखण्डखाद्य १.२०)

हे बुद्धिमान् लोगों! इस अद्वैत श्रुति का बाध करने के लिये आप लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग तभी कर सकते हैं, यदि आप लोग हाथ में आये हुए चिन्तामणि को समुद्र को फेंकना चाहते हों। (खण्डनखण्डखाद्य १.२४)

इसलिये तत्त्व ज्ञान के द्वारा इस बन्धन को दूर करने के लिये इस बन्धन को अज्ञान कल्पित ही मानना पड़ेगा। इसीलिये कहा गया है—'क्योंकि ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक है।'

(२४. प्रपञ्च की सत्यता का खण्डन-सत्य की निवृत्ति नही)

यदुक्त–'सत्यस्यापि दुरितस्य सेतुदर्शनेन निवृत्तिरुपलभ्यत इति'–तदयुक्तम्। विहितक्रियानुष्ठानेन जनितस्य धर्मस्याधर्मनिवर्तकत्वध्रौव्यात्। 'धर्मेण पापमपनुदन्ति' (म.ना. २२/१) इति श्रुतेः। प्रमाणवस्तुपरतन्त्रशालिन्या दर्शनक्रियायाश्चोदित-पुरुषप्रयत्नतन्त्रत्वाभावेन विधानासम्भवात्।

अनुवाद—जो यह कहा गया कि सेतु का दर्शन करने से सत्य पाप की भी निवृत्ति हो जाती है—यह कहना भी ठीक नहीं है। विहित क्रिया का अनुष्ठान करने से उत्पन्न धर्माधर्म की निवृत्ति होती है—यह ध्रुव (निश्चित) है। धर्म से पाप दूर होते हैं

(महानारायणोपनिषद् २२.१) यह श्रुति है। दर्शन क्रिया प्रमाण तथा विषय के अधीन है, इसलिये वह दर्शन क्रिया वेद के द्वारा प्रेरित पुरुष के प्रयत्न के अधीन नहीं है। इस कारण दर्शन क्रिया का विधान सम्भव नहीं है।

विशेष—दर्शन ज्ञान आदि सिद्ध वस्तु हैं, इसलिये उनका वेद-विधि से विधान नहीं किया जा सकता है।

ब्रह्महत्यां प्रमुच्येत तस्मिन्स्नात्वा महोदधौ।

इत्यादिस्मृतिविहितब्रह्मचर्याङ्गसहित-दूरतरदेशगमनसाध्यब्रह्महनन-निवृत्तिफलक-सेतुस्नानप्रशंसार्थत्वात्। यस्य हि दर्शनमात्रेणैव दुरितोपशङ्कः किमुत स्नानेन? अन्यथा दूरगमनानर्थक्यं प्रसजेत्। तत्र खरादीनामप्यनर्थनिवृत्तिरापतेत्। अन्यस्य न स्याच्च।

अनुवाद—'उस महासमुद्र में स्नान करने से ब्रह्महत्या से मुक्ति होती है' इत्यादि स्मृतियों में ब्रह्महत्या की निवृत्ति रूप फल के लिये ब्रह्मचर्यादि विहित अंगों के पालन करते हुए सेतु स्नान की प्रशंसा मात्र की गयी है, जो सेतु स्नान दूर देश गमन से साध्य होता है। जिसके दर्शनमात्र से ही पापों का नाश होता है, तो फिर स्नान से कितना फल मिलता होगा? यह तात्पर्य है। अन्यथा दूर यात्रा करने का आनर्थक्य हो जायेगा। तब तो गधे (खर) आदि जानवर भी सेतु का दर्शन कर अनर्थ से मुक्त होने लगेंगे और अन्धे व्यक्ति को फल ही नहीं मिलेगा।

विशेष—सेतु की प्रशंसा करने के लिये यह अर्थवाद है कि सेतु दर्शन से पापनाश होता है, वस्तुतः सेतु स्नान का ही विशेष फल हैं।

५६. अग्निचित्कपिला राजा सती भिक्षुर्महोदधिः।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते त्तस्मात्पश्येत नित्यशः॥

इति क्वचिद्दर्शनक्रियाया अपि विधानं दरीदृश्यत इति चेत्–मैव वोचः। तत्राप्यनयैवानुपपत्त्या अग्निचिदाद्यर्थपरिचर्यादावेव तात्पर्यावधारणात्।

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) यदि यह कहा जाये कि—अग्नि का चयन करने वाला यजमान, कपिला गौ, राजा, सती स्त्री, भिक्षुक तथा महासमुद्र—ये सभी देखने मात्र से पवित्र करते हैं। अतः, इनका नित्य दर्शन करे।

इस प्रकार से कहीं-कहीं दर्शन क्रिया का विधान भी दिखलाई पड़ता है तो (सिद्धान्ती कहते हैं कि) यह कहना भी ठीक नहीं है। वहाँ भी इसी अनुपपत्ति से अग्निचित् आदि पदार्थों की सेवा में ही तात्पर्य है।

यच्चोक्तं विषयदोषदर्शनात् रागो दन्दह्यत इति। तत्र विषयदोषदर्शनविरोधभूतानभिरतिसंज्ञकवैराग्यैकप्रादुर्भावाद्रागनिवृत्तौ तद्दर्शनमात्रमिति न व्यभिचारः।

यदपि तार्क्ष्यध्यानादिना विषादि सत्यं विनश्यतीति। तन्न श्लिष्यते। तत्रापि मन्त्रप्रयोगादिक्रियाया एव विषाद्यपनोदकत्वात्। ध्यानस्य प्रमात्वाभावाच्च।

अनुवाद—यो यह कहा गया है कि विषयों में दोष दर्शन से राग (आसक्ति) का नाश होता है। उसका भी तात्पर्य यही है कि विषयों में दोष देखने से उन विषयों के विरोधी 'अनभिरिति' नामक वैराग्य की उत्पत्ति होती है और राग की निवृत्ति होती है। यही राग का अदर्शन (नाश) है, इसलिये व्यभिचार नहीं होता।

जो यह कहा जाता है कि गरुड़ का ध्यान आदि करने से सत्यरूपविष आदि का भी नाश हो जाता है। यह बात भी ठीक नहीं है। वहाँ भी मन्त्र प्रयोग आदि क्रियाओं से ही विष आदि का नाश होता है और ध्यान प्रमारूप नहीं है।

यदवादि–औपाधिकस्य जीवभावस्योपाधिनिवृत्त्या निवृत्तौ ब्रह्मभावोपपत्तेर्न तदर्थमर्थवैतथ्यकथनमिति। तदपि काशकुशावलम्बनकल्पम्। विकल्पासहत्वात्। किमुपाधेः सत्यत्वमभिप्रेत्य मिथ्यात्वं वा? न प्रथमः। प्रमाणाभावात्। नापरः। इष्टापत्तेः। तस्मादाविद्यको भेद इति श्रुतावद्वितीयत्वोपपत्तेयऽभिधीयते, न तु व्यसनितया।

अनुवाद—(पूर्वपक्षी के द्वारा) जो यह कहा गया कि उपाधि के निवृत्त होने पर औपाधिक जीवभाव की भी निवृत्ति होकर ब्रह्मभाव की उपपत्ति लग जाती है, तो फिर अर्थ (प्रपञ्च) को मिथ्या कहने की आवश्यकता नहीं है। (सिद्धान्ती कहते हैं) यह मानना भी कुश-कास का सहारा लेने की तरह है। क्योंकि यह दो विकल्प को सहन नहीं कर पाता। क्या उपाधि को सत्य मानकर यह युक्ति दी जा रही है या उपाधि को मिथ्या मानकर? प्रथम विकल्प (उपाधि को सत्य मानना) सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा विकल्प (उपाधि को मिथ्या मानना) भी सम्भव नहीं। क्योंकि यह तो हमें (सिद्धान्ती को) स्वीकार ही है। इसीलिये श्रुति में ब्रह्म के अद्वितीयत्व की सिद्धि के लिये भेद को अविद्याकल्पित कहा जाता है, न कि किसी व्यसनी के रूप में। (भेद को अविद्या कल्पित कहा गया है)।

(२५. आत्मज्ञान से अविद्या-नाश-राजपुत्र का दृष्टान्त)

यदि वस्तुतः सर्वोपद्रवरहितमात्मतत्त्वं तर्हि कथंकारं देहादिरूपं कारागारं कारं कारं पुनः पुनस्तत्र प्रविशति। तदतिफल्गु। अविद्याया अनादित्वेन दत्तोत्तरत्वात्। अतो निवृत्त्युपाय एवान्वेषणीयः प्रेक्षावता। न तु विस्मयः कर्तव्यः। ततश्च तत्त्वमस्यादिविद्यया तदविद्यानिवृत्तौ निरतिशयानन्दात्मलाभरूपपरमपुरुषार्थः सेत्स्यति। तथा चापस्तम्बस्मृतिः–आत्मलाभान्न परं विद्यत इति।

अनुवाद—यदि वस्तुतः आत्मतत्त्व सभी उपद्रवों से रहित है, तो फिर वह शरीरादि रूप कारागार को बार-बार बनाकर उसमें बार-बार प्रविष्ट होता है। यह पूछना तो

और व्यर्थ है। क्योंकि अविद्या अनादि है—यह बताकर हमने पहले ही उत्तर दे दिया है। इसलिये बुद्धिमान् लोगों को निवृत्ति का उपाय खोज लेना चाहिये, न कि आश्चर्य करना चाहिये। फिर 'तत्त्वमसि' आदि विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर निरतिशय आनन्द से युक्त आत्म साक्षात्कार रूप परम पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा। जैसा कि आपस्तम्ब-स्मृति में कहा गया है—आत्म साक्षात्कार से बड़ा दूसरा कोई लाभ नहीं है।

नन्वसौ नित्यलब्धः। न हि स्वयमेव स्वस्यालब्धो भवति। सत्यम्। किं त्वनादिमायासम्बन्धात्क्षीरोदकवत्समुदाचारवृत्तितां न लभते। तथा च यथा शबरादिभिर्बाल्यात्स्वसुतैः सह बर्धितो राजपुत्रस्तज्जातीयमात्मानमवगच्छन्बन्धुभिर्य एवंभूतो राजा स त्वमसीति बोधिते स्वरूपे लब्धस्वरूप इव भवति तथा वेश्यास्थानीययाऽनाद्यविद्यया स्वभावान्तरं नीत आत्मा मातृस्थानीयया तत्त्वमसीत्यादिकया श्रुत्या स्वभावं नीयते।

अनुवाद—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि यह आत्मा तो नित्यरूप प्राप्त ही है और कोई वस्तु अपने आप अपने लिये अलभ्य नहीं होती। (सिद्धान्ती कहते हैं) सच है किन्तु अनादि माया के सम्बन्ध से मिश्रित दूध और पानी की तरह भिन्न-भिन्न वृत्ति के रूप में उपलब्ध नहीं होती। इसी प्रकार जैसे किसी राजकुमार का पालन पोषण किसी शबर के द्वारा उस शबर के बच्चों के साथ होता है और वह राजकुमार भी अपने को शबर जाति का समझने लगता है, फिर बन्धु बान्धवों के द्वारा जब उसे समझाया जाता है कि 'तुम राजा हो' तब अपना स्वरूप समझाने पर लब्धस्वरूप की तरह बनता है। या फिर जिस तरह वेश्यारूपी अनादि अविद्या के द्वारा आत्मा को दूसरा स्वभाव प्राप्त होता है किन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति, जो कि माता के समान है, उस श्रुति के द्वारा पुनः अपना स्वभाव प्राप्त होता है। (उसी प्रकार श्रुति से आत्मा को स्वरूप बोध होता है)

एतदाहुस्त्रैविद्यवृद्धाः—

५७. नीचानां वसतौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित-
स्तज्जातीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा।
संवादे महादादिभिः सह वसंस्तद्वद्भवेत्पूरुषः।
स्वात्मानं सुखदुःखजालकलितं मिथ्यैव धिङ्मन्यते॥

अनुवाद—यही बात वेदज्ञों ने कही है—नीचों के निवास स्थान में उन्हीं नीचों के पुत्रों के साथ अनेक दिनों तक पालित-पोषित राजकुमार अपने को निश्चित ही उसी नीच जाति का समझने लगता है, उसी प्रकार लोक में महद् आदि तत्त्वों के साथ रहने वाला पुरुष (जीव) भ्रम से उसी महदादि की तरह हो जाता है। (अर्थात् अपने को महदादि के समान अनित्य समझने लगता है) और अपने को झूठ ही सुखदुःखादि के जाल में घिरा हुआ मानने लगता है। उसे धिक्कार है।

५८. दाता भोगकरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां।
राजा स त्वमसीति रक्षितृमुखाच्छ्रुत्वा यथावत्स तु।
राजीभूय जयार्थमेव यतते तद्वत्पुमान्बोधितः
श्रुत्या तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव सम्पद्यते॥

अनुवाद—फिर जब वह राजकुमार अपने रक्षक के मुख से यथावत् सुनता है कि 'तुम राजा हो, तुम दानी, भोगी, समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न तथा दुष्टों के शासक हो' यह सुनकर वह राजा बनकर विजय के लिये प्रयास करता है। उसी तरह 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति से बोधित पुरुष अपने पापों (मिथ्याभाव) को छोड़कर ब्रह्मीभूत हो जाता है।

एतेनैतत्प्रत्युक्तं यदुक्तं परैः-'किं द्वयोस्तादात्म्यमेकस्य वा? नाद्यः। अद्वैतभङ्गप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। असम्भवात्' इति। तत्र अविद्यापरिकल्पितभेद-निवृत्तिपरत्वेन तत्त्वमस्यादितादात्म्यवादप्रामाण्योपपत्तेः। तौ च पर्यनुपयोगपरि-हारावग्राहिषातां मनीषिभिः।

५९. न द्वयोरस्ति तादात्म्यं च चैकस्याद्वयत्वतः।
अप्रामाण्यं श्रुतेरेवं नारोपध्वंसमात्रतः॥ इति।

अनुवाद—पूर्वपक्षी ने जो शंका की थी, उसका उत्तर भी इसी से हो गया। क्या जीवात्मा और ब्रह्म दोनों का तादात्म्य है या फिर एक का ही तादात्म्य है? पहला विकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि दो वस्तुओं का तादात्म्य मानने पर अद्वैत के भङ्ग का प्रसंग आयेगा। दूसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु का तादात्म्य असम्भव है। (सिद्धान्ती कहते हैं) अविद्या कल्पित भेद की निवृत्ति हो जाने पर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की सिद्धि हो जायेगी। विद्वानों ने पर्युनुयोग एवं परिहार का वर्णन किया है—

दो वस्तुओं का तादात्म्य नहीं हो सकता तथा अद्वैत होने से एक वस्तु का भी तादात्म्य सम्भव नहीं है। केवल आरोप तथा ध्वंसमात्र से श्रुति का अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता।

(२६. प्रथम सूत्र का उपसंहार और अनुबन्ध)

ततश्च तत्त्वमसीति तत्त्वंपदार्थश्रवणमननभावनाबलभुवा साक्षात्कारेणा-नाद्यविद्यानिवृत्तौ सच्चिदानन्दैकरसब्रह्माविर्भावः सम्पत्स्यत इति ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वं प्रथमसूत्रोक्तं युक्तम्।

६०. अज्ञातं विषयो ब्रह्म ज्ञातं तच्च प्रयोजनम्।
मुमुक्षुरधिकारी स्यात्सम्बन्धः शक्तितः श्रुतेः॥ इति।

अनुवाद—फिर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ के श्रवण, मनन तथा भावना के बल के कारण ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा जब अनादि अविद्या की निवृत्ति

हो जाती है, तब सच्चिदानन्द एकरस ब्रह्म का आविर्भाव होता है—इसीलिये प्रथमसूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा करना उचित ही है।

अज्ञातब्रह्म 'विषय है' उस ब्रह्म ज्ञान प्रयोजन है, मोक्ष की इच्छा रखने वाला अधिकारी है और श्रुति की शक्ति से सम्वन्ध है।

विशेष—वेदान्तशास्त्र में चार अनुबन्ध हैं।

इसे अनुबन्धचतुष्टय भी कहते हैं—

१. अधिकारी—मुमुक्षु।

२. विषय—ब्रह्म।

३. सम्बन्ध—श्रुति की शक्ति अर्थात् अभिधा के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन। (प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध)

४. प्रयोजन—ब्रह्मज्ञान।

(२६ क. चतुःसूत्री के अन्य सूत्र–स्वरूप और तटस्थ लक्षण)

'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १/१/२) इति द्वितीयसूत्रे ब्रह्म स्वरूपलक्षण-तटस्थलक्षणाभ्यां न्यरूपि। तत्र स्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २/१/१) इत्यादिवेदान्तैः प्रतिपादितम्। तस्य सत्य-ज्ञानाद्यात्मकस्वरूपान्तर्गतत्वे सति व्यावर्तकत्वात्। तटस्थलक्षणं 'यतो वा इमानि' (तै. २/१) इत्यादीनि वाक्यानि निरूपयन्ति जगज्जन्मादिकारणत्वेन। तदुक्तं विवरणे–

६१. जगज्जन्मस्थितिध्वंसा यतः सिध्यन्ति कारणात्।
तत्स्वरूपतटस्थाभ्यां लक्षणाभ्यां प्रदर्श्यते ॥ इति ।

अनुवाद—'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र.सू. १.१.२)—जिससे जगत् का जन्म आदि होता है'। इस द्वितीय सूत्र में स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण के द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया है। स्वरूप के अन्तर्गत रहकर जो सबसे भिन्न है, वह स्वरूप लक्षण है जो कि 'सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्यरूप, ज्ञानरूप तथा अनन्त है—तैत्तिरीयोपनिषद् २.१.१) इत्यादि वेदान्त वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित है। क्योंकि वह स्वरूप लक्षण ब्रह्म को सत्य ज्ञानादि स्वरूप में रखते हुए अन्य से भिन्न करता है। 'यतो वा इमानि' (जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है—तैत्तिरोयोपनिषद् २.१) इत्यादि वाक्य जगत् के जन्मादि कारण के रूप में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का निरूपण करते हैं। जैसा कि विवरण (ग्रन्थ का नाम) में कहा गया है—

जिस कारण से जगत् की जन्म, स्थिति तथा संहार होता है, वह कारण ब्रह्म स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण के द्वारा दिखलाया जा रहा है।

विशेष—ब्रह्म का दो प्रकार का लक्षण है—

१. स्वरूप लक्षण—जैसे—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

२. तटस्थ लक्षण—जैसे—यतो वा इमानि भूतानि।

जायन्ते, जन्माद्यस्य यतः इत्यादि।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र.सू. १/१/३) इति तृतीयसूत्रे प्रथमवर्णकेन षष्ठीसमासमाश्रित्य सर्वज्ञत्वं प्रत्यपादि। द्वितीयवर्णकेन बहुव्रीहिसमासमभ्युपगम्य ब्रह्मणो वेदान्तप्रमाणत्वं प्रत्यज्ञायि।

अनुवाद—'शास्त्रयोनित्वात्' (शास्त्रों का मूलकारण भी ब्रह्म है'—ब्रह्मसूत्र १.१.३) इस तृतीयसूत्र में प्रथम वर्णक में षष्ठी तत्पुरुषसमास का आश्रय लेकर ब्रह्म का सर्वज्ञत्व प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय वर्णक में बहुव्रीहिसमास का आश्रय लेकर ब्रह्म का वेदान्तप्रमाणत्व बतलाया गया है।

'तत्तु समन्वयात्' (ब्र.सू. १/१/४) इति चतुर्थे सूत्रे प्रथमवर्णकेन वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यं प्रत्यपादि। द्वितीयवर्णकेन वेदान्तानां प्रतिपत्तिविधिशेषतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वं प्रत्यक्षेऽपि। दिङ्मात्रमत्र प्रदर्शितम्। शिष्टं शास्त्र एव स्पष्टमिति सकलं समञ्जसम्।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सकलदर्शन-
शिरोऽलङ्काररत्नं श्रीमच्छाङ्करदर्शनं समाप्तम्।।

अनुवाद—'तत्तु समन्वयात्' (उसी ब्रह्म प्रतिपादन में समन्त वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य है—ब्रह्मसूत्र १.१.४) इस चतुर्थ सूत्र में प्रथम वर्णक में वेदान्त (उपनिषद्) का ब्रह्म में तात्पर्य प्रतिपादित किया गया है। दूसरे वर्णक में प्रतिपत्तिविधि (ज्ञानविधि) के अंग के रूप में प्रत्यक्ष रूप में भी वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य बतलाया गया है। यहाँ तो केवल दिशा-निर्देश दिखलाया गया है। बाकी सब तो शास्त्र में ही स्पष्ट है—इस प्रकार सब कुछ ठीक हो गया।

॥ इति शाङ्करदर्शनम् ॥

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १–चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करिये ।

उत्तर—शरीरात्मवाद—चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर ही आत्मा है । शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है । चार्वाक दर्शन के अन्तर्गत कुछ लोग इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं, तो कुछ लोग मन या बुद्धि को आत्मा मानते हैं ।

वस्तुत: चार्वाक मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चार तत्त्वों से शरीर निर्मित होता है । इन चार तत्त्वों के मिलने पर चैतन्य शक्ति उसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार मादक द्रव्यों के मेल से मद शक्ति उत्पन्न होती है । इन चार तत्त्वों से भिन्न चैतन्य नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है—

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि । तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्य: किण्वादिभ्य: मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते । विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति । ......देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात् ।—सर्वदर्शनसंग्रह:

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिला: ।
चतुर्भ्य: खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्य: समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूल: कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यत: ॥
देह: स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापर: ।
मय देहोऽयमित्युक्ति: संभवेदौपचारिकी ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण—चार्वाक दर्शन में एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना जाता है । चूँकि आत्मा का दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होता, इसलिये चार्वाक मत में शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जाता । अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाण कोटि में नहीं आते ।

सुख (पुरुषार्थ)—सांसारिक सुख के ही 'परम पुरुषार्थ' माना जाता है—अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थ: ।

इसी प्रकार भौतिक कारणों से उत्पन्न दु:ख ही नरक है—कण्टकादिजन्यं दु:खमेव नरक: ।

कहा गया है—

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टिमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ।।

इसीलिये सुख की प्राप्ति के लिये अग्निहोत्रादि कर्म करना उचित नही है—ऐसा बृहस्पति का मत (चार्वाक मत) है—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।।

ईश्वर—राजा ही ईश्वर है और शरीर का त्याग ही मोक्ष। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः । देहच्छेदो मोक्षः । लोकसिद्धो भवेत्राजा परेशो नापरः स्मृतः । देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ।।

चार्वाक मत का सार बृहस्पति ने बतलाया है कि जगत् में सभी पदार्थ स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं—

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः ।।
न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ।।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ।।
यावजीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ।
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ।।

प्रश्न २–बौद्धमतानुसार क्षणिकवाद का वर्णन करिये ।

उत्तर—बौद्ध मत के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है—सर्व क्षणिकं क्षणिकम् ।

क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है—सर्वं क्षणिकं सत्वात् ।

सत् का तात्पर्य है वह पदार्थ जिसमें किसी कार्य को करने का सामर्थ्य हो अर्थात् वह अर्थक्रियाकारी हो । अत: 'सत्, हेतु से क्षणिकत्व की सिद्धि होती है—

यत् सत् तत् क्षणिकं तथा जलधर: सन्तश्च भावा अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मिते: सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेत्
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरत: साध्ये च विषाम्यति ॥

अक्षणिक (नित्य) पदार्थ का अर्थ क्रियाकारित्व न तो क्रम से सिद्ध होता है न ही अक्रम से ।

१. क्रम से अक्षणिक (नित्य) का अर्थक्रियाकारित्व संभव नहीं—यदि स्थायी पदार्थ में क्रम से अर्थ क्रिया मानी जाये, तो सम्भव नहीं है, क्योंकि निम्नलिखित दो विकल्पों ते यह असिद्ध होगा—

१. स्थायी पदार्थ में वर्तमान क्रिया करते समय अतीत तथा अनागत काल में भी अर्थ क्रियाकारित्व है या नहीं । यदि प्रथम विकल्प मानें तो कार्य की उत्पत्ति तीनों काल में होनी चाहिये ।

२. दूसरा विकल्प मानने पर भूत तथा भविष्य में अर्थ क्रियाकारित्व न होने से वर्तमान में भी अर्थ-क्रियाकारित्व नहीं होगा तथा कार्य की कभी भी उत्पत्ति नहीं होगी ।

सहकारी लाभ होने पर भी स्थायी पदार्थ में अर्थक्रियाकारिता संभव नहीं है—

यदि यह कहें कि सहकारी की प्राप्ति होने पर स्थायी मे अर्थक्रिया होती है, तो यह प्रश्न उठता है कि सहकारी भाव का उपकार करता है या नहीं

१. यदि सहकारी भाव का उपकार नहीं करता, तो उन सहकारी की आवश्यकता ही व्यर्थ है ।

२. यदि सहकारी भाव का उपकार करता है, तो सहकारी भाव का स्वभाव बन जायेगा । फिर भाव की सत्ता सहकारी के बिना असंभव होगी ।

यदि दुर्जन तोष न्यायेन उपकार पक्ष माना जाये तो भी दो विकल्प होंगे—

उपकार भाव से भिन्न है—

भेद पक्ष में उपकार को ही कारण मानना पड़ेगा। जैसे बीज से अंकुरोत्पत्ति में यदि सहकारी धूप, जल आदि को बीज से भिन्न कहा जाये तो उस सहकारी के ही कारण कहना पड़ेगा, बीज को नहीं। यदि वह कहा जाये कि सहकारी से उत्पन्न अतिशय अतिशयान्तर को उत्पन्न करता है, तो इस पक्ष में तीन अनवस्थायें होंगी—

१. एक अतिशय से अतिशयान्तर, उस अतिशयान्तर से अन्य अतिशय-इस प्रकार प्रथम अनवस्था होगी।

२. सहकारी को अतिशय उत्पन्न करने में अन्य सहकारी की आवश्यकता होती है। उस सहकारी को अन्य सहकारी की आवश्यकता होगी-इस प्रकार द्वितीय अनवस्था होगी।

३. सहकारी में अतिशय मानने पर वह सहकारी बीज में भी अन्य उपकार का ग्रहण करेगा। इस प्रकार बीजाश्रित अतिशय की अनवस्था होगी।

उपकारी भाव से भिन्न नहीं है—अभेद पक्ष में भाव में ही विकारत्व की आपत्ति होगी और भाव कार्योत्पादक हो जायेगा। इस प्रकार यदि भाव में अर्थ क्रियाकारित्व होने लगे, तो वह क्षणिक सिद्ध हो जायेगा।

इस प्रकार क्रम से स्थायी का अर्थ क्रियाकारित्व संभव नहीं है—

२. अक्रम से स्थायी का अर्थ क्रिया कारित्व संभव नहीं—

स्थायी से युगपत् भी अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प होते हैं—

१. स्थायी वर्तमान अर्थक्रिया करके भविष्यकाल में भी स्थित रहता है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष माना जाये तो भविष्य में वह अर्थ क्रिया करता रहेगा।

२. दूसरा पक्ष मानने पर तो यदि कार्योत्पत्ति के बाद भाव को नष्ट माना जाये, तो वह क्षणिक सिद्ध हो जायेगा।

इस प्रकार क्रम या अक्रम से स्थायी में अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार क्षणिकवाद सिद्ध होता है।

प्रश्न २-जैनदर्शनोक्त तत्त्वमीमांसा का वर्णन कीजिये।

उत्तर—जैन दर्शन में दो तत्त्वों को ही स्वीकार किया गया है—जीव तथा अजीव। जीव ज्ञान रूप है तथा अजीव अज्ञानरूप।

जीव के भेद इस प्रकार होते हैं—

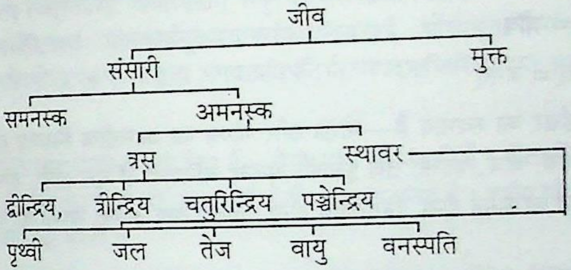

जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी तथा मुक्त। एक जन्म से दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले जीव संसारी हैं। संसारी जीव भी दो प्रकार के हैं—संज्ञायुक्त (समनस्क) तथा संज्ञाहीन (अमनस्क)। अमनस्क भी दो तरह के हैं—त्रस तथा स्थावर। त्रस जीवों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय भेद होते हैं। स्थावर जीवों के पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति—ये पाँच भेद होते हैं।

अन्य मत से पाँच तत्त्व हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म तथा पुद्मल (पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण से युक्त होते हैं) कुछ लोग सात तत्वों का वर्णन करते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष। कर्मा का प्रवाह आस्रव कहलाता है। आस्रव के पाँच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस तथा कार्यण।

मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण आत्मा पुद्गलों का आलिंगन करती है। इसे ही बन्धन कहा जाता है। यह चार प्रकारक का है—प्रकृति, स्थिति, अनुभव तथा प्रदेश।

आस्रव का निरोध संवर है। तप आदि के द्वारा अर्जित कर्म को नष्ट कर देना निर्जरा है।

मिर्थ्यादर्शन, आदि बन्ध हेतुओं का निरोध होने पर नये कर्मों का अभाव होकर पूर्व कर्मों का विनाश होने से मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रश्न ४–रामानुदर्शन के अनुसार तीन तत्त्वों का वर्णन करिये।

उत्तर—रामानुज दर्शन में तीन तत्त्व माने गये हैं—ईश्वर, चित् और अचित्।

ईश्वराश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।

ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः॥ —सर्वदर्शन संग्रह

१. ईश्वर

२. चित् = जीव

३. अचित् = जगत्

ईश्वर—ईश्वर का स्वभाव है—भोक्ता और भोज्य का आन्तरिक नियन्ता होना, असीम ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज इत्यादि अनन्त अतिशयों से युक्त होना, असंख्य कल्याणकारी गुणों का समूह होना, निरतिशय होना, विविध तथा अनन्त भूषणों को धारण करना।

परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोः अन्तर्यामिरूपेणावस्थानमपरिच्छेद्यज्ञानैश्वर्यवीर्यशक्तितेजः-प्रभृत्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणतयास्वसंकल्पप्रवृत्तस्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तु-जातता स्वाभिमता स्वानुरूपैकरूपदिव्यरूप-निरतिशय विविधानन्तभूषणतेत्यादयः।

—सवर्दशन संग्रह

ईश्वर के चार व्यूह हैं—प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण, वासुदेव। वह अपनी लीलावश पाँच रूप धारण करता है—

अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः॥
वासुदेवः स्वभक्तेषु वात्सल्यात्तत्तदीहितम्।
अधिकार्यनुगुण्येन प्रयच्छति फलं बहु॥
तदर्थं लीलया स्वीयाः पञ्चमूर्तीः करोति वै।
प्रतिमादिकमर्चा स्यादवतारास्तु वैभवाः॥
संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं सम्पूर्णषड्गुणम्॥

—सर्वदर्शन

चित् = जीव जीव को चित् रूप कहा जाता है। यह संकोचरहित, सीमाहीन तथा ज्ञानस्वरूप है। अनादि कर्मरूपी अविद्या से घिरा है। अपने-अपने कर्म के अनुसार ज्ञान का संकोच विकास होना, अचित् वस्तु के संसर्ग में आना, सुख-दुःख दोनों का उपभोग करना, भगवत्स्वरूप का ज्ञान, भगवत्चरण की प्राप्ति-ये सब जीव का स्वभाव है।

तत्र चिद्रूपाणां जीवात्मनाम् संकुचितपरिच्छिन्ननिर्मलज्ञानरूपाणाम् अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितानां तत्तत्कर्मानुरूपज्ञानसंकोचविकाशौ भोग्यभूताचित्संसर्गस्तदनुगुणसुखदुःखोपभोगद्वयरूपा भोक्तृता भगवत्प्रतिपत्तिर्भगवत्पदप्राप्तिरित्यादयः स्वभावः।

—सर्वदर्शन

जीवात्मा परमात्मा उसे भिन्न है—ऐसा श्रुति भी कहती है। गीता में भी कहा गया है कि जीवात्मा का जन्म या मृत्यु नहीं होती। यह अजन्मा है। शरीर की मृत्यु होने पर भी आत्मा नहीं मरती।

तत्र चिच्छब्दवाच्या जीवात्मानः परमात्मनः सकाशाद् भिन्ना नित्याश्च। तथा च श्रुतिः—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (सु. ३.१.१, श्वे. ४.६) इत्यादिका। अत एवोक्तं नानात्मानो व्यवस्थातः' (वै.शे.स. ३.२.२०) इति तन्नित्यत्वमपि श्रुतिप्रसिद्धम्—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। गीता (२.२०)

अचित्—(जगत्) अचित् का स्वभाव है—अचेतन होना, पुरुषार्थों की प्राप्ति न करना, विकार प्राप्त करना इत्यादि।

अचिद् वस्तूनां तु भोग्यभूतानामचेतनत्वमपुरुषार्थत्वं विकारास्पदत्वमित्यादयः।

अचित् शब्दवाच्यं दृश्यं जडं जगत्त्रिविधं भोग्यभोगोपाकरणभोगायतनभेदात्।

प्रश्न ५–पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करिये।

उत्तर—पूर्णप्रज्ञ दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। इस दर्शन में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ईश्वर अनेक दुष्ट दैत्यों का वध करते हैं—

अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्॥

ईश्वर की सेवा तीन प्रकार की है—अंकन, नामकरण तथा भजन।

१. अंकन—ईश्वर की आयुध आदि के चिह्नों को शरीर में अंकित करना ही अंकन है। कहा गया है—तत्राङ्कनं नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपेक्षितार्थसिद्ध्यर्थ च।

चक्रं बिभर्ति पुरुषोऽभितप्तं बलं देवानाममृतस्य विष्णोः।
स याति नाकं दुरितावधूय विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः॥
देवासो येन विधृतेन बाहुना सुदर्शनेन प्रयातास्तमायन्।
येनाङ्किता मनवो लोकसृष्टिं वितन्वन्ति ब्राह्मणास्तद्वहन्ति॥

यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन का चिह्न और बायें हाथ में शंख का चिह्न धारण करे।

दक्षिणे तु करे विप्रो बिभृयाच्च सुदर्शनम्।

सव्येन शंखं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

२. **नामकरण**—पुत्रादि का नारायण, केशव आदि नाम रखने से परमात्मा के नाम का सदैव उच्चारण तथा उच्चारण के माध्यम से परमात्मा का स्मरण होता रहता है— नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम्।

३. **भजन**—भजन दस प्रकार का है—

१. वाणी से सत्य

२. वाणी से हित

३. वाणी से प्रिय

४. वाणी से स्वाध्याय

५. शरीर से दान

६. शरीर से रक्षा

७. शरीर से बचाव

८. मन से दया

९. मन से स्पृहा

१०. मन से श्रद्धा

ईश्वर सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षका हैं कहा गया है—

द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्।

मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना ॥

तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

भगवान् विष्णु के सर्वोत्कर्ष में सभी आगमों का तात्पर्य है।

मुख्यं च सर्वदेवानां तात्पर्यं श्रीपतौ परे।

उत्कर्षे तु तदन्यत्र तात्पर्यं यादवान्तरम्॥

भगवत्कृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यस्य प्रसादात्परमार्तिरूपादस्मात्संसारात्मुच्यते नापरेण।

नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात्॥

तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।

समाश्रिताद् ब्रह्मगतेरनन्तात् निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति॥

प्रश्न ६–शैव दर्शन के अनुसार पशु, पति तथा पाश का वर्णन करिये।

उत्तर—शैव दर्शन में पशु, पति तथा पाश—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार किया गया है।

पशु—जो अणु नहीं है तथा क्षेत्रज्ञ आदि पदों से जिसका बोध होता है, वह पशु है।

अनणुः क्षेत्रज्ञादिपदवेदनीयो जीवात्मा पशुः।

पशु तीन प्रकार को है—विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल।

१. विज्ञानाकल—विज्ञान, योग संन्यास तथा भोग से कर्म का क्षय होने पर, कर्मक्षय के लिये जब कलादि भोग बान्ध का अभाव हो जाता है उस स्थिति में केवल मल से युक्त जीव विज्ञानाकल कहलाता है। यह दो प्रकार का है—समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष।

२. प्रलयाकल—जब प्रलय के द्वारा कलादि का विनाश होता है, उस स्थिति में मल के साथ कर्म भी रहता है, इसे ही प्रलयाकल कहा जाता है। यह दो प्रकार के होते हैं—(१) जिनके दो पाश (मल तथा कर्म) परिपक्व हो गये हैं तथा (२) उनसे भिन्न। प्रथम तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है और दूसरा विविध जन्म प्राप्त करता है।

३. सकल—मल, माया तथा कर्म तीनों बन्धनों (पाश) से युक्त जीव सकल है। यह दो प्रकार का है—पक्वकलुष तथा अपक्वकलुष।

पति—भगवान् शिव को पति कहा गया है। वही परमेश्वर है तथा सर्वस्वतन्त्र है

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वाश्वभ्रमेव वा॥

स्वतन्त्रस्याप्रयोज्यत्वं करणादिप्रयोक्तृता ।

कर्तु: स्वातन्त्र्यमेतद्धि न कर्माद्यनपेक्षता ॥

पाँच कार्यों के लिये ईश्वर के पांच रूप हैं—

१. ईशान—जगत् के अनुग्रह के लिये

२. तत्पुरुष—जगत् के तिरोभाव के लिये

३. अघोर—जगत् के संहार के लिये

४. वामदेव—जगत् के पालन के लिये

५. सद्योजात—जगत् की सृष्टि के लिये ।

पाश—पाश चार प्रकार के हैं—

१. मल—आत्मा की स्वाभाविक दृक और क्रियाशक्ति को आच्छादित करने वाला मल है ।

२. रोधशक्ति—बल का अर्थ रोधशक्ति है ।

तासामहं वरा शक्ति: सर्वानुग्राहिका शिवा ।

धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते ॥

३. कर्म—धर्म तथा अधर्म को कर्म के अर्न्तन रखा जाता है ।

४. माया—सम्पूर्ण जगत् जिसमें विलीन, होता है तथा जिससे प्रकट होता है, वह काया है ।

प्रश्न ७–प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन करीये ।

उत्तर—कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।

समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयमि ॥

यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रारम्भिक सूत्र है । गुरु तथा परमेश्वर में कोई अन्तर नहीं है ऐसा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मानना है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार गुरु भगवान् महेश्वर की कृपा से जीव को प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति होती है ।

एक वारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यत: ।

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ॥

करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा ।

ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत् ॥

बाह्य या आभ्यन्तर में सभी प्रकार के नित्य-सुख आदि सम्पदाओं की सिद्धि अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता है। उक्त प्रकाशन को अच्छी तरह से प्राप्त कर लेना ही प्रत्यभिज्ञा है।

समस्तस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नित्यसुखादेर्या सम्पत्सिद्धि: तथावत्प्रकाश:, तस्या: सम्यगावाप्तिर्यस्या: प्रत्यभिज्ञाया: हेतु: सा तथोक्ता।

तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा, प्रति अभिमुख्येन, ज्ञानम्। लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते। इहापि प्रसिद्धपुराणासिद्धागमानुमानादिज्ञातपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मनि अभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसन्धानेन ज्ञानमुदेति नून स एवेश्वरोऽहमिति।

इस प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति तभी होती है जब माया का प्रभाव दूर होता है—

स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते।

आचार्य उदयाकर के पुत्र ने भी कहा है—

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।

अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत क:॥

किं तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।

शक्त्यविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥

अभिनवगुप्ताचार्य ने आभासवाद के द्वारा इसी सिद्धान्त का प्रकाशन किया है। उनका कहना है कि चैतन्य प्रकाशरूप है उसे ही प्रमाता या ज्ञाता कहा जाता है तथा ईश्वर भी प्रकाश तथा चैतन्यरूप है। वही अपनी आत्मा के दर्पण पर प्रतिबिम्ब की तरह सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (काठक २.२) इति श्रुत्या प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्वस्य भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते। ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाश:, पीतप्रकाश:, इति विषयोपरागभेदाद्भेद:। वस्तुतस्तु देशकालाकारसंकोचवैकल्यादभेद एव। स एव चैतन्यरूप: प्रकाश: प्रमातेच्युच्यते।

प्रश्न ८–रसेश्वर दर्शन के अनुसार पारद के स्वरूप तथा महत्त्व का वर्णन करिये।

उत्तर—रसेश्वर दर्शन के अनुसार पारद ही परम पद को प्राप्त कराने वाला है।

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारद: स्मृत:।

शरीर ही मुक्ति का साधन है, इसलिये शरीर की रक्षा रस-रसायनों से करनी चाहिये।

षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने।

करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते।

तस्मात्तं रक्षयेत् पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः॥

वस्तुतः यह पारद रस शिवरूप है तथा अभ्रक पार्वतीरूप है। पारद के तीन रूप हैं—मूर्छित, मृत और बद्ध।

१. **मूर्छित**—जब पारद अनेक वर्णों का हो तथा उसमें घनत्व या चंचलता न हो, उसे मूर्च्छित पारद कहा जाता है।

नानावर्णो भवेत् सूतो विहाय धवचापलम्।

लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि॥

२. **मृत**—आर्द्रहोना, घनत्व, चमक, गुणत्व और तरलत्व ये सभी लक्षण जिसमे दिखाई नहीं पड़ते, उसे मृत पारद कहा जाता है।

आर्द्रत्वं च घनत्वं च तेजो गौरवचापलम्।

यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम्॥

३. **बद्ध**—जो क्षयरहित, थोड़ा द्रवित होने वाला, तेजोमय, स्वच्छ, गुरु (भारी) तथा संस्कार करते समय विकसित होना वाला हो, वह बद्ध पारद कहलाता है।

अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः।

स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम्॥

इन तीनों प्रकार के पारद के अन्य गुण इस प्रकार है—

मूर्छितो हरति व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्।

बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥

रस के अठारह संस्कार किये जाते हैं—

स्वेदनमर्दनमूर्च्छनस्थापनपातननिरोधनियमाश्च।

दीपनगमनग्रासप्रमाणमथ जारणपिधानम्॥

गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिक्षारणसंरागसारणाश्चैव।

क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म॥

पारद के सेवन से जरामरण से मुक्ति प्राप्त होती है।

दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य भक्षणात्स्मरणादपि ।
पूजनात् रसदानाच्च दृश्यते षड्विधं फलम् ।।
केदारादीनि लिंगानि पृथिव्यां यानि कानिचित् ।
तानि दृष्ट्वा तु यत्पुण्यं तत्पुण्यं रसदर्शनात् ।।
काश्यादिसर्वलिंगेभ्यो रसलिंगार्चनाच्छिवः ।
प्राप्यते येन तल्लिंगं भोगारोग्यामृतप्रदम् ।।

'रसो वैसः' इस श्रुति वाक्य में भी परमात्मा को रसरूप कहा गया है ।

प्रश्न ९–वैशेषिक दर्शन में प्रोक्त सप्त पदार्थों का निरूपण करिये ।

उत्तर—वैशेषिक दर्शन में सप्तपदार्थ स्वीकार किये गये हैं—

१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, ७. अभाव ।

१. द्रव्य—द्रव्यत्व का लक्षण है—

द्रव्यत्वं नाम गगनारविन्दसमवेतत्वे सति नित्यत्वे सति गन्धसमवेतत्वम् ।

द्रव्य ९ प्रकार का है—

१. पृथ्वी—जो पाकजरूप का समानाधिकरण है तथा द्रव्य-सामान्य के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके, वह पृथ्वीत्व है ।

२. जल—जो नदी और समुद्र में समवेत हो तथा अग्नि से समवेत न हो, वह जलत्व है ।

३. तेज—जो चन्द्र और सुवर्ण के साथ समवेत हो तथा जल से समवेत न हो, वह तेजस्त्व है ।

४. वायु—जो स्पर्शेन्द्रिय से समवेत हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके, वह वायुत्व है ।

५. आकाश—संयोग से उत्पन्न न होने वाले तथा अनित्य विशिष्ट गुण के साथ जो विशेष समानाधिकरण है, उसी विशेष का आधार आकाश है ।

६. काल—जो व्यापक हो तथा दिक् से असमवेत परत्व के असमवायिकारण का अधिकरण हो, वह काल है ।

७. दिक्—जो काल न हो, विशेष गुण से रहित हो तथा महती हो, वह दिक् है ।

८. आत्मा—जो मूर्त द्रव्यों में समवेत न हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त हो, वह आत्मत्व है ।

९. **मन**—जो अणु द्रव्य का समवायिकारण नहीं हो सकते, उन अणुओं में समवेत तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होने वाली जाति को मनस्त्व कहते हैं।

२. **गुण**—गुण का लक्षण है—

गुणत्वं नाम समवायिकारणासमवेतासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्य जातिः।

गुण २४ है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, स्वच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म), शब्द।

३. **कर्म**—कर्म का लक्षण है—नित्यासमेवतसहितसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः। वह पाँच प्रकार का है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन।

४. **सामान्य**—सामान्य का लक्षण है—सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम्। यह दो प्रकार का है—पर तथा अपर। पर सामान्य सत्ता है, जो द्रव्य गुण तथ कर्म मे रहता है। अपर सामान्य द्रव्यत्व आदि है।

५. **विशेष**—विशेष का लक्षण है—विशेषो नाम अन्योन्याभाव विरोधी सामान्य रहितः (समवेतः) विशेष तथा समवाय एक ही हैं। इन दोनों का कोई विभाग नहीं होता।

६. **समवाय**—समवाय का लक्षण है—समवायस्तु समवायरहितः सम्बन्धः।

ये छह भावपदार्थ हैं। सप्तम पदार्थ अभाव है—

७. **अभाव**—अभाव का लक्षण है—असमवायत्वे सति असमवायः।

यह दो प्रकार का है—

१. संसर्गाभाव—प्रागभाव, प्रध्वंस तथा अत्यन्ताभाव

२. अन्योन्याभाव।

प्रश्न १०–न्यायदर्शन के अनुसार षोडश पदार्थों का वर्णन करिये।

उत्तर—न्यायदर्शन में १६ पदार्थ माने गये हैं—

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान।

१. **प्रमाण**—प्रमाण का लक्षण है—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्। प्रमाण चार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

२. **प्रमेय**—प्रमेय का लक्षण है—प्रमायां यद्धि प्रतिभासते तत्प्रमेयम्। प्रमेय १२

हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग।

३. **संशय**—'अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः' अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहा जाता है। यह तीन प्रकार है—साधारण धर्म वाला, असाधारण धर्म वाला तथा विप्रतिपत्तिरूप।

४. **प्रयोजन**—जिसे उद्देश्य बनाकर लोगों की प्रवृत्ति होती है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—दृष्ट तथा अदृष्ट।

५. **दृष्टान्त**—व्याप्ति का आधार दृष्टान्त है। यह दो प्रकार का है—साधर्म्य तथा वैधर्म्य।

६. **सिद्धान्त**—प्रमाणिक रूप से प्राप्त विषय के सिद्धान्त कहा जाता है। यह चार प्रकार का है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम।

७. **अवयव**—परार्थानुमान के लिये प्रयुक्त होने वाले वाक्य के एकदेश को अवयव कहा जाता है। यह पाँच प्रकार का है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

८. **तर्क**—व्याप्य का आरोप करके व्यापक का आरोप करना तर्क कहलाता है। यह ११ प्रकार का है—व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धी की कल्पना, कल्पना लाघव, कल्पना गौरव, उपसर्ग, अपवाद, बीजत्व।

९. **निर्णय**—यथार्थानुभव अर्थात् प्रमा को ही निर्णय कहा जाता है। यह चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शब्द।

१०. **वाद**—वाद एक प्रकार की कथा है, जिसका फल तत्त्व का निर्णय करना है।

११. **जल्प**—विजय की इच्छा से की जाने वाली कथा, जिससे दोनों पक्षों की सिद्धि होती है, जल्प कहलाती है।

१२. **वितण्डा**—जिस कथा में अपने पक्ष की स्थापना न हो, वह वितण्डा है।

१३. **हेत्वाभास**—जिसे हेतु के रूप में रखा तो जाये, किन्तु वह साध्य का साधक न हो, उसे हेत्वाभास कहा जाता है। यह पाँच प्रकार का है—

१. सव्यभिचार—साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी

२. विरुद्ध, ३. सत्प्रतिपक्ष या प्रकरण सम, ४. असिद्ध या साध्यसम—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध।

५. बाधित या कालातीत (अतीत काल)।

१४. छल—शब्द की विभिन्न वृत्तियों के उलटकर जिसके द्वारा किसी बात का विरोध किया जाये, वह छल है। यह तीन प्रकार का है—अभिधान, तात्पर्य तथा उपचार।

१५. जाति—अपना ही व्याघात करने वाला उत्तर जाति है। यह २४ प्रकार की है—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसस, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, कार्यसम।

१६. निग्रहस्थान—पराजय का निमित्त विग्रह स्थान है। यह २२ प्रकार का है—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थानन्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, आपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्यापेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास।

प्रश्न ११-व्याकरण के प्रयोजनों का वर्णन करिये।

उत्तर—महाभाष्य तथा तदनुसार सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार व्याकरण के पाँच प्रयोजन कहे गये हैं—

रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्।

१. रक्षा—वेदरक्षा के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। वेद में देवासः, त्मना, देवेभिः, इत्यादि प्रयोगों को व्याकरणज्ञ व्यक्ति ही समझ सकता है तथा वेदों की रक्षा कर सकता है।

२. ऊह—ऊह का अर्थ है वैदिक शब्दों में देवता, लिंग, वचन आदि के अनुसार परिवर्तन करना जैसे—अग्नियाग में 'अग्नये जुष्टम्' का उच्चारण होता है। इसी आधार पर सूर्ययाग में सूर्याय जुष्टम् का का ऊह किया जाता है।

३. आगम—'ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगम के आदेशानुसार ब्राह्मण को षडंगवेद का अध्ययन तथा अर्थज्ञान करना चाहिये। अतः, यह भी व्याकरण का प्रयोजन है।

४. लघु—व्याकरण के माध्यम महान् शब्द भण्डार को कम प्रयास से जाना जा सकता है।

५. असन्देह—सन्देह-निवारणार्थ भी व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। 'स्थूलपृषतीमनड्वाहीमालभेत' यहाँ 'स्थूलपृषती' में कर्मधारय समास होगा या बहुव्रीहि इसका निर्णय व्याकरण के द्वारा ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'शब्दानुशासन' भी व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन है—व्याकरण-शास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात् प्रयोजनम् ।

व्याकरण के ज्ञान से ही साधुशब्दों का प्रयोग हो सकता है तथा साधु शब्द के प्रयोग से अभ्युदय होता है ।

साधुशब्दप्रयोगवशादभ्युदयोऽपि भवति ।

तथा च कथितं कात्यायनेन-शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । अन्यैरप्युक्तम्—एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवतीति । तथा—

नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः ।

अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिक्कमितभाषिणः ॥

प्रश्न १२–प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुए उसकी सिद्धि करिये ।

उत्तर—सांख्य दर्शन में प्रकृति तथा पुरुष—इन दो तत्त्वों के संयोग से सृष्टि मानी गयी है । प्रकृति को ही मूलप्रकृति कहा जाता है । यह त्रिगुणात्मिका तथा जड़ है । पुरुष अत्रिगुण तथा चेतन है ।

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदवेदनीया मूलप्रकृतिः । नासावन्यस्य कस्यचित् विकृतिः । प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात् । तदुक्तं—मूलप्रकृतिरविकृतिः ।

प्रकृति की सिद्धि—सुख, दुःख, मोह रूप प्रपंच किसी कारण से उत्पन्न हुए है क्योंकि वे उनसे संयुक्त हैं । जैसे सुवर्णपात्र सुवर्णयुक्त है और सुवर्ण ही उसका कारण है । इस अनुमान से प्रकृति की सिद्धि होती है ।

ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारकारणम् अवधारणीयम् । तथा च प्रयोगः—विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात् । यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम् । तथा चेदं तस्मात्तथेति ।

सांख्य कारिका में प्रकृति की सिद्धि के लिये ये हेतु दिये गये हैं—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्य—विभागात् अविभागात् वैश्वरूपस्य ॥

सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

प्रकृति स्वयं अचेतन होने के कारण अकेले महदादि विकार को उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिये चेतन पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही वह महदादि विकारों को उत्पन्न करती है।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरजस्य।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

षड्ग्वबन्धवदुभयोरपि सम्बन्धस्तत्कृतः सर्गः ॥

जब पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तब प्रकृति स्वतः ही निवृत्त हो जाती है।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।

पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥

प्रश्न १३–योग के अष्टांगों का वर्णन करिये।

उत्तर—योग का लक्षण है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

योग का ही समाधि (निर्बीज समाधि) कहा जाता है। योग के आठ अंग है—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. सजीव समाधि

१. यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह-ये ५ यम हैं।

२. नियम—स्वाध्याय, शौच, सन्तोष, तपस्या तथा ईश्वरप्रणिधान—ये ५ नियम हैं। विष्णु पुराण में यम-नियम बतलाये गये हैं—

ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।

सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन् ॥

स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।

कुर्वीत [illegible]ह्मणि [illegible]न्प्रवणं मनः ॥

एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।

विशिष्टफलदाः कामे निष्कामानां विमुक्तिदाः ॥

३. आसन—जो स्थिर और सुखदायी हो-वह आसन है। यह दस प्रकार का है—पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डकासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान।

४. प्राणायाम—आसन के स्थिर होने के बाद प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। प्राणायाम का अर्थ है—श्वांस तथा प्रश्वांस की गति का विच्छेद। प्राणायाम के तीन प्रकार है—रेचक, पूरक, कुम्भक।

वायु का बाहर निकलना रेचक है तथा वायु का भीतर जाना पूरक। वायु को भीतर स्थिर रखना कुम्भक है।

दिनरात (२४ घण्टे) में २१६०० बार श्वास-प्रश्वांस चलता है। इसे ही अजपा गायत्री कहते हैं। इस जप में ६०० मन्त्र गणेश को, ६००० विष्णु को ६००० ब्रह्मा को, ६००० शिव को, १००० गुरु को, १००० परमात्मा को, तथा १००० आत्मा को अर्पित किया जाता है।

षट् शतानि गणेशाय षट् सहस्रं स्वयंभुवे ।

विष्णवे षट्सहस्रं च षट्सहस्रं पिनाकिने ॥

सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने ।

सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम् ॥

५. प्रत्याहार—विषयों की ओर भागने वाली इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना ही प्रत्याहार है।

६. धारणा—चित्त को किसी एक विषय में स्थिर करना धारणा है—देश वन्धश्चित्तस्य धारणा।

७. ध्यान—ध्येय विषय के आकार में चित्त की एकतानता ध्यान है—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

८. समाधि—समाधि दो प्रकार की है—सम्प्रज्ञात (सबीज) तथा असम्प्रज्ञात (निर्बीज)। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित।

प्रश्न १४–शांकर वेदान्त के अनुसार माया के स्वरूप का वर्णन करिये।

उत्तर—ब्रह्म की शक्ति माया है। माया का आश्रय लेकर निर्गुण ब्रह्म जगत् की सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं। माया के ही अविद्या, अज्ञान, प्रकृति आदि अनेक काम

१२ कारण हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरामरण।

३. दुःखनिरोध—दुःखनिरोध का तात्पर्य है मुक्ति या निवारण।

४. दुःखनिरोध मार्ग—दुःखनिरोध अर्थात् निर्वाण के उपाय का आष्टांगिक मार्ग है—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि।

प्रश्न २–माध्यमिक मतानुसार शून्यवाद का वर्णन करिये।

उत्तर—"मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्" इस श्लोकांश में माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद का परिचय दिया गया है। इस मतानुसार शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य वस्तवभाव रूप नहीं, बल्कि अनिर्वचनीयरूप है। यह सत् तथा असत् से भिन्न है—

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

यह शून्यवाद मायावाद (अद्वैत वेदान्त) के समान है। जिस प्रकार वेदान्त में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है, उसी प्रकार शून्यवाद में शून्य को अनिर्वचनीय बतलाया गया है।

सदसत्-उभयानुभयात्मक-चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।

माधवाचार्य कहते हैं—

सर्व शून्यं शून्यमिति भावनीयम्। स्वप्ने जागरणे च माया दृष्टमिदं रजतादीति विशिष्टनिषेधस्योपलम्भात्।

स सतः कारणापेक्षा व्योमादेरिव युज्यते।
कार्यस्यासम्भवी हेतुः खपुष्पादेरिवासतः॥

प्रश्न ३–जैन दर्शन के अनुसार सप्तभङ्गी नय का वर्णन करिये।

उत्तर—जैन दर्शन में स्यात्वाद स्वीकार किया गया है। स्यात् का तात्पर्य है—किसी एक दृष्टि से। 'स्यात्' शब्द अनेकान्तता तथा सापेक्षता का द्योतक है।

जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान पूर्ण नहीं होता। किसी वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। उन सभी पहलुओं का ज्ञान एक व्यक्ति को एक समय में भी नहीं हो सकता है। उसी सापेक्षता या अपूर्णता को 'स्यात्' शब्द द्योतित करता है। हाथी के विभिन्न अंगों को देखकर विभिन्न अंगों के द्वारा हाथी का भिन्न-भिन्न आकार बतलाने वाली कथा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार व्यक्ति का ज्ञान भी अपूर्ण रहता है। स्यात् वाद को सप्तभङ्गी नय के द्वारा प्रकट किया जाता है।

१. स्यात् अस्ति

२. स्यात् नास्ति

३. स्याद अस्ति च नास्ति च।

४. स्यात् अवक्तव्यम्।

५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च

६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च

७. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च।

प्रश्न ४–रामानुजमत के अनुसार भक्ति का वर्णन करिये।

उत्तर—रामानुज सम्प्रदाय में भक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भक्ति एक प्रकार के ज्ञान को कहते हैं, जिसमें निरतिशय आनन्द के समान प्रिय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजन (लक्ष्य) नहीं है तथा जिसमें अन्य सभी विषयों से वितृष्णा रहती है।

भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनो सकलेतरवैतृष्ण्यवज्ज्ञानविशेष एव।

भक्ति की प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष के द्वारा होती है।

विवेक—अदुष्ट अन्न से सत्त्व की शुद्धि।

विमोक—कामनाओं में आसक्ति न रखना।

अभ्यास—बारं बार चिन्तन करना।

क्रिया—श्रौत-स्मार्त कर्मानुष्ठान।

कल्याण—सत्य, आर्जन, दया, दान आदि कल्याण है।

अनवसाद—दीनता न रखना अनवसाद है।

अनुद्धर्ष—मन की शिथिलता से उत्पन्न संतोष को अनुद्धर्ष कहा जाता है।

इस प्रकार की भक्ति से पुरुषोत्तम पद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न ५–पूर्णप्रज्ञ दर्शनानुसार ब्रह्म का निरूपण करिये।

उत्तर—मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखकर पूर्णप्रज्ञ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है।

पूर्णप्रज्ञ दर्शन के अनुसार ब्रह्म का लक्षण है—जन्माद्यस्य यतः (१.१२ ब्रह्मसूत्र) जगत् की सृष्टि, पालन तथा संहार जिससे होता है, वह ब्रह्म है। स्कन्द पुराण में भी कहा गया है—

उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृत्तिः ।

बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यस्मात्स हरिरेकराट् ॥

ब्रह्म में प्रामाण्य भी आगे बतलाया गया है—शास्त्रयोनित्वात् । (ब्रह्मसूत्र १.१.३) शास्त्र (शब्द प्रमाण) ही ब्रह्म में प्रमाण है । नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् । तै ब्रा. ३.१२.९) तं त्वौपनिषदम् (बृ. ३.९.२६) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की अनुमान गम्यता का निराकरण किया गया है ।

श्रुतिस्मृतिसहायं यत् प्रमाणान्तरमुत्तमम् ।

प्रमाणपदवीं गच्छेत् नात्र कार्या विचारणा ॥

शास्त्र शब्द का अर्थ स्कन्द पुराण में बतलाया गया है—

ऋग्यजुःसामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् ।

मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥

यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ।

अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ॥

प्रश्न ६–नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार गुरु के स्वरूप का वर्णन करिये ।

उत्तर—गणकारिका नामक ग्रन्थ में गुरु को गणों का ज्ञाता बतलाया गया है । ये प्रगण है—

१. लाभ—उपाय के फलों को प्राप्त करने का नाम लाभ है । ज्ञान, तपस, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि—ये पाँच लाभ हैं ।

२. मल—आत्मा में स्थित दुष्टभाव मल है । मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति और पशुत्वमूल ये पाँच मल हैं ।

३. उपाय—साधक की शुद्धि के कारण के उपाय कहते हैं । इसके ५ भेद हैं—वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, तथा प्रपत्ति ।

४. देश—जिससे ज्ञान, तप और वृद्धि प्राप्त होती है, वह देश है । गुरु, जन, गुहोदश, श्मशान तथा रुद्र ये ५ देश हैं ।

५. अवस्था—लाभ प्राप्ति पर्यन्त साधक का एक स्थिति में रहना अवस्था है । यह ५ है—व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान तथा निष्ठा ।

६. विशुद्धि—मिथ्या ज्ञान आदि पाँचों मल का विनाश विशुद्धि है ।

७. दीक्षाकारिन्—द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति तथा गुरु—ये ५ दीक्षाकारिन् है ।

८. **बल**—गुरुभक्ति, प्रसाद, द्वन्द्वों पर विजय धर्म और अप्रमाद ये ५ बल हैं।

९. **वृत्ति**—भिक्षा, उत्सृष्ट ग्रहण, यथालब्ध ग्रहण—ये ३ वृत्तियाँ है।

प्रश्न ७–रसेश्वर दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति का वर्णन करिये।

उत्तर—रसेश्वर दर्शन के अनुसार पारद रस का सेवन करने से जीवित अवस्था में ही मुक्ति की प्राप्ति सम्भव हैं। पारद रस के सेवन से शरीर अजर और अमर हो जाता है।

रसेश्वर दर्शन के अनुसार—

षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने।
करामलकवत्सापि प्रत्यक्षा नोपलभ्यते ॥
तस्मात्तं रक्षयेत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः ॥
ये चात्यक्तशरीरा दृशगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येषाम् ॥

पारद रस का सेवन ही देह वेध कहलाता है। देह वेध से मुक्ति प्राप्त होती है।

यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता।
समानं कुरुते देवि प्रत्ययं देहलोहयोः ॥
पूर्वं लोहे परीक्षेत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत् ॥

पारद को रसराज कहा जाता है। इसके सेवन से शरीर अजर-अमर होता है—

एकोऽसौ रसजः शरीरमजरममरं कुरुते।

प्रश्न ८–वैशेषिक दर्शन के (औलूक्य दर्शन) अनुसार द्वित्वोत्पत्ति का वर्णन करिये।

उत्तर—वैशेषिक दर्शनानुसार पहले प्रथम क्षण में इन्द्रिय का विषय से सन्निकर्ष होता है (प्रथम क्षण), फिर एकत्व सामान्य का ज्ञान होता है। (द्वितीय क्षण) फिर अपेक्षा बुद्धि होती है। (तृतीय क्षण), उसके बाद द्वित्व की उत्पत्ति होती हैं (चतुर्थ क्षण) फिर द्वित्व सामान्य का ज्ञान होता है। (पंचम क्षण), फिर द्वित्व गुण का ज्ञान होता है, (षष्ठ क्षण) उसके बाद सातवें क्षण में 'ये दो द्रव्य हैं'—ऐसा ज्ञान होता है। अन्त में आत्मा में उक्त ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है—

आदाविन्द्रियसंनिकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।

द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोऽनुपरतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं

द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥

द्वित्व की निवृत्ति का क्रम इस प्रकार है—

आदावपेक्षाबुद्धया हि नश्येदेकत्वजातिधीः ।

द्वित्वोदयसमं पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः ॥

द्वित्वाख्यगुणधीकाले ततो द्वित्वं निवर्तते ।

अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः ॥

गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः ।

द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः ॥

प्रश्न ९–न्याय दर्शन (अक्षपाद दर्शन) के अनुसार ईश्वर सिद्धि का निरूपण करिये ।

उत्तर—न्यायदर्शन में अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि की गयी है ।

नगसागरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् कुम्भवत् ।

पर्वत समुद्र आदि सभी पदार्थ सकर्तृक (कर्ता से युक्त) है, कार्य होने से, घट की तरह ।

इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है । कर्तृत्व का लक्षण इस प्रकार है—

कर्तृत्वं च इतरकारकप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम् ।

ईश्वर जगत् का निर्माण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नैयायिकों ने कहा है कि ईश्वर दयावश जगत् का निर्माण करते हैं—करुणया प्रवृत्तिरस्त्येव । न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसंगः । सृज्यप्राणिकृतदुष्कृतसुकृतपरिपाकविशेषात् वैषम्योपत्तेः । न च स्वातन्त्र्यभंगः शंकनीयः । स्वांगं स्वव्यवधायकं न भवतीति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात् । एव एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे । (तै. सं. १.८.६) इत्यादि—रागमस्तत्र प्रमाणम् ।

प्रश्न १०–मीमांसामतानुसार वेदापौरुषयेत्व का प्रतिपादन करिये ।

उत्तर—मीमांसादर्शन के अनुसार वेदों को अपौरुषय माना गया है । वेदों को रचने वाला न तो कोई पुरुष है और न ही ईश्वर । वेदों की अपौरुषेयता मीमांसामत में अनुमान द्वारा सिद्धि की गयी है—

अपौरुषेया वेदाः सम्प्रदायाविच्छेदे सति

अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् आत्मवत् इति ।

श्लोकवार्तिक में कहा गया है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्यनसामान्यात् अधुनाध्ययनं यथा ॥

पूर्वपक्षी वेद को पौरुषेय मानते हैं, उनसे मीमांसक प्रश्न करते हैं कि इसका पौरुषेयत्व का क्या तात्पर्य है पुरुषों द्वारा उच्चारण या फिर पुरुष द्वारा वेदों की रचना । यदि पौरुषेयत्व का तात्पर्य पुरुषों द्वारा वेदोच्चारण माना जाये, तो यह मत तो मीमांसक भी मानते हैं । वेदों का प्रवचन करने वाले आचार्यों को नाम से ही वेदों की कण्ठ, काठक आदि अनेक शाखाएँ प्रसिद्ध हैं । इन आचार्यों ने वेदों की रचना नहीं की, केवल उपदेश दिया । यदि पौरुषेयत्व का तात्पर्य वेदों की रचना कहा जाये, तो मीमांसक कहते हैं वेदों की रचना में न तो कोई अनुमान प्रमाण है और न ही शब्द प्रमाण ।

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं इसलिये वेद की अपौरुषेयता भी सिद्धि होती है—

ततश्च वेदस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तशंकाकलंकांकुरत्वेन स्वतः सिद्धं धर्मे प्रामाण्यमिति सुस्थितम् ।

प्रश्न ११–मीमांसकमतानुसार प्रामाण्यवाद का वर्णन करिये ।

उत्तर—प्रमाणत्वाप्रामाणत्वे स्वतः सांख्यसमाश्रिताः ।

नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥

प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः ।

प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में मुख्यतः चार मत प्रचलित हैं—

सांख्य मत में—प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य स्वतः ।

नैयायिक—प्रामाण्य परतः, अप्रामाण्य परतः ।

बौद्ध—प्रामाण्य परतः, अप्रामाण्य स्वतः ।

मीमांसक—प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः ।

जिस सामग्री से किसी वस्तु के का ग्रहण ज्ञान होता है, उसी सामग्री से यदि ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का भी ग्रहण होता है, तो इसे स्वतः प्रामाण्य या स्वतः

अप्रामाण्य कहा जाता है। इसके विपरीत यदि ज्ञान ग्राहक सामग्री से इतर सामग्री द्वारा प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण होता है तो यह परत: प्रामाण्य या परत: अप्रामाण्य कहलाता है। मीमांसक मतानुसार ज्ञान का ग्रहण होता है—ज्ञान से उत्पन्न ज्ञप्ति (ज्ञातता या उत्पत्ति या प्राकट्य) नामक धर्म के द्वारा। एवं च इसी ज्ञप्ति के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है अत: स्वत: प्रामाण्य वाद स्वीकार होता है। यदि ज्ञान के अनुसार वस्तु उपलब्ध नहीं होती, अर्थात् विसंवाद होता है तो पूर्व स्वीकृत प्रामाण्य का अपनोदन होकर अप्रामाण्य का ग्रहण परत: होता है और ऐसा न होने पर अर्थात् ज्ञानानुसार वस्तु के उलपब्ध होने पर तो प्रामाण्य अपनी जगद् स्थिर रहता ही है।

तस्मात् सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥

प्रश्न १२–वैयाकरणमतानुसार स्फोटवाद का वर्णन करिये।

उत्तर—न्याय मत में शब्द को अनित्य माना गया है जबकि मीमांसक वर्णरूपीशब्द को नित्य मानते हैं। वर्णातिरिक्त स्फोट नामक कोई अन्य पदार्थ मीमांसक नहीं मानते हैं। व्याकरण मत में वर्ण को अनित्य माना जाता है किन्तु वर्णो से व्यंजित होने वाले स्फोट को नित्य माना गया है। वैयाकरणमतानुसार स्फोट रूप शब्द को ही ब्रह्मरूप तथा नित्य माना गया है। भर्तृहरि कहते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:॥
स्फुट्यते व्यज्यते वर्णैरिति स्फोट: वर्णाभिव्यंग्य:॥

स्फुटति स्फुटीभवति अस्मादर्थ इति स्फोटोऽर्थप्रत्यावक इति स्फोटशब्दार्थमुभयथा निराहु:।

यह स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति है। स्फोट रूप शब्द नित्य है। वर्ण केवल उस स्फोट के व्यंजक हैं। इसी कारण आचार्य पतञ्जलि ने भी कहा है—अथ गौरित्यत्र क: शब्द: येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्द:। (महाभाष्य)

आचार्य कैयट कहते हैं—

वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसंगात् इत्यादिना तद् व्यक्तिरिक्त: स्फोटो नादाभिव्यंग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापित:।

प्रश्न १३–सांख्यमतानुसार सत्कार्यवाद का निरूपण करिये।

उत्तर—सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद का सिद्धान्त माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने आविर्भाव के पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से रहता है, उत्पादन की सामग्री के द्वारा वह व्यक्त रूप में चला जाता है।

सांख्यों ने कहा है—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्वसङ्गिभिः।

असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

तिल में तेल तथा गौ में दूध अव्यक्त रूप से रहता है तथा पीसने से तेल और दुहने से दूध की व्यक्तता होती है। गीता में भी कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता

सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये पाँच हेतु दिये गये हैं।

असदकरणात् उपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

सांख्याचार्यों का कहना है कि जिस प्रकार कछुए के अंग उसके शरीर में रहने पर भी छुये हुए रहते हैं और कछुआ अपने अंगों को जब फैलता है, तब उसके अंग दिखलाई पड़ते हैं उसी प्रकार पट आदि पदार्थ तन्तु आदि में छिपे रहते है। यदि ऐसा न माना जाये तो तिल की बजाय बालू से भी तेल उत्पन्न हो सकता है। अतः तिल में ही तेल उत्पन्न करने की शक्ति माननी पड़ती है। इसी कारण तेल बनाने के लिये तिल का उपादान करना पड़ता है।

प्रश्न १४–'योग' के स्वरूप का वर्णन करिये।

उत्तर—योगसूत्र के अनुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' योग का लक्षण है। चित्तवृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा है—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

युजिर् योगे या युज समाधौ धातु से योग शब्द निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार योग अर्थ है—संयोग या समाधि।

समाधिःसमतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।

ब्रह्मण्येव स्थितिर्यासां समाधिः प्रत्यगात्मनः॥

योग के आठ अंग माने गये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, असम्प्रज्ञात समाधि।

इस आठ अंगों का जो अंगी है, वह असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी वृत्तियों का विरोध योग नहीं है। इसलिये योग लक्षण है चित्तवृत्तिनिरोधः, न कि सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः। कुछ वृत्तियों का निरोध योग है। क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में सात्त्विक वृत्ति का विरोध हो पाता असम्भव है, फिर भी उसे योग कहा जाता है।

चित्त की पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

प्रश्न १५–पञ्चपर्वा अविद्या का निरूपण करिये।

उत्तर—योगदर्शन में अविद्या को ही क्लेश कहा जाता है। यह पाँच पर्वों वाली है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। योग क्लेश का विरोधी है। क्लेश क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दो प्रकार के होते हैं।

अविद्या—अविद्या अन्य सभी क्लेशों का कारण है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार क्लेशों का आधार अविद्या है।

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।

विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का ज्ञान करना अविद्या है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अस्मिता—द्रष्टा तथा दर्शन शक्ति को एक मान लेना अस्मिता है—दृक् दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

राग—सुख का स्मरण करके सुख के साधनों की तृष्णा का करना राग है—सुखानुशयी रागः।

द्वेष—दुःख का स्मरण करके दुःख के साधनों से निवृत्ति द्वेष है—दुःखानुशयी द्वेषः।

अभिनिवेश—मृत्यु भय को अभिनिवेश कहा जाता है। पूर्वजन्मानुभूतमरण-दुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्याकृमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तं विना प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेशः पञ्चमः क्लेशः।

प्रश्न १६–योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन करिये।

उत्तर—योग से अधोलिखित सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

१. मधुमती—अभ्यास तथा वैराग्य के वश में करने में रजोगुण तथा तमोगुण

की समाप्ति होकर सत्त्वगुण का उदय होता है। इससे ऋतम्भरा प्रज्ञा रूप समाधि की सिद्धि होती है। यही मधुमती सिद्धि भी कही जाती है।

२. **मधुप्रतीका**—मनोजवित्व, विकरणभाव, प्रधानजय आदि सिद्धियों का मधुप्रतीका कहा जाता है।

३. **विशोका**—सर्वभावाधिष्ठातृत्व को ही विशोकासिद्धि कहा जाता है। इसे ही ज्योष्मती भी कहा जाता है।

४. **संस्कार शेषा**—असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त की संस्कार शेषा रूपा अवस्थाविशेष रहता है।

इन सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने वाले योगी चार प्रकार के होते हैं—प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभावनीय।

प्रश्न १७-अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्रार्थ का वर्णन करिये-

उत्तर—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र है।

इस सूत्र में तीन पद हैं—

अथ—'अथ' शब्द का अर्थ है—आनन्तर्य। साधनचतुष्टय के बाद ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये। साधनचतुष्टय हैं—नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत् तथा मुमुक्षुत्व।

अतः—अतः पद हेत्वर्थक हैं। इसका तात्पर्य है कि चूँकि अग्निहोत्रादि कर्मों का फल अनित्य है, इसलिये नित्य फल 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिये ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।

ब्रह्मजिज्ञासा—'कर्तव्या' इस पद का अध्याहार करके अर्थ होता है—ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये। ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा यहाँ कर्म अर्थ में षष्ठी होकर षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है। ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। इच्छा का कर्म ज्ञान है।

इस प्रकार सूत्र का निष्कृष्टार्थ है—सायन चतुष्टय के बाद नित्य फल की प्राप्ति के लिये ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये।

अतिलघूत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १. चार्वाक दर्शन के अनुसार कितने महाभूत माने गये हैं ?

उत्तर. पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु।

प्रश्न २. चार्वाक दर्शन के अनुसार ईश्वर कौन है ?

उत्तर. चार्वाक मत में राजा को ईश्वर माना गया है।

प्रश्न ३. चार्वाक मतानुसार कितने प्रमाण हैं ?

उत्तर. चार्वाक मत के अनुसार एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रश्न ४. चार्वाक मत के प्रवर्तक आचार्य कौन थे ?

उत्तर. बृहस्पति।

प्रश्न ५. बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक कौन थे ?

उत्तर. गौतम बुद्ध।

प्रश्न ६. चार आर्य सत्य कौन-कौन से हैं ?

उत्तर. दु:ख, दु:खसमुदाय, दु:खनिरोध, दु:खनिरोधोपाय।

प्रश्न ७. बौद्ध दर्शन में कितने सम्प्रदाय हैं और उनके नाम क्या हैं ?

उत्तर. बौद्ध दर्शन में चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

प्रश्न ८. पंच स्कन्ध कौन-कौन से हैं ?

उत्तर. रुप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार।

प्रश्न ९. क्षणिक किसे कहते हैं ?

उत्तर. जो सत् है वह क्षणिक है तथा जो अर्थ क्रियाकारी है, वह सत् है।

प्रश्न १०. द्वादश आयतन कौन-कौन से हैं ?

उत्तर. पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और बुद्धि।

प्रश्न ११. जैन दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर. जैन दर्शन के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।

प्रश्न १२. जैन दर्शन में ईश्वर का नाम क्या है ?

उत्तर. जैनों के अनुसार ईश्वर को अर्हत् कहा जाता है।

प्रश्न १३. त्रिरत्न कौन-कौन से हैं ?

उत्तर. सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र।

प्रश्न १४. पञ्च महाव्रत कौन से हैं ?

उत्तर. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

प्रश्न १५. जैन मतानुसार सात पदार्थ कौन से हैं ?
उत्तर. जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ।
प्रश्न १६. संवर क्या है ?
उत्तर. आसव का निरोध संवर है ।
प्रश्न १७. आस्रव किसे कहते हैं ?
उत्तर. जीव की ओर कर्म का प्रवाह ही आस्रव कहलाता है ।
प्रश्न १८. निर्जरा क्या है ?
उत्तर. अर्जित कर्म का त्याग निर्जरा है ।
प्रश्न १९. सप्त भङ्गीनय कौन से हैं ?
उत्तर. स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यः, स्यात् अस्ति च अवक्तव्यः, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यः, स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः ।
प्रश्न २०. रामानुज मत के अनुसार कितने पदार्थ हैं ?
उत्तर. ईश्वर, चित् तथा अचित् ।
प्रश्न २१. चतुर्व्यूह कौन-कौन से हैं ?
उत्तर. प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण तथा वासुदेव ।
प्रश्न २२. ईश्वर के पांच रुप कौन से हैं ?
उत्तर. अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी ।
प्रश्न २३. उपासना के पांच प्रकार कौन से हैं ?
उत्तर. अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग ।
प्रश्न २४. पूर्णप्रज्ञ दर्शन के प्रवर्तक कौन थे ?
उत्तर. माधवाचार्य ।
प्रश्न २५. ईश्वर सेवा के कितने भेद हैं ?
उत्तर. ईश्वर सेवा के तीन प्रकार की है—अंकन, नामकरण तथा भजन ।
प्रश्न २६. भजन कितने प्रकार का है ?
उत्तर. भजन दस प्रकार का है—वाणी से सत्य बोलना, प्रिय बोलना, हितकारी बोलना और स्वाध्याय करना । शरीर से दान, बचाव और रक्षा । मन से दया, स्पृहा तथा श्रद्धा ।
प्रश्न २७. पाशुपत मतानुसार गुरु को कितने गणों का ज्ञाता कहा जाता है ?
उत्तर. गुरु नव गणों का ज्ञाता होना चाहिये । नौ गण हैं—लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारिन्, बल, वृत्ति ।
प्रश्न २८. लाभ के कितने प्रकार हैं ?
उत्तर. लाभ के पांच प्रकार हैं—ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि ।

प्रश्न २९. पति किसे कहा गया है ?

उत्तर. ईश्वर को पति कहा जाता है।

प्रश्न ३०. पाश क्या है ?

उत्तर. माया को पाश कहा जाता है।

प्रश्न ३१. पशु कौन हैं ?

उत्तर. माया पाश में बंधा हुआ जीव पशु कहलाता है।

प्रश्न ३२. दुःखान्त के कितने भेद हैं ?

उत्तर. दुःखान्त दो प्रकार का है—अनात्मक और सात्मक।

प्रश्न ३३. मल के कितने भेद हैं ?

उत्तर. मल पांच प्रकार का है—मिथ्या ज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति, पशुत्वमल।

प्रश्न ३४. उपाय के कितने भेद हैं ?

उत्तर. उपाय के पांच भेद हैं—वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्रस्मृति, प्रपत्ति।

प्रश्न ३५. देश के कितने भेद हैं ?

उत्तर. देश के पांच प्रकार हैं—गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान, रुद्र।

प्रश्न ३६. दीक्षाकारी के कितने भेद हैं ?

उत्तर. दीक्षाकारी पांच हैं—द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु।

प्रश्न ३७. अवस्था के कितने भेद हैं ?

उत्तर. अवस्था के पांच भेद हैं—व्यक्ता, अव्यक्ता, जया, दान, निष्ठा।

प्रश्न ३८. बल कितने प्रकार का है ?

उत्तर. बल के पांच भेद हैं—गुरुभक्ति, बुद्धिप्रसाद, द्वन्द्वजप, धर्म, अप्रमाद।

प्रश्न ३९. वृत्ति के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर. वृत्ति के तीन भेद हैं—भिक्षा, उत्सृष्टग्रहण, यथालब्धग्रहण।

प्रश्न ४०. कार्य के कितने प्रकार हैं ?

उत्तर. कार्य तीन प्रकार का है—विद्या, कला तथा पशु।

प्रश्न ४१. पशु के कितने भेद हैं ? (नकुलीश पाशुपत मतानुसार)

उत्तर. पशु दो प्रकार का है—साञ्जन और निरञ्जन।

प्रश्न ४२. व्रत के कितने भेद हैं ?

उत्तर. व्रत पांच प्रकार के हैं—भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा।

प्रश्न ४३. शिव के पांच मुख कौन से हैं ?

उत्तर. सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान।

प्रश्न ४४. शैवागम में कितने पाद हैं ?

उत्तर. शैवागम में चार पाद हैं—विद्या, क्रिया, योग, चर्या।

प्रश्न ४५. पशु के कितने भेद हैं ? (शैव दर्शन के अनुसार)

उत्तर. पशु के तीन भेद हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल।

प्रश्न ४६. विज्ञानाकल के कितने भेद हैं ?

उत्तर. विज्ञानाकल दो प्रकार होते हैं—समाप्तकलुष, असमाप्तकलुष।

प्रश्न ४७. प्रलयाकल जीव के कितने भेद हैं ?

उत्तर. प्रलयाकल दो प्रकार के होते हैं—पक्वपाशद्वय, उससे भिन्न।

प्रश्न ४८. सकल जीव के कितने भेद हैं ?

उत्तर. सकल जीव के दो भेद हैं—पक्वकलुष, अपक्वकलुष।

प्रश्न ४९. शिव तथा गौरी का बीज क्या है ?

उत्तर. शिव का बीज पारद है और गौरी का बीज अभ्रक है।

प्रश्न ५०. पारद के कितने स्वरुप हैं ?

उत्तर. पारद के तीन रुप हैं—मूर्छित, मृत और बद्ध।

प्रश्न ५१. कर्मयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर. कर्मयोग दो प्रकार का है—रस और पवन।

प्रश्न ५२. रस के कितने संस्कार होते हैं ?

उत्तर. रस के अठारह संस्कार होते हैं।

प्रश्न ५३. वैशेषिक सूत्र के लेखक कौन थे ?

उत्तर. महर्षि कणाद।

प्रश्न ५४. वैशेषिक दर्शन के अनुसार कितने पदार्थ हैं ?

उत्तर. वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थ माने गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

प्रश्न ५५. द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर. द्रव्य नौ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन।

प्रश्न ५६. कर्म कितने हैं ?

उत्तर. कर्म पांच हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

प्रश्न ५७. सामान्य के कितने भेद हैं ?

उत्तर. सामान्य के दो भेद हैं—पर तथा अपर।

प्रश्न ५८. अभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर. अभाव के दो भेद हैं—संसर्गाभाव (प्रागभाव, प्रध्वंस तथा अत्यन्ताभाव) तथा अन्योन्याभाव।

प्रश्न ५९. न्याय दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर. महर्षि गौतम।

प्रश्न ६०. न्याय दर्शन में कितने पदार्थ माने गये हैं ?

उत्तर. सोलह।

प्रश्न ६१. प्रमाण कितने हैं ? (न्याय दर्शनानुसार)

उत्तर. न्याय दर्शनानुसार ४ प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

प्रश्न ६२. प्रमेय कितने हैं ?

उत्तर. प्रमेय १२ हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख, अपवर्ग।

प्रश्न ६३. सिद्धान्त कितने है ?

उत्तर. सिद्धान्त के चार भेद हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम।

प्रश्न ६४. हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर. हेत्वाभास पांच हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, अतीतकाल।

प्रश्न ६५. न्यायमतानुसार जगत् का कर्ता कौन है ?

उत्तर. ईश्वर।

प्रश्न ६६. ईश्वर की सिद्धि किस प्रमाण से होती है ?

उत्तर. अनुमान।

प्रश्न ६७. न्याय दर्शन के अनुसार शब्द क्या है नित्य या अनित्य ?

उत्तर. अनित्य।

प्रश्न ६८. मीमांसक शब्द को क्या मानते हैं ?

उत्तर. नित्य।

प्रश्न ६९. न्याय मतानुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है या परतः ?

उत्तर. न्याय मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परत: हैं।

प्रश्न ७०. मीमांसकों के मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है परतः ?

उत्तर. मीमांसकमतानुसार प्रामाण्य स्वत: है तथा अप्रामाण्य परत:।

प्रश्न ७१. मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?

उत्तर. आचार्य जैमिनि।

प्रश्न ७२. मीमांसकों के मतानुसार वेद का कर्ता कौन है ?

उत्तर. वेद अपौरुवेय तथा नित्य हैं, उनका कोई कर्ता नहीं।

प्रश्न ७३. अध्ययन विधि कौन सी है ?

उत्तर. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' यह अध्ययन विधि है।

प्रश्न ७४. सांख्य दर्शन के अनुसार प्रामाण्याप्रामाण्य स्वतः है या परतः ?

उत्तर. दोनों स्वत: हैं।

प्रश्न ७५. बौद्ध मत में प्रामाण्याप्रामाण्य स्वतः है या परतः ?

उत्तर. प्रामाण्य परत: और अप्रामाण्य स्वत: है।

प्रश्न ७६. प्रभाकर मतानुसार किस विधि से मीमांसाध्ययन प्राप्त होता है ?
उत्तर. अध्यापन विधि से।
प्रश्न ७७. स्फोटवादी कौन हैं ?
उत्तर. वैयाकरण।
प्रश्न ७८. व्याकरण में मुख्य प्रयोजन कितने हैं ?
उत्तर. व्याकरण के मुख्य प्रयोजन पांच हैं—रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह
प्रश्न ७९. परिणामवाद या सत्कार्यवाद किस दर्शन का है ?
उत्तर. सांख्य दर्शन का।
प्रश्न ८०. विर्वतवाद कौन मानते हैं ?
उत्तर. वेदान्ती।
प्रश्न ८१. शब्द को ब्रह्म कौन मानते हैं ?
उत्तर. वैयाकरण।
प्रश्न ८२. जाति को पदार्थ कौन मानते हैं ?
उत्तर. मीमांसक।
प्रश्न ८३. जाति तथा व्यक्ति दोनों को पदार्थ कौन मानते हैं ?
उत्तर. वैयाकरण।
प्रश्न ८४. महत् तत्त्व किससे उत्पन्न होता है ?
उत्तर. प्रकृति से।
प्रश्न ८५. महत् से क्या उत्पन्न होता है ?
उत्तर. अहंकार।
प्रश्न ८६. अहंकार से क्या उत्पन्न होता है ?
उत्तर. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्र और मन।
प्रश्न ८७. सृष्टि का कारण क्या है ?
उत्तर. प्रकृति और पुरुष का संयोग।
प्रश्न ८८. सांख्यमतानुसार कितने प्रमाण हैं ?
उत्तर. प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द।
प्रश्न ८९. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?
उत्तर. कपिल मुनि।
प्रश्न ९०. योग-दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं ?
उत्तर. पतञ्जलि मुनि।
प्रश्न ९१. क्रियायोग कितने हैं ?
उत्तर. क्रियायोग तीन हैं—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

प्रश्न ९२. योग के कितने अंग हैं ?

उत्तर. योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।

प्रश्न ९३. समाधि के कितने भेद हैं ?

उत्तर. समाधि दो प्रकार की हैं—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात।

प्रश्न ९४. 'अथ योगानुशासनम्' में अथ शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर. यहाँ 'अथ' शब्द आरम्भार्थक है।

प्रश्न ९५. क्लेश कितने हैं ?

उत्तर. क्लेश पांच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश।

प्रश्न ९६. राग का लक्षण क्या है ?

उत्तर. सुखानुशयी रागः।

प्रश्न ९७. द्वेष का लक्षण क्या है ?

उत्तर. दुःखानुशयी द्वेषः।

प्रश्न ९८. मन्त्र के कितने संस्कार हैं ?

उत्तर. मन्त्र के दस संस्कार हैं—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन, गोपन।

प्रश्न ९९. आसन का क्या लक्षण है ?

उत्तर. स्थिरसुखमासनम्।

प्रश्न १००. प्राणायाम के कितने भेद हैं ?

उत्तर. प्राणायाम के तीन भेद हैं—पूरक, रेचक तथा कुम्भक।

प्रश्न १०१. ब्रह्मसूत्र के लेखक कौन हैं ?

उत्तर. आचार्य वेदव्यास।

प्रश्न १०२. ब्रह्मसूत्र में कितने अध्याय हैं ?

उत्तर. चार अध्याय।

प्रश्न १०३. तात्पर्य निर्णय के कितने लिङ्ग हैं ?

उत्तर. तात्पर्य निर्णय के छः लिङ्ग हैं—उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति।

प्रश्न १०४. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा में अथ शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर. अथ शब्द का अर्थ है—साधनचतुष्टय के बाद।

प्रश्न १०५. ब्रह्म का तटस्थ लक्षण क्या है ?

उत्तर. 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

[illegible]

पुस्तक परिचय

मीमांसादर्शन की सभी धाराओं का सैद्धान्तिक तथा प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है। चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन, अर्हत या जैन दर्शन, रामानुजदर्शन, पूर्णप्रज्ञ दर्शन, नकुलीश-पाशुपत दर्शन, शैव दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, रसेश्वर दर्शन, वैशेषिक या औलूक्य दर्शन, अक्षपाद दर्शन या नैयायिकदर्शन, जैमिनीय दर्शन, पाणिनीय दर्शन, सांख्य दर्शन, पातञ्जल या योगदर्शन, वेदान्त दर्शन या शाङ्कर दर्शन इन 16 दर्शनधाराओं का साङ्गोपाङ्ग विवेचन तथा सभी दर्शनों के परस्पर मतभेद का तात्त्विक सामञ्जस्य इस ग्रन्थ में उपस्थित हुआ है।

इसकी हिन्दी व्याख्या में सरल भाषा में समस्त विषयों का समुचित विवेचन प्रस्तुत करने के साथ ही साथ विशेष प्रकाशनीय बिन्दुओं पर विस्तृत व्याख्या भी की गयी है। यह ग्रन्थ छात्रों, अनुसंधाताओं एवं विद्वानों के लिये अत्यन्त ही उपयोगी है।

TBVP

The Bharatiya Vidya Prakashan
Since 1966

2nd Floor, Dharam Sangha Building
Opp. Durgakund Petrol Pump
Durgakund Road, Varanasi
Uttar Pradesh, INDIA - 221010

Email : the.bvpbooks@gmail.com
Tel. : + 91 - 542 - 2310500

www.tbvp.in

ISBN - 978-81-21702-58-4

₹ 600/-